सम्पूर्ण जीवन दर्शन

मानव मात्र को "एक-मत" करनेवाली "एक-मात्र" अकाट्य सन्त वाणी

भाग – ६

(चित्त शुद्धि)

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

जो मजहब, संप्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है ।

प्रथम संस्करण – २०१९
1000 प्रतियाँ

मूल्य : कुल 10 पुस्तकों के लिए ₹2500/- (10 X ₹250/-)

प्रकाशक

करनाल मानव सेवा संघ

निकट बस स्टैण्ड़, जी टी रोड़,
करनाल, हरियाणा – 132 001
दूरभाष : 0184-2254415

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।

सर्वहितकरी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।

हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

मानवता के मूल सिद्धांत

(१) आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

(४) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

(५) दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

(६) पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

(७) निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

(८) शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कायों में स्वावलम्बन।

(९) शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

(१०) सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

(११) व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना !

विषय सूची

चित्त शुद्धि 1

अशुद्धि क्या? 2
अशुद्धि के कारण की खोज 5
सामर्थ्य का विकास एवं उसका उपयोग 9
व्यक्तित्व की दासता एवं गुणों का अभिमान 12
प्राप्त का सदुपयोग 16
अस्वाभाविकता का त्याग 20
न्याय अपने प्रति तथा प्यार दूसरों के प्रति ... 24
न्याय अपने प्रति तथा क्षमा दूसरों के प्रति 26
असाधनरूप मान्यताओं की अस्वीकृति 30
परिस्थितियों की अनित्यता 34
भय तथा प्रलोभन से मुक्ति 38
नीरसता और खिन्नता से मुक्ति 42
स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता की आवश्यकता 46
कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का अंत 49
निस्संकल्पता की आवश्यकता 54
वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद 57
अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं .. 62
निषेधात्मक साधन की आवश्यकता 66
निज-ज्ञान की सामर्थ्य 69
चित्त की महिमा 73
चित्त की चंचलता एवं संकल्पों की निवृत्ति ... 77
ज्ञान और जीवन की अभिन्नाता 80
व्यक्तित्व के मोह का अन्त 85
सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज 88
सन्देह की निवृत्ति तथा निस्सन्देहता की प्राप्ति 92
असंभव का त्याग तथा संभव की प्राप्ति 96
गुणदोष-युक्त द्वन्द्व से मुक्ति 100
सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से मुक्ति 104
कर्त्तव्य का पालन एवं अकर्त्तव्य का त्याग .109
जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग 113
मान्यताओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति .. 117
अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित निर्णय 121
स्वाभाविक माँग एवं अस्वाभाविक इच्छाएँ. 125
निज दोष और दुःख का वास्तविक ज्ञान 129
इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग एवंबुद्धि-ज्ञान का आदर 133
आसक्ति की निवृत्ति एवं प्रेम की प्राप्ति 137
सुख-भोग की आशा का त्याग 141
मान्यताओं का नाश एवं प्रीति का उदय 145
सामूहिक दुःख की अनुभूति का महत्व 149
क्षमा-प्रार्थना एवं क्षमा-शीलता का महत्व ... 153
अपने से भिन्न सत्ता की अस्वीकृति 157
व्यक्ति, दृश्य एवं दृष्टियाँ 161
रूचि-अरूचि के द्वन्द्व का अन्त 165
अहम् और वस्तु का विभाजन 168

आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का अन्त 172
प्राप्त परिस्थिति द्वारा साधन-निर्माण 176
प्रवृत्ति का विलय निवृत्ति में....180
अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की अभिव्यक्ति 185
अहम्-भाव की निवृत्ति एवंभय-प्रलोभन से मुक्ति....189
अनन्त के विधान-विवेक का आदर....193
वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति....198
कर्त्तव्यनिष्ठ में ही उदारता की अभिव्यक्ति 202
संकल्प उत्पत्ति-पूर्त्ति से अतीत का जीवन..207
करने में सावधान और होने में प्रसन्न 212

जीवन दर्शन..... 229

अचाह पद 230
विवेक एवं अविवेयुक्त विश्वास 231
भोग-इच्छाओं की निवृत्....232
व्यक्तित्व की दासता....234
परिस्थितियों का सदुपयोग....236
व्यक्तित्व के मोह की निवृत्ति....238
हमारी वास्तविकता आवश्यकता 240
मान्यता, विधान और जीवन की एकता 244
आशा और निराशा किसकी? 247
'करने' का 'होने' में परिवर्तन....248
गुणों के अभिमान का त्याग....250
अनित्य जीवन से निराशा.... 253
कामना-निवृत्ति 254
नित्य-जीवन का अनित्य-जीवन पर प्रभाव 256
माने हुए सम्बन्ध की निवृत्ति और नित्य सम्बन्ध की प्राप्ति.... 257
सहज निवृत्ति का सदुपयोग.... 259
वर्तमान का सदुपयोग 261
आसक्ति और प्रीति.... 263
व्याकुलता और प्रेम.... 265
विवेक और प्रीति 266
साधन-निर्माण.... 268
प्रीति ही जीवन है।.... 270
कर्त्तव्यपरायणता से लक्ष्य की प्राप्त 272
निर्मोहता में दिव्य-जीवन 275
परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर. 277
निर्भयता की कुन्जी.... 280
आसक्ति और प्रीति का विवेचन.... 282
सुख की आशा के त्याग में ही विकास..... 284
पर-चर्चा से हानि 286
सफलता की कुन्जी 288
विश्राम की महिमा 292
विश्राम की विधि.... 294
साधन-निर्माण की भूमि 297
अहं और मम के नाश में जीवन की सार्थकता 299
साधन में शिथिलता क्यों आती है? 301

भिन्नता के अन्त में जीवन.....302
'मैं' क्या है?.....304
निस्संदेहता से लक्ष्य की प्राप्ति.....306
प्रवृत्ति और निवृत्ति.....308
निष्कामता में ही सफलता है.....310
पराश्रय का त्याग और सेवा.....312
कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन.....313
साधन-तत्त्व.....317
वर्तमान जीवन का सदुपयोग.....320
साधन करने में कोई असमर्थ नहीं है.....322
वर्तमान का आदर ही साधन है।.....325
स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति.....327
'मैं' का स्वरूप.....330
त्याग और प्रेम.....333
विवेक की अलौकिकता.....335
व्यक्तित्व की निवृत्ति में जीवन.....337
उपासना का रहस्य.....339
नि:संदेहता तथा प्रीति.....341
कर्तव्यनिष्ठा और स्मृति.....343
कामना-निवृत्ति का महत्त्व.....345
जीवन का परम पुरुषार्थ.....348
असंगता और प्रेम.....349
दोषों का मूल-असावधानी.....352
गुण, दोष और उनकी निवृत्ति.....355
साधनरूप मान्यताएँ.....357
अस्वाभाविकता और उसकी निवृत्ति.....359
विवेक से प्रीति.....363
उद्देश्य और उसकी पूर्ति.....364
कर्तव्य-मीमांसा.....367
क्षणिक जीवन से निराशा तथा अनन्त का आश्रय 369
परिवर्तनशील एवं वास्तविक जीवन.....370
ममता का त्याग और प्रेम.....372
अचाह में अभिन्नता.....374
श्रमरहित साधन.....376
साधन-भेद और साध्य की एकता.....378
बाह्य दुष्टियों का सदुपयोग.....380
चिर-शान्ति और सरसता ।.....381

चित्त शुद्धि

अशुद्धि क्या?

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की शुद्धि का भले ही किसी को ज्ञान न हो, पर चित्त की अशुद्धि का तो ज्ञान मानव-मात्र को है; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। विचार यह करना है कि हमारी अपनी दृष्टि में अपने चित्त में क्या अशुद्धि प्रतीत होती है। जब हम अपने चित्त को अपने अधीन नहीं पाते हैं तब यह अभास होता है कि चित्त में कोई दोष है। यदि हमारा चित्त हमारे अधीन होता, तो हम चित्त के लगाने तथा हटाने में अपने को सर्वदा स्वाधीन पाते। पर ऐसा करने से हम अपने को असमर्थ पाते हैं हमारी असमर्थता ही हमें यह बता देती है कि हमारे चित्त में कोई अशुद्धि है।

किसी में अस्वाभाविकता का आ जाना ही अशुद्धि है। इस दृष्टि से हमें अनुभूति के आधार पर जान लेना है कि हमारे चित्त में क्या अस्वाभाविकता आ गई है, जिससे हम अपने चित्त को अपने अधीन नहीं रख पाते हैं। संकल्पों की उत्पति तथा पूर्ति को ही अपना जीवन मान बैठे हैं। यद्यपि संकल्पों की उत्पति से पूर्व भी जीवन है और संकल्प-पूर्ति के पश्चात भी जीवन है; परन्तु हम उस स्वाभाविक जीवन की और ध्यान नहीं देते और संकल्प की उत्पति तथा उसकी पूर्ति की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं, यही अस्वाभाविकता है। इस अस्वाभाविकता के प्रभाव से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। इस दृष्टि से संकल्पों की उत्पति-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करना और संकल्पों से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा जाग्रत न होना ही चित्त की अशुद्धि है।

संकल्पों की उत्पति जिसमें होती है और उनकी पूर्ति जिन साधनों से होती है, उन दोनों का जो प्रकाशक है अथवा जिससेउन दोनों को सत्ता मिलती है,उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार न करना अनुभूति का विरोध है, और संकल्पों की उत्पति-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, यह निज अनुभूति का अनादर करना है। इस भूल से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। कि संकल्पों की उत्पति का उद्गम स्थान क्या है और उन संकल्पों की पूर्ति जिन साधनों से होती है, उनका स्वरूप क्या है? जिन मान्यताओं से किसी न किसी प्रकार के भेद की उत्पति होती है, उन मान्यताओं में अहम्-बुद्धि स्वीकार करने पर ही संकल्पों की उत्पति होती है और जिन वस्तुओं से संकल्पों की पूर्ति होती है, वे सभी वस्तुएँ पर-प्रकाश्य हैं, परिवर्तनशील हैं और उत्पति-विनाशयुक्त हैं। इसी कारण संकल्प-पूर्ति का सुख संकल्प-उत्पति का हेतु बन जाता है। उत्पति-पूर्ति का क्रम सतत् चलता रहता है। उससे तद्रुप होकर प्राणी अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध होकर दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है। संकल्पों की उत्पति-पूर्ति से अतीत के जीवन पर विश्वास हो जाय अथवा उसका अनुभव हो जाय तो प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिर-विश्राम पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

संकल्पों की उत्पति-पूर्ति के जीवन में सभी किसी-न-किसी प्रकार का अभाव अनुभव

करते हैं। यही समस्या इस जीवन से अतीत की और प्रेरित करती है। वह प्रेरणा जिसका प्रकाश है उसकी सत्ता स्वीकार करना और संकल्प-उत्पति-पूर्ति के जीवन को केवल राग निवृति का साधन मानना चित्त की अशुद्धि मिटाने में समर्थ है। इस दृष्टि से संकल्प-उत्पति-पूर्ति का जीवन अभाव रूप है और उससे अतीत का जीवन भावरूप है। अभाव का प्रकाशन भावरूप सत्ता से ही होता है। यदि अभाव की अनुभूति को वास्तविक जीवन की लालसा मान लिया जाय, तो अभाव की अनुभूति भी वास्तविक जीवन की और अग्रसर करने में हेतु बन जाती है। इस दृष्टि से संकल्प-उत्पति-पूर्ति का जीवन वास्तविक जीवन का साधन-मात्र है और कुछ नहीं। अतः संकल्प-उत्पति-पूर्ति को ही जीवन स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध रखना है। यद्यपि इस स्वीकृति में निज-अनुभूति का विरोध है, फिर भी प्रभाव चित्त पर अंकित रहना चित्त की अशुद्धि का स्वरूप है।

इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि जो जीवन में दिखाई देती हैं वह ऐसी वस्तु नहीं है कि मिट न सके। अवश्य मिट सकती है। पर कब? जब संकल्प- पूर्ति के सुख का महत्व न रहे, अपितू उसमें पराधीनता का दर्शन हो और संकल्प-अपूर्ति का क्षोभ भयभीत न कर सके। संकल्प पूर्ति के सुख की दासता और संकल्प अपूर्ति का भय मिट जाने पर संकल्प- उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन से तद्रूपता नहीं रहती है। तद्रूपता के मिटते ही चित्त स्वत-शुद्ध होने लगता है। पर चित्त इतनी गहरी खाई है कि उसके शुद्ध शान्त तथा स्वस्थ होते समय भुक्त-अभुक्त संकल्पों के प्रभाव से प्रेरित होकर संकल्पों का प्रवाह चलने लगता है। उसे देखकर साधक भयभीत हो जाता है और स्वयं अपने आप अपनी तथा चित्त की निन्दा करने लगता है। यद्यपि चित्त निन्दनीय नहीं है, उसमें जो भुक्त-अभुक्त संकल्पों का प्रभाव अंकित हो गया है वही त्याज्य है, जो चित्त के शुद्ध होते समय मिटने के लिए स्वयं प्रकट होता है। पर साधक भयभीत होकर उसे दबाने का प्रयास करता है अथवा सुखद मनोराज्य का मिथ्या रस लेने लगता है उसका परिणाम यह होता है कि वह प्रभाव स्थिर हो जाता है, मिट नहीं पाता और साधक चित्त-शुद्धि से निराश होने लगता है। अनेक प्रकार की युक्तियों से, प्रमाणों से इस धारणा को पुष्ट कर लेता है कि भला हमारा चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है, जो स्वभाव से ही चंचल है। पर ऐसी बात नहीं है कि चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार चित्त स्वभाव से ही शुद्धि की और गतिशील होता है। इसी कारण चित्त में चंचलता प्रतीत होती है। जब उसे अपना अभीष्ट रस-प्रसन्नता तथा जीवन-मिल जाता है, तब वह सदा के लिए शुद्ध,शान्त एवं स्वस्थ हो जाता है। इस दृष्टि से चित्त हमारा हितैषी है, विरोधी नहीं। उसकी निन्दा करना अपने प्रति घोर अन्याय है। चित्त-शुद्धि की जिज्ञासा तथा लालसा उत्तरोत्तर सबल तथा स्थायी रहनी चाहिए। उससे कभी निराश नहीं होना चाहिए; अपितु चित्त-शुद्धि के लिए नित-नव उत्कंठा तथा बढ़ता रहना चाहिए। यह नियम है कि उत्साह तथा उत्कंठा में एक अपूर्व रस है और चित्त को स्वभाव से ही प्रिय है। ज्यों-ज्यों उस रस की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों चित्त का मनोराज्य

गलता जाता है, जिससे गलते ही चिरविश्रान्ति स्वतः आ जाती है, जो सभी को अभीष्ट है।

संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता और संकल्प-उत्पति के दुःख के भय से मुक्त होने के लिए यह जान लेना अनिवार्य है कि संकल्प क्या है? वस्तुओं की सत्यता, सुन्दरता एवं सुख-रूपता का आकर्षण ही संकल्प का स्वरूप है, अथवा यों कहो कि अपने से वस्तुओं का अधिक महत्व स्वीकार करना संकल्पों में आबद्ध होना है। अतः संकल्परहित होने के लिए यह आवश्यक है। कि सभी वस्तुओं से अपने को विमुख कर लिया जाय। वस्तुओं से विमुख होते ही वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती, कारण कि वस्तुओं की असंगता प्राणी को निर्लोभी बना देती है। निर्लोभता के आते ही वस्तुओं का मुल्य घट जाता है और फिर वस्तुओं की दासता शेष नहीं रहती। वस्तुओं की दासता मिटते ही भोग की रुचि स्वतः ही मिट जाती है। और योग की लालसा जाग्रत होती है।

अब विचार यह करना है कि वस्तु का स्वरूप क्या है? वस्तु उसे कहते हैं जो उत्पति-विनाशयुक्त हो, परिवर्तन एवं पर-प्रकाश्य हो। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, प्राण,मन,बुद्धि आदि सभी वस्तुओं के अर्थ में आ जाते हैं। इतना ही नहीं, जिसे हम सृष्टि कहते हैं, वह भी एक वस्तु ही है। क्योंकि सृष्टि अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती। हम भले ही किसी वस्तु से ममता करें, पर वस्तु कभी अपनी और से हमें अपना नहीं कहती। इस दृष्टि से वस्तुओं से हमारी भिन्नता है, एकता नहीं। जिससे एकता नहीं है उसे अपना मान लेना, उसकी दासता में आबद्ध होना है और कुछ नहीं। वस्तुओं की दासता ने ही हमें संकल्पों की उत्पति और पूर्ति के जीवन से तद्रूप कर दिया है। प्राणी वस्तुओं से ममता भले ही बनाये रखे, पर वियोग तो स्वभाव से ही जाता है। अतः वस्तुओं के रहते हुए ही हमें उनसे असंग हो जाना चाहिए, तभी लोभ-मोह आदि दोषों की निवृति हो सकती है, जिसके होते ही चित्त स्वतःशुद्ध हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि संकल्प तथा वस्तु में सम्बन्ध क्या है? वस्तुओं से संकल्प की उत्पति होती है अथवा संकल्प में वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं? यदि कोई कहे कि वस्तुओं की उत्पति होती है, तो संकल्प बिना वस्तुओं की प्रतीति कैसे हुई? और यदि कोई यह कहे कि संकल्प से वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, तो संकल्प-अपूर्ति का प्रश्न ही जीवन में क्यों आया? अतःन तो वस्तुओं से संकल्प की उत्पति सिद्ध होती है और न संकल्प से ही वस्तुओं की। परन्तु प्राणी संकल्प के द्वारा ही वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करता है। सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जिससे किसी न किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता हो। इस दृष्टि से संकल्प तथा वस्तुओं में किसी न किसी प्रकार की एकता और भिन्नता अवश्य है। वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा ने संकल्प को जन्म दिया और संकल्प-पूर्ति ने वस्तु को प्रदान किया।

अब विचार यह करना है कि वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा का जन्म कैसे हुआ? शरीररूपी वस्तु में अहम्- बुद्धि हो जाने पर वस्तुओं की कामना स्वतः उत्पन्न होती है; क्योंकि शरीर और सृष्टि के गुणों की भिन्नता और स्वरूप की एकता है। इसी कारण शरीर से तद्रूप होने

पर सृष्टि से सुख की आशा उत्पन्न होती है। शरीर की तद्रूपता न तो वस्तु है और न संकल्प, अपितु अविवेक है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि अविवेक से ही संकल्प और वस्तु में सम्बन्ध की स्थापना हुई। विवेकपूर्वक शरीर से तद्रूपता मिट जाने पर संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती। संकल्पों की निवृत्ति होते ही सुख-दुःख से अतीत, शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही भोक्त, भोग की रुचि और भोग्य वस्तुएँ- इन तीनों का भेट मिट जाता है, क्योंकि भोक्ता से भिन्न भोग की रुचि और भोग की रुचि के बिना भोग्य वस्तु की प्रतीति ही सम्भव नहीं है, अथवा यों कहो कि भोग की रुचि का जो समूह है उसमें जिसने अहम्-बुद्धि को स्वीकार किया, उसी को भोक्ता कह सकते हैं। भोक्ता में ही संकल्पों की उत्पति होती है और संकल्पों की उत्पति ही भोग्य वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ती है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। संकल्प की उत्पति जिन भोग्य वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ देती है, उन वस्तुओं का अस्तित्व क्या है? ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है कि जिसकी प्राप्ति अप्राप्ति में स्वतः न बदल जाय। अप्राप्ति उसी की हो सकती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु का स्वतन्त्र अतित्व ही सिद्ध नहीं होता। स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का हो सकता है, जिससे वस्तुओं की उत्पति हो और जिसमें वस्तुएँ विलीन हों। वस्तुओं की उत्पति के मूल में जो अनुत्पन्ना-तत्व है, उसी की स्वतन्त्र सत्ता हो सकती है। उस स्वतन्त्र सत्ता को जो स्वीकार कर लेता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तुओं से असंग हो जाता है। वस्तुओं से असंग होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। वस्तुओं से संग की स्थापना कब हुई थी, इसका ज्ञान सम्भव नहीं है; किंतु वस्तुओं से असंगता हो सकती है। इससे यह मान ही लेना पड़ता है कि वस्तुओं का संग स्वीकार किया गया है। और उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त अशुद्ध हो गया है, जिसके होने से जीवन पराधीनता, जड़ता आदि दोषों में आबद्ध हो गया है, जो किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। इसी कारण चित्त-शुद्धि का प्रश्न जीवन का प्रश्न है। उसे वर्तमान में ही हल करना है। वह तभी सम्भव होगा, जब संकल्प की उत्पति और पूर्ति के द्वन्द्वात्मक सुख-दुःख-युक्त जीवन से अतीत के जीवन को प्राप्त करें, जो विवेक-सिद्ध है।

०३.०५.१९५६

अशुद्धि के कारण की खोज

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

सर्वांश में चित्त कभी भी अशुद्ध नहीं होता। यदि ऐसा होता हो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्ना नहीं होता। इससे यह समझ लेना चाहिए कि चित्त में तो अशुद्धि भासती है वह उनके किसी अंशमात्र में है। जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि को जानते हैं, उसी ज्ञान में चित्त को शुद्ध करने की सामर्थ्य निहित है। पर कब? जब चित्त की अशुद्धि के कारण की खोज की जाय। चित्त-शुद्धि की उत्कट लालसा अशुद्धि के कारण की खोज करने में समर्थ है। कारण कि शुद्धि की लालसा अशुद्धिजनित सुख की रुचि को खा लेती

है, उसके मिटते ही अशुद्धि का कारण स्पष्ट विदित हो जाता है, जिसके होते ही अशुद्धि का कारण स्वतः मिटने लगता है और उसके मिटते ही चित्त-शुद्ध हो जाता है। अतः चित्त की शुद्ध से किसी को निराश नहीं होना चाहिए और न हार स्वीकार करनी चाहिए,अपितु चित्त-शुद्धि की उत्कट लालसा को सबल तथा स्थायी बनाना चाहिए।

यह नियम है कि जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि का कारण विदित होता है वह नित्य है, स्वाभाविक है, भौतिक दृष्टि से प्राकृतिक विकास है, अध्यात्म-दृष्टि से अपने ही स्वरूप की महिमा है और आस्तिक दृष्टि से अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति है। हमें उस ज्ञान का आदर करना चाहिए, क्योंकि वही हमारा वास्तविक पथ-प्रदर्शक है। इतना ही नहीं, उसे तो निज की ही सम्पति समझना चाहिए, अर्थात उससे अत्यन्त आत्मीयता हो, उसका कभी भी विरोध न हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त-शुद्धि की साधना में सफलता प्राप्त हो जाती है।

संकल्प-पूर्ति का सुख जड़ता उत्पन्न करता है और नवीन संकल्पों की पुनरावृत्ति की प्रेरणा देता है, अर्थात् जिन संकल्पों की पूर्ति अनेक बार हो चुकी है, उनकी वास्तविकता का परिचय नहीं होने देता, अपितु संकल्प-पूर्ति के सुख का राग ही उत्पन्न कर पराधीन बना देता है, जिससे प्राणी परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं हो पाता, किसी न किसी परिस्थिति का आहवान ही करता रहता है। परन्तु जब संकल्प-अपूर्ति का चित्र सामने आता है और उसकी पूर्ति से प्राणी को निराशा होने लगती है, तब संकल्प-पूर्ति से उत्पन्न हुई जड़ता मिटने लगती है और एक नवीन चेतना उदित होती है। यद्यपि संकल्प-अपूर्ति की घड़ियां बड़ी ही दुःखद प्रतीत होती हैं, किन्तु उसी से वास्तविक जीवन की और गतिशील होने के लिये प्रकाश मिलता है। इस दृष्टि से संकल्प-अपूर्ति की वेदना भी जीवन का एक आवश्यक अंग है। साधक को उससे भयभीत नहीं होना चाहिए।

संकल्प-पूर्ति का सुख साधन-पथ में अग्रसर होने वाले साधक के लिए विश्राम का क्षण है। उसी को जीवन मान कर ठहरना नहीं चाहिए। विश्राम का क्षण सुखद है, इसमें सन्देह नहीं है और वास्तविक उद्योग की सामर्थ्य के लिए उसकी आवश्यकता भी है, जिससे साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंच सके। संकल्प-पूर्ति की वेदना संकल्प-पूर्ति के सुख से मुक्त करके साधक को अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंचने के लिए नवीन स्फूर्ति प्रदान करती है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति तथा अपूर्ति दोनों में ही उस अनन्त का मंगलमय विधान निहित है।

यद्यपि संकल्प–पूर्ति का सुख सभी को प्रिय होता है और संकल्प-अपूर्ति का दुःख किसी को भी अभीष्ट नहीं है, परन्तु संकल्प-पूर्ति का वह अंश जो संकल्प-पूर्ति की वास्तविकता का परिचय देने में समर्थ होता है, साधक के लिए हितकर है, अर्थात् संकल्प-पूर्ति में कितना सुख है, इसका बोध हो जाता है। पर यदि उसी को जीवन मान लिया जाय, तो संकल्प-पूर्ति से जड़ता आ जाती है; क्योंकि जिन वस्तुओं से संकल्प पूरा होता है उनसे तादात्म्य हो जाता है और उनका महत्व इतना बढ़

जाता है कि वस्तुओं से अतीत भी कोई जीवन है, इसकी चेतना नहीं रहती। उस जड़ता का नाश संकल्प-अपूर्ति की वेदना से होता है। इस दृष्टि से संकल्प-अपूर्ति बड़े ही महत्व की वस्तु है। पर असावधानी के कारण यदि साधक संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत हो जाय, तो वह बेचारा संकल्प-पूर्ति की दासता में आबद्ध हो जाता है। अतः बड़ी ही सावधानीपूर्वक इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि संकल्प-अपूर्ति से वेदना चाहे जितनी हो; पर संकल्प-पूर्ति की आशा नहीं करनी चाहिए। संकल्प-पूर्ति से निराशा आ जाने पर वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जाग्रत होती है, जो संकल्प-पूर्ति के राग को खा जाती है, और जिसके । बाद जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

संकल्प-उत्पत्तिकिसी अप्राप्त की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है अर्थात प्राप्त परिस्थिति में असंतोष उत्पन्न कर देती है। ऐसी दशा में या तो किसी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आह्वान होने लगता है अथवा सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन की लालसा जाग्रत होती है। जिन संकल्पों से किसी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आह्वावान होने लगता है, वे संकल्प अशुद्ध है और त्याज्य है; क्योंकि वे जड़ता तथा पराधीनता की ओर जाते हैं और जो संकल्प सभी अवस्थाओं के अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत करते हैं, वे शुद्ध संकल्प हैं यह नियम है कि अशुद्ध संकल्प मिट जाते हैं पर शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं।

अशुद्ध संकल्पों के त्याग में शुद्ध संकल्पों की पूर्ति की सामर्थ्य निहित है और शुद्ध संकल्पों की पूति के सुख त्याग में निर्विकल्प होने की सामर्थ्य निहित है। निर्विकल्पता आ जाने पर सुख-दुःख गल कर चिरशांति में विलीन हो जाते हैं और चित्त की अशुद्धि स्वतः मिटने लगती है।

अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों के त्याग से चित्त-शुद्धि की साधना आरंभ होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अशुद्ध संकल्पों के त्याग से उन शुद्ध संकल्पों की पूर्ति स्वतः हो जाती है, जिनका राग संकल्प-पूर्ति के बिना मिट ही नहीं सकता। अनावश्यक संकल्प शुद्ध ही क्यों न हो; पर वे परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक शुद्ध संकल्पों की पूर्ति में बाधक होते हैं; क्योंकि अनावश्यक संकल्पों से प्राप्त शक्ति का ह्रास हो जाता है। जो शक्ति शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के लिए मिली थी, वह व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से अनावश्यक संकल्पों का त्याग अनिवार्य है। अशुद्ध संकल्पों से अकर्त्तव्य का जन्म होता है, जो कर्त्तव्य-परायणता से तो विमुख कर ही देता है, साथ ही अवनति की और भी ले जाता है अर्थात वर्तमान वस्तुस्थिति से भी गिरावट की ओर ले जाता है। इस दृष्टि से अशुद्ध और अनावश्यक दोनों की ही प्रकार के संकल्प त्याज्य है।

अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों के त्याग का उपाय क्या है?आवश्यक संकल्पों को परिस्थितियों के अनुसार पवित्र भाव से लक्ष्य पर दृष्टि रखकर कर्त्तव्य-बुद्धि से पूरा कर डालना चाहिए। आवश्यक संकल्प वही है जिसको पूरा करने की सामर्थ्य प्राप्त हो और जिसका सम्बन्ध

वर्तमान से हो, जिसको बिना पूरा किए हम किसी भी प्रकार रह न सकें और जिसके पूरे होने में किसी का अहित न हो। इस दृष्टि से आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में साधक परतंत्र नहीं है। अतः बड़ी ही तत्परतापूर्वक आवश्यक संकल्प पूरा कर डालना चाहिए। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में प्राकृतिक विरोध नहीं है। असावधानी और आलस्य के कारण ही आवश्यक संकल्प पूरे नहीं होते, तब अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प उठने लगते हैं, जो प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास तथा दुरुपयोग कराने में हेतु बन जाते हैं, जिससे चित्त में उत्तरोत्तर अशुद्धि ही वृद्धि पाती है। इस दृष्टि से आवश्यक संकल्पों का पूरा करना अत्यंत आवश्यक है।

शुद्ध तथा आवश्यक संकल्प की पूर्ति की प्रयत्न आरंभ होते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों का प्रवाह बड़े ही वेग से उठने लगता है। साधक उसे देख भयभीत हो जाता है और बलपूर्वक उस प्रवाह को मिटाने का उद्योग करने लगता है। पर बेचारा सफल नहीं होता। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि संकल्पों का जो प्रवाह उठ रहा है उससे असहयोग कर लिया जाय। वह तभी संभव होगा जब साधक को यह विश्वास हो जाय कि भुक्त-अभुक्त इच्छाओं के प्रवाह से ही दबे हुए संकल्प मिटने के लिए उठ रहे हैं, यह नवीन संकल्पों की उत्पत्ति नहीं है। संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख का जो भोग है, उसी से भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का प्रभाव चित्त में अंकित हुआ है। जब साधक चित्त-शुद्धि की साधना में प्रवृत्त होता है, तब चित्त में स्वतः एक स्फूर्ति आती है जिससे अंकित प्रभाव मिटने के लिए प्रकट होने लगता है। पर साधक इस रहस्य को बिना जाने बलपूर्वक संकल्पों के उस प्रवाह को रोकने लगता है। पर साधक इस रहस्य को बिना जाने बलपूर्वक संकल्पों के उस प्रवाह को रोकने लगता है। इतना ही नहीं, वह अशुद्ध संकल्पों से भयभीत होकर चित्त की निन्दा करने लगता है और शुद्ध संकल्पों का सुख भोगने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो दबी हुई अशुद्धि मिट रही थी, वह ज्यों की त्यों अंकित रह जाती है। ऐसी दशा में साधक को बड़ी सावधानीपूर्वक चित्त -शुद्धि के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। उससे निराश नहीं होना चाहिए, अपितु प्रयत्नशील बने रहने के लिए नित-नव उत्कंठा तथा उत्साह बढ़ना चाहिए।

प्राकृतिक नियम के अनुसार ऐसी कोई अशुद्धि है ही नहीं जो स्वतः न मिट जाय। पर अशुद्धि जनित जो सुख है उसका त्याग हम नहीं करते, इस कारण अशुद्धि की पुनरावृत्ति होती रहती है। यदि अशुद्धि की स्वतंत्र सत्ता न स्वीकार की जाय और अशुद्धि जनित जो सुख है उसको न अपनाया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक अशुद्धि सदा के लिए मिट जाती है।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान ही तब होता है। जब चित्त-शुद्धि की साधना आरम्भ होती है। अतःचित्त की अशुद्धि को जानकर यह नहीं समझना चाहिए कि चित्त-शुद्ध नहीं हो रहा है; क्योंकि चित्त की एकाग्रता की साधना करते समय ही चित्त की चंचलता का बोध होता है और चित्त को निर्मल करते समय ही उसकी मलिनता भासती है। चित्त की चंचलता तथा मलिनता का बोध चित्त की एकाग्रता तथा निर्मलता का साधन

है; क्योंकि जिस ज्ञान से चित्त के विकारों का बोध होता है, उसी ज्ञान में चित्त को निर्विकार बनाने की सामर्थ्य विद्यमान है; क्योंकि वह ज्ञान जिसकी देन है वह सर्व-समर्थ है।

अपनी-अपनी धारणा के अनुसार कोई उस ज्ञान को भौतिक विकास मान कर, कर्त्तव्यपरायण होकर, अशुद्धि का अन्त कर देता है। कर्त्तव्यपरायण विद्यमान राग को मिटाकर विश्राम प्रदान करती है, जिससे चित्त स्वतः शान्त,स्वस्थ तथा शुद्ध हो जाता है; क्योंकि विश्राम मिलने पर आवश्यक शक्ति का स्वतः विकास होता है, जो चित्त को शुद्ध करने में समर्थ है। कोई उस ज्ञान को निज विवेक का प्रकाश मान कर अविवेक-जनित अशुद्धि का अन्त करने में समर्थ होता है, कारण कि विवेक असंगता प्रदान करता है। असंगता प्राप्त होते ही चिरशान्ति स्वतः आ जाती है। यह नियम है कि शान्ति सब प्रकार की सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। अतः विवेकी का चित्त बड़ी ही सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है। कोई उस ज्ञान को अनन्त की अहैतु की कृपा-शक्ति मानता है और उसी का आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाता है। अतः उसे यह विश्वास हो जाता है कि अनन्त की कृपा-शक्ति स्वतः चित्त को शुद्ध शान्त तथा स्वस्थ बना रही है।

०४.०५.१९५६

सामर्थ्य का विकास एवं उसका उपयोग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

ज्यों-ज्यों चित्त में शुद्धता आती जाती है, त्यों-त्यों सामर्थ्य का विकास अपने आप होता है, क्योंकि शुद्धि में शान्ति और शान्ति में सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। यदि सामर्थ्य का सदुपयोग केवल संकल्प-पूर्ति, अर्थात् सुख-भोग के लिये किया जाय, तो पराधीनता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जायेंगे, जो चित्त की शुद्धि में बाधक होंगे। इसलिये सामर्थ्यका उपयोग संकल्प-पूर्ति-मात्र में ही नहीं करना चाहिए, क्योंकि संकल्प-पूर्ति से जितना सुख मिलता है, उससे कहीं अधिक शान्ति संकल्प-निवृति से प्राप्त होती है। सुख और शान्ति में एक बड़ा अन्तर है-सुख प्राणी को पराधीनता, जड़ता, मृत्यु एवं आसक्ति की ओर ले जाता और शान्ति उसे स्वाधीनता, चिन्मयता, अमरत्व एवं प्रेम की ओर अग्रसर करती है। इस दृष्टि से सुख की अपेक्षा शान्ति कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। वह तभी सुरक्षित रह सकती है, जब संकल्पों की पूर्ति के सुख को अधिक महत्व न दिया जाय। जब संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता नहीं रहती, तब संकल्प-उत्पत्ति तथा अपूर्ति का दुःख स्वंय निर्जीव हो जाता है। इस प्रकार सुख-दुःख का प्रभाव मिटते ही जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जाग्रत होती है। यदि साधक शान्ति में रमण करने लगे तो जिज्ञासा तथा लालसा दब जायेंगी। जिज्ञासा तथा लालसा में शिथिलता आते ही किसी न किसी प्रकार का संकल्प उत्पन्न हो जायगा, जिससे शान्ति भंग हो जायगी। अतः उसे संकल्पों की अपूर्ति के दुःख से भयभीत नहीं होना चाहिए, उनकी पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं होना चाहिए और उनकी निवृत्ति की शान्ति में रमण नहीं करना चाहिए।

चित्त में अशुद्धि सामर्थ्य के दुरुपयोग से आती है और शुद्धि स्वाभाविक है। सामर्थ्य के दुरुपयोग का आरम्भ कब हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। पर यदि सामर्थ्य का दुरुपयोग न किया जाय, तो चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः सामर्थ्य का दुरुपयोग ही चित्त की अशुद्धि में हेतु है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वतः होने लगता है। अब यदि कोई यह कहे कि हम तो असमर्थ हैं, तो प्राकृतिक नियम के अनुसार सर्वांश में असमर्थता किसी भी व्यक्ति में नहीं होती और यदि उसे असमर्थ स्वीकार कर भी लिया जाय, तो भी यदि तो मानना ही होगा कि असमर्थता से किसी प्रकार का अहित नहीं हो सकता, अर्थात् असमर्थता अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं हो सकता। असमर्थ प्राणी तो स्वतः ही उस पर निर्भर हो जाता है जो सर्वसमर्थ है। इस दृष्टि से असमर्थता से चित्त अशुद्ध नहीं होता, अपितु सामर्थ्य के दुरुपयोग से ही चित्त अशुद्ध होता है। कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता की बात मन में तभी आती है, जब हम प्राप्त सामर्थ्य का व्यय सुख-भोग में करने लगते हैं। असमर्थता के कारण हमारा चित्त अशुद्ध हो गया, यह बात किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं है। असमर्थता-काल में तो निर्भरता प्राप्त होती है, वही सामर्थ्य के सदुपयोग से भी प्राप्त होती है, क्योंकि सामर्थ्य के सदुपयोग से सामर्थ्य का अभिमान गल जाता है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि में असमर्थता और सामर्थ्य के सदुपयोग का समान स्थान है।

अब विचार यह करना है कि सामर्थ्य के सदुपयोग और दुरुपयोग का अर्थ क्या है? स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व से विमुख होकर वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के द्वारा सुखभोग में सामर्थ्य का व्यय करना ही उसका दुरुपयोग है। ऐसा करने से प्राणी जड़ता, पराधीनता एवं मृत्यु आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, सुख-भोग से प्रमाद, हिसां आदि विकार स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे अपना अकल्याण और समाज का अहित होने लगता है। और यदि प्राप्त सामर्थ्य से किसी का अहित न हो, हमारी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न हो, अर्थात् जिससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता नहीं है उस पर निर्भर न हो, तो यह सामर्थ्य का सदुपयोग है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्त सामर्थ्य किसी असमर्थ की धरोहर है। वह किसी के काम आनी चाहिए, अर्थात् सर्व-हितकारी प्रवृत्ति में ही सामर्थ्य का सद्व्यय है। सामर्थ्य का सदुपयोग होते ही हिंसा जैसा भयंकर दोष स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही स्नेह की एकता अपने आप आ जाती है। स्नेह की एकता से भेद गल जाता है। उसके गलते ही सब प्रकार के भय और संघर्ष मिट जाते है, जिनके मिटते ही चिर-शान्ति की स्थापना स्वतः हो जाती है, जिसमें अपना कल्याण तथा सभी का हित निहित है।

अब विचार यह करना है कि सामर्थ्य के दुरुपयोग में हमारी प्रवृत्ति ही क्यों होती है? संकल्प-अपूर्ति का जो दुःख है, उसे हम हर्ष पूर्वक सहन नहीं कर पाते और यह भूल जाते हैं कि संकल्प-अपूर्ति में भी हित है। संकल्प-पूर्ति को ही सब कुछ मान बैठते हैं, इसी कारण सामर्थ्य के दुरुपयोग में प्रवृत्ति होती है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति

में वस्तु, व्यक्ति आदि का ही महत्व बढ़ता है, जिससे चित्त में लोभ, मोह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, फिर भी संकल्प-पूर्ति को ही महत्व देकर प्राणी चित्त को अशुद्ध करता रहता है।

अब यदि कोई यह कहे कि संकल्प-पूर्ति भी तो जीवन का एक आवश्यक अंग है, क्योंकि कुछ संकल्प ऐसे भी तो उठते हैं कि जिनका पूरा होना अनिवार्य है। जिन संकल्पों का पूरा होना अनिवार्य है, वे तो प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः पूरे हो जाते हैं। जो संकल्प स्वतः पूरे होते हैं,यदि उनकी पूर्ति के सुख में हम अपने को आबद्ध न करें, तो संकल्पों की पूर्ति भी संकल्प-निवृति का साधन बन जाती है। अतः संकल्प भले ही पूरे हो, पर उनकी पूर्ति का महत्व चित्त में अंकित न हो, तो बड़ी सुगमता पूर्वक अनावश्यक संकल्प मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति में कोई भेद ही नहीं रहता और साधक उस जीवन का अधिकारी हो जाता है, जो संकल्प-उत्पति तथा पूर्ति से पूर्व है, जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का जीवन में स्थान भले ही हो, पर उसका कोई विशेष महत्व नहीं है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक बड़ी सुगमतापूर्वक संकल्प-पूर्ति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

संकल्प-पूर्ति के प्रभाव से मुक्त होते ही सभी परिस्थितियों से अपना महत्व बढ़ जाता है, अर्थात् वस्तु आदि की दासता मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं, जिससे बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है। परन्तु यदि साधक उन गुणों का उपभोग करने लगे तो परिच्छिन्नाता में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है, अर्थात् उसका अहम्-भाव पुष्ट हो जाता है। यद्यपि अहम्-भाव का महत्व परिस्थितियों की दासता से मुक्त करने में समर्थ है, परन्तु यदि उसी को जीवन मान लिया जाय, तो अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके होते ही चित्त में राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस दृष्टि से अहम् का महत्व चित्त को अशुद्ध ही करता है। जैसे कोई सारी नदी को पारकर किनारे आकर डूब जाय, वही दशा उस साधक की होती है, जो परिस्थितियों की दासता से मुक्त हो अहम्-भाव की पूजा में लग जाता है। उसका परिणाम यह होता हैं कि साधन-प्रणालियों में, विचारधारा में जो महानता होती है, जिससे साधक को सिद्धि मिलती है, जो आदरणीय है, उसमें जब अहम्-भाव की छाप लग जाती है, तब अहम्-भाव के दोष उन पद्धतियों में आ जाते हैं और पद्धतियों की महानता के आधार पर साधकों में मिथ्या अभिमान आ जाता है, जिसके आते ही स्नेह की एकता मिट जाती है। उसके मिटते ही सघर्ष उत्पन्ना हो जाते हैं और साधक-गण अपनी-अपनी पद्धतियों के नाम लेकर उनकी महिमा गाते रहते हैं। पर पद्धति और जीवन में इतनी भिन्नाता हो जाती है कि जिस पद्धति की वे महिमा गाते हैं, उसका घोर विरोध उन्हीं के जीवन द्वारा स्वतः होने लगता है। अर्थात् जो कहते हैं, जो मानते हैं और उसका प्रचार करते हैं उसका प्रभाव उनके जीवन में लेशमात्र भी नहीं रहता। उसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्क तथा हृदय में सन्तुलन नहीं

रहता, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अहम् का पूजारी साधक, पद्धति और जीवन में भेद होने पर भी पद्धति के नाम पर अपने प्राण तक दे देता है, पर दूसरों के द्वारा अपनी पद्धति का विरोध नहीं सहन कर सकता। अर्थात् अपनी पद्धति के उसकी इतनी आसक्ति हो जाती है कि वह दूसरी पद्धतियों का अनादर करता है और अपनी पद्धति का अनुसरण स्वतः नहीं कर पाता, पर दूसरे से अपनी पद्धति मनवाने के लिए जो नहीं करना चाहिए वह भी करता है। यह पद्धतियों की आसक्ति का परिणाम है, जिसका जन्म चित्त की अशुद्धि से हुआ है।

यद्यपि प्रत्येक पद्धति किसी न किसी साधक के लिए हितकर अवश्य है। परन्तु ऐसी कोई पद्धति हो ही नहीं सकती जो सर्वांश में सभी के लिए हितकर सिद्ध हो, क्योंकि पद्धति की उत्पति की योग्यता, रुचि एवं परिस्थिति आदि से होती है। सर्वांश में समान योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति दो व्यक्तियों की भी नहीं होती, तो फिर किसी पद्धति को इतना महत्व देना कि उसे सभी मान लें, यह उस पद्धति के समर्थक के अहम्-भाव का विकार है। इस कारण जब तक अहम्-भाव रूपी अणु न तोड़ दिया जाय, तब तक न तो चित्त ही शुद्ध हो सकता है और न दिव्य-चिन्मय जीवन से ही अभिन्नता हो सकती है। अतः चित्त-शुद्धि के लिए जहाँ संकल्प-पूर्ति के महत्व का विरोध है, वहां अहम्-भाव के महत्व का भी घोर विरोध है। अहम् को महत्व देना अनन्त से विमुख होना है और चित्त को अशुद्ध करना है। चित्त के अशुद्ध रहते हुए किसी को भी न तो चिर-शान्ति तथा सामर्थ्य मिल सकती है और न अमरत्व तथा अगाध अनन्त रस की उपलब्धि हो सकती है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब अहम् अन्नत को समर्पित कर दिया जाय। उसके लिये साधक को संकल्प की पूर्ति, अपूर्ति एवं निवृत्ति से अतीत के जीवन पर अविचल विश्वास करना अनिवार्य है।

०५.०५.१९५६

व्यक्तित्व की दासता एवं गुणों का अभिमान

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

गुणों के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त अशुद्ध होता है। गुणों का अभिमान शरीर और विश्व में, व्यक्ति और समाज में, दो वर्गो में, दो सम्बन्धियों, दो दलों में परस्पर किसी न किसी प्रकार का भेद अवश्य उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, जिज्ञासा की अपूर्ति और कामना की उत्पत्ति में भी गुणों की अभिमान से उत्पन्न भेद ही हेतु है। प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच में यदि कोई दूरी उत्पन्न करता है, तो वह गुणों का अभिमान ही है। इस दृष्टि से गुणों के अभिमान का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अर्थात् वह सर्वथा त्याज्य है।

यह नियम है कि गुणों के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त में किसी न किसी प्रकार की अशुद्धि अवश्य आ जाती है, क्योंकि गुणों के अभिमान से व्यक्तित्व का महत्व बढ़ता है और सीमित प्रीति से द्वेष की उत्पति होती है, जिससे वैर-भाव उत्पन्न हो जाता है, जो समस्त संघर्षों का मूल है। यद्यपि व्यक्ति समाज के अधिकारों का

पुञ्ज है और कुछ नहीं। परन्तु व्यक्तित्व की दासता साधक को अधिकार-लालसा में आबद्ध कर देती है, जिससे वह बेचारा दीन हो जाता है। वह अपनी प्रसन्नता दूसरों के कर्तव्य तथा उदारता पर ही निर्भर कर लेता है। यदि उसके अधिकार की पूर्ति हो गई, तो राग में आबद्ध हो जाता है और यदि अधिकार की पूर्ति नहीं हुई, तो क्रोध की अग्नि में जलने लगता है। राग और क्रोध दोनों ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

राग भोग-वासनाओं में आबद्ध कर देता है और क्रोध से कर्त्तव्य की, स्वरूप की और प्रेमास्पद की विस्मृति हो जाती है। कर्त्तव्य की विस्मृति से व्यक्ति का अकल्याण होता है और समाज में असुन्दरता आ जाती है, क्योंकि कर्तव्यपरायणता से ही व्यक्ति सत्पथ की और अग्रसर हो सकता है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य की विस्मृति से व्यक्ति और समाज दोनों ही की क्षति होती है। कारण, कि कर्त्तव्यपरायणता से विद्यमान राग की निवृति हो जाती है, जिससे साधक सत्य की खोज करने में समर्थ होता है और कर्त्तव्यपरायणता किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होने देती। जब किसी के अधिकारों का अपहरण नहीं होता, तब स्वतः सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है। स्वरूप की विस्मृति देह आदि वस्तुओं से तद्रूप कर देती है, जिससे बेचारा साधक अमरत्व से विमुख हो, मोह में आबद्ध हो जाता है और मृत्यु की और अग्रसर होता है। प्रेमास्पद की विस्मृति अनेक आसक्तियों को उत्पन्न कर देती है, जिससे बेचारा साधक अगाध, अन्नत रस से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से क्रोध का त्याग अनिवार्य है। पर वह तभी हो सकता है, जब व्यक्ति अधिकार-लालसा से मुक्त हो, दूसरों के अधिकारों की रक्षा में तत्पर बना रहे।

भोग-वासनाओं में आबद्ध प्राणी नित्य-योग से विमुख हो जाता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। कारण कि भोग-वासनाएं भोगी को भोग में प्रवृत कर उसे शक्तिहीन, पराधीन बना देती हैं और जड़ता में आबद्ध कर देती हैं। इस दृष्टि से भोग-वासनाओं को त्याग नित्य-योग प्राप्त करना अनिवार्य है। यह नियम है कि नित्य-योग से चिर-शान्ति तथा सामर्थ्य एवं स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब साधक अधिकार-लालसा से मुक्त हो, राग तथा क्रोधरहित हो जाय। राग तथा क्रोध का अन्त करने के लिए प्राणी को व्यक्तित्व की दासता से मुक्त होना अनिवार्य है।

व्यक्तित्व की दासता का अन्त करने के लिए गुणों के अभिमान को गलाना ही पड़ेगा। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक पर-दोष-दर्शन से विमुख हो, निज-दोष जानने का प्रयत्न करे। यह नियम है कि पर-दोष-दर्शन न करने से निज-दोष का दर्शन स्वतः हो जाता है। उसके होते ही गुणों का अभिमान गलने लगता है। गुणों का अभिमान गलते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि अपनी दृष्टि में कोई भी प्राणी अपने को निन्दनीय नहीं रखना चाहता। यह नियम है कि अपनी दृष्टि में निन्दनीय नहीं रहने पर ही वास्तविक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव होता है और फिर किसी प्रकार के दोष की उत्पति नहीं होती।

गुणों का अभिमान दोषों की भूमि में ही उपजता है, निर्दोषता में नहीं, और दोषों की भूमि पर-दोष-दर्शन से सुरक्षित रहती है। पर-दोष-दर्शन करने वाली दृष्टि सीमित गुणों को महत्व देने से ही उत्पन्न होती है। साधक जब दोष-जनित आसक्ति को बलपूर्वक दबाने की चेष्टा करता है, तब किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर अपने अहम्-भाव में सीमित गुणों का आरोप कर देता है। उससे दोष्-जनित आसक्ति तो मिट नहीं पाती, प्रत्युत् गुणों का आश्रय लेकर साधक उनके अभिमान में आबद्ध हो जाता है और फिर उसके हृदय और मस्तिष्क में सामंजस्य नहीं रहता। इसका परिणाम यह होता है कि वह जिसमें चित्त को लगाना चाहता है उसमें लगा नहीं पाता और जिससे हटाना चाहता है उससे हटा नहीं पाता, अथवा यों कहो कि जो करना चाहिए वह कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए उसकी रुचि नष्ट नहीं होती। इस भयंकर अवस्था में बेचारा साधक जो करना चाहिए उसके करने का अभिनय-सा करता रहता है और जो नहीं करना चाहिए उसकी वासना को बलपूर्वक दबाता रहता है, पर मिटा नहीं पाता।

चित्त में इस प्रकार की वासना-जनित दबी हुई अशुद्धि कभी न कभी प्रकट हो ही जाती है, जिससे भयभीत होकर साधक समझने लगता है कि मैं उन्नाति के पथ से च्युत हो गया। पर बात ऐसी नहीं है। गुणों का अभिमान रखते हुए कोई भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। दबे हुए दोष का प्रकट होना दोष नहीं, अपितु निर्दोषता का साधन है। वास्तविक दोष तो अभिमान-युक्त गुण ही हैं, जिन्हें हम प्रमादवश महत्व देते रहते हैं। साधक को अपने में गुणों का भास तभी होता है, जब उसकी दृष्टि दूसरों की निर्बलता पर जाती है। वास्तविक गुणों का प्रादुर्भाव होने पर उनका भास नहीं होता। अतः जब तक गुणों का भास हो, तब तक समझना चाहिए कि गुणों के स्वरूप में कोई दोष है।

यह निर्विवाद सत्य है कि गुणों के अभिमान के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव जीवित है और उससे ही कोई भला और कोई बुरा, कोई छोटा और कोई बड़ा, कोई ऊंचा और कोई नीचा भासता है। अहम्-भाव के रहते हुए कामनाओं का नाश नहीं हो सकता, उनके नष्ट हुए बिना निस्सन्देहता नहीं आ सकती और निस्सन्देहता के बिना निर्भयता, समता, मुदिता आदि का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस दृष्टि से सीमित अहम्-भाव का अन्त करने के लिए गुणों के अभिमान का त्याग परम अनिवार्य है।

अहम्-भाव की पूजा से गुणों का अभिमान सुरक्षित रहता है। अब विचार यह करना है कि अहम्-भाव की पूजा क्या है? अपने सुख से ही सुखी होना, अर्थात् अपने सम्मान में, अपनी ही ख्याति में, अपने ही प्यार में रमण करते रहना और उसी के लिए ऊपर-ऊपर से गुणों का लेप चढ़ाना, जिससे व्यक्तित्व की पूजा में क्षति न हो, परन्तु अपनी ही दृष्टि में अपने को पूजा के योग्य न पाना, फिर भी दूसरों से पूजा की आशा करना-इसी प्रमाद से अहम्-भाव पोषित होता है।

साधक अपनी दृष्टि में जैसा है, यदि वैसा दूसरों की दृष्टि में रहना चाहता है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक गुणों के अभिमान से मुक्त हो

सकता है और सच्चे सम्मान के योग्य बन सकता है। परन्तु ऐसा होने में वह अपने को इस कारण असमर्थ पाता है कि अपने जाने हुए दोषों के त्याग में असावधानी करता है। यह नियम है कि जो अपनी दृष्टि दोषी है वही दूसरो से निर्दोष कहलाने की आशा करता है, अर्थात दोष-जनित वेदना को दबाने के लिए दूसरो की दृष्टि में निर्दोष बने रहने का प्रयास करता है और उसी के लिए ऊपर से गुणों का बलपूर्वक भेष बनाता है। बनाया हुआ भेष कभी न कभी बिगड़ जाता है। यदि साधक अपनी ही दृष्टि में आदर के योग्य बने रहने के लिए प्रत्यनशील रहे, तो अहम्-भाव की दासता तथा गुणों के अभिमान से रहित हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा, जब अपने जाने हुए दोषों का त्याग करने में वह सर्वदा तत्पर रहे। यह नियम है कि दोषों का त्याग करते ही गुणों का अभिमान स्वतः ही गल जाता है, जिसके गलत ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब विचार करना है कि गुण क्या है और दोष क्या है? दूसरों की और से अपने प्रति होने वाले दोष का ज्ञान स्वतः हो जाता है और दूसरों से हम वही आशा करते हैं जो गुण है। कोई भी अपना अनादर, हानि, क्षति नहीं चाहता। सभी आदर और प्यार तथा रक्षा चाहते हैं। जिन प्रवृत्तियों से किसी की क्षति हो, किसी का अनादर हो, किसी का अहित हो, वे सभी दोष हैं और जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का हित, लाभ एवं प्रसन्नता हो, और वे सभी गुण हैं। गुणों का उपयोग दूसरों के प्रति होता है और उससे अपना विकास स्वतः हो जाता है। जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का अहित होता है, उन प्रवृत्तियों से अपना भी अकल्याण ही होता है। यह रहस्य जान लेने पर दूसरों के अहित की कामना सदा के लिए मिट जाती है और सर्व-हितकारी भावना स्वतः जाग्रत होती है। सर्व-हितकारी भावना की भूमि में ही गुण विकास पाते हैं। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। एक ही दोष स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का भासता है। सर्वांश में किसी भी दोष के मिट जाने पर सभी दोष मिट जाते हैं और सर्वांश में किसी भी गुण के अपना लेने पर सभी गुण स्वतः आ जाते हैं। इस दृष्टि से दोषों की निवृति और सद्गुणों की अभिव्यक्ति युगपद् है। सर्वांश में सद्गुणों की अभिव्यक्ति होने पर निरभिमानता आ जाती है, क्योंकि तब दोषों की उत्पति नहीं होती और गुणों से अभिन्नता हो जाती है। यह नियम है कि जिससे अभिन्नता हो जाती है उसका भास नहीं होता, अर्थात् उसमें अहम्-बद्धि नहीं होती, अपितु वह जीवन हो जाता है। सर्वांश में सद्गुणों की अभिव्यक्ति जीवन में तभी सम्भव है, तब दबी हुई अशान्ति प्रकट होकर मिट जाय और वास्तविक चिर-शान्ति की स्थापना हो जाय। शान्ति का भेष बना कर बैठ जाना और भीतर विप्लव उठते रहना, उसे प्रकट न करना, चित्त को अशुद्ध रखना है। अब विचार यह करना है कि ऐसा शान्ति का भेष प्राणी क्यों बनाता है? दूसरों की दृष्टि में मिथ्या आदर पाने के प्रलोभन से ऊपर से शान्त और भीतर से क्षुभित बना रहता है। दबा हुआ क्षोभ अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करता है और प्राणी को शक्तिहीन बना देता है, जिससे अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं।

क्षोभ होने के लिए अपने भीतर का चित्र बड़ी सावधानी से प्रकाशित कर दें, तो क्षोभ मिटने लगता है और करना चाहिए उसका बोध हो जाता है, जिससे मानसिक शान्ति सुरक्षित हो जाती है। मानसिक शान्ति सुरक्षित रहने से असमर्थता मिट जाती है। सामर्थ्य का सदुपयोग करते ही क्षोभ सदा के लिए मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

किसी को क्षुभित न करने में ही क्षोभरहित होना नहीं है, अपितु किसी से क्षुभित न होना और किसी को क्षुभित न करना आ जाय, तभी समझना चाहिए कि क्षोभ से छुटकारा मिल गया। कोई हमें बुरा समझेगा, इस भय से हमें शान्त ही रहना है, अपने क्षोभ को प्रकट नहीं करना है, इस शान्ति का कोई महत्व नहीं है। भय रहित शान्ति ही वास्तविक शान्ति है। वह तभी सम्भव है, जब अनुकूलता तथा प्रतिकूलताओं के आक्रमण का प्रभाव ही न हो।बुरा कहलाने का भय और सज्जन कहलाने का प्रलोभन जब तक रहेगा, तब तक चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। यदि बुराई हो, तो उसका त्याग करना है। हमें कोई बुरा न समझे, इससे हम भले हो नहीं जाते, भले तो बुराई के त्याग से ही हो सकते हैं। किसी में सुन्दरता और किसी में असुन्दरता का प्रतीक होना, किसी के प्रति आकर्षण और किसी से विकर्षण उत्पन्न होना, चित्त की अशुद्धि का ही परिणाम है। कारण कि अपना दोष ही किसी में महत्व का दर्शन कराता है और अपने अभिमान से ही किसी में दोष भासता है। निर्दोषता तथा निरभिमानता आ जाने पर न किसी के प्रति आकर्षण होता है और न किसी से विकर्षण। अतः जाने हुए दोष को त्याग, गुणों के अभिमान से रहित, अहम्-भाव की दासता से मुक्त होकर चित्त-शुद्ध कर लेना चाहिए। चित्त के शुद्ध होने पर इन्द्रिय-ज्ञान से अनेक भेद भासने पर भी वास्तविक अभेदता प्राप्त होती है, जिसके होते ही समता आ जाती है, जो वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

०६.०५.१९५६

प्राप्त का सदुपयोग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

गुण-दोष-युक्त जीवन ही वर्तमान वस्तुस्थिति है। इसके आधार पर ही प्राणी का व्यक्तित्व जीवित है। केवल दोषों के आधार पर किसी का भी व्यक्तित्व, अर्थात् अहम्-भाव जीवित नहीं रह सकता। ऐसा कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता, जो सर्वांश में दोषी हो। बुरे से बुरा व्यक्ति भी किसी-न-किसी अंश में किसी-न-किसी के लिए भला सिद्ध होता है। व्यक्तियों में केलव अन्तर इतना ही होता है कि किन्हीं में गुणों की अधिकता और दोषों की न्यूनता और किन्हीं में दोषों की अधिकता और गुणों की न्यूनता। इसी आधार पर हम किसी को भला और किसी को बुरा मान बैठते हैं। गुण-दोष समान अवस्था में किसी व्यक्ति में नहीं होते क्योंकि दो विरोधी शक्तियां सम होने पर गति-शून्य हो जाती हैं। गति तभी तक रहती है, जब तक वैषम्य हो।

जिस प्रकार प्रत्येक काष्ठ में किसी-न-किसी अंश में अग्नि विद्यमान रहती है, तभी काष्ठ का अस्तित्व उपयोग सिद्ध होता है। यदि किसी कारण अग्नि की मात्रा अधिक हो जाय, तो काष्ठ काष्ठ के रूप में उपयोग नहीं रहता और यदि काष्ठ किसी अंश में न रहे, तो प्रज्जवलित अग्नि भी शान्त हो जाती है। उसी प्रकार गुण-दोष के वैषत्य के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव की सिद्धि होती है और उसमें कर्तव्य और भोक्तृत्व जीवित रहता है। उसी कर्त्तृव्य और भोक्तृत्व के अभिमान से चित्त अशुद्ध होता है।

चित्त-शुद्धि के लिए गुण-दोष युक्त अहम्भाव का अन्त करना अनिवार्य है। यह नियम है कि दोषों का अन्त होने पर गुणों का अभिमान स्वतः गल जाता है और सर्वांश में गुणों का प्रादुर्भाव होने पर दोष स्वतः मिट जाते हैं। फिर सीमित अहम्-भाव जीवित नहीं रहता। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं हो सकता। जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश से ही प्रकाशित है, उसके बिना नहीं, उसी प्रकार दोष का अस्तित्व भी किसी गुण के आधार से ही प्रकाशित होता है, बिना गुण के नहीं। तात्पर्य यह है कि सर्वांश में न तो कोई दोषी हो सकता है और न कोई दोषी रहना ही चाहता है। कारण कि दोष अपनी दृष्टि में भी अपने को प्रिय नहीं होता और दूसरों को भी प्रिय नहीं होता। जिसके प्रति किसी भी अंश में प्रियता नहीं रहती, उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता, यों कहो कि उससे सम्बन्ध ही नहीं रह सकता। प्रियता में ही सम्बन्ध सुरक्षित रखने की सामर्थ्य है। दोष दोषी को अपनी दृष्टि में भी चैन से नहीं रहने देता और दूसरे तो दोष के कारण उपेक्षा करते ही हैं। पर दोषी अपने किसी गुण को देख, दोष से उत्पन्न हुई वेदना को शिथिल कर देता हैं, अथवा पराये दोष को देख, मिथ्या सन्तोष कर बैठता है, जिससे दोष दोषी से निकल नहीं पाता। इस दृष्टि से अपना गुण और दूसरों का दोष देखना बड़ा ही भयंकर दोष है, अथवा यों कहो कि यही दोष सभी दोषों की भूमि है। इस दोष का अन्त होते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब यदि कोई यह कहे कि अपना गुण नहीं देखना चाहिए, तो क्या दोष को ही देखते रहें? नहीं। कारण कि अपने दोषों का चिन्तन करते रहना ही और अपने को दोषी मानते रहना ही चित्त-शुद्धि का उपाय नहीं है। परन्तु जब अपने में दोष का दर्शन हो तब उस व्यथा को दबाने के लिए अपना गुण अथवा पराया दोष नहीं देखना चाहिए। ऐसा करने से दोष-जनित वेदना तीव्र हो जाएगी और दोष-जनित सुख का राग मिट जायगा। सुख का राग मिटते ही दोष की उत्पति ही न होगी, अर्थात स्वतः निर्दोषता आ जाएगी, जो गुणों के अभिमान को खाकर चित्त को शुद्ध कर देगी। दोष की वेदना का तीव्र न होना ही चित्त को अशुद्ध रखने में हेतु है। यद्यपि वेदना स्वतः उत्पन्न होती हैं, पर प्राणी प्रमादवश उसे दबा देता है। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

चित्त की अशुद्धि के कारण ही साधक प्रिय-वियोग, सन्देह, तथा विश्राम न पाने की वेदना सहन करता रहता है, अथवा यों कहो कि वेदना असह्य न होने से, न तो विश्राम ही मिलता है और

न निस्सन्देहता एवं प्रेम की ही प्राप्ति होती है। असह्य वेदना उस समय तक नहीं होती, जब तक दुःख के साथ-साथ किसी प्रकार का सुख है। सुख-रहित दुःख वेदना को तीव्र करता है, और असह्य वेदना अशुद्धि को खा जाती है। अशुद्धि का अन्त होते ही साधक को विश्राम, निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

जब-जब स्वभाव से ही विश्राम, निस्सन्देहता एवं प्रेम-प्राप्ति की लालसा उदय होती है, तब-तब साधक चित्त की अशुद्धि जनित सुखासक्ति से उस लालसा को शिथिल कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे भविष्य पर छोड़ देता है और अनेक मन-गढ़न्त बहाने करता रहता है कि प्रतिकूल परिस्थिति के कारण मुझे विश्राम नहीं मिलता। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही विश्राम आता है, पर साधक उसकी ओर ध्यान न देकर विश्राम-काल में भी अनुकूल परिस्थितियों का व्यर्थ चिन्तन करता रहता है और विश्राम न मिलने में प्राप्त परिस्थिति की निन्दा करता है।

सभी परिस्थितियां स्वभाव से ही परिवर्तनशील हैं और विश्राम अपने ही में मौजूद है। जो अपने में है, उससे विमुख होना है और जिन परिस्थितियां में सतत् परिवर्तन है, उनको महत्व देना और उनेक पीछे दौड़ना ही साधक को विश्राम से वंचित्त रखता है। यदि साधक सावधानी से वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, सुन्दरतापूर्वक, परिस्थिति के अनुसार कर डाले और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन न करे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त विश्राम से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से विश्राम के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिए अप्राप्त परिस्थिति अपेक्षित नहीं है, उसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है उसे वर्तमान में प्राप्त न करना और उसके लिए भविष्य की आशा रखना अपना ही प्रमाद है और कुछ नहीं। प्रमाद के रहते हुए चित्त शुद्ध हो नहीं सकता। इस दृष्टि से प्रमाद का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सन्देह प्राणी को स्वभाव से ही अप्रिय है और निस्सन्देहता स्वभाव से ही प्रिय है। कारण, की निस्सन्देहता जीवन से अभिन्न हो जाती है और सन्देह सदैव भेद उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता प्राप्त करना परम अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव है जब साधक में सन्देह की वेदना जाग्रत हो जाय, अर्थात् निस्सेन्देहता के बिना किसी भी प्रकार चैन से रह न सके। जैसे, यदि किसी को तीव्र प्यास लगी हो, और मधुर-शीतल जल उसके हाथ में हो, उससमय उससे कोई पूछे कि तुम पहले जल पीना चाहते हो, अथवा निस्सेन्देह होना चाहते हो? यदि वह यह कहे कि मैं जल पीने से पूर्व निस्सन्देह होना चाहता हूं, तो ऐसी वस्तुस्थिति में निस्सन्देहता अवश्य प्राप्त होती है। कारण, कि निस्सन्देहता की जिज्ञासा जिस काल में सभी कामनाओं को खाकर सबल तथा स्थायी हो जाती है, उसी काल में निस्सन्देहता स्वतः आ जाती है। यह नियम है कि कामनाओं की निवृत्ति में जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। जिज्ञासा-पूर्ति के लिए किसी वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं है, केवल जिज्ञासा की

पूर्ण जागृति होनी चाहिए, जो सन्देह की वेदना से उदित होती है। इस दृष्टि से सन्देह का सहन करना ही निस्सन्देहता से विमुख होना है।

अब विचार यह करना है कि सन्देह रहते हुए साधक उसे सहन क्यों करता रहता है, जब कि निस्सेन्देहता उसकी वास्तविक आवश्यकता है? इन्द्रिय-ज्ञान को ही, जो वास्तव में परिवर्तनशील है, नित्य ज्ञान मान लेने पर सन्देह की वेदना उदित नहीं होती। इसी कारण साधक सन्देह सहन कर लेता है। परन्तु जब वह बुद्धि-ज्ञान से इन्द्रिय-ज्ञान पर विजयी होता है, तब सन्देह की वेदना तीव्र हो जाती है। यह नियम है कि समस्त कामनाएं इन्द्रिय-ज्ञान से ही जीवन पाती हैं। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों-त्यों कामनाएं मिटती जाती हैं। जिस काल में बुद्धि-जन्य ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है, उसी काल में समस्त कामनाएं मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही निस्सन्देहता अपने आप आ जाती है। यदि इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग सेवा में किया जाय, पर उस ज्ञान का प्रभाव चित्त में अंकित न हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता भी वर्तमान जीवन की ही वस्तु है। अतः जब तक निस्सन्देहता प्राप्त न हो, तब तक किसी दूसरे कार्य में प्रवृत्ति ही नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सन्देह-युक्त दशा में जो प्रवृत्ति होगी, उससे चित्त अशुद्ध ही होगा।

जिस प्रकार प्राणी को विश्राम तथा निस्सन्देहता प्रिय है, उसी प्रकार प्रेम की प्यास भी प्राणी में स्वाभाविक है, क्योंकि प्रेम के बिना नित, नव, अगाध, अन्नत रस की उपलब्धि नहीं हो सकती। रस का त्याग किसी को अभीष्ठ नहीं है। अतः रस जीवन का आवश्यक अंग है। यदि किसी से पूछा जाय की तुम्हें रस-विहीन जीवन चाहिए? तो वह कहेगा-कदापि नहीं। रस-विहीन जीवन किसी को प्रिय नहीं। जीवन-रहित रस भी अपेक्षित नहीं है। रस और जीवन में इतनी अभिन्नता है कि इन दोनों का विभाजन सभी को असह्य है, अर्थात् रस और जीवन में विभाजन हो ही नहीं सकता।

जिस प्रकार विश्राम में निस्सन्देहता की सामर्थ्य विद्यमान है, उसी प्रकार निस्सन्देहता में प्रेम की सामर्थ्य विद्यमान है। जब जीवन में विश्राम आ जाता है, तब निस्सन्देहता भी आ जाती है, एवं जब निस्सन्देहता आती है, तब प्रेम का भी प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है। निस्सन्देहता में अभिन्नता, अभिन्नता में आत्मीयता और आत्मीयता में प्रेम स्वतः विद्यमान है। इस दृष्टि से विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम, इन तीनों में अभिन्नता है। विश्राम सामर्थ्य का प्रतीक है, निस्सन्देहता जीवन की प्रतीक है और प्रेम रस का प्रतीक है। सामर्थ्य, जीवन और रस, ये तीनों ही सभी को स्वभाव से अभिष्ट हैं, अथवा यों कहो कि ये तीनों किसी एक ही में हैं और वही वास्तविक जीवन हैं, जिसकी उपलब्धि चित्त-शुद्धि में ही निहीत है।

प्रत्येक साधक के मन में यह अविचल विश्वास रहना चाहिए कि विश्राम, निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। पर ऐसा विश्वास तभी सम्भव होगा, जब साधक प्राप्त वस्तु, योग्यता एंव परिस्थिति में सन्तोष न करे और उनका दुरुपयोग ही करे। प्राप्त वस्तु आदि का सदुपयोग वस्तुओं के अतीत के जीवन से सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ है,

जिसकी प्राप्ति विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम से ही सम्भव । इतना ही नहीं, जीवन में ही निस्सन्देहता, विश्राम तथा प्रेम निहित है। जीवन उसे ही कहते हैं जो अपने ही में हो, जिससे वियोग किसी प्रकार न हो सके। तो फिर निस्सन्देहता, विश्राम, प्रेम आदि से दूरी कैसी, भेद कैसा? जो अपने ही में है, वह अपने ही ज्ञान से प्राप्त हो सकता है। उसके लिए किसी 'परज्ञान' की अपेक्षा नहीं है। 'परज्ञान' का आश्रय तो सन्देह ही उत्पन्न करता है। ऐसा कोई सन्देह है ही नहीं, जिसकी उत्पत्ति इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान से न हो। इन दोनों के ज्ञान से अतीत जो ज्ञान है, उसमें सन्देह नहीं है और उसी में जीवन है, सौन्दर्य है। जिसे अपने ही सौन्दर्य तथा जीवन में प्रेम हो जाता है, वह सभी बन्धनों से रहित हो, अपने ही में सब कुछ पाकर कृतकृत्य हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होता है, जब साधक 'परज्ञान' का आश्रय त्याग 'निजज्ञान' द्वारा चित्त शुद्ध कर लेता है। अतः चित्त-शुद्धि के लिए साधक को वर्तमान में ही प्रयत्नशील होना चाहिए। चित्त की शुद्धि में ही चिर-शान्ति, अर्थात् विश्राम तथा जीवन एंव प्रेम निहित है।

0७.0५.१९५६

अस्वाभाविकता का त्याग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की अशुद्धि हमारी अपनी बनाई हुई वस्तु है। वह किसी और की देन नहीं है और न प्राकृतिक विधान से उत्पन्न हुई है। इसी कारण चित्त शुद्ध करने का दायित्व अपने ही पर है। चित्त कब से अशुद्ध हुआ है, इसका ज्ञान भले ही न हो, पर चित्त की अशुद्धि का ज्ञान अवश्य है। यदि ऐसा न होता, तो चित्त-शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। न होने वाले कार्यों को करने की सोचना और होने वाले कार्यों को चित्त में जमा रखना ही चित्त की अशुद्धि में हेतु है।

अब विचार यह करना है कि न होने वाले कार्य का चिन्तन हम क्यों करते हैं और होने वाले कार्यों को क्यों नहीं कर डालते। जब साधक अपनी वस्तुस्थिति से अपने को छिपाने लगता है, तब उसके मस्तिष्क में न होने वाले कार्य उत्पन्न होते हैं। पर वह उन्हें कार्यन्वित कर ही नहीं सकता। उसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य, योग्यता, परिस्थिति उसे वर्तमान कार्य करने के लिए मिली थी, उसका व्यर्थ ही हास हो जाता है, जिससे जो कर सकता था वह तो कर नहीं पाता और जो नहीं कर सकता है उसके चिन्तन में आबद्धहो जाता है। इस स्थिति में चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध हो होता जाता है। साधक को बड़ी ही सावधानी पूर्वक शीघ्रातिशीघ्र इस दशा से अपने को मुक्त करना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा, जब वर्तमान कार्य को सबसे अधिक महत्व दिया जाय और जो नहीं कर सकता है उसकी है लेश-मात्र भी चिन्तन न किया जाय। इतना ही नहीं, चाहे जितना भी सुन्दर संकल्प क्यों न हो, यदि उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है, तो उसे अनावश्यक जानकर अवश्य त्याग देना चाहिए। न होने वाले कार्यों के त्याग से होने वाले कार्यों की सामर्थ्यस्वतः आ जायेगी और उन कार्यों के हो जाने पर स्वतः विश्राम मिल जायेगा जो आवश्यक शक्ति प्रदान करने में समर्थ है।

अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन सदा के लिए निकाल देना चाहिए। उसकी प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि वस्तु, व्यक्ति की प्राप्ति चिन्तन- साध्य नहीं है, अपितु कर्म- साध्य है। यह नियम है कि जो कर्म-साध्य है, उसकी प्राप्ति भविष्य में होती है। पर उससे नित्य सम्बन्ध कभी भी सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति आदि प्राप्त करने योग्य नहीं हैं, प्रत्युत् वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा वर्तमान परिस्थिति के अनुसार करना अभिष्ठ है। वस्तु, व्यक्ति आदि के व्यर्थ चिन्तन ने ही लालसा तथा जिज्ञासा को जाग्रत होने नहीं दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि जिसकी प्राप्ति चिन्तन-साध्य थी, उससे भी वंचित्त रहे और शक्तिहीन होने के कारण जो कर्म-साध्य था, उससे भी निराश होना पड़ा, अर्थात् प्राणी अनेक प्रकार के अभावों में आबद्धहो गया।

अभावों का अभाव करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक किया जाय और कार्य के अन्त में किसी भी कार्य का चिन्तन न किया जाय और किए हुए द्वारा किसी फल की आशा न की जाय, अपितु करने की रुचि का अन्त करने के लिए ही सर्वहितकारी कार्यों को परिस्थिति के अनुसार कर डालना चाहिए। ऐसा करते ही जिज्ञासा की जागृति तथा विरह का प्रादुर्भाव स्वतः होगा। जिज्ञासा तथा विरह अभ्यास नहीं है, अपितु स्वतः होने वाला चिन्तन है। वह ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों चित्त के सभी दोष स्वतः मिटते जाते हैं। जिस काल में चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति अपने आप हो जाती है।

जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्ति में पराधीनता नहीं है और वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति में स्वाधीनता नहीं है। जिसकी प्राप्ति में स्वाधीनता है, उसके लिए पराधीन हो जाना और जिसकी प्राप्ति में पराधीनता है उसके लिए अपने को स्वाधीन मानना चित्त की अशुद्धि है। परिस्थिति की प्रतिकूलता का भय, न जानने का दोष और कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता स्वीकार करना अस्वाभाविकता है। कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही सभी का हित है। तो फिर किसी भी परिस्थिति से भयभीत क्यों होना? जो जानते हैं, उसी से निस्सन्देहता तथा वास्तविकता का अनुभव हो सकता है, फिर न जानने का दोष क्यों स्वीकार करना? जो कर सकते हैं, वही करना है, तो फिर कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता कैसी?

जो अप्राप्त है उसकी चाह से रहित होना है, जो जानते हैं उसका आदर करना है और जो कर सकते हैं उसी को कर डालना है। अप्राप्त की चाह से रहित होते ही योग स्वतः सिद्ध होगा। जो जानते हैं उसका आदर करते ही स्वतः बोध होगा। जो कर सकते हैं उसके करते ही स्वतः सुन्दर परिस्थिति प्राप्त होगी। चित्त की अशुद्धि ने ही जिज्ञासा को तत्व-ज्ञान नहीं होने दिया और चित्त की अशुद्धि ने ही प्रेमी को प्रेमास्पद से नहीं मिलने दिया। जिससे आत्मीयता है, भला उसकी विस्मृति हो सकती है? कदापि नहीं। जिसको बिना जाने हम किसी प्रकार रह ही नहीं सकते, क्या उससे

भेद तथा दूरी रह सकती है? कदापि नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वाभाविक है और वर्तमान जीवन की वस्तु है।

जिसे नहीं जानते हैं उसके भूलने को भूल नहीं कहते। भूल उसी के सम्बन्ध में कही जाती है, जिसको जानते हैं, पर भूल गये। यदि साधक यह विचार करने लगे कि मैं क्या जानता हूं, तो भूल स्वतः मिट जाती है और बड़ी ही सुगमता-पूर्वक निस्सन्देहता प्राप्त होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राणी जो कर सकता है, यदि उसे कर डाले, तो विद्यमान राग की निवृत्ति अवश्य हो जाती है, जिसके होते ही कार्य के अन्त में स्वतः विश्राम मिलता है, जिससे नित्ययोग की प्राप्ति होती है। यदि कार्य के अन्त में विश्राम नहीं मिलता, तो समझना चाहिए कि कार्य करने में कोई असावधानी अवश्य हुई है, नहीं तो विश्राम का प्राप्त होना स्वाभाविक है। साधक को परिस्थिति के अनुसार कार्य करने में स्वाधीनता है। पर उसके फल पर दृष्टि रखना, अथवा अपवित्र भाव से करना, अथवा कार्य करने में अपनी पूरी शक्ति न लगाना, ये कर्त्तव्य-पालन में दोष हैं। इन दोषों के होने के कारण ही कार्य के अन्त में विश्राम नहीं मिलता है। अब कोई यदि यह कहे कि कार्य के फल की आशा क्यों नहीं रखनी चाहिए? जो कुछ किया जाता है उसका फल प्राकृतिक नियम के अनुसार समष्टि शक्तियों से बनता है। फल कर्त्ता के अधीन नहीं है। जो कर्त्ता के अधीन नहीं है, उस पर दृष्टि रखना कर्त्ता का दोष है। जैसे खेत में दाना बोने का कृषक का अधिकार है, पर वह दाना प्राकृतिक नियमों के अनुरूप ही उगेगा और फल देगा। कोई भी कृषक न तो प्राकृतिक खेत को ही उत्पन्न कर सकता है और न दाने को ही बना सकता है। प्राकृतिक पदार्थों के उपयोग में ही प्राणी का अधिकार है, परन्तु उपयोग का फल प्राकृतिक नियम से होता है, मनमाने ढंग से नहीं। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन मात्र में ही अपना अधिकार मानना चाहिए और फल पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियम के अनुसार जो भी फल प्राप्त हो, उसे भी दूसरों की सेवा में ही लगाते रहना चाहिए। सेवा करने मात्र को ही अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान कार्य करने से कार्य के अन्त में साधक को विश्राम अवश्य मिलेगा। विश्राम के न मिलने में कर्त्ता का अपना ही कोई दोष है और कुछ नहीं।

इन्द्रियों के ज्ञान से जो कुछ जानने में आता है उस पर विश्वास करना, अथवा उससे ममता करना, चित्त को अशुद्ध करना है। विश्वास केवल उसी पर करना है, जिसे इन्द्रिय, बुद्धि आदि से नहीं जानते हो। इन्द्रियों के ज्ञान से जिन वस्तुओं को जानते हो, उनका सदुपयोग और जिन व्यक्तियों को जानते हो, उनकी सेवा करना चित्त-शुद्धि का साधन है। पर उनमें आसक्त होना है, अथवा उनमे ममता करना केवल लोभ-मोह में आबद्धहोना है, जो चित्त की अशुद्धि है। प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ से दरिद्रता और मोह से जड़ता उत्पन्न होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। यदि निर्लोभता पूर्वक, विधिवत् वस्तुओं का उपयोग किया जाय और निर्मोहता पूर्वक व्यक्तियों की सेवा की जाय, तो न तो उन पर

विश्वास होता है, न सम्बन्ध रहता है और न चित्त अशुद्ध होता है।

वस्तु, व्यक्ति का विश्वास गलते ही उस अनन्त पर स्वतः विश्वास हो जाता है, जिसको किसी ने इन्द्रिय, बुद्धि आदि के ज्ञान से नहीं जाना। यह नियम है कि जिस पर विश्वास हो जाता है, उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता स्वतः होने लगती है, जिसके होते ही विश्वासपात्र की मधुर स्मृति अपने आप आने लगती है और उस समय तक उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, जब तक विश्वासी स्वंय प्रीति होकर अपने विश्वासपात्र के प्रेम को पा नहीं लेता। इस दृष्टि से विरह की जागृति भी स्वाभाविक है। उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है। पर आश्चर्य की बात यह है कि जो विरह स्वाभाविक है, उसे हम अभ्यास द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि द्वारा किया हुआ अभ्यास जब शिथिल होता है, तब प्रिय-चिन्तन मिट जाता है और वस्तु आदि का चिन्तन होने लगता है। विरह की उत्पति इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के स्वभाव को प्रीति में बदल देती है। अतः उसे मन लगाना नहीं पड़ता, स्वतः मन लग जाता है, और प्रिय से जो भिन्न है, उससे मन हटाना नहीं पड़ता, स्वतः हट जाता है। मन को लगाने-हटाने का रोग तभी तक रहता है, तब तक जीवन में अस्वाभाविकता है, जो चित्त की अशद्धि से उत्पन्न हुई है। कर्त्तव्य-पालन में ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। कर्त्तव्य की पूर्ति होते ही सभी वस्तुओं से, जो हमें अत्यन्त निकट भासती हैं, सम्बन्ध स्वतः टूट जाता है। यदि हमारा शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ, तो समझना चाहिए कि जो वस्तुएँ हमें कर्त्तव्य-पालन के लिए मिली थी, उनके द्वारा कर्त्तव्य-पालन नहीं किया। देखने, सुनने, समझने करने आदि के लिए ही शरीर आदि वस्तुएँ मिली हैं। जो करना है उसके कर डालने पर, जो समझना है उसके समझ लेने पर, सभी वस्तुओं से असंगता हो जाती है। यह सदैव ध्यान रहे कि वह कभी भी नहीं करना है जिसे कर नहीं सकते और उसे देखना-समझना नहीं है जिसे समझ नहीं सकते। यदि इसी बात को एक ही बात में कहा जाय तो यह कह देना चाहिए कि कामना-पूर्ति-काल में ही शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। कामना-निवृति का महत्व बढ़ जाने पर सभी वस्तुओं से स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही जिस पर विश्वास किया था उससे नित्य सम्बन्ध हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन, नित्य-योग, मधुर-स्मृति तथा निस्सन्देहता, ये सभी चित्त शुद्ध होने पर स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं। इनकी प्राप्ति में लेशमात्र भी अस्वाभाविकता नहीं है।

प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-परायण न होना, जो सभी वस्तुओं से अतीत है, उसमें विश्वास न होना और जाने हुए का आदर न करना, ये तीनों ही बातें अस्वाभाविक हैं और इस अस्वाभाविक को अपना लेने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। अतः चित्त-शद्धि के लिए अस्वाभाविक का त्याग और स्वाभाविक को अपना लेना अनिवार्य है। पर यह बड़ी ही सावधानी से समझना चाहिए कि कामना-पूर्ति का महत्व जब जक रहता

है, तब तक अस्वाभाविकता में स्वाभाविक और स्वाभाविक में अस्वाभाविकता प्रतीत होती है। सभी कामनाएं कभी किसी की पूरी नहीं होती और कुछ कामनाएं सभी की पूरी होती हैं। जो कामनाएं पूरी हो ही नहीं सकती, उनको चित्त में अंकित रखना कुछ अर्थ नहीं रखता। और जो कामनाएं स्वतः पूरी हो ही जायेंगी, उनकी पूर्ति के सुख में आबद्ध होना भी कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः कामना-पूर्ति का कोई महत्व नहीं है। यह जान लेने पर कामना-निवृति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है जिसके आते ही, जो स्वाभाविक है, वह जीवन हो जाता है और जो अस्वाभाविक है उसकी स्वतःनिवृति हो जाती है। अस्वाभाविकता मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

०८.०५.१९५६

न्याय अपने प्रति तथा प्यार दूसरों के प्रति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उसी ज्ञान में चित्त की शुद्धि का साधन भी विद्यमान है। परन्तु जब साधक अपने उस ज्ञान का आदर नहीं करता जिससे उसने अशुद्धि को जाना था, तब अशुद्धि मिटाने के लिए वह अनेक बाह्य, अस्वाभाविक उपचारों का अनुसरण करता है, परन्तु चित्त शुद्ध नहीं होता क्योंकि अस्वाभाविकता से ही तो चित्त अशुद्ध हुआ है। जिससे चित्त अशुद्ध हुआ है, उससे भला शुद्ध कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि के लिए हमें स्वाभाविक साधना को ही अपनाना होगा। उसके लिए साधक को सर्वप्रथम उस ज्ञान का आदर करना होगा, जिस ज्ञान से उसने चित्त की अशुद्धि को जाना है।

अशुद्धि का ज्ञान उसक परिणाम को और शुद्धि की महिमा को प्रकाशित करता है। ज्यों-ज्यों अशुद्धि के परिणाम का बोध होता जाता है, त्यों-त्यों अशुद्धि जनित सुख भोग की आसक्ति स्वतः मिटती जाती है, जिसके मिटते ही अशुद्धि की पुनरावृत्ति नहीं होती, जिसके न होने से अशुद्धि सदा के लिए निर्मूल हो जाती है। चित्त शुद्धि की साधना में जो अस्वभाविकता तथा परिश्रम प्रतीत होता है उसका एकमात्र कारण यह है कि जिस अशुद्धि को विवेकपूर्वक मिटाना चाहिए, उसे हम बलपूर्वक मिटाते हैं। अविवेक-जन्य अशुद्धि बलपूर्वक मिटा जा सकती है, मिटाई नहीं जा सकती। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि की साधना विवेकयुक्त होनी चाहिए, तभी सफलता हो सकती है।

चित्त-शुद्धि के साधक के लिए यह अनिवार्य है कि अपने चित्त की वास्तविक वस्तुस्थिति को सरलतापूर्वक प्रकट कर डालें, इससे अशुद्धि निर्जीव हो जाती है। सरलता के बिना चित्त की वास्वतविकता का निरीक्षण ही नहीं हो सकता। उसके हुए बिना अशुद्धि मिट नहीं सकती। अतः सरलतापूर्वक चित्त की वस्तुस्थिति जानने तथा प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। वह तभी संभव होगा, जब हम जैसे अपनी दृष्टि में हैं, वैसे ही दूसरों की दृष्टि में भी रहने की आशा करें, कृत्रिमतापूर्वक अपना प्रकाशन न करें। अकृत्रिमता आते ही चित्त की दबी हुई अशुद्धि का

ज्ञान भी हो जाता है और उसको प्रकट करने का साहस भी आ जाता है। यह नियम है कि अशुद्धि को अशुद्धि जान लेने पर ही अशुद्धि निर्जिव हो जाती है और उसका प्रकाशन हो जाने पर तो उसकी पुनरावृत्ति होती ही नहीं है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि को जानकर उसका प्रकाशन अनिवार्य है। पर साधक को इस बात का ध्यान रहे कि उसे जिस अशुद्धि का ज्ञान हुआ है वह अशुद्धि भूतकाल की है। उसको न दोहराने का व्रत लेना है, किंतु भूतकाल की अशुद्धिके आधार पर चित्त को वर्तमान में अशुद्ध नहीं मानना है। यह नियम है कि वर्तमान की शुद्धि भविष्य में कभी अशुद्धि में परिवर्तित नहीं होती, अथवा यों कहो कि भूतकाल की अशुद्धि का त्याग वर्तमान में हो सकता है परन्तु वर्तमान की शुद्धि भविष्य में मिट नहीं सकती।

चित्त की अशुद्धि को दबाने की प्रवृत्ति जीवन में क्यों आती है? इस भय से कि उसके प्रकाशन में हमारी निंदा होगी, तिरस्कार होगा, हमें कोई अपनाएगा नहीं। परन्तु जिस प्रकार दबा हुआ बीज वृक्ष होकर एक से अनेक हो जाता है, उसी प्रकार दबी हुई अशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है। जिस भय का बीज जब तक विद्यमान है तब तक हम अभय हो ही नहीं सकते। तो फिर उसे दबाने से क्या लाभ? अर्थात कुछ नहीं। इस दृष्टि से अभय होने के लिए यह अनिवार्य है कि चित्त में जो बीज रूप से अशुद्धि विद्यमान है उसको शीघ्रातिशीघ्र मिटा दिया जाए और उसका प्रकाशन उन लोगों के सामने कर दिया जाए जो अशुद्धि के प्रकाशन का महत्व जानते हों और जो सब प्रकार से अपने हित-चिंतक हों, जैसे सद्गुरु, सन्मित्र, माता-पिता आदि अथवा उन लोगों से कह दिया जाय, जो हमारे दुःख से दुखीं हों, और हमारी उन्नति को देखकर जिनमें ईष्या न हो, अपितु जो उसमें हर्षित हों।

साधक को अपना चित्र निज-ज्ञान से देखना चाहिए। यदि अपना चित्र अपनी दृष्टि में सुन्दर हो और समाज की दृष्टि उसके विरुद्ध हो, तो लेशमात्र भी भयभीत नहीं होना चाहिए। कारण कि ज्ञान का आदर जिन्होंने किया, उन्हीं के द्वारा समाज में क्रान्ति हुई अर्थात विरोधी समाज भी उनका अनुसरण करने लगता है, जो निज-ज्ञान का आदर करते हैं। निज-ज्ञान का अर्थ इन्द्रिय-ज्ञान नहीं, अपितु प्राप्त विवेक लेना चाहिए। उसी निज-ज्ञान का प्रकाश में साधक को अपने चित्त की दशा को देखना चाहिए। यदि उसमें किसी अशुद्धि दर्शन हो तो उसे शीघ्र ही मिटा देना चाहिए। जब तक न मिटे, तब तक चित्त से असहयोग कर लेना चाहिए, अर्थात् चित्त की ममता से रहित हो जाना चाहिए। पर इस बात का ध्यान रहे कि असहयोग क्रोध नहीं है, प्रत्युत् सम्बन्ध-विच्छेद के द्वारा चित्त का सुधार है। क्रोध न अपने प्रति हितकर सिद्ध होता है और न दूसरों के प्रति। कारण, कि क्रोध से विस्मृति उत्पन्न होती है, जो कर्त्तव्य से च्युत कर देती है। सम्बन्ध-विच्छेद से ममता का नाश होता है, जिससे राग की निवृत्ति होती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से सम्बन्ध-विच्छेद करने से किसी का अहित नहीं होता।

प्राणी अपना सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक, जिनसे ममता होती है, उनका सुधार क्षुब्ध होकर और जिनसे ममता नहीं है, उनका सुधार अपेक्षा भाव से करने की सोचता है। पर ऐसा करने से सुधार होता नहीं। जिनसे ममता नहीं है, उनका सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक ही सम्भव है, अपेक्षा द्वारा नहीं। जिनसे ममता है, उनका सुधार मोह-रहित होने से सम्भव है, क्षुभित होने से नहीं और अपने चित्त का सुधार अपने प्रति कठोर न्याय तथा असहयोग से ही सम्भव है, दुलार तथा प्यार से नहीं। अतः दूसरों के समान अपने प्रति न्याय और अपने समान दूसरों के प्रति प्यार करने से ही चित्त शुद्ध हो सकता है। कारण, कि यदि दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम का व्यवहार न किया, तो उनसे भेद बना रहेगा, जिससे न तो उनका ही हित होगा और न अपना ही चित्त शुद्ध होगा। जिस प्रवृत्ति से दूसरों का हित होता है, उसी से अपना चित्त शुद्ध होता है। जिनसे ममता नहीं है, उनमें भेद है। भेद को जीवित रखने से भी चित्त अशुद्ध होता है। और जिनसे ममता है, उनसे किसी न किसी प्रकार की आसक्ति से भी अशुद्ध होता है। अतः जिनसे भेद है, उनसे एकता करने के लिए उनके प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग करना पड़ेगा और जिनसे आसक्ति है, उनके प्रति निर्मोहता तथा असहयोग का प्रयोग करना पड़ेगा, तभी चित्त क्षोभ रहित हो सकता है। यह नियम है कि क्षोभ-रहित होते ही आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आ जाती है, जिसका सदुपयोग करते ही साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है। अपने प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग उसका दुरुपयोग है और दूसरों के प्रति न्याय तथा उपेक्षा का प्रयोग उनका दरुपयोग है। दिव्य-गुणों का उपयोग यथास्थान न करने से कोई लाभ नहीं होता, अपितु हानि ही होती है। इस दृष्टि से जिनसे ममता नहीं है, उन्हें के प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग हितकर सिद्ध होता है। मोहयुक्त क्षमा से किसी का भी हित नहीं होता-न अपना और न उसका, जिससे मोह है। अपना हित तो अपने प्रति न्याय करने ही में है और दूसरों का हित क्षमा में निहित है। अतः चित्त शुद्ध करने के लिए अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम करना ही होगा।

यह ध्यान रहे कि न्याय वही सार्थक है, जो रक्षा में समर्थ हो। न्याय भी वही कर सकता है, जो क्रोध से रहित हो और प्रेम वही कर सकता है, जो काम से रहित हो। जिसकी प्रसन्नता दूसरों पर निर्भर है, वह प्रेम नहीं कर सकता और जो सुख-भोग में आसक्त है, वह अपने प्रति न्याय नहीं कर सकता। न्याय करने के लिए सुख-भोग की दासता का अन्त करना होगा और प्रेमी होने के लिए सुख की आशा से रहित होना होगा। यह नियम है कि जो सुख की आशा करता है, उससे प्रेम नहीं कर सकता, और न्याय तथा प्रेम के बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्राप्त सुख की आसक्ति से रहित और अप्राप्त सुख की आशा से रहित होने में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

०९.०५.१९५६

न्याय अपने प्रति तथा क्षमा दूसरों के प्रति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त-शुद्धि जीवन का आवश्यक अंग है। समस्त समस्याओं का हल उसी में निहित है। इतना ही नहीं, वर्तमान मानव-जीवन चित्त-शुद्धि के लिए ही मिला है। कारण, कि चित्त की शुद्धि अविवेक-जन्य है, जो प्राप्त विवेक के उपयोग से मिट सकती है। विवेक मानवमात्र को स्वभाव से ही प्राप्त है। इस दृष्टि से चित्त को शुद्ध करने में हम सभी स्वाधीन हैं। पराधिनता अप्राप्त वस्तु आदि की प्राप्ति में भले ही हो पर, चित्त को शुद्ध करने में किसी प्रकार की पराधिनता नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति में चित्त शुद्धि अपेक्षित है। यह नियम है कि जिसकी आपश्यकता मानवमात्र को सर्वत्र, सर्वदा है, उसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है। चित्त-शुद्धि से कभी निराश नहीं होना चाहिए।

अब विचार यह करना है कि जिसकी पूर्ति अवश्यम्भावी उसे प्राप्त करने में असमर्थता क्यों प्रतीत होती है? उसका एकमात्र कारण यह है कि जब हम विवेक के प्रकाश में अपने में कोई दोष पाते हैं, तो अपने प्रति वह न्याय नहीं करते, जो उसी दोष में दूसरों के प्रति करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि वह दोष दृढ़तापूर्वक चित्त में अंकित हो जाता है। अपने प्रति न्याय किये बिना निर्दोषता की उपलब्धि कभी सम्भव नहीं है। अपने प्रति न्याय करने में कठिनाई क्या है? यदि इस पर विचार किया जाय, तो ऐसा प्रतीत है कि दोष-जनित सुख के बदले में उससे कहीं अधिक दुःख का हर्ष अपना लेना न्याय का सर्वप्रथम अंग है। न्याय के इसी प्रथम अंग का उपयोग हम दूसरों पर तो बड़े ही सहज भाव से करने लगते हैं, पर अपने प्रति सुख के स्थान पर दुःख के अपनाने में भयभीत होते हैं। इस कारण अपना दोष जान लेने पर भी अपने को क्षमा करने की बात सोचते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि जो क्षमा दूसरों के प्रति करने की थी, जिससे पारस्परिक एकता प्राप्त होती, वह अपने प्रति करने से अपने व्यक्तित्व का मोह और दृढ़ हो जाता हैं, जो दोषों का मूल है। अपने प्रति किया हुआ मोह अनेक अशुद्धियां उत्पन्न करता है। इसी कारण अपने प्रति हमें न्याय ही करना चाहिए। पर वह तभी सम्भव होगा, जब हम यह स्वीकार करें कि क्षमा अपने प्रति नहीं करनी है, दूसरों के प्रति करनी है।

न्याय का दूसरा अंग है, किये हुए दोष को न दोहराना। यह अंग अपने प्रति तभी सम्भव है, जब न्याय के प्रथम अंग को अपना लिया जाय। यह नियम है कि जब दुःख इतना बढ़ जाता है कि सुख का राग मिट जाय, जब दोष न दोहराने की दृढ़ता स्वतः आ जाती है। कारण, कि सुख-लोलुपता से ही दोष में प्रवृत्ति होती है। जब दुःख ने उसे खा लिया, तब किया हुआ न दोहराना स्वाभाविक हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता दृढ़ हो जाती है, जो न्याय का तीसरा अंग है।

न्याय से कभी अपना अहित नहीं होता, अपितु अपना तथा दूसरों का हित ही होता है। इस दृष्टि से न्याय को अपनाने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। न्याय से भयभीत होना भूल है, क्योंकि उसके अपनाए सुधार ही सम्भव नहीं है। जब प्राणी अपने प्रति स्वयं न्याय करने लगता है, वब वह दूसरों की दृष्टि में अदण्डनीय, अर्थात् क्षमापात्र बन जाता है। जो अपने प्रति न्याय नहीं करता, उसके प्रति दूसरों के मन में स्वतः क्षोभ तथा क्रोध

उत्पन्न होता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रकृति के विधान से उसके प्रति विरोधी सत्ता स्वयं उत्पन्न हो जाती है। इतना ही नहीं, जो अपने प्रति न्याय नहीं करता, उसके द्वारा दूसरों के प्रति अन्याय स्वतः होने लगता है, जिससे समाज में भी उसके प्रति विरोधी-सत्ता उत्पन्न हो जाती है। वह विरोधी इस समय तक बढ़ जाता है कि उस व्यक्ति के न रहने पर भी वह जिस वर्ग का था उस वर्ग से, जिस जाति का था उस जाति से और जिस मत, सम्प्रदाय आदि को मानता था उन सबसे समाज में एक स्थायी विद्रोह की परम्परा चल जाती है। इस दृष्टि से अपने प्रति न्याय न करने से घोर क्षति हाती है। अतः अपने प्रति न्याय करना परम अनिवार्य है।

अपने प्रति आप न्याय करने से समाज में निन्दा नहीं होती, अपितु आदर ही मिलता है। किन्तु जब दूसरों के द्वारा अपने प्रति न्याय होता है, तब समाज में निन्दा होती है। इस दृष्टि से भी अपने प्रति न्याय करने में कितना महत्व है! न्याय के इस रहस्य को जो जान लेते हैं वे हर्ष पूर्वक अपने प्रति न्याय करने लगते हैं। अपने प्रति न्याय का अर्थ अपने पर क्रोधित होना नहीं है, न अपना विनाश करना है न अपनी क्षति करना है, अपितु न्याय का अर्थ है-असहयोगपूर्वक अपना सुधार। असहयोग से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। सम्बन्ध-विच्छेद से राब-दोष नहीं रहता। राग-रहित होने से सुखासक्ति मिट जाने से दोषों की पुनरावृत्ती नहीं होती, जिससे निर्दोषता का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है और क्रोध-रहित होने से हिंसा का भाव मिट जाता है जिससे अपने सुधार पर तो दृष्टि रहती है, पर अपने विनाश की भावना मिट जाती है। न्याय का वास्तविक प्रयोग अपने पर ही हो सकता है, दूसरों पर नहीं। न्याय वह तत्त्व है जिसमें न हिंसा है और न पक्षपात। जिस न्याय में हिंसा और पक्षपात की गन्ध हो, वह न्याय के स्वरुप में अन्याय का चित्र है। अन्याय का जीवन में कोई स्थान नहीं है। जो न्याय को अपना लेता है, वह आदरणीय है, निन्दनीय नहीं।

पूर्ण न्याय का प्रयोग हमें अपने मन के ही साथ रहना है। जैसे-जैसे दूरी गढ़ती जाय, वैसे-वैसे न्याय क्षमा के रूप में बदलते जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिससे जितनी अधिक समीपता हो, उसके प्रति उतना ही अधिक न्याय करना चाहिए। ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जाय, त्यों-त्यों न्याय क्षमा के रूप में परिवर्तित होता जाना चाहिए। न्याय और क्षमा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिनसे ममता है, उनके प्रति न्याय करने से जो हित होता है, वही हित जिनसे ममता नहीं है, उनके प्रति क्षमा करने से होता है। न्याय और क्षमा के फल में कोई भेद नहीं है।

न्याय और क्षमा के बाह्य रूप में भले ही भेद हो, परन्तु वास्तविकता में कोई भेद नहीं है। जब हम अपने प्रति अन्याय करने वालो का क्षमा करते हैं, तब हमारे और उनके बीच में जो दूरी तथा भेद था, वह मिटने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि परस्पर स्नेह की एकता उत्पन्न हो जाती है, जिससे हमारे और उनके बीच परस्पर हिंसा का भाव मिट जाता है। एक दूसरे का भला चाहने लगते हैं और फिर संघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। इतना ही नहीं, जब दोषी के दोष सहन

करते हुए उसके बदले में उसके प्रति सद्भावना तथा सद्व्यवहार किया जाता है, तब उसके मन में स्वतः अपनी भूल का पश्चाताप होने लगता है। पश्चाताप की अग्नि ज्यों-ज्यों प्रज्जवलित होती जाती है, त्यों-त्यों उसके जीवन दोष स्वतः भस्मीभूत होते जाते हैं और फिर उसमें निर्दोषता का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि क्षमा का स्वरूप क्या है? क्षमा अपने और विपक्षी के बीच में निवैरता की स्थापना करती है, जिसके होते ही अपनी और से बुराई के बदले में भलाई स्वतः होने लगती है और अपने प्रति होने वाली बुराई की विस्मृति हो जाती है। इतना ही नहीं, क्षमा से जो पूर्व अपने प्रति बुराई प्रतीत होती थी, वह भलाई प्रतीत होने लगती है और क्षमाशील में स्वतः निरभिमानता आने लगती है। वह क्षमा इसलिए नहीं करता कि दूसरा अपराधी है, अपितु अपने ही को अपराधी मान कर क्षमा करता है। वह इस रहस्य को जान लेता है कि यदि मेरी भूल न होती, तो मेरे साथ कोई बुराई कर ही नहीं सकता था। मेरी ही की हुई बुराई दूसरों के द्वारा दूसरों के सामने आती है, उस बेचारे का काई दोष नहीं है। यदि मैं उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध न जोड़ता, उससे आशा न करता तो उसके द्वारा मेरे प्रति बुराई हो ही नहीं सकती थी।

किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा करना तथा उसे अपना मानना प्रमाद है। इस प्रसाद से ही अपने प्रति बुराई होती है। वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा के लिए ही जीवन मिला है, उनमें सुख की आशा करना, अथवा उनसे ममता करना अपनी ही भूल है। इस भूल का अन्त करते ही स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अपने प्रति न्याय और दूसरे के प्रति क्षमा स्वतः होने लगती है। शुद्धि का प्रादुर्भाव सदैव नित्य तथा विभु होता है, क्योंकि वह अनन्त की विभूति है। अनन्त की विभूति का कभी अन्त नहीं होता, अपितु वह अनन्त ही होती है। अशुद्धि सदैव सीमित और विनाशशील होती है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सीमित अहम्-भाव से होती है। इस दृष्टि से अशुद्धि का अन्त करना अनिवार्य है, जिसके होते ही प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है। अशुद्धि कोई ऐसी नहीं होती, जिसमें कर्त्तृव्य न हो और शुद्धि सर्वदा स्वतः सिद्ध स्वाभाविक होती है। इसी से अशुद्धि का अन्त होते ही शुद्धि का प्रादुर्भाव हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि न्याय तथा क्षमा के प्रयोग का क्रम क्या है? जब साधक को अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अशुद्धि का दर्शन हो, तब उसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के प्रति न्याय करना चाहिए अर्थात् उनसे विवेक पूर्वक असहयोग कर लेना चाहिए। ऐसा करते ही वे सभी स्वतः शुद्ध हो जायेंगे। कारण, कि जस वस्तु से ममता नहीं रहती, वह अनन्त को समर्पित हो जाती है। यह नियम है कि जो वस्तु अनन्त को समर्पित हो जाती है, वह अनन्त की कृपा-शक्ति से स्वतः शुद्ध हो जाती है। वह निन्दनीय नहीं रहती, अपितु अनन्त के नाते सेवा तथा प्यार की पात्र बन जाती है।

चित्त शुद्ध हो जाने पर सभी साधन सफल हो जाते हैं। चित्त की शुद्धि के बिना जो साधन केवल बलपूर्वक किया जाता है, उससे

मिथ्या अभिमान की ही वृद्धि होती है, कोई विशेष लाभ नहीं होता। चित्त-शुद्धि के बिना जो कुछ किया जाता है, वह निरर्थक ही सिद्ध होता है। चित्त शुद्धि हो जाने पर समस्त जीवन में सौन्दर्य आ जाता है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि जीवन का अत्यन्त आवश्यक अंग है। उसके लिए साधक को अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा का प्रयोग करना है।

चित्त-शुद्ध होते ही शरीर, मन बुद्धि और आदि सभी शुद्ध हो जाते हैं। शरीर की में कर्म शुद्धि निहीत है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण होता है। मन की शुद्धि से योग सिद्ध होता है, जो शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। बुद्धि की शुद्धि से बोध की प्राप्ति होती है, जो अमर तथा चिन्मय जीवन का प्रतीक है अहम् शुद्ध हो जाने पर प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, जिसमें अनन्त अगाध रस है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि में ही समस्त जीवन की पूर्णता निहित है।

१०.०५.१९५६

असाधनरूप मान्यताओं की अस्वीकृति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

किसी भी की हुई, सुनी हुई, देखी हुई बुराई के आधार पर अपने को, अथवा दूसरों को सदा के लिए बुरा मान लेने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। बुराई-काल में कर्त्ता भले ही बुरा हो, पर उससे पूर्व और उसके पश्चात् बुरा नहीं है, फिर भी उसे बुरा मानते रहना उसके प्रति घोर अन्याय है। प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी में बुराई की स्थापना करना उसे बुरा बनाना है और अपने प्रति बुराई के आने का बीज बोना है, क्योंकि कर्म विज्ञान की दृष्टि से जो दूसरों के प्रति किया जाता है, वह कई गुना अधिक होकर अपने प्रति होने लगता है, यह प्राकृतिक विधान है। इस दृष्टि से किसी को भी बुरा मानना अपने को बुरा बनाने में हेतु हैं, अथवा यों कहो कि अपने को भला बनाने केलिए दूसरों के प्रति भलाई करना तथा उन्हें भला समझना अनिवार्य है। किसी को बुरा मानने में न तो अपना ही हित है और न ही उसका, जिसे बुरा मानते हैं। इस दृष्टि से किसी में भी बुराई की स्थापना नहीं करनी चाहिए। यही चित्त-शुद्धि का सुगम उपाय है।

कोई भी व्यक्ति सर्वांश में बुरा नहीं होता, सभी के लिए बुरा नहीं होता और सर्वदा बुरा नहीं होता। तो फिर किसी को बुरा मानना, क्या मिथ्या नहीं है? अर्थात् अवश्य है। बुराई की प्रतीति अपने में हो, अथवा दूसरे में, आंशिक होती है, और वह भी सदैव नहीं रहती। व्यक्ति प्रमादवश भूतकाल की बुराई के आधार पर अपने को वर्तमान में बुरा मान लेता है। यह मान्यता की हुई बुराई की स्मृति-मात्र है, बुराई नहीं। यदि कि हुई बुराई की स्मृति को अहम्-भाव में स्थापित कर दिया गया, तो बुराई की पुनरावृत्ति स्वतः होने लगती है। इस कारण की हुई बुराई की स्मृति की स्थापना न अपने में करनी चाहिए और न दूसरों में। हां, यदि बुराई की स्मृति वेदना जाग्रत करती है, तो वह वेदना बुराई-जनित सुख का राग मिटाने में साधन-रुप है। पर कब? जब उस प्रकार की बुराई को, जिसकी कि वह स्मृति है, न दोहराने का दृढ़

संकल्प का लिया जाय, और उसके विपरीत, जो निर्दोषता है उसकी स्थापना कर ली जाय। तो सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि किसी भी दोष की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

यह सभी जानते हैं कि अन्धकार प्रकाश की ही न्यूनता है, पर अन्धकार प्रकाश नहीं है। उसी प्रकार दोष, गुण की ही न्यूनता है पर दोष गुण नहीं है। हां, अवश्य है कि दोष का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण उसकी निवृति हो सकती है। यह नियम है कि निवृति उसी की होती है, जो सर्वदा न रहे। जब दोष सर्वदा रहने वाली वस्तु नहीं है, तब किसी को भी दोषी मानना किसी प्रकार भी न्याय-संगत नहीं है। पर प्राणी प्रमादवश अपने को तथा दूसरों को स्थायी रूप से दोषी मान लेता है। चित्त-शुद्ध के लिए दोष-युक्त मान्यताओं का त्याग अनिवार्य है।

निर्दोष मान्यताएं साधनरूप हैं। जो साधनरूप मान्यताएं हैं, वे कर्तव्य की प्रतीक हैं। कर्तव्य-पालन में विद्यमान राग की निवृति तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा निहित है। इस दृष्टि से कर्तव्य के अर्थ में केवल सर्व-हितकारी प्रवृत्ति ही आ सकती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति, निवृति में स्वतः बदल जाती है और निवृति-काल में वह मान्यता भी मिट जाती है, जिस मान्यता से प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी। यदि निवृति-काल में मान्यता का अन्त नहीं होता, तो समझना चाहिए कि साधन रूप मान्यता नहीं थी, अथवा मान्यता के अनुरूप विधिवत् कर्तव्य-पालन नहीं किया गया। इन्हीं दो कारणों से निवृति-काल में मान्यता का अस्तित्व भासता हैं साधपरूप मान्यता बीज है सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति वासना रहित निवृति प्रदान करने में समर्थ है और निवृति में सर्व-हितकारी प्रवृत्ति की सामर्थ्य विद्यमान है। इस दृष्टि से सर्व-हितकारी प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृति एक दूसरे की पूरक हैं और चित्त-शद्धि में हेतु हैं।

वस्तु, व्यक्ति आदि किसी को भी बुरा तथा भला नहीं मानना चाहिए, अपितु इनका सदुपयोग करना चाहिए। वस्तुओं के सदुपयोग से व्यक्तियों की सेवा सिद्ध होती है और व्यक्तियों की सेवा से समाज में सदाचार की वृद्धि होती है। स्वरूप से तो सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील तथा विनाशी हैं। अतः उनके सम्बन्ध में कोई एक निश्चित धरणा करना भूल हैं। इस भूल से ही प्राणी वस्तुओं का भला-बुरा मानकर राग-द्वेष में आबद्ध हो जाता है, जो चित्त की अशुद्धि में हेतु है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी करण हैं, कर्त्ता नहीं। करण की निन्दा करना कर्त्ता की असावधानी है और कुछ नहीं। कर्त्ता का प्रभाव ही करण में भासित होता है। अतः कर्त्ता अपनी शुद्धि-अशुद्धि को ही शरीर, इन्द्रिय मन, बुद्धि आदि में देखता है, पर कहता यह है कि मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अशुद्धि हैं। जब कर्त्ता अपने में ही वह अशुद्धि निकाल देता है, जो उसने भूतकाल की घटनाओं के आधार पर अपने में आरोपित कर ली है, तब शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने आप शुद्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से अपने में ही अशुद्धि का त्याग और उसमें शुद्धि की स्थापना अनिवार्य है, जिसके करते ही चित्त सदाके लिए शुद्ध हो जाता है। अपने को दोषी मानना दोष

को निमन्त्रण देना है। अतः दोषी था पर अब नहीं हूं-ऐसा मानते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जायगी।

सभी दोष, सभी बन्धन दोष-युक्त मान्यता पर ही जीवित हैं। अपने में निर्दोषता की स्थापना करते ही समस्त दोष तथा बन्धन स्वतः मिट जायेंगे। दोष युक्त मान्यताएं रोग के समान है और निर्दोषता की स्थापना औषधि के समान है। जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है उसी प्रकार निर्दोषता की स्थापना दोषों को खाकर स्वतः मिट जाती है अर्थात् गुणों का अभिमान अंकित नहीं होता। दोष का अन्त होते ही अनन्त से नित्य सम्बन्ध तथा अभिन्नता हो जाती है और अहम्भाव गल जाता है, अथवा यों कहो कि अनन्त से नित्ययोग हो जाता है, जो सभी मान्यताओं से अतीत है।

साधनरूप मान्यताएं कर्त्तव्य-परायणता में परिवर्तन होकर मिट जाती हैं और असाधनरूप मान्यताएं केवल अस्वीकृति मात्र से मिट जाती हैं। अब विचार यह करना है कि असाधनरूप मान्यताएं चित्त में क्यों अंकित हैं? जिन दोष-युक्त प्रवृत्तियों के आधार पर असाधनरूप मान्यता की स्वीकृति हुई थी, वे प्रवृत्तियां वर्तमान में नहीं हैं, परन्तु फिर भी हम उनका त्याग नहीं करते हैं। यह 'नहीं' को 'है' मानना है। मान्यता की खोज करने से उसका अस्तित्व नहीं मिलता और फिर उसकी स्वीकृति स्वतः मिट जाती है। पर मान्यता की खोज वही कर सकता है, जो निज-विवेक के प्रकाश में वस्तु अवस्था आदि के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करे। यह नियम है कि जिसकी खोज हम ज्ञानपूर्वक करते हैं, यदि वह अस्तित्वहीन है, तो उससे भिन्नता हो जाती है। अथवा यों कहो कि ज्ञान द्वारा खोज करने से सत्य की प्राप्ति और असत्य की निवृति हो जाती है। ज्ञान, निवृति की प्राप्ति कराने में समर्थ है। वह सम्बन्ध तथा किसी मान्यता में सद्भाव उत्पन्न नहीं करता। मान्यता का सद्भाव मिटते ही भेद नष्ट हो जाता है और सम्बन्ध टूटते ही राग-द्वेष मिट जाते हैं। राग-द्वेष रहित होते ही किसी को बुरा-भला मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता और भेद-नाश होते ही अभिन्नता तथा आत्मीयता एवं स्वरूप से एकता हो जाती है, जो योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति में हेतु है। इस दृष्टि से मान्यता केवल ऐसी वस्तु है कि खोज करने पर तो उसका पता ही न चले और बिना खोज किए सत्य प्रतीत हो।

भूतकाल की प्रवृत्तियों को सत्य तथा स्थायी मानकर कोई भी व्यक्ति अपने को सर्वांश में निर्दोष सिद्ध नहीं कर सकता और प्रत्येक साधक की हुई भूल न दोहराने का व्रत लेकर वर्तमान में ही निर्दोषता से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से अपने में अथवा दूसरों में दोषी भाव की स्थापना करना केवल मान्यता के आधार पर उससे आबद्ध रहना है, जो दोषों की पुनरावृति का कारण है। अतः निर्दोष होने के लिए अपने तथा दूसरों में दोषी-भाव की अस्वीकृति अनिवार्य है, अथवा यों कहो कि सभी मान्यताओं को त्याग, मान्यताओं के प्रकाशक अनन्त से अभिन्न होने में ही निर्दोषता है। किसी भी मान्यता को सुरक्षित रखना अपने को दोषी बनाये रखना है। साधन रूप मान्यताओं को कर्त्तव्य-परायणता से तथा

असाधनरूप मान्यताओं को अस्वीकृति से मिटाना होगा, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है।

मान्यता का सद्भाव विकल्परहित विश्वास है, जो ज्ञान के समान भासता है। विश्वास का महत्व केवल कर्त्तव्य के प्रति, अनन्त के प्रति अथवा देह से अतीत अपने प्रति है। इसके अतिरिक्त जो विश्वास है, वह प्रमाद है। कर्त्तव्यपरायणता राग-निवृति के लिए है, अनन्त क विश्वास परम प्रेम के लिए है और अपना विश्वास अमरत्व के लिए अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त साधक के जीवन में विश्वास का कोई सदुपयोग ही नहीं है। कर्त्तव्य का निर्णय प्राकृतिक विधान तथा निज-विवेक पर निर्भर है। इसी कारण कर्त्तव्य-पालन में अधिकार है, फल में नहीं। कर्त्तव्य के बदले में किसी फल की आशा करना नवीन राग में आबद्ध होना है, जो वास्तव में अकर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। अतः परिस्थिति के सदुपयोग-मात्र में ही कर्त्तव्य का महत्व है। परिस्थिति का सदुपयोग सभी वस्तु, अवस्था आदि से असंग करने में समर्थ है। वस्तु, अवस्था आदि की असंगता समस्त कामनाओं का अन्त कर देती है। कामनाओं का अन्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिससे जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। कारण, कि कामनाओं की निवृति होते ही चिाशान्ति तथा आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से कामना-निवृति में ही समस्त कर्त्तव्यो की परावधि है।

असाधनरूप मान्यता दूसरों की तो कौन कहे, अपने लिए भी अपने को प्रिय नहीं होती, क्योंकि अपनी दृष्टि में भी जब हम दोषी रहना नहीं चाहते, तो फिर किसी अन्य को दोषी मानना, क्या उसके प्रति घोर अन्याय नहीं है?अवश्य है। अब रही साधनरूप मान्यता की बात, जिससे कर्त्तव्य के द्वारा मुक्त होना है। कर्त्तव्य-पालन में सभी साधको को सर्वदा स्वाधीनता है, क्योंकि जो जिसे नहीं कर सकता वह उसका कर्त्तव्य ही नहीं है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कर्त्ता में कर्त्तव्य का ज्ञान और उसकी पूर्ति की सामर्थ्य विद्यमान है पर यह रहस्य वे ही समझ पाते हैं, जो वर्तमान वस्तुस्थिति के आधार पर कर्त्तव्य-पालन तथा सत्य की खोज करते हैं। कर्त्तव्य-पालन में ही भोग निवृत्ति और योग की प्राप्ति, असत्य की निवृत्ति और सत्य की प्राप्ति, काम की निवृत्ति और अनन्त की प्राप्ति निहित है।

अपने सम्बन्ध में जो अपनी मान्यता है वह भी विवेकसिद्ध नहीं है, क्योंकि अपने अर्थ में 'यह' को ले नहीं सकते। बाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे-शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और सभी वस्तुएँ 'यह' के अर्थ में आ जाती हैं। 'यह' से भिन्न जो 'मै' है, उसे किसी न कभी किसी भी कारण के द्वारा विषय नहीं किया। इस दृष्टि से अपने मे भी अपनी मान्यता का दर्शन नहीं होता। इतना ही नहीं, खोज करने पर शरीर की आदि किसी भी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक वस्तु समस्त सृष्टि से अभिन्न है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। तो फिर किसे अपना और किसे पराया मानेगे? या तो सभी अपने हैं, या कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। जब सभी अपने हैं, तो किसको बुरा समझोगे? और जिससे कोई सम्बन्ध

नहीं, उसके प्रति कुछ भी कहना बनता नहीं। अतः अपने और दूसरे के सम्बन्ध में जो मान्यताएं हैं, उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। अस्तित्वहीन को स्वीकार करना विवेक का विरोध है और कुछ नहीं। विवेक के अनादर से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। अतः उसका आदर करना चाहिए।

विवेक का आदर करते ही सृष्टिरूप वस्तु जिस अनन्त के किसी अंशमात्र में भासित होती है, उससे अभिनन्ता हो जायेगी और सृष्टि की आसक्ति तथा दासता सदा के लिए मिट जायेगी, जिसके मिटते ही चित्त शुद्धि हो जायेगा और अनन्त से अभिन्नता प्राप्त होगी। इस दृष्टि से सभी मान्यताओं से जो अतीत है, उसी को स्वीकार करना, उसी में विश्वास करना, उसी से नित्य सम्बन्ध जोड़ना और उसी का योग, बोध तथा प्रेम प्राप्त करना साधक का परम पुरुषार्थ है, जिसकी सिद्धि चित्त शुद्ध होने पर ही सम्भव है और चित्त की शुद्धि अपने में और दूसरों में निर्दोषता की स्थापना करने में ही निहित है।

११.०५.१९५६

परिस्थितियों की अनित्यता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

विरह का उदित न होना, जिज्ञासा की जागृति न होना, शान्ति का सुरक्षित न रहना और निरर्थक संकल्प-विकल्पों का प्रवाह चलना चित्त की अशुद्धि है। यद्यपि विरह, जिज्ञासा तथा शान्ति- ये तीनों ही स्वाभाविक हैं, परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण प्रत्यन द्वारा भी साध्य नहीं है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कार्य के अन्त में विश्राम तथा शान्ति स्वतः आनी चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। उसका एक मात्र कारण यह है कि होने वाली प्रवृत्ति में कोई न कोई दोष है। प्रवृत्ति-जनित दोष की निवृति के अन्त में विश्राम सम्भव है। जो प्रवृत्ति उत्कण्ठा एवं उत्साह से पूर्ण तथा स्वार्थभाव से रहित नहीं होती, उस प्रवृत्ति के अन्त में विश्राम नहीं मिलता। कारण, कि उत्कण्ठा के बिना प्रवृत्ति में रस की उत्पति नहीं होती और उत्साह के बिना प्राप्त सामर्थ्य का स्वाध्याय नहीं होता और स्वार्थ-भाव से रहित हुए बिना प्रवृत्ति-जनित दासता से मुक्ति नहीं मिलती। इन तीनों कारणों से प्रवृत्ति के अन्त में भी प्रवृत्ति का ही चिन्तन रहता है, जो निरर्थक संकल्प-विकल्प करने में हेतु है।

उत्कण्ठा न होने में कारण है-प्राप्त परिस्थिति का अनादर। वह अनादर तभी होता है, जब साधक को प्राकृतिक न्याय के अनुसार प्राप्त परिस्थिति में हित का दर्शन नहीं होता। उसका एकमात्र कारण यह है कि प्राणी उत्पति-विनाश युक्त परिस्थिति को ही अपना अस्तितव अथवा जीवन मान लेता है। प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण तथा अभाव युक्त है। उसमें जीवन-बद्धि होने से अनेक प्रकार के अभाव प्रतीत होने लगते हैं। उन अभावों से पीड़ित हो, प्राणी प्राप्त परिस्थिति से असन्तुष्ट होता है और अप्राप्त परिस्थिति का आहवान करने लगता है। वह इस बात को भूल जाता है, कि ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नहीं सकती जो अभाव-युक्त न हो, यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति विद्यमान राग-निवृति का

साधनमात्र है। जो साधनमात्र है उसे साध्य मानना प्रमाद है। इस प्रमाद से ही प्राणी कामना-पूर्ति और अपूर्ति के जाल में आबद्ध हो जाता है, जिससे सुख की आशा और दुःख का भय स्वतः उत्पन्न होता है, जो निर्दोष प्रवृत्ति में बाधक है। सदोष प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि वर्तमान कार्य करने की उत्कण्ठा ही दब जाती है, जो उत्साह को भंग कर देती है। उत्साह भंग होते ही आलस्य तथा शिथिलता का आ जाना स्वाभाविक है। आलस्य के आते ही प्राणी अपने कर्तव्य को भूल जाता है और दूसरों के कर्तव्य की प्रतीक्षा करने लगता है, जिससे स्वार्थ-भाव पुष्ट होता है। ज्यों-ज्यों ये दोष सबल होते जाते हैं, त्यों-त्यों निरर्थक संकलपों का प्रवाह चलने लगता है और प्रवृत्ति के अन्त में जो स्वतः आने वाला विश्राम है, उससे साधक वंचित्त हो जाता है। विश्राम के बिना शान्ति सम्भव नहीं और शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो नहीं सकती। अतः दोष-युक्त प्रवृत्ति से ही जीवन में असमर्थता तथा पराधीनता आती है, जो किसी को भी प्रिय नहीं है।

यह नियम है कि परिस्थिति में ही जीवन-बुद्धि होने से जड़ता आ जाती है, जिसके आते ही प्राणी इन्द्रियों के स्वभाव में आबद्ध हो जाता है। इन्द्रियों के स्वभाव में आबद्ध होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है, जो वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा को शिथिल कर देती है। यद्यपि जिज्ञासा प्राणी में स्वभावसिद्ध है परन्तु इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से तादात्म्य होने के कारण, इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अंकित हो जाता है, जिससे वह बुद्धि- जन्य ज्ञान का अनादर करने लगता है। ज्यों-ज्यों प्राणी का अनादर करता है, त्यों-त्यों इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रभाव बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रभाव बढ़ता है, त्यों-त्यों वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता प्रतीत होने लगती है, जो कामनाओं को उत्पन्न करने में समर्थ है। कामना-पूर्ति द्वारा सुख की आशा ने ही जिज्ञासा को शिथिल कर दिया है। यदि इन्द्रिय जन्य ज्ञान का उपयोग वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, सुन्दरता पूर्वक करने में हो और बुद्धिजन्य ज्ञान से शरीर आदि वस्तुओं के स्वरूप पर विचार किया जाय, तो प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन, क्षण-भंगुरता, मलिनता आदि विकारों का दर्शन होगा। बुद्धि-जन्य ज्ञान का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जायगा, त्यों-त्यों इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव स्वतः मिटता जायगा अर्थात् इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग होगा, पर उसका प्रभाव न रहेगा। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव मिटते ही रीग वैराग्य में तथा भोग योग में बदल जायेगा और कामना निवृति द्वारा चिर शान्ति प्राप्त होगी, जो जिज्ञासा-पूर्ति में समर्थ है, क्योंकि कामनाओं की निवृति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है।

यह सभी जानते हैं कि चित्त को स्वभाव से ही रस की मागं है, जिसकी प्राप्ति प्रीति से ही सम्भव है। जिस प्रकार प्राणी को सामर्थ्य तथा जीवन की मागं है, उसी प्रकार उसे प्रेम भी अभीष्ट है। पर प्रेम का उदय तभी सम्भव होगा, जब साधक कामना उत्पति के दुःख से भयभीत न हो, कामना-पूर्ति के सुख में आबद्ध न हो और कामना-निवृति की शान्ति में रमण न करे अपितु

प्रवृत्ति में सेवा का भाव और निवृति में शान्ति से अतीत की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। क्योंकि प्रीति उसी को प्राप्त होती है, जिसकी दृष्टि सदैव प्रिय को रस प्रदान करने में रहती हो, सुख की आशा में नहीं। सुख की आशा ने ही प्राणी को प्रेम से विमुख किया है। यद्यपि प्रेम का आदान-प्रदान सभी को सर्वदा अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि प्रेम का रस निवृति-पूर्ति से विलक्षण है, इसीलिए उसके आदान-प्रदान में अगाध-अनन्त रस है। परन्तु सुख-भोग की रुचि ने नित-नूतन विरह का उदय नहीं होने दिया। इस दृष्टि से सुख-भोग की रुचि का अन्त होने पर ही विरह की जागृति सम्भव है।

यह नियम है कि जो प्राणी की स्वाभाविक माँग है अर्थात् जिज्ञासा, प्रिय लालसा और शान्ति, उसकी प्राप्ति की साधना में भी स्वाभाविकता होनी चाहिए। पर भुक्त-अभुक्त इच्छाओं के प्रभाव ने उस स्वाभाविकता का अपहरण कर लिया है। जिन इच्छाओं की पूर्ति प्राणी अनेक बार कर चुका है, उन इच्छाओं की पूर्ति की वास्तविकता को उसने नहीं जाना। उसका परिणाम यह हुआ कि भुक्त इच्छाओं न अभुक्त इच्छाओं को जन्म देकर साधक को संकल्प-विकल्पों के द्वन्द्व में आबद्ध कर देता है।

यदि साधक सावधानीपूर्वक इच्छापूर्ति की वास्तविकता को जानने का प्रयास करता, तो उसे भली भांति ज्ञात हो जाता कि इच्छाओं की पूर्ति में सुख कितना है और परिणाम में पराधीनता जड़ता एवं शक्तिहीनता कितनी है। इच्छा-पूर्ति के परिणाम का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों इच्छा-पूर्ति की दासता स्वतः मिटती जाती है, जिस काल में साधक सर्वांश में उस दासता से मुक्त हो जाता है, उसी काल में इच्छापूर्ति का प्रभाव मिट जाता है, जिसके मिटते ही साधन में स्वतः स्वाभाविकता आ जाती है।

कामना-पूर्ति के सुख का प्रभाव रहते हुए साधक जब बल पूर्वक शान्ति एंव जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा को जाग्रत करने का प्रयास करता है, तब सफल नहीं होता। कारण, कि इच्छाओं के सुख के प्रभाव ने चित्त को अशुद्ध कर दिया। अतः चित्त के अशुद्ध रहते हुए शान्ति, जिज्ञासा एंव लालसा की जागृति सम्भव नहीं है।

जब तक साधक वस्तु, आदि के आश्रय के बिना रह नहीं सकता, तब तक चित्त शुद्ध नहीं सकता और जब तक वस्तुओं के स्वरूप को जानकर सत्य की खोज नहीं करता, तब तक वस्तु आदि के आश्रय से रहित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सत्य की खोज में ही असत्य का त्याग और असत्य के त्याग में ही चित्त की शुद्धि निहीत है।

प्राप्त विवेक के प्रकाश में साधक वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास किये बिना ही बलपूर्वक चित्त को वस्तुओं से हटाना चाहता है, अथवा यों कहो कि चित्त में जो वस्तुओं का अस्तित्व अंकित है, उसे निकालना चाहता है, पर सफल नहीं होता। उसका एक मात्र कारण यह है कि बलपूर्वक जिसे दबाया जाता है, वह कभी न कभी निकल ही जाता है, क्योंकि श्रम के बाद विश्राम अनिवार्य है। इसी कारण दबा हुआ चित्त साधक के अधीन नहीं रहता। कभी साधक चित्त को दबाता है और कभी चित्त साधक को दबाता है। साधक और चित्त मध्य संघर्ष उस समय

तक चलता ही रहता है, जब तक साधक विवेकपूर्वक वस्तुओं की वास्तविकता को जान, वस्तुओं से अतीत के जीवन से नित्य सम्बन्ध तथा उससे स्वरूप की एकता स्वीकार नहीं कर लेता।

वस्तुओं से अतीत के जीवन से नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते ही साधक में स्वभाव से ही उसके प्राप्त करने की उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जिसके होते ही चित्त को वस्तुओं से हटाने का प्रयास नहीं करना पड़ता, अपितु चित्त स्वतः जाग्रत होती है। ज्यों-ज्यों सत् की खोज सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों असत् से सम्बन्ध तथा असत् की कामना अपने आप मिटती जाती है, जिसके मिटते ही चित्त स्वभाव से ही असत् से विमुख होकर सत् अभिन्न हो जाता है। परन्तु असत् को असत् जाने बिना असत् से चित्त को हटाने का प्रयास निरर्थक ही सिद्ध होती है। अतः असत् को असत् जानकर ही सत् की खोज करनी चाहिए। कारण, कि असत् के ज्ञान में ही सत् की खोज करने की सामर्थ्य निहीत है।

वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। इस रहस्य को जान लेने पर चित्त स्वभाव से ही वर्तमान कार्य में लग जाता है चित्त पर दबाब डालकर उसे लगाना नहीं पड़ता है। यह नियम है कि वर्तमान कार्य ठीक होने पर बिगड़े हुए भूत का परिणाम मिट सकता है और भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। इस दृष्टि से वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। वर्तमान बिगड़ने से भविष्य कभी सुन्दर नहीं हो सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार वर्तमान परिणाम ही भविष्य होता है। इस दृष्टि से साधक को बड़ी ही सुन्दरतापूर्वक, पूरी शाक्ति लगाकर करना चाहिए।

आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य के त्याग में ही शान्ति निहीत है, क्योंकि आवश्यक कार्य न करने से और अनावश्यक कार्य चित्त में जमा रखने से ही अशान्ति रहती है। अतः आवश्यक कार्य कर डालने और अनावश्यक कार्य का त्याग करने से चित्त स्वतः शान्त हो जाता है।

सत्य की खोज, प्रिय-लालसा, शान्ति तथा वर्तमान कार्य का आदर-इन चारों की और प्रगति होने पर तो चित्त साधक के अधीन रहता है। इनके अतिरिक्त किसी में भी यदि चित्त को लगाना चाहे, तो चित्त स्वभाव से लग नहीं सकता और अस्वाभाविक से अर्थात् बलपूर्वक लगाया हुआ चित्त कभी स्थिर नहीं रह सकता। यहाँ तक कि साधरण दैनिक कार्यों में श्रमपूर्वक दबाव डालकर जब चित्त को लगाना पड़ता है, तब उसका परिणाम यह होता है कि चित्त में उत्तरोत्तर, नीरसता मलिनता और शक्तिहीनता बढ़ती जाती है, जिससे कार्य के अन्त में भी चित्त स्थिर नहीं हो पाता। स्थिरता के बिना चित्त शान्त तथा प्रसन्न तो हो ही नहीं सकता।

यद्यपि प्रत्येक कार्य के अन्त में स्थिरता तो स्वभाव से ही आती है। पर वह स्थिरता इनती निर्जीव हो गई है कि उससे चित्त शान्त नहीं हो पाता। कारण, कि कार्य में प्रवृत्ति आसक्तिपूर्वक होती है। यह नियम है कि जो कार्य जिस भाव से किया जाता है, अन्त में उसका परिणाम भी वही होता है। अतःआसक्तिपूर्वक किया हुआ कार्य

आसक्ति को ही दृढ़ करता है, जिससे कार्य के अन्त में चित्त में स्वाभाविक स्थिरता नहीं आती। प्राकृतिक नियम के अनुसार तो प्रत्येक आवश्यक कार्य आसक्ति-निवृति का साधन है। किन्तु स्वार्थभाव ने उसे नवीन राग की उत्पति का हेतु बना दिया है। यदि चित्त शुद्ध करना है तो प्रत्येक कार्य स्वार्थभाव को त्याग, सावधानीपूर्वक करना होगा, जिससे विद्यमान राग की निवृति हो जायगी और नवीन राग उत्पन्न न होगा। राग-रहित होते ही द्वेष स्वतः मिट जायगा, जिसके मिटते ही हृदय में स्नेह की वृद्धि होगी। स्नेह की वृद्धि से चित्त की नीरसता-खिन्नता मिट जायगी, जिसके मिटते ही चित्त शान्त तथा प्रसन्न हो जायगा। ज्यों-ज्यों चित्त में शान्ति तथा प्रसन्नता बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों चित्त स्वस्थ होता जायगा। चित्त के स्वस्थ होते ही जो करना है, वह स्वतः होने लगेगा और जो नहीं करना है, उसकी उत्पति ही न होगी, अर्थात् चित्त निर्दोष हो जायगा। निर्दोषता आते ही चित्त में से वस्तुओं का आश्रय स्वतः मिट जायगा और सत्य की खोज उदित होगी, जो समस्त कामनाओं को खा जायगी। कामनाओं का अन्त होते ही निरर्थक संकल्प स्वतः मिट जायेंगे और आवश्यक संकल्प अपने आप पूरे हो जायेंगे। पर संकल्प-पूर्ति का सुख चित्त में अंकित न होगा, जिससे निर्विकल्पता स्वभाव से ही आ जायगी, जिसके आते ही जो हो रहा है, उसी में अखण्ड प्रसन्नता सुरक्षित रहेगी। अनुकूनता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय मिट जायगा। निर्भय होते ही चिर-विश्राम, अगाध-प्रीति, निस्सन्देहता स्वतः प्राप्त होगी, जो वास्तविक जीवन है। अतः साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक सब प्रकार के प्रलोभन तथा भय को त्याग, चित्त शुद्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

१२.०५.१९५६

भय तथा प्रलोभन से मुक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

भय तथा प्रलोभन में आबद्ध होना ही चित्त की अशुद्धि है। अतः चित्त-शुद्धि के लिए इन दोनों का अंत करना होगा। अब विचार यह करना है कि भय तथा प्रलोभन की उत्पत्ति ही क्यों होती है? जब हमारी प्रसन्नता किसी पर अर्थात जो अपना नहीं है, अथवा अपने से भिन्न है, उस पर निर्भर हो जाती है, तब अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो जाते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

वस्तुओं की ममता, विश्वास में विकल्प, विवेक का अनादर-इन तीन कारणों से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कोई भी वस्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार व्यक्गित नहीं है, क्योंकि किसी भी वस्तु का समष्टि शक्तियों तथा सृष्टि से विभाजन नहीं हो सकता। परन्तु प्राणी प्रमादवश काल्पनिक भेद स्वीकार कर वस्तुओं को अपनी मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो अपना है, उसे अपना नहीं मान पाता और जो अपना नहीं है, उसे अपना मान बैठता है। जो अपना है, उसे अपना न मानना उससे मानी हुई भिन्नता स्वीकार करना है और जो अपना नहीं है उसे अपना मानना मानी हुई एकता स्वीकार करना है। मानी हुई भिननता ने अपने से अपनी

प्रीति नहीं होने दी और मानी हुई एकता से अनेक प्रकार की आसक्तियां उत्पन्न हो गई हैं जिन्होंने प्राणी को पराधीन बना दिया, जड़ता में आबद्ध कर दिया जिससे अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो गये। जब तक मानी हुई एकता और मानी हुई भिन्नता का अंत न कर दिया जाए, तब तक प्रलोभन से मुक्त होना संभव नहीं है। इन दोनों में से किसी एक का अंत होने पर दोनों का अंत हो जाता है, क्योंकि मानी हुई एकता से ही अपने से मानी हुई भिन्नता की उत्पत्ति होती है और मानी हुई भिन्नता से ही 'पर' से मानी हुई एकता की उत्पत्ति होती है।

क्या कोई ऐसी वस्तु है जिससे मानी हुई एकता न हो? अर्थात सभी वस्तुओं से एकता केवल मानी हुई है। जब साधक विवेकपूर्वक किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानेगा, तब सुगमतापूर्वक वस्तुओं की दासता से मुक्त हो जाएगा। वस्तुओं की दासता से मुक्त होते ही सभी कामनाएं मिट जायेंगी। कामनाओं का अंत होते ही अपने से जो अपनी दूरी तथा भेद प्रतीत होता था वह स्वतः मिट जायेगा जिसके मिटते ही समस्त भय तथा प्रलोभन निर्मूल हो जायेंगे।

वस्तुओं को अपना न मानने में कठिनाई क्या है? जो जानते हैं उसे नहीं मानते, यही भूल वस्तुओं को अपना न मानने में प्राणी को समर्थ नहीं होने देती। अपनी जानकारी के विरोध को सहन कर लेने से ही प्राणी वस्तुओं को अपनी मानता है। जानकारी के विरोध को सहन कर लेना ही असावधानी है जो मृत्यु के समान है।

यद्यपि साधक के जीवन में असावधानी के लिए कोई स्थान ही नहीं है क्योंकि असावधानी ही प्राणी को अमरत्व से मृत्यु, सत्य से असत्य और चेतना से जड़ता की ओर ले जाती है। भोगशक्ति ने ही प्राणी को असावधान बना दिया है। अतः सावधानी का अंत करने के लिए भोगशक्ति का अंत करना होगा और भोगशक्ति का अंत करने के लिए भोग की वास्तविकता को जानना अनिवार्य है। भोग की रुचि में जितनी मधुरता है उतनी भोग-प्रवृत्ति में नहीं है। भोग-प्रवृत्ति के आरंभकाल में जितना सुख है उतना मध्य में नहीं है और अंत में सुख की गंध भी नहीं रहती अपितु उसके परिणाम में तो अनेक प्रकार के रोग ही उत्पन्न होते हैं। भोग की वास्तविकता का परिचय हो जाने पर भोग की रुचि योग की लालसा में बदल जाती है। योग की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों भोग-वासनाएं स्वतः मिटती जाती है। जिस काल में भोग-वासनाओं का अंत हो जाता है उसी काल में योग की उपलब्धि हो जाती है और सभी वस्तुओं से ममता मिट जाती है, जिसके मिटते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही निर्भयता स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त वस्तुओं की ममता से और अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित हो सकता है जो विवेक-सिद्ध है। अब यह विचार करना है कि भोग की रुचि की उत्पत्ति क्यों होती है? अपने को देह मानकर इंद्रिय-जन्य स्वभाव से तद्रूप हो जाने से भोग की रुचि उत्पन्न होती है। यदि विवेकपूर्वक अपने को देह से असंग कर लिया जाए अर्थात देह से जो

मानी हुई एकता है उसका त्याग कर दिया जाए तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भोग की रुचि का अंत हो सकता है। भोग की रुचि के अंत में ही भोग-वासनाओं का अंत निहित है।

अब विचार यह करना है कि देह से असंग होने में प्रतिबंध क्या है? निज-विवेक का अनादर और इंद्रियों के ज्ञान का आदर ही साधक को देह से असंग नहीं होने देता। इंद्रियों के ज्ञान का उपयोग भले ही हो, पर आदर निज-विवेक का होना चाहिए। निज-विवेक के आदर से इंद्रिय-ज्ञान का प्रभाव, जो चित्त पर अंकित है वह मिट जाएगा, जिसके मिटते ही भोग की रुचि स्वतः नष्ट हो जाएगी, जिसके होते ही देह से असंगता आ जाएगी, जो भोग-वासनाओं का अंत करने में समर्थ है। भोग-वासनाओं का अंत होते ही अपने से जो भिन्न है उससे वियोग और अपने से अपना नित्य योग स्वतः हो जाता है, जिसके हाते ही चिर-शांति, स्वाधीनता एवं अमरत्व तथा चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाएगी। उसके हुए बिना साधक न तो वस्तुओं की दासता से मुक्त हो सकता है और न भय तथा प्रलोभन ही मिट सकता है। इस दृष्टि से जिन वस्तुओं से मानी हुई एकता स्वीकार कर ली थी, उनसे असंगता और जो अपने से अपनी मानी हुई दूरी तथा भेग उत्पन्न हो गया था, उसका अंत करना अनिवार्य है। इसके बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। अपने में अपना योग स्वाभाविक है और वस्तुओं से संयोग अस्वाभाविक है। वस्तुओं के संयोग में ही अपना महत्व समझना दीनता तथा अभिमान में आबद्ध होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह नियम है कि जो स्वाभाविक है उससे नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, उसमें जीवन नहीं है। अतः जो साधक वस्तुओं से अतीत के जीवन पर विकल्प रहित विश्वास कर लेता है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक समस्त प्रलोभनों से मुक्त हो जाता है और उसकी प्रसन्नता किसी ओर पर निर्भर नहीं रहती, अपितु अपने ही में अपने परम प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। वास्तव में अपने से अपना वियोग हो ही नहीं सकता, परन्तु वस्तुओं के संयोग में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से ही प्राणी अपने नित्य-योग को भूल गया है, जिसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिए अथवा यों कहें कि जो नित्य प्राप्त है उससे प्रीति हो जानी चाहिए। वह तभी संभव होगी, जब सभी कामनाओं का अंत कर दिया जाए, जो विवेकसिद्ध है। कामनाओं का अंत होते ही दृष्टि बिना दृश्य के और चित्त बिना ही आधार के शांत हो जाता है, जो सहज योग है।

वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग के भय से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि वस्तु व्यक्ति आदि का वियोग स्वाभाविक है परन्तु उनके वियोग में जो नित्ययोग स्वतः सिद्ध है उसकी और अग्रसर न होने से प्राणी व्यर्थ ही भयभीत होता है। यह सभी जानते हैं कि गहरी नींद में प्राणी प्रिय से प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग स्वभाव से ही अपना लेता है और उस अवस्था में किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करता, अपितु जाग्रत अवस्था में यही कहता है कि बड़े सुख से सोया। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी स्मृति अनुभूति के बिना नहीं हो सकती। गहरी नींद में कोई दुःख नहीं था, यह अनुभूति क्या साधक को

वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन की प्रेरणा नहीं देती? अर्थात अवश्य देती है। इस अनुभूति का आदर न करने से ही प्राणी वस्तु, व्यक्ति के वियोग से भयभीत होता है। अब यदि कोई कहे कि गहरी नींद में तो जड़ता थी इस कारण दुःख नहीं प्रतीत हुआ। गहरी नींद के समान स्थिति यदि जाग्रत में प्राप्त कर ली जाय तो यह सन्देह निर्मूल हो जाएगा और यह स्पष्ट बोध हो जाएगा कि वस्तु, व्यक्ति आदि के बिना भी जीवन है और उस जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं है।

वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता में प्राणी क्यों आबद्ध हो गया है? अपने को वस्तु मानकर। यद्यपि वस्तु का ज्ञान जिसको है, वह स्वयं वस्तु नहीं है, परन्तु यदि वह अपने को ही वस्तु मान बैठे, तो वह फिर अनेक वस्तु, व्यक्ति आदि की आवश्यकता अनुभव करने लगता है। साधक इन्द्रियों के द्वारा जिन वस्तुओं, व्यक्तियों को देखता है और बुद्धि के द्वारा जिन वस्तुओं, व्यक्तियों को जानता है और जिस ज्ञान से बुद्धि तथा इन्द्रियों को जानता है, उस ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है, वह वस्तु ही है। वस्तु और ज्ञान में अन्तर यह है कि कोई भी वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती, किन्तु ज्ञान अपने को और अपने से भिन्न वस्तुओं को प्रकाशित करता है। उस स्वयं-प्रकाश ज्ञान को वस्तु नहीं कह सकते। उस ज्ञान में जिसका योग है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक गहरी नींद के समान उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है, जिसमें दुःख नहीं है। इतना ही नहीं, गहरी नींद में जड़ता के कारण साधक उस ज्ञान से अभिन्न नहीं हो पाता, परन्तु जाग्रत में अभिन्न हो सकता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन में दुःख तथा अभाव नहीं है। तो फिर वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग से भयभीत होना केवल भूल के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। अतः भूल का अन्त होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग का भयः स्वत मिट जाता है और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। सम्बन्ध तथा विश्वास के आधर पर ही वस्तु, व्यक्ति आदि से एकता का भास होता है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान होने पर उनका विश्वास मिट जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होने पर वस्तुओं से भिन्नता का बोध हो जाता है, वस्तुओं का विश्वास मिटते ही लोभ, मोह आदि सभी दोष मिट जाते हैं और वस्तुओं से भिन्नता का अनुभव होते ही अमरत्व प्राप्त होता है। लोभ, मोह आदि दोषो के मिटते हानि का भय और लाभ का प्रलोभन, वियोग का भय और संयोग का प्रलोभन स्वतः मिट जाता है।

वस्तुओं और व्यक्तियों के विश्वास और सम्बन्ध को अल्प से अल्प काल के लिए भी यदि तोड़ कर अनुभव किया जाय, तो उस जीवन में कितना रस है! इसकी तुलना उस सुख से नहीं की जा सकती, जो अन्त काल से वस्तु और व्यक्तियों के सम्बन्ध से मिलता रहा है। पर ऐसा विश्वास उन्हीं साधकों को होना सम्भव है, जो चित्त की अशुद्धि को सहन नहीं कर सकते। अशुद्धि-जनित सुख की लोलुपता में आसक्त बेचारा प्राणी उस रस की लालसा ही नहीं कर पाता, जो उसका अपना ही है।

वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही प्राणी राग-रहित हो जाता है। राग-रहित ही योग के साम्राज्य में स्वतः प्रवेश हो जाता है अर्थात् अनावश्यक संकल्प मिट जाते हैं, आवश्यक संकल्प कर्त्तव्य के अभिमान के बिना ही स्वतः पूरे हो जाते हैं और उन संकल्पों की पूर्ति का सुख चित्त में अंकित नहीं होता। उसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः योग हो जाता है। यदि योग से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय पुनः भोग में न किया जाय, तो साधक का बोध के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, जो अखण्ड नित्य जीवन है। योग के साम्राज्य में पराधीनता, असमर्थता एवं अशान्ति नहीं रहती। बोध के साम्राज्य में किसी प्रकार का भय तथा सन्देह नहीं रहता। निस्सन्देहता तथा निर्भयता आते ही अपने में ही अपने प्रेमास्पद को प्राप्त कर प्राणी अगाध, अनन्त रस से छक जाता है, क्योंकि प्रेमी और प्रेमास्पद में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रस रूप है। प्रेम, प्रेमी का जीवन और प्रेमास्पद का स्वभाव है। प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होने पर किसी प्रकार का प्रलोभन शेष नहीं रहता, क्योंकि समस्त प्रलोभन व्यक्तित्व के अभिमान से ही जीवित हैं। और प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश तभी होता है, जब व्यक्तित्व का अभिमान गल जाय। इस दृष्टि से योग, बोध तथा प्रेम के साम्राज्य में अशान्ति, भय एवं प्रलोभन आदि सब प्रकार की अशुद्धियों का अन्त हो जाता है। बस, यही चित्त की शुद्धि है।

१३.०५.१९५६

नीरसता और खिन्नता से मुक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

वर्तमान नीरस हो जाने पर अर्थात सरस न रहने से भी चित्त अशुद्ध हो जाता है। कारण कि नीरसता खिन्नता को, खिन्नता क्षोभ को, क्षोभ क्रोध को और क्रोध कर्त्तव्य की विस्मृति को उत्पन्न करता है। यह नियम है कि कर्तव्य की विस्मृति से ही अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति होती है, जो अवनति का मूल है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान नीरस क्यों होता है? प्राकृतिक विधान में अपना हित निहित है-इसको भूलने से, प्रतिकूलताओं से भयभीत होकर अपने पर अविश्वास करने से, निर्बल से निर्बल प्राणी का भी कर्तव्य है और कर्तव्य-परायणता में विकास है-इस भूल सिद्धान्त को न मानने से वर्तमान नीरस हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक न्याय क्षोम तथा क्रोध से रहित है। इतना ही नहीं, अपितु उदारता तथा हित-कामना से भरपूर भी है। अतः प्रतिकूल परिस्थिति से भयभीत होना सर्वथा निरर्थक है। भयभीत होते ही प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग नहीं कर पाता। इस कारण वर्तमान नीरस हो जाता है।

अपने पर अविश्वास होने से अपने कर्तव्य पर विश्वास नहीं रहता। यह नियम है कि जिसे कर्तव्य पर विश्वास नहीं रहता, उसे अपने लक्ष्य पर भी विश्वास नहीं रहता। लक्ष्य-विहीन प्राणी कि कर्तव्यविमूढ़ हो, अधीर हो जाता है। अर्थात् जीवन-संग्राम में हार स्वीकार कर व्यर्थ चिन्तन में

आबद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से अपने पर अविश्वास समस्त अनर्थों का मूल है। अपने पर विश्वास का अर्थ देह आदि वस्तुओं का विश्वास नहीं है, प्रत्युय वस्तुओं पर अविश्वास होने पर ही अपने पर विश्वास होता है। और अपने पर विश्वास होने पर ही उस अनन्त पर विश्वास होता है, जो सभी का सब कुछ है। अपने पर विश्वास होने पर ही प्राकृतिक विधान में श्रद्धा होती है। इस दृष्टि से अपने पर अपना विश्वास ही सब प्रकार के विकास का मूल है।

अपने पर विश्वास होते ही निर्बल से निर्बल प्राणी भी कर्तव्य-परायण हो सकता है। कारण, कि निर्बलता अनन्त बल पर निर्भर होने की प्रेरणा देती है। निर्बनता अनन्त बल की माँग है और कुछ नहीं। यदि बल कामना-पूर्ति के लिए साधन-मात्र है, तो निर्बलता की वेदनाकामना-निवृति की और अग्रसर करने में समर्थ है। प्रत्येक प्राणी कामना-पूर्ति के पश्चात उस स्थिति में आता है, जिस स्थिति में वह कामना-पूर्ति से पूर्व था। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति का कोई विशेष महत्व नहीं है। उसकी अपेक्षा कामन-निवृति का कहीं अधिक महत्व है। अतः निर्बल से निर्बल प्राणी का भी कर्तव्य है। कर्तव्य से निराश होना केवल अपने पर अविश्वास करना है और कुछ नहीं। यह नियम है कि कर्तव्य-परायणता सफलता की कुञ्जी है। अतः जीवन-संग्राम में हार स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वर्तमान की निसरता कर्तव्य से विमुख कर देती है और फिर प्राणी अकर्तव्यपूर्वक उस नीरसता को मिटाने का प्रयास करता है। परन्तु वह उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है, क्योंकि अकर्तव्य से असफलता ही होती है। इस दृष्टि से अकर्तव्य का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। वर्तमान की निरसता के कारण ही प्राणी क्षुभित और क्रोधित होता है। क्षुभित होने से प्राप्त शक्ति का हास और क्रोधित होने से प्रमाद की उत्पति होती है, जिससे बेचारा प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में अपने को असमर्थ पाता है, अर्थात् उसे उचित्त मार्ग नहीं मिलता। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में सर्वथा स्वाधीन है, परन्तु अधीर हो जाने के कारण जानते हुए न जानने के समान और मानते हुए न मानने के तुल्य हो जाता है। इतना ही नहीं, जो कर सकता है, उसके करने में भी अपने को असमर्थ मान बैठता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो न होने वाली बातें हैं, उनका चिन्तन करने लगता है और जो होने वाली बातें हैं, उनसे अपने को बचाता है। इस भयंकर परिस्थिति में ही प्राणी पागल होता है, आत्म-हत्या करने की सोचता है, दूसरों के दुःख की और ध्यान ही नहीं देता। उसका मस्तिष्क इच्छापूर्ति के चिन्तन में ही लगा रहता है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का अनादर होने लगता है। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से वर्तमान सरस होता है और भविष्य आशाजनक हो जाता है। अतः प्राप्त परिस्थिति का अनादर करना सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि उससे चित्त अशुद्ध ही होता है। किन्तु वर्तमान की निरसता से अपने प्रति ग्लानी और प्राप्त परिस्थिति से खीझ होने लगती है, जिससे प्राणी के स्वभाव में चिड़चिड़ापन, कटुता आदि अनेक दोष आ जाते

हैं। उस व्यथा को मिटाने के लिए बेचारा प्राणी मादक द्रव्यों का सेवन करने लगता है, पर-निन्दा में रत रहता है और अपने में मिथ्या गुणों एवं वैभव का आरोप करता है अर्थात हवाई किले बनाता रहता है। पर इन सब मिथ्या उपचारों से उसकी मानसिक व्यथा दूर नहीं होती अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। ऐसी दशा में किसी प्रकार यदि उसे अपने पर विश्वास हो जाय और वह प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में लग जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसके सभी विकार मिट जायेंगे। पर यह तभी संभव होगा, जब वह अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी न किसी कार्य में लगा रहे। यह नियम है कि श्रमी जीवन में संयम तथा सदाचार स्वतः आने लगता है जिसके आते ही मानसिक खीझ मिटने लगती है। ज्यों-ज्यों खीझ मिटती जाती है, त्यों-त्यों मन में स्थिरता तथा शांति अपने आप बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों स्थिरता एवं शांति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों पराधीनता मिटती जाती है और स्वाधीनता का प्रादुर्भाव होने लगता है जिसके होते ही वर्तमान सरस हो जाता है जो विकास का मूल है।

नीरसता केवल प्रतिकूलता से ही नहीं आती और सरसता केवल अनुकूलता की देन नहीं है। कितनी ही भयंकर प्रतिकूलता क्यों न हो, यदि प्राणी हार स्वीकार नहीं करता और धैर्य को नहीं त्यागता तो उसका वर्तमान नीरस नहीं हो सकता अपितु प्रतिकूलता की वेदना एक नवीन सामर्थ्य को जन्म देती है। यह प्राकृतिक नियम है। इस दृष्टि से प्रतिकूल परिस्थिति तो विकास का ही साधन है, नीरसता का नहीं। अनुकूलता तो प्राणी को सुख में ही आबद्ध करती है। यह नियम है कि सुख से दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। दबा हुआ दुःख बढ़ता ही है घटता नहीं। अतः अनुकूलता से ही नीरसता मिटेगी-यह मान लेना भूल है। इतना ही नहीं अनुकूलता जड़ता में आबद्ध कर वर्तमान को नीरस बना देती है। वर्तमान को सरस बनाने में अनुकूलता भी तभी समर्थ हो सकती है जब उसमें उदारता-जनित करुणा आ जाय अर्थात पर-दुःख को अपना ले। इस दृष्टि से सरसता का हेतू प्रत्येक परिस्थिति में दुःख ही है। प्रतिकूल परिस्थिति का जो दुःख है उससे यदि हम भयभीत न हों, तो त्याग द्वारा वर्तमान सरस बन सकता है।

अनुकूल परिस्थिति में जो सरसता 'उदारता' से आती है वही सरसता प्रतिकूल परिस्थिति में 'त्याग' से प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति वर्तमान को सरस बनाने में हेतु नहीं है, अपितु उनका सदुपयोग ही नीरसता मिटाने में समर्थ है। अब यदि कोई यह कहे कि प्रतिकूलता जीवन में आती ही क्यों है, जबकि प्राकृतिक न्याय उदारतापूर्वक है? तो उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुकूल परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा जब प्राणी सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर नहीं हो पाता, अपितु अनुकूल परिस्थिति की दासता में ही आबद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय सर्वदा प्राणी के लिए हितकर ही है। अतः प्राकृतिक न्याय के प्रति सदैव श्रद्धा रखनी चाहिएं इस दृष्टि से जो कुछ स्वतः हो रहा है उसमें प्राणी का कभी अहित नहीं है। अहित होता है प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग न करने से। यह नियम

है कि परिस्थिति के सदुपयोग के बिना प्राणी सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही प्राणी का विकास निहित है।

जब तक प्राणी अपने विकास के लिए अपने को पराधीन मानता है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि चित्त की शुद्धि अपने ही कर्त्तव्य पर निर्भर है। उसके लिए किसी दूसरे के कर्त्तव्य की ओर नहीं देखना है और न अप्राप्त वस्तु, योग्यता आदि का आह्वान करना है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर अप्राप्त योग्यता तथा वस्तु स्वतः प्राप्त होती है। वस्तुओं तथा योग्यता का अभाव तभी तक रहता है जब तक प्राणी प्राप्त वस्तु तथा योग्यता का सदुपयोग नहीं करता। कर्त्तव्य पालन के लिए सामर्थ्य देना उस अनंत का विधान है। साधक को तो केवल प्राप्त सामर्थ्य का स्वाध्याय करना है। अतः बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में अप्राप्त की प्राप्ति निहित है। विवेक के अनादर तथा बल के दुरुपयोग से ही प्राणी पराधीन हो गया है। यह पराधीनता उसकी अपनी बनाई हुई भूल है। यह नियम है कि भूल को जान लेने पर भूल स्वतः मिट जाती है। कर्त्तव्य पालन प्रत्येक परिस्थिति में संभव है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही समाज का सहयोग तथा प्राकृतिक विधान की अनुकूलता स्वतः प्राप्त होती है। प्राणी अपने अकर्त्तव्य से ही वर्तमान को नीरस बना लेता है। अभाव की वेदना में अभाव का अभाव करने की सामर्थ्य है। वेदना और नीरसता में एक बड़ा भेद है। नीरसता खिन्नता प्रदान कर क्षुब्ध कर देती है जिससे प्राणी भयभीत होकर कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। किंतु वेदना ज्यों-ज्यों सबल होती है त्यों-त्यों प्राणी में उत्कंठा तथा उत्साहपूर्वक कर्त्तव्य-परायणता आती है और ज्यों-ज्यों कर्त्तव्यपरायणता आती है, त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आती है। आई हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से प्राणी स्वाधीनता और निस्संदेहता प्राप्त कर लेता है। स्वाधीनता तथा निस्संदेहता आने पर नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

प्रतिकूल परिस्थिति भोग में भले ही बाधक हो पर योग में नहीं। इस दृष्टि से प्रतिकूलता का भय सत्य के जिज्ञासु साधक के लिए कुछ अर्थ नहीं रखता अपितु सत्य की खोज में सहयोग ही देता है। प्रतिकूलता से भय उन्हीं प्राणियों को होता है जो वस्तुओं से अतीत के जीवन में विश्वास नहीं करते। वस्तुओं के विश्वास के आधार पर ही प्राणी अपने वास्तविक विश्वास को खो बैठा है। अपने विश्वास को खोकर ही बेचारा प्राणी खिन्नता, नीरसता, क्षोभ, क्रोध आदि में आबद्ध हो गया है।

इस दृष्टि से अपने विश्वास को सुरक्षित रखने के लिए वस्तुओं की दासता से मुक्त होना अनिवार्य है। जो अपने पर विश्वास कर सकता है उसकी प्राकृतिक न्याय में श्रद्धा हो सकती है और वही अनंत की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर सब प्रकार से अभय हो सकता है। यह नियम है कि निर्भय प्राणी का ही वर्तमान सरस होता है और जिसका वर्तमान सरस होता है वही विकास की ओर अग्रसर होता है।

समस्त विकारों की भूमि चित्त की खिन्नता है और सब प्रकार का विकास चित्त की प्रसन्नता में निहित है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि जीवन का आवश्यक अंग है। वह तभी संभव होगा, जब प्राणी कामना-अपूर्ति के भय और कामना-पूर्ति की दासता से रहित होकर कामना-निवृत्ति की शांति से असंग हो जाय। यही प्राणी का परम पुरुषार्थ है जो प्रत्येक परिस्थिति में संभव है।

१५.०५.१९५६

स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता की आवश्यकता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त-शुद्धि के बिना न तो चित्त में स्थिरता आती है और न प्रसन्नता तथा निर्भयता। स्थिरता के बिना न तो प्राणी शांति ही पाता है और न किसी कार्य की ही सिद्धि होती है। प्रसन्नता के बिना न तो क्षोभ का ही अंत होता है और न ही नित नव उत्साह की जागृति होती है। निर्भयता के बिना न तो आवश्क शक्ति का विकास ही होता है और न प्राप्त शक्ति का सदुपयोग ही। इस दृष्टि से चित्त में स्थिरता, प्रसन्नता एवं निर्भयता का होना जीवन की सार्थकता के लिए परम आवश्यक है। पर वह तभी संभव होगा, जब प्राणी अपनी अनुभूति का आदर करने में समर्थ हो, जो जानता है उसका अनादर न करे अर्थात उसके ज्ञान और जीवन में एकता हो जाय। ज्ञान और जीवन की एकता में चित्त की शुद्धि निहित है। चित्त-शुद्धि होते ही उसमें स्थिरता, प्रसन्नता तथा निर्भयता स्वतः आ जायगी।

अब विचार यह करना है कि जो हो चुका है और जो हो रहा है उसका प्रभाव चित्त पर क्या है? जो हो चुका है उसकी स्मृति और उसका सम्बन्ध चित्त में अंकित है। पर जिस वस्तु की स्मृति है वह वस्तु अब उस रूप में नहीं है अर्थात उसका वियोग हो गया है परन्तु फिर भी उससे सम्बन्ध बना हुआ है। स्मृति और सम्बन्ध के आधार पर ही चित्त में उन वस्तुओं का अस्तित्व अंकित है जो वर्तमान में नहीं है। जो वस्तुएँ नहीं हैं उनके अस्तित्व को स्वीकार करने में निज-अनुभूति का विरोध है। इस विरोध के अनादर से ही चित्त अशुद्ध हो गया है जिससे चित्त की स्थिरता भंग हो गई है।

जो हो रहा है उस पर यदि विचार किया जाए तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिसे हम उत्पत्ति कहते हैं वह किसी का विनाश है और जिसे हम विनाश कहते हैं, वह किसी की उत्पत्ति है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम में ही स्थिति का भास होता है। उसी के आधार पर जब हम किसी वस्तु की सत्यता, अथवा उसका अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं तब चित्त में उन वस्तुओं का राग अंकित हो जाता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। राग की भूमि में ही समस्त कामनाएं उत्पन्न होती हैं। उनकी अपूर्ति में प्राणी क्षुभित होता है अभाव का अनुभव करता है जिससे प्रसन्नता भंग हो जाती है। कामनाओं की पूर्ति में प्राणी सुख का अनुभव करता है और जिन वस्तुओं से कामना की पूर्ति होती है उन वस्तुओं के अधीन हो जड़ता में आबद्ध हो जाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि

अपने अस्तित्व को ही भूल जाता है और अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं।

इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ प्रतीत हो रहा है क्या उसमें सतत् परिवर्तन नहीं है? अर्थात अवश्य है। तो फिर किसी भी वस्तु के अस्तित्व को उसी रूप में स्वीकार करना जिस रूप में इंद्रियों के द्वारा प्रतीत हो रहा है, क्या प्रमाद नहीं है? अर्थात अवश्य है। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु की स्थिति सिद्ध नहीं होती। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं होती उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है। उसी का परिणाम यह हुआ है कि प्राणी लोभ, मोह आदि विकारों में आबद्ध हो गया है। लोभ में आबद्ध होने से ही संग्रह की रुचि उत्पन्न हो गई है और संग्रह से ही जीवन में जड़ता आ गई है जिससे परिवर्तनशील वस्तुओं का महत्व इतना बढ़ा दिया है कि जिन वस्तुओं का उपयोग प्राणियों की सेवा में था, उनका प्रयोग उसमें न करके वह उनके द्वारा सिक्कों का ही संग्रह करने लगा है, जिससे परस्पर अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर दिए हैं, जो संघर्ष का मूल है। इतना ही नहीं वस्तु में ही जीवन-बुद्धि हो गई है जिससे प्राणी अपनी चेतना से ही अपने को विमुख कर बैठा है और मोह में आबद्ध हो गया है। प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ दरिद्रता का कारण है और दरिद्रता अभाव को जन्म देती है जिससे प्राणी के चित्त में न तो प्रसन्नता रहती है और न निर्भयता। प्राकृतिक विधान में वस्तुओं की न्यूनता नहीं है। कारण कि प्रत्येक वस्तु अनंत है। ऐसा कोई बीज नहीं जिसमें अनेक वृक्ष विद्यमान हों, अर्थात कोई गणना ही नहीं कर सकता कि प्रत्येक दाने में कितने दाने निकल सकते हैं। इतना ही नहीं, 'कुछ नहीं' से ही 'सब कुछ' उत्पन्न होता है। तो फिर जीवन में आवश्यक वस्तुओं का अभाव क्यों है? अर्थात अभाव नहीं होना चाहिए। परन्तु लोभ ने उदारता का अपहरण कर लिया और संग्रह को जन्म दिया। उदारता के बिना सर्व-हितकारी सद्भावनाएं सुरक्षित नहीं रहतीं। सर्व-हितकारी भाव के बिना कोई भी प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकता। कर्त्तव्य-परायणता के बिना न तो परस्पर में स्नेह रहता है और न आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से वस्तुओं के महत्व ने प्राणी को वस्तुओं से वंचित्त किया और चिन्मय जीवन से भी विमुख कर दिया।

यह नियम है कि जिससे जितना अधिक हित होता है उसको प्रकृति के विधान से उतनी ही अधिक सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सामर्थ्य का अभाव केवल स्वार्थ भाव तथा प्राप्त सामर्थ्य के दुरुपयोग में ही निहित है। ज्यों-ज्यों स्वार्थभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों प्रकृति उसे सामर्थ्यशाली बनाती है। जैसे जिन वृक्षों से दूसरे वृक्षों को पोषण मिलता है उनकी आयु भी अपेक्षाकृत अधिक होती है और वे दूसरे वृक्षों से पोषित भी होने लगते हैं। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राकृतिक विधान के अनुसार वे ही सुरक्षित रह सकते हैं जो उदार हैं। उदार वे ही हो सकते हैं जो निर्लोभ हैं और निर्लोभ वे ही हो सकते हैं जो वस्तुओं से अपना महत्व अधिक जानते हैं।

निर्लोभता आते ही मोह-रहित होने की सामर्थ्य भी स्वतः आ जाती है क्योंकि निर्लोभता

वस्तुओं में जीवनबुद्धि नहीं होने देती। वस्तु में जीवनबुद्धि के बिना मोह की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। मोह की उत्पत्ति के बिना भेद की उत्पत्ति ही सिद्ध नहीं होती ओर भेद की उत्पत्ति के बिना सीमित अहम का भास ही नहीं होता। अहम भाव के बिना काम की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती और काम की उत्पत्ति के बिना चित्त अशुद्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से वस्तुओं के महत्व ने ही काम को उत्पन्न किया और उसी से अभाव की उत्पत्ति हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि इच्छाओं की उत्पत्ति हो गई और इच्छित वस्तुओं का अभाव हो गया अर्थात इच्छाओं की अपूर्ति की परिस्थिति में आबद्ध होकर प्राणी स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भरता से रहित हो गया, जो चित्त की अशुद्धि है।

इंद्रियों के ज्ञान से जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है वही वस्तु बुद्धि के ज्ञान से उसी काल में वैसी नहीं प्रतीत होती। इंद्रियाँ वस्तु से सत्यता एवं सुन्दरता का भास कराती है पर बुद्धि का ज्ञान उन वस्तुओं में सतत् परिवर्तन का दर्शन कराता है जब प्रत्येक वस्तु निरंतर बदल रही है तब उसके अस्तित्व को स्वीकार करना केवल वस्तुओं के राग को ही जन्म देना है। राग से भोग की रुचि उत्पन्न होती है। जब इंद्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं तब मन इंद्रियों के अधीन हो जाता है। जब मन इंद्रियों के अधीन हो जाता है तब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है जिसके होते ही विषयों में सत्यता तथा सुन्दरता का भास होने लगता है। विषयों की सत्यता दृश्य के अस्तित्व को सिद्ध करने में समर्थ होती है। दृश्य का अस्तित्व स्वीकार करते ही त्रिपुटी बन जाती है अर्थात समस्त दृश्य उसी प्रतीति कराने वाली इंद्रियां-मन-बुद्धि आदि और उनका द्रष्टा। जिस द्रष्टा ने बुद्धि आदि के द्वारा समस्त दृश्य को जाना है वह सर्वदा दृश्य से अतीत है। दृश्य की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार न करने पर राग का अंत हो जाता है। उसका अंत होते ही भोग की रुचि मिट जाती है और उसके मिटते ही प्रत्येक प्रवृत्ति के अंत में इंद्रियाँ स्वतः विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं तथा मन निर्विकल्प होकर बृद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम होकर त्रिपुटी का अभाव हो जाता है जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब यह विचार करना है कि चित्त की स्थिरता भंग क्यों होती है? प्राकृतिक नियम के अनुसार तो प्रत्येक प्रवृत्ति के अंत में चित्त को स्वभाव से ही स्थिर रहना चाहिए क्योंकि आवश्यक संकल्प की पूर्ति के पश्चात अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति हो जानी चाहिए। आवश्यक संकल्प की पूर्ति और अनावश्यक संकल्प की निवृत्ति से चित्त में स्वतः स्थिरता आ जाएगी। पर ऐसा क्यों नहीं हो पाता? उसका एकमात्र कारण है कि जिन वस्तुओं का वियोग हो गया है उनका भी अस्तित्व चित्त में ज्यों का त्यों अंकित है और जो वस्तुएँ प्रतीत हो रही हैं यद्यपि उनमें निरंतर परिवर्तन हो रहा है परन्तु प्राणी परिवर्तन पर दृष्टि न रखकर उनकी सत्यता को स्वीकार कर लेता है जिसका परिणाम यह होता है कि उन वस्तुओं से सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। तात्पर्य यह निकला कि जिन वस्तुओं से वियोग हो चुका है उनकी स्मृति और जिन वस्तुओं में परिवर्तन हो रहा है उनका सम्बन्ध अर्थात अप्राप्त वस्तुओं की

स्मृति और प्राप्त वस्तुओं की ममता चित्त को स्थिर नहीं होने देती। यदि अप्राप्त वस्तुओं के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय और प्राप्त वस्तुओं से हम निर्मम हो जायँ तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त स्थिर हो सकता है।

वस्तुओं के उत्पादन तथा उनके सदुपयोग का जीवन में भले ही कोई स्थान हो पर उनकी ममता का जीवन में कोई स्थान नहीं है और न वस्तुओं का महत्व अपने से अधिक स्वीकार करना है। जब साधक वस्तुओं की ममता से रहित हो जाता है तब उसमें उदारता स्वतः आ जाती है जिसके आते ही वस्तुओं को सद्व्यय अपने आप होने लगता है और वस्तुओं से प्राणियों का महत्व अधिक हो जाता है जिसके होते ही साधक स्वयं जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर हो जाता है।

जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होने में किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है और न कोई अभाव व विषमता है। विषमता का अंत होते ही खिन्नता सदा के लिए विदा हो जाती है अथवा यों कहो कि अखण्ड प्रसन्नता आ जाती है। इतना ही नहीं, वैरभाव तथा भय का भी अंत हो जाता है जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही वस्तुओं का इतना महत्व बढ़ गया है कि साधक अपने अस्तित्व को ही भूल गया है। जो अभावरूप है, उसका भाव स्वीकार कर लिया है और जिसमें सतत् परिवर्तन है उसकी स्थिति को ही सत्य मान लिया है। यदि साधक विवेकपूर्वक जो भावरूप नहीं है उसका अभाव स्वीकार कर ले जिसकी स्थिति नहीं है उससे विमुख हो जाय, तो वर्तमान में ही चित्त शुद्ध होते ही सभी समस्यायें स्वतः हल हो जायेंगी। ध्यानी का अखण्ड हो जाएगा, योगी योग से अभिन्न हो जाएगा तथा जिज्ञासु को तत्व-साक्षात्कार एवं प्रेमी को परम प्रेम की उपलब्धि होगी और फिर सब प्रकार के भय का अंत हो जाएगा। फिर किसी दोष की उत्पत्ति ही न होगी अर्थात मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता सदा के लिए निवास करेगी। पर यह तभी संभव होगा, जबकि साधक अपनी अनुभूति का आदर कर वस्तुओं के सम्बन्ध तथा स्मृति का अंत करने में समर्थ हो जाए। यही चित्त-शुद्धि का सुगम उपाय है।

१५.०५.१९५६

कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का अंत

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त स्वभाव से गतिशील है चंचल नहीं। परन्तु उसमें जो चंचलता भासती है, उसका कारण उसमें इंद्रियों के ज्ञान का प्रभाव अंकित होना है। यदि उस प्रभाव को विवेकपूर्वक मिटा दिया जाए तो चित्त स्वभाव से ही अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर हो, शांति पा जाता है। चित्त सदैव शांति तथा रस की खोज में लगा रहता है। इसी से अधिक काल तक किसी भी परिवर्तनशील वस्तु अवस्था आदि में नहीं ठहरता। प्राणी उसके इस स्वभाव को साधारणतः चंचलता मान लेता है। वास्तव में तो वह अपने रसरूप प्रेमास्पद की खोज में लगा है।

कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व-भाव से की हुई प्रवृत्ति का प्रभाव चित्त में अंकित होता है। करने और भोगने की रुचि इंद्रियों के ज्ञान में सद्भाव होने से उत्पन्न होती है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति का महत्व विद्यमान राग की निवृत्ति में है। परन्तु प्राणी असावधानी से विद्यमान राग की निवृत्ति की तो कौन कहे, अपितु नवीन राग उत्पन्न कर लेता है जिससे बेचारा चित्त अशुद्ध हो जात है।

चित्त स्वरूप से अशुद्ध नहीं है। वह तो अनंत विभूति है। जब उसकी गतिशीलता उद्देश्य की ओर हो जाती है, तब वह योगी को योग से, जिज्ञासु को तत्वज्ञान से और प्रेमी को प्रेमास्पद से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से चित्त बड़े ही महत्व की वस्तु है।

चित्त में जो राग-द्वेष अंकित है वह बीती हुई घटनाओं का प्रभाव है और कुछ नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। यदि प्राणी उस अर्थ को अपनाए और घटनाओं को भूल जाए अर्थात उनकी सत्यता को स्वीकार न करे तो घटनाओं से प्राप्त प्रकाश साधन बन जाता है। परन्तु असावधानी के कारण प्राणी घटनाओं के अर्थ को भूल जाता है और घटनाओं की स्मृति को अंकित कर लेता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। घटनाओं की स्मृतिमात्र को वस्तुस्थिति मान लेना भूल है। वह तो भोगे हुए सुख-दुःख का प्रभाव है, सुख-दुःख नहीं।

यदि प्राणी आये हुए सुख-दुःख का सदुपयोग करे और उसमें जीवन-बुद्धि की स्थापना न होने दे तो वह बड़ी सुगमतापूर्वक सुख-दुःख के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार उत्पत्ति और विनाश युगपद् हैं अर्थात न तो उत्पत्ति में ही स्थिरता है और न विनाश में ही सत्यता है। इस दृष्टि से सुख की उत्पत्ति में ही सुख का विनाश ओर दुःख की उत्पत्ति-काल में ही दुःख का विनाश आरंभ हो जाता है। जिस सुख-दुःख की स्थिति ही नहीं है उसके प्रभाव को चित्त में अंकित रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब प्राणी चित्त में अंकित स्मृति को घटना के रूप में स्वीकार कर लेता है तब वह चित्त में उत्पन्न हुए संकल्पों को बलपूर्वक दबाता है और चित्त की निंदा करने लगता है अथवा राग-जनित संकल्पों का सुखद स्वप्न देखने लगता है अर्थात प्रतिकूल मनोराज्यों से भयभीत होता है और रुचिकर मनोराज्य का सुख भोगता है। भोग चाहे प्रवृत्ति के आधार पर हो अथवा चित्त में अंकित स्मृति के आधार पर, उन दोनों से राग-द्वेष की उत्पत्ति समान ही होती है। परन्तु प्रवृत्ति के भोग में और स्मृति के भोग में एक बड़ा अंतर यह रहता है कि प्रवृत्ति के भोग का परिणाम स्पष्ट होने लगता है और स्मृति के द्वारा भोग का परिणाम स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। इस दृष्टि से विषय-प्रवृत्ति की अपेक्षा विषय-चिन्तन कहीं अधिक अहितकर सिद्ध होता है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक को चित्त में अंकित स्मृति को मिटाने के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि चित्त को बलपूर्वक न दबाया जाए। स्मृति वस्तुस्थिति नहीं है अपितु स्मृति मात्र है। यह जान लेने पर स्मृति स्वतः मिट जायेगी। अब हमें यह चित्त में अंकित स्मृति के

वास्तविक स्वरूप के विषय में विचार करना है। यह बात किसी भी विज्ञान से सिद्ध नहीं हो सकती कि जो वस्तु जिस काल में जैसी देखी-सुनी थी वह वास्तव में वैसी है क्योंकि प्रत्येक वस्तु में निरंतर परिवर्तन हो रहा है। परन्तु स्मृति-काल में उसकी सत्यता अस्वीकार कर दी जाए तो चित्त में से उसका अस्तित्व निकल जाएगा, जिसके निकलते ही चित्त में स्वभाव से ही स्थिरता आ जाएगी। स्थिरता के आते ही आवश्यक सामर्थ्य आ जाएगी जो चित्त को शुद्ध करने में समर्थ है।

चित्त में जिन घटनाओं की स्मृति अंकित हो गई है यदि उन घटनाओं में परिवर्तन-बुद्धि होती अथवा आज उन घटनाओं का अभाव है यह बोध होता अथवा घटनाओं में सद्‌बुद्धि न होती तो उनकी स्मृति ही चित्त में अंकित न होती और न चित्त अशुद्ध होता। परन्तु परिवर्तनशील, अभावरूप घटनाओं को प्राणी सत्य मान लेता है जो वास्तव में केवल प्रतीति मात्र है। इस कारण चित्त में उनकी स्मृति अंकित हो जाती है। जितनी सत्यता जाग्रत अवस्था की घटनाओं में प्रतीत होती है और जितना उनका राग-द्वेष अंकित होता है, उतनी सत्यता स्वप्न में होने वाली घटनाओं के प्रति दृढ़ नहीं होती। उसका परिणाम यह होता है कि स्वप्न में होने वाले सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि का प्रभाव चित्त में अधिक काल तक अंकित नहीं रहता क्योंकि स्वप्न की घटना को जाग्रत में मिथ्या मान लेता है और स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न की सृष्टि को अपने से भिन्न नहीं मानता। मिथ्या-बुद्धि तथा अभिन्नता का भाव होने से स्वप्न की घटना से चित्त में राग-द्वेष अंकित नहीं होता अपितु अंकित राग-द्वेष की निवृत्ति ही होती है अथवा यों कहो कि चित्त की दशा का बोध हो जाता है। यह नियम है कि जिसकी वास्तविकता का बोध हो जाता है उससे यो तो एकता हो जाती है अथवा असंगता। उससे सम्बन्ध नहीं रहता। एकता से भी चित्त शुद्ध होता है ओर असंगता से भी। अर्थात एकता और असंगता से चित्त शुद्ध ही होता है, अशुद्ध नहीं। जिस प्रकार स्वप्न में होने वाली घटनाओं का प्रभाव घटनाओं में मिथ्या-बुद्धि होने से चित्त में अंकित नहीं होता, प्रत्युत कालांतर में उन घटनाओं की स्वतः विस्मृति हो जाती है उसी प्रकार यदि जाग्रत में होने वाली घटनाओं के प्रति अभाव-बुद्धि हो जाए तो उनकी भी विस्मृति हो सकती है क्योंकि स्वप्न और जाग्रत दोनों में होने वाली घटनाओं का कालांतर में अभाव ही सिद्ध होता है। स्वप्न की घटना स्वप्न-काल में तो जाग्रत के ही समान सत्य है और जाग्रत में भूतकाल की घटनाएं वर्तमान में स्वप्न के समान ही मिथ्या हैं। इस दृष्टि से स्वप्न और जाग्रत की घटनाएं समान ही अर्थ रखती हैं। परन्तु प्राणी जाग्रत घटना को सत्य मानकर उनके राग-द्वेष में आबद्ध हो, चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

घटनाओं के अर्थ पर दृष्टि रखने से तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक घटना प्राणी के लिए हितकर सिद्ध हो सकती है। परन्तु घटनाओं में सद्‌बुद्धि रखने से तो अहित ही होता है। यदि गंभीरतापूर्वक घटनाओं के अर्थ पर विचार किया जाए तो होने वाली घटनाएं त्याग तथा प्रेम का ही पाठ पढ़ाती हैं। त्याग तथा प्रेम को अपना लेने पर राग-द्वेष

स्वतः मिट जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक घटना चित्त-शुद्धि का साधनमात्र है और कुछ नहीं। अतः घटनाओं के अस्तित्व को अभाव रूप जानकर उनके अर्थ को अपना लेने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। ऐसा करने से चित्त सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाएगा। जो कुछ हो रहा है उसकी स्मृत्ति चित्त पर अंकित नहीं होती। जो कर रहे हैं उसी की स्मृति चित्त पर अंकित होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु मिट रही है पर उसका प्रभाव चित्त पर नहीं होता। यदि उसका प्रभाव हो जाय तो बड़ी सुगमता से चित्त शुद्ध हो जाय। परन्तु जिन वस्तुओं का उपयोग हम कर रहे हैं उनका प्रभाव चित्त पर अंकित होता है जो प्राणी के चित्त में वस्तुओं की स्मृति अंकित कर देता है जिससे वास्तविकता की विस्मृति हो जाती है। यदि किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि की स्मृति न हो तो अपने आप उसकी स्मृति जाग्रत हो जाय जो वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत है। वस्तुओं की स्मृति ने ही अनंत की विस्मृति उत्पन्न कर दी है जिससे प्राणी सब प्रकार से दीन-हीन हो गया है।

भोग की रुचि से ही कर्त्तव्य के अभिमान का जन्म होता है और कर्त्तव्य के अभिमान से ही भोग में प्रवृत्ति होती है। कर्त्तव्य और भोक्तृत्व के कारण ही होने वाली प्रवृत्तियों का प्रभाव चित्त पर अंकित होता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वास्तव में जो कुछ हो रहा है वह समष्टि-शक्तियों के द्वारा ही होता है परन्तु समष्टि-शक्तियों में कर्त्तव्य का अभिमान नहीं है। जिस प्रकार सूर्य से ही सभी नेत्र देखते हैं और सूर्य से ही रूप बनता है परन्तु सूर्य किसी भी रूप का भोग नहीं करता और न ही नेत्र से देखने का अभिमान ही करता है। परन्तु प्राणी सूर्य के द्वारा प्राप्त नेत्र के अपना मानता है और सूर्य के ही उत्पन्न किए हुए रूप का नेत्र के द्वारा ही भोग करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह स्वयं अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानकर सुख-दुःख में आबद्ध हो जाता है। यदि प्राणी समष्टि-शक्तियों से मिली हुई वस्तुओं को अपना न माने और उन्हें सर्व-हितकारी कार्यों में लगा दे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-द्वेष रहित हो सकता है। ज्यों-ज्यों राग त्याग में और द्वेष प्रेम में बदलता जाता है त्यों-त्यों चित्त स्वतः शुद्ध होता जाता है।

प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु किसी भी प्राणी की व्यक्तिगत नहीं हैं सभी को समष्टि-शक्तियों से प्राप्त है अथवा यों कहो कि उस अनंत की देन है। मिली हुई वस्तुओं को अपना मान लेना और उनके अभिमान में आबद्ध हो जाना प्रमाद के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं है, यदि प्राणी मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग, जिससे मिली है उसी के नाते कर डाले, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक अभिमान-रहित हो सकता है। निरभिमानता आते ही कर्त्तव्य स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

कर्म-सामग्री भी अपनी नहीं है और कर्म का फल भी अपने अधीन नहीं है। केवल प्राप्त सामग्री का उपयोग करने मात्र में ही प्राणी का अधिकार है। जिसने कर्म करने की सामर्थ्य दी है उसने विवेक के स्वरूप में विधान भी दिया है। अतः विवेकपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए और जो कुछ हो उसी में संतुष्ट होना

चाहिए। ऐसा करने से सभी दोष स्वतः मिट जाएंगे और चित्त शुद्ध हो जाएगा।

इंद्रियों के द्वारा जो कुछ किया है उसका प्रभाव तभी तक चित्त पर अंकित रहता है जब तक प्राणी धैर्यपूर्वक, भली-भांति, बुद्धि के द्वारा उस प्रवृत्ति की वास्तविकता को जान नहीं लेता। प्रत्येक प्रवृत्ति स्वभाव से ही मिट जाती है परन्तु उसका प्रभाव चित्त पर रहा जाता है। प्रवृत्ति के अभाव का ज्ञान उस प्रभाव को, जो चित्त पर अंकित है, नष्ट कर देता है और तब चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः चित्त पर प्रभाव बुद्धि के ज्ञान का हो, प्रवृत्ति-जनित सुख-दुःख का नहीं। इंद्रियों के ज्ञान का सदुपयोग तो वर्तमान कार्य करने मात्र में ही है।

जब प्राणी निस्संदेहतापूर्वक अपने लक्ष्य का निर्णय कर लेता है और पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर, उसी लक्ष्य के नाते प्रत्येक कार्य सावधानीपूर्वक करने लगता है तब प्रत्येक कार्य साधन हो जाता है और उसके अंत में स्वतः अपने लक्ष्य के लिए उत्कट लालसा तथा जिज्ञासा जाग्रत होती है। इस दृष्टि से कार्यों में भिन्नता होने पर भी उद्देश्य की एकता सुरक्षित रहती है जिससे प्रत्येक कार्य या तो सत्य की खोज में अथवा प्रिय की लालसा जाग्रत करने में सहयोगी हो जाता है। पर यह तभी संभव होता है जब साधक की दृष्टि सतत् लक्ष्य पर रहे और कार्यों में ऊंची-नीची, छोटी-बड़ी, भली-बुरी बुद्धि न रहे। सभी कार्य एक ही उद्देश्य की पूर्ति में साधन हों। पवित्र उद्देश्य का निर्णय हो जाने पर दूषित कार्यों का तो जन्म ही नहीं होता। जैसे किसी सती-साध्वी महिला का प्रत्येक कार्य पति-प्रेम में ही विलीन होता है वैसे ही साधक का प्रत्येक कार्य साध्य की प्रीति में ही विलीन होता है।

प्राणी का उद्देश्य वही हो सकता है जो सभी वस्तु अवस्था एवं परिस्थिति से अतीत हो, क्योंकि किसी भी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व तो है ही नहीं। उद्देश्य वही हो सकता है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व हो। परिस्थितियां तो किसी राग का परिणाम है और उनके सदुपयोग में ही राग-निवृत्ति की मुख्यता है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि प्रमाद है, उद्देश्य नहीं। परन्तु प्राणी से भूल यह होती है कि या तो वह प्राप्त कार्य को भोग-बुद्धि से करता है अथवा उपेक्षा भाव से। भोग-बुद्धि से किए हुए कार्य से तो नवीन राग की उत्पत्ति होती है और उपेक्षा-भाव से कार्य करने पर कर्त्ता में जो करने का राग विद्यमान था उसकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि कार्य में अधूरापन होने से उसकी वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता, जिससे विद्यमान राग नष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति यह सोचता हैकि बड़े-बड़े कार्य सावधानीपूर्वक करना चाहिए और छोटे-छोटे कार्यों में विशेष ध्यान नहीं देना है उसका कोई भी कार्य पूरा नहीं होता। अतः साधक को प्राप्त कार्य न तो भोग-बुद्धि से करना चाहिए, न उपेक्षा-भाव से और न असावधानी से। प्रत्युत अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, पवित्र-भाव से, पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिए, जिससे प्रत्येक कार्य सत्य की जिज्ञासा तथा प्रेमास्पद की लालसा में विलीन हो जाय और करने के राग की भी निवृत्ति होते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कार्य किया जाता है, उसका राग चित्त पर अंकित नहीं होता। उसी कार्य का राग चित्त पर अंकित होता है जो सुख की आशा से प्रेरित होकर किया जाता है। उसी से चित्त अशुद्ध होता है। प्रेमास्पद के नाते प्रत्येक कार्य चित्त-शुद्धि में समर्थ है। इस दृष्टि से चित्त में से विद्यमान स्मृति को नाश करना और नवीन स्मृति को अंकित न होने देना ही चित्त-शुद्धि का सुगम उपाय है।

१६.०५.१९५६

निस्संकल्पता की आवश्यकता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है और सार्थक चिन्तन से चित्त शुद्ध हो जाता है। अब विचार यह करना है कि व्यर्थ चिन्तन और सार्थक चिन्तन में भेद क्या है? जिन वस्तुओं की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है उनका चिन्तन व्यर्थ चिन्तन है और जिसकी प्राप्ति जिज्ञासा अथवा लालसा-साध्य है उसका चिन्तन सार्थक चिन्तन है। कर्म का सम्पादन प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुओं से होता है और उसका परिणाम भी किसी न किसी परिस्थिति के रूप में ही होता है। यह नियम हे कि सभी परिस्थितियां उत्पत्ति-विनाश-युक्त हैं। इस दृष्टि से कर्म का फल नित्य नहीं है। प्रत्येक कर्म के मूल में संकल्प-पूर्ति का महत्व है। संकल्प-पूर्ति का सुख किसी-न-किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की आसक्ति ही मिलती है जो प्राणी को पराधीन बना देती है और अनेक प्रकार के अभाव ही प्रदान करती है। अतः संकल्प-पूर्ति का सुख अहितकर ही सिद्ध होता है।

संकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति बनती है वह स्वभाव से ही अपूर्ण तथा परिवर्तनशील है। अतः संकल्प-पूर्ति में जो सुख का भास है, वह परिस्थिति में नहीं है, अपितु संकल्प-पूर्ति मात्र में ही निहित है। अथवा यों कहो कि संकल्प उत्पत्ति में जो दुःख की अनुभूति है, वह संकल्प-पूर्ति से मिट जाती है और जब तक दूसरा संकल्प उत्पन्न नहीं होता, तब तक दुःख का भास नहीं होता अर्थात संकल्प-पूर्ति मात्र से संकल्प-उत्पत्ति-जन्य दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का महत्व संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व के जीवन का अनुभव हो जाए तो संकल्प-उत्पत्ति का दुःख और पूर्ति का सुख कुछ अर्थ नहीं रखता अर्थात सुख-दुःख दोनों का ही अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

अब विचार यह करना है कि संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व जो जीवन है, उसका अनुभव कैसे हो? प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में किसी न किसी अनुत्पन्न तत्व का होना अनिवार्य है क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार उत्पत्ति किसी से होगी। जिससे उत्पत्ति होगी वह स्वयं उत्पत्ति-रहित होगा। यह नियम है कि जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, उसका विनाश भी नहीं होता। अतः प्रत्येक उत्पत्ति का मूल आधार अविनाशी है। जिसका नाश नहीं होता उससे देश-काल की दूरी संभव नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी संभव नहीं है उसको अपने ही में पा सकते हैं अथवा उसकी खोज अपने ही में हो सकती है। इस दृष्टि से

संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व का जीवन अपने ही में निहित है। जो अपने ही में है उससे किसी प्रकार की दूरी तथा भेद सिद्ध नहीं हो सकता। जिससे भेद तथा दूरी नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प अपेक्षित नहीं है। अतः संकल्पों के त्याग से ही संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व के जीवन का अनुभव हो सकता है।

अब यदि कोई यह कहे कि सर्व संकल्पों का त्याग तो संभव नहीं है, जैसे-भूख, प्यास आदि। जिन संकल्पों का त्याग संभव नहीं है, उनकी पूर्ति समष्टि शक्ति के द्वारा स्वतः हो जाती है। यह नियम है कि कर्त्तृत्व के अभिमान के बिना जो संकल्प पूरे होते हैं उनमें भोग-बुद्धि की स्थापना नहीं होती। जिन संकल्पों में भोग-बुद्धि नहीं स्थापना होती, उन संकल्पों की पूर्ति का सुख चित्त में अंकित नहीं होता और जिन संकल्पों की पूर्ति का सुख अंकित नहीं होता, वे नवीन संकल्प की उत्पत्ति में हेतु नहीं होते। अतः जो संकल्प मिटाये नहीं जा सकते, उनकी पूर्ति भी संकल्प-निवृत्ति का ही साधन है। संकल्पों के त्याग से अनावश्यक संकल्प उत्पन्न नहीं होते और आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं। जिस प्रकार भुना हुआ दाना भूख दूर करता है, उपजता नहीं, उसी प्रकार संकल्पों के त्याग से प्राकृतिक नियम के अनुसार कुछ संकल्प पूरे भी होते हैं, तो उनसे नवीन संकल्प उत्पन्न नहीं होते अर्थात निस्संकल्पता स्वभाव से ही आ जाती है।

निस्संकल्पता आते ही सार्थक चिन्तन स्वतः उत्पन्न होता है। कारण कि निस्संकल्पता समस्त वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत करती है। वह ज्यों-ज्यों सबल होती जाती है, त्यों-त्यों कामनाएं स्वतः मिटती जाती हैं। उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति अपने-आप हो जाती है, जिसके होते ही पराधीनता स्वाधीनता में और जड़ता चिन्मयता में बदल जाती है, जो वास्तविक जीवन है। देह आदि वस्तुओं से तादात्म्य स्वीकार करने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ देता है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान होने पर जिज्ञासा जाग्रत होती है जो काम का अंत कर निस्संकल्पता प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार देहाभिमान रखते हुए भोग की रुचि स्वाभाविक है उसी प्रकार देहाभिमान गल जाने पर प्रीति की लालसा स्वाभाविक है। प्रीति स्वभाव से सभी को अत्यंत प्रिय है। कारण कि प्रीति रसरूप है। प्रीति का रस इतना मधुर तथा विलक्षण है कि उससे किसी की तृप्ति नहीं होती, जितना भी हो कम ही मालूम होता है। इसी कारण वह नित-नव है। प्रीति की लालसा यद्यपि प्राणी में स्वाभाविक है परन्तु उसका उदय तभी होता है, जब वह सब प्रकार की कामनाओं से रहित हो जाय और प्रीति के रस का पान वही कर सकता है जो सब प्रकार से पूर्ण हो। जो कुछ भी चाहता है, वह प्रीति का रसपान नहीं कर सकता। जिसे किसी भी वस्तु, अवस्था आदि की आवश्यकता है, उसे प्रीति प्राप्त नहीं होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रीति उस अनंत की वस्तु है जिसे इंद्रिय, बुद्धि आदि द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह नियम है कि जिसको जान नहीं पाते उस पर ही विश्वास होता है। अधूरी जानकारी में सन्देह के कारण जिज्ञासा जाग्रत

होती है और जिसके सम्बन्ध में पूरा जानते हैं उसके स्वरूप का बोध होता है। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते उस पर विश्वास करना पड़ता है। अतः प्रीति जिसकी भोग्य वस्तु है उस पर विश्वास करना अनिवार्य है। उसकी ही लालसा वास्तविक लालसा है। इस दृष्टि से जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा ही सार्थक चिन्तन है। जिस काल में जिज्ञासा कामनाओं को खाकर पूरी होती है, उसी काल में देहाभिमान गल जाता है जिसके गलते ही स्वतः प्रीति का उदय होता है जो अनंत से अभिन्न करने में समर्थ है। सार्थक चिन्तन वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश कराता है और परम प्रेम प्रदान करता है। पर सार्थक चिन्तन तभी उत्पन्न होता है जब व्यर्थ चिन्तन का अंत हो जाय अथवा चित्त शुद्ध हो जाय। वस्तुओं का चिन्तन चित्त को मलिन करता है और जो वस्तुओं से अतीत है, उसका चिन्तन चित्त को निर्मल करता है। निर्मल चित्त में ही प्रेम का सूर्य उदय होता है।

संकल्प वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ता है। जिज्ञासा वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभेद करती है और प्रिय-लालसा प्रेमास्पद का प्रेम प्रदान करती है अथवा यों कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद में नित-नव प्रेम का ही आदान-प्रदान कराती है। अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों का त्याग होने पर शुद्ध तथा आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं पर जिज्ञासा तथा लालसा साधक को संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं होने देती। संकल्प-पूर्ति का महत्व मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से लालसा तथा जिज्ञासा का जाग्रत होना ही व्यर्थ चिन्तन मिटाने में समर्थ है जिसके मिटते ही सार्थक चिन्तन की सार्थकता सिद्ध हो जाती है अर्थात योग, ज्ञान तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

शुद्ध तथा आवश्यक संकल्पों की पूर्ति से किसी का अहित नहीं होता, अपितु सभी का हित होता है। इतना ही नहीं उनकी पूर्ति से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और सुन्दर समाज का निर्माण होता है क्योंकि आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प प्राणीमात्र का हित निहित है। परन्तु संकल्प-पूर्ति का जो सुख है उससे नवीन राग की उत्पत्ति होती है। इसी कारण साधक को सावधानीपूर्वक संकल्प-पूर्ति के सुख से सर्वदा मुक्त रहना चाहिए अथवा यों कहो कि संकल्प-पूर्ति का महत्व चित्त से निकाल देना चाहिए। संकल्प-पूर्ति का स्थान केवल विद्यमान राग की निवृत्ति और दूसरों के हित में ही है। संकल्प-पूर्ति मात्र में जीवन-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। जिन संकल्पों को साधक विचारपूर्वक मिटा न सके, उन्हें पूरा करके मिटाना चाहिए। संकल्प-पूर्ति भी संकल्प-निवृत्ति के लिए ही हो, नवीन संकल्प की उत्पत्ति के लिए नहीं। बस संकल्प-पूर्ति का साधक के जीवन में इतना ही मूल्य है।

यदि संकल्प-पूर्ति संकल्प-निवृत्ति का साधन नहीं है तो संकल्प-पूर्ति का अर्थ हो जाएगा- वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध अर्थात भोग। भोग का परिणाम है- रोग और शोक। अतः जो प्राणी संकल्प-पूर्ति को ही महत्व देते हैं वे बेचारे रोग तथा शोक में ही आबद्ध रहते हैं। संकल्प चाहे कैसा ही हो, उसकी पूर्ति में सुख तो समान ही होता है। पर संकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती

है उसमें भेद होता है। जैसे शुद्ध सकल्प की पूर्ति से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और अशुद्ध संकल्प-पूर्ति से समाज दूषित हो जाता है। इस दृष्टि से अशुद्ध संकल्पों का त्याग अनिवार्य है।

संकल्प-पूर्ति का सुख, उतने ही काल तक भासता है जब तक दूसरा संकल्प उत्पन्न नहीं होता। संकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है उसकी उपस्थिति में ही नवीन संकल्प की उत्पत्ति से संकल्प-पूर्ति का सुख मिट जाता है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति मात्र में सुख है, उससे उत्पन्न हुई परिस्थिति में कुछ नहीं। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प की उत्पत्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का परिणाम क्षणिक सुख और उसके आदि और अंत में घोर दुःख है। इस रहस्य को जान लेने पर संकल्प-पूर्ति का कुछ महत्व ही नहीं रहता, जिसके मिटते ही संकल्प-निवृत्ति अर्थात योग स्वतः प्राप्त होता है।

भोग में पराधीनता, परिश्रम आदि अनेक कठिनाइयां हैं और योग श्रम-रहित, स्वाधीन, शांत तथा सामर्थ्य से युक्त जीवन है। पर उसकी उपलब्धि तभी संभव है जब संकल्प-पूर्ति का महत्व न रहे। सर्वोत्कृष्ट भोग भी योग की समानता नहीं करा सकता क्योंकि ऐसा कोई भोग है ही नहीं जो प्राणी को पराधीनता, शक्ति-हीनता आदि अनेक विकारों में आबद्ध न कर दे।

सुख-दुःख संकल्प की पूर्ति तथा अपूर्ति में ही है, किसी परिस्थिति में नहीं। यदि किसी का संकल्प भोजन करने का हो, तो उसको भूख लगने पर भी भोजन न करने में ही सुख प्रतीत होगा और उस समय उसे कोई आग्रहपूर्वक कितना ही सुन्दर भोजन कराए, उसे भोजन करने में दुःख ही प्रतीत होगा। इसके विपरीत यदि भोजन करने का संकल्प हो और भोजन न मिले तो भोजन न मिलने में दुःख होगा। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति में ही सुख-दुःख है, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में नहीं। संकल्प-पूर्ति का महत्व मिटते ही संकल्प-अपूर्ति का भय अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति में समता का ही दर्शन होता है। विषमता का अंत संकल्प-पूर्ति का महत्व मिट जाने में ही निहित है। संकल्प-पूर्ति का प्रलोभन और संकल्प-अपूर्ति का भय रहते हुए न तो व्यर्थ चिन्तन का अंत ही होगा, न सार्थक चिन्तन का उदय ही होगा और न चित्त ही निर्मल होगा। यदि संकल्प-पूर्ति के क्षणिक सुख का त्याग कर दिया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रत्येक साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है क्योंकि जिज्ञासु को तत्वज्ञान और प्रेमी को प्रेमास्पद प्रदान करने में निस्संकल्पता ही समर्थ है। पर यह ध्यान रहे कि निस्संकल्पता की शांति में रमण न हो। शांति से अतीत जो जीवन है उसी में स्वाधीनता है चिन्मयता है अमरत्व है और उसी में परम प्रेम निहित है। इस दृष्टि से व्यर्थ चिन्तन का अंत कर चित्त की शुद्धि के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

१७.०५.१९५६

वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

अपने में वस्तुओं की ओर वस्तुओं में अपनी स्थापना करने से ही चित्त अशुद्ध होता है, जिसके होते ही नित्य-सम्बन्ध की और स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि सीमित अहम भाव तथा अनेक आसक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिनसे प्राणी पराधीनता एवं अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाता है। पराधीनता तथा अभाव किसी भी प्राणी को स्वभाव से प्रिय नहीं है क्योंकि स्वाधीनता तथा पूर्णता की लालसा उसमें बीजरूप से विद्यमान है। ज्यों-ज्यों पराधीनता तथा अभाव की वेदना सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों स्वाधीनता एवं पूर्णता की लालसा स्वतः जाग्रत होती जाती है। स्वाधीनता तथा पूर्णता की लालसा जाग्रत होते ही वर्तमान वस्तुस्थिति पर सन्देह होने लगता है। यह नियम है कि सन्देह की वेदना में जिज्ञासा की जागृति स्वतः होती है जिसके होते ही वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने में अथवा वस्तुओं की वास्तविकता जानने में समर्थ होता है। वस्तुओं की वास्तविकता के ज्ञान में वस्तुओं से अतीत के जीवन की आस्था निहित है। वह आस्था ज्यों-ज्यों दृढ़ होती जाती है त्यों-त्यों उस जीवन पर विकल्प-रहित विश्वास होता जाता है। यह नियम है कि विकल्प-रहित विश्वास जिस पर होता है उससे सम्बन्ध अवश्य हो जाता है। जिससे सम्बन्ध की स्वीकृति हो जाती है, उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है। यह नियम है कि किसी को स्मृति में किसी की विस्मृति स्वतः होती है। स्मृति उसी की होती है, जिसमें दृढ़ आस्था है और जिससे सम्बन्ध है। विस्मृति उसी की होती है जिसकी आस्था में सन्देह हो जाय अथवा जिससे सम्बन्ध न रहे।

वस्तुओं में अपनी स्थापना करने का परिणाम यह होता है कि जिस वस्तु में हम अपनी स्थापना कर लेते हैं उस वस्तु की सत्यता भासने लगती है और अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। वस्तु के अस्तित्व को ही हम अपना अस्तित्व मान लेते हैं और जिन वस्तुओं की हम अपने में स्थापना कर लेते हैं, उनमें आसक्ति हो जाती है। वस्तुओं में अपनी स्थापना वस्तु से अभेद-भाव का और अपने में वस्तु की स्थापना उनमें भेद-भाव का सम्बन्ध स्थापित करती है। अभेद-भाव का सम्बन्ध सत्यता और भेद-भाव का सम्बन्ध प्रियता उत्पन्न करता है।

प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही सीमित, परिवर्तनशील, उत्पत्ति विनाश-युक्त और पर-प्रकाश्य है। यद्यपि वस्तुओं का अस्तित्व प्रतीत-मात्र है, वास्तविक नहीं। परन्तु जब उनसे सम्बन्ध स्वीकार का लिया जाता है, तब उनमें सत्यता तथा प्रियता भासने लगती है। यहां तक कि प्राणी वस्तु के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मान लेता है और अपने अस्तित्व को भूल जाता है। बस, यही स्वरूप की विस्मृति है। इस विस्मृति से ही सीमित अहम्-भाव भासने लगता है, जिससे अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद के उत्पन्न होते ही कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। वस्तुओं से भेद-भाव का सम्बन्ध, सीमित, प्रियता, अर्थात् आसक्तियों को उत्पन्न करता है, जिनके उत्पन्न होते ही नित्य-सम्बन्ध की विस्मृति हो जाती है। नित्य सम्बन्ध की विस्मृति

प्रीति को जाग्रत नहीं होने देती, प्रत्युत आसक्तियों को ही जीवित रखती है। अतः वस्तुओं के भेद-अभेद-सम्बन्ध से ही 'अहम्' और 'मम' उत्पन्न हो जाता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है।

'अहम्' और ''मम'' के आधार पर ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है और उनकी पूर्ति-अपूर्ति में ही सुख-दुःख की प्रतीत होती है। सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध प्राणी अनन्त से विमुख हो गया है। यद्यपि अनन्त से देश-काल की दूरी नहीं है, फिर भी प्राणी उससे निराश होने लगता है और जिन वस्तुओं से केवल मानी हुई एकता है; वास्तविक नहीं, उनके लिए आशान्वित रहता है।

सत्य से निराश होना और असत्य की आशा करना प्रमाद है। सत्य की जिज्ञासा असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करने में समर्थ है, अथवा यों कहो कि अनन्त की लालसा वस्तुओं की कामनाओं का अन्त कर अनन्त से अभिन्न कर देती है।

कोई भी वस्तु कामना-मात्र से ही प्राप्त नहीं हो जाती, अपितु उसके लिए विधिवत् कर्म उपेक्षित है। उस पर भी वस्तु प्राप्त हो ही जाएगी, यह कोई निश्चित नहीं। इतना ही नहीं, यदि कोई वस्तु प्राप्त होती भी है तो उसमें परिवर्तन और उसका वियोग अनिवार्य है। उस पर भी यदि प्राणी वस्तुओं की आशा करता है तो यह कहां तक युक्ति-युक्त है। परन्तु अनंत की प्राप्ति तो लालसा करने मात्र में ही निहित है। जिसकी प्राप्ति लालसा करने मात्र में ही निहित है उससे निराश होना और जिसकी प्राप्ति में घोर श्रम है प्राप्ति भी अप्राप्ति के ही तुल्य है उसकी आशा में आबद्ध रहना कहा तक वाच्छनीय है। अर्थात यह अविवेक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्राणी ने वस्तुओं से सम्बन्ध कब और क्यों स्वीकार किया, इसका तो पता नहीं। पर वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है। इसी आधार पर मान लेना चाहिए कि वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है। यह नियम है कि प्रत्येक सम्बन्ध स्वीकृतिमात्र से सिद्ध होता है और अस्वीकृति-मात्र से उसका नाश हो जाता है अर्थात ऐसी कोई स्वीकृति है ही नहीं जो अस्वीकृति मात्र से ही मिट जाय। कोई भी स्वीकृति, अस्वीकृति किसी अन्य अभ्यास से नहीं मिट सकती। इस दृष्टि से अनंत काल का सम्बन्ध क्यों न हो, वर्तमान से उसका विच्छेद हो सकता है।

वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही अहम और मम का अंत हो जाता है। अहम का अंत होते ही भेद मिट जाता है जिसके मिटते ही अनंत से अभिन्नता हो जाती है और मम के मिटते ही प्राणी राग-रहित हो जाता है जिसके होते ही योग, बोध और प्रेम स्वतः प्राप्त होता है। अर्थात अभेद-भाव का सम्बन्ध न रहने पर स्वरूप की स्मृति स्वतः जागृत होती है। स्वरूप की स्मृति जाग्रत होते ही अमरत्व और नित्य सम्बन्ध की स्मृति जाग्रत होते ही परम प्रेम की प्राप्ति होती है।

समस्त माने हुए सम्बन्ध स्वीकृति मात्र पर ही जीवित हैं जो अविचार-सिद्ध है और माने हुए संबंधों को विच्छेद अस्वीकृति-मात्र से ही संभव है जो विचार सिद्ध है। यह नियम है कि जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है

और स्वास्थ्य प्रदान करती है उसी प्रकार विचार अविचार को खाकर स्वतः मिट जाता है और अनंत से अभिन्नता प्रदान करता है। देह रुपी वस्तु से तद्रूप होने पर इंद्रिय-ज्ञान में सत्यता प्रतीत होती है जिससे अनेक कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। पर वस्तुओं के निरंतर परिवर्तन तथा उनके अदर्शन का ज्ञान इंद्रिय-ज्ञान में सन्देह उत्पन्न करता है। सन्देह की भूमि में ही जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं का अंत होते ही विचार रूपी सूर्य उदित होता है जो अविचार रूपी अंधकार को नष्ट करने में समर्थ है।

वस्तुओं से अभेद-भाव तथा भेद-भाव का जो सम्बन्ध है उसकी सत्यता, प्रियता और प्रकाशन निज-स्वरूप तथा नित्य सम्बन्ध की सत्ता से ही सिद्ध है, क्योंकि वस्तुओं का सम्बन्ध जिसने स्वीकार किया, उसी की सत्ता से वस्तुएँ पाती हैं और वस्तुओं को जिसने प्रकाशित किया, उसी के प्रकाश से वस्तुएँ प्रकाश पाती हैं। पर बड़े ही आश्चर्य की बात यह है कि वस्तुएँ जिससे सत्ता पाती हैं, उसी को ढक देती है और उसी की सत्ता से अपने को प्रकट करती है जिस प्रकार सूर्य की सत्ता से उत्पन्न बादल सूर्य को ही ढक लेते हैं। प्राकृतिक नियम के अनुसार बादलों को छिन्न-भिन्न करने में भी सूर्य ही समर्थ है, कोई और नहीं। उसी प्रकार जिसने वस्तुओं से भेद-अभेद का सम्बन्ध स्वीकार किया है। वही अस्वीकृतिपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद करने में भी समर्थ है। अतः जिन वस्तुओं की अपने में स्थापना कर ली है उनके निकालने में और जिन वस्तुओं में अपनी स्थापना कर ली है उनसे अपने को हटा लेने में भी वही समर्थ है जिसने स्थापना की थी।

यद्यपि जिसने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है, उसका स्पष्ट रूप से स्वतंत्र अस्तित्व ज्ञात नहीं होता, परन्तु उसका भास अवश्य होता है। अब यदि यह कहा जाए कि जिस अनंत की सत्ता से सभी को सत्ता मिलती है उसी ने वस्तुओं के सम्बन्ध को स्वीकार किया है तो यह कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि जो सब प्रकार से पूर्ण है उसे अपने से भिन्न की आवश्यकता ही नहीं होती। हां, यह अवश्य है कि सभी उससे भले ही सत्ता पाते हों। और यदि यह कहा जाए कि वस्तुए स्वयं सम्बन्ध जोड़ती हैं तो यह भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि जो पर-प्रकाश्य तथा परिवर्तनशील है वे सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ नहीं हैं। अतः न तो अनंत ही को सम्बन्ध अपेक्षित है और न वस्तुएँ ही सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ है। तो फिर वह कौन है कि जिसने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है? इस सम्बन्ध में यही कहना युक्ति-युक्त होगा कि जिसमें सत्य की जिज्ञासा है और वस्तुओं की कामना है, उसी ने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है। वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करते ही सभी कामनाएं मिट जाती हैं जिनके मिटते ही सत्य की जिज्ञासा पूर्ति हो जाती है। कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा पूर्ति के पश्चात पूर्ति हो जाती है। कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा पूर्ति के पश्चात अनंत और उसका योग, बोध तथा प्रेम से भिन्न और कुछ शेष ही नहीं रहता। इस दृष्टि से अनंत के योग, बोध तथा प्रेम के अभाव में जिसमें जिज्ञासा तथा कामनाएं हैं उसी ने स्वीकार किया है। उसे

जिज्ञासु, भोगी, प्रेमी आदि विशेषणों से कथन कर सकते हैं। भोग-वासनाओं का अंत होने पर योगी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता अपितु वही योगी के वेष में प्रतीत होता है। पर योग की पराकाष्ठा में योगी-रहित योग, ज्ञानी-रहित ज्ञान और प्रेमी-रहित प्रेम ही शेष रहता है, अथवा यों कहो कि योग, बोध तथा प्रेम उस अनंत की ही विभूतियां हैं। वस्तुओं के सम्बन्ध ने योग को भोग में, ज्ञान को अविवेक में और प्रेम को अनेक आसक्तियों में बदल दिया है। परन्तु यह सब कुछ होने पर भी जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा किसी न किसी अंश में रहती है और वही जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा कामनाओं को मिटाने एवं वस्तुओं से सम्बन्ध विच्छेद कराने में समर्थ है।

जब तक वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता तब तक जिसमें जिज्ञासा तथा कामना है उसकी प्रतीति अवश्य होती है। पर कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा-काल में उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना संभव नहीं है। सांकेतिक भाषा में यही कह सकते है कि प्रेम और प्रेमास्पद में जातीय तथा स्वरूप की एकता है और परस्पर में प्रेम का ही अदान-प्रदान है। उनमें से कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद है, इसका निर्णय भी संभव नहीं है। केवल यही कह सकते हैं कि प्रेम में सत्ता उसी की है, जिसका वह प्रेम है। प्रेम एक ऐसा अलौकिक तत्व है जिसकी निवृत्ति, क्षति या पूर्ति संभव नहीं है। निवृत्ति कामनाओं की और पूर्ति जिज्ञासा की होती है। प्रेम की तो प्राप्ति ही होती है, पूर्ति या निवृत्ति नहीं। इस दृष्टि से प्रेम प्रेमास्पद की अभिव्यक्ति है और कुछ नहीं।

जब तक वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद न होगा, तब तक संकल्पों की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति होती ही रहेगी, क्योंकि क्षणमात्र में कई संकल्प उत्पन्न होते हैं। उससे यह तो स्पष्ट विदित हो ही जाता है कि संकल्प-निवृत्ति-काल भी हैं। यदि न होता, तो अल्प काल में कई एक संकल्प की उत्पत्ति-पूर्ति सिद्ध ही नहीं होती क्योंकि संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के मूल में संकल्प-निवृत्ति होनी ही चाहिए। अल्प-काल की संकल्प-निवृत्ति में ही जिज्ञासा जाग्रत होती है, जिससे साधक वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने में अथवा काम का अंत करने में समर्थ होता है। संकल्प-उत्पति-पूर्ति का दुःख-सुख जब असह्य होने लगता है तब संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन में सन्देह उत्पन्न होता है। सन्देह की वेदना जिज्ञासा को पूर्ण रूप से जाग्रत करती है। जिज्ञासा की जागृति में ही काम की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति निहित है।

यद्यपि काम की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है पर असावधानी के कारण न जाने प्राणी ने कितने जन्म बिताए हैं और वर्तमान जीवन का भी बहुत बड़ा भाग बीत गया, पर समस्या हल नहीं हुई। इसका एकमात्र कारण यह है कि वस्तुओं से भेद-अभेद के संबंधों की स्वीकृति ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है। अभेद-भाव के सम्बन्ध से सीमित अहम की ओर भेद-भाव के सम्बन्ध से सीमित प्यार की उत्पत्ति हो गई है। यदि साधक निज विवेक के प्रकाश में वस्तुओं से जो भेद-अभेद सम्बन्ध है, उसका त्याग कर दे तो सीमित अहम-भाव तथा सीमित प्यार सदा के लिए विदा हो जाएं। अहम-भाव के मिटते ही अनंत

से अभिन्नता और सीमित प्यार के मिटते ही असीम प्रेम स्वतः प्राप्त होगा, जो वास्तविक जीवन है। अतः वस्तुओं के सम्बन्ध को अस्वीकार कर चित्त शुद्ध कर लेना अनिवार्य है। जो समस्या दीर्घ काल से हल नहीं हुई, वह वर्तमान में बड़ी ही सुगमतापूर्वक हल हो सकती है। साधन कितना सहज और फल कितना महान! पर यह रहस्य वे जानते हैं जो वर्तमान में ही चित्त शुद्ध करने के लिए आकुल तथा व्याकुल है।

१८.०५.१९५६

अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं

मेरे निज स्वरुप परम प्रिय,

जब प्राणी अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर कर लेता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अनेक दोषों की उत्पत्ति अपने-आप होने लगती है और चित्त शुद्ध हो जाने पर सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे भविष्य पर छोड़ना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चित्त को शुद्ध करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतंत्र है। कारण कि चित्त-शुद्धि के लिए मानव-जीवन मिला है। उससे निराश होना और उसे भविष्य पर छोड़ देना बड़ी भारी भूल है।

भूल किसी के भाग्य में नहीं लिखी है और न किसी दूसरे के द्वारा मिलती है। जानकारी की भूल होती है अर्थात जिसे जानते हैं, उसी को भूलते हैं। इस दृष्टि से भूल अपना ही बनाया हुआ दोष है। जो अपना बनाया हुआ दोष है उसे मिटाने का दायित्व भी अपने पर ही है। पर वह तब संभव होगा जब साधक प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग न करे, अपितु सदुपयोग करने के लिए सर्वदा तत्पर रहे। यह नियम है कि साधक को साधन करने की सामर्थ्य स्वतः प्राप्त है। अतः साधन से निराश होना प्राकृतिक विधान का अनादर है और कुछ नहीं।

प्राणी प्रत्येक परिस्थिति में चित्त शुद्ध कर सकता है क्योंकि सभी परिस्थितियां प्राकृतिक न्यायानुसार साधन-सामग्री है। साधन में किसी प्रकार की पराधीनता, असमर्थता एवं असफलता नहीं है। प्रत्युत प्रत्येक साधक प्रत्येक दशा में साधन करने में सर्वदा स्वाधीन है तथा समर्थ है क्योंकि किसी भी साधक को न तो वह जानना है जिसे वह नहीं जानता और न वह करना है जिसे वह नहीं कर सकता। जाना हुआ जान लेने पर न जानने का दोष मिट जाता है जिसके मिटते ही निस्संदेहता आ जाती है जिसके आते ही ज्ञान और जीवन में एकता हो जाती है। यही सफलता की कुँजी है। जो कर सकते हैं उसके करते ही कर्त्ता में से करने का राग निवृत्त हो जाता है और उससे सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं जिससे उसके प्रति सभी सद्भावना हो जाती है और उसे स्वतः स्नेह प्राप्त होता है। स्नेह-प्राप्ति में कितना रस है, इसका वर्णन तो संभव नहीं है। केवल सांकेतिक भाषा में यह कह सकते हैं कि स्नेह की तुलना किसी ओर रस से नहीं हो सकती अर्थात स्नेह का रस सर्वोत्कृष्ट रस है। इतना ही नहीं स्नेह में आदान-प्रदान स्नेह ही का है। स्नेह देने और पाने में रस ही रस है। स्नेह देने से घटता नहीं और पाने

से तृप्ति होती नहीं, जितना दिया जाय और जितना मिले कम ही प्रतीत होता है।

'करने' का राग निवृत्त होते ही भोग की रुचि स्वतः मिट जाती है क्योंकि जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। 'करने' का राग नाश होते ही कर्त्ता न रहकर जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाता है। अर्थात करने का राग निवृत्त होते ही भोग-वासनाओं का अंत हो जाता है जिसके होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति में नित्य जीवन और प्रेम की प्राप्ति में अगाध अनंत रस स्वतः सिद्ध है।

जो साधक कर्त्तव्य के बदले में सुख की आशा करता है उसका चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता। कारण कि कर्त्तव्य का महत्व दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग में है। अर्थात साधन में देने ही की बात है कुछ भी पाने की नहीं। इस दृष्टि से साधन में सर्वदा सफलता ही है। जो किसी से कुछ भी पाने की आशा करता है वह साधक नहीं है अपितु भोगी है। यह नियम है कि जो भोगी है उसका चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता और चित्त-शुद्धि के बिना कभी पराधीनता स्वाधीनता में जड़ता चेतना में, अभाव पूर्णता में परिवर्तित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

परिस्थितियों के आधार पर अपना महत्व आंकना अथवा अपने को दीन-हीन मानना प्राकृतिक न्याय का अनादर है। कारण कि किसी परिस्थिति के कारण कोई वास्तव में ऊंचा-नीचा नहीं है और जो दुरुपयोग करता है वही नीचा है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति में प्राणी आदर-अनादर के योग्य हो सकता है। किसी परिस्थिति के आधार पर ही आदर तथा अनादर देना केवल जड़ता में जीवन-बुद्धि करना है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होगा।

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सारे विश्व से अभिन्न है परन्तु बाह्य इंद्रिय-ज्ञान के आधार पर अथवा काल्पनिक भेद के आधार पर हम उस अभिन्नता में भिन्नता मान बैठे हैं। उसका परिणाम यह हुआ कि परस्पर में स्नेह नहीं रहा जिससे एक-दूसरे के प्रति जो करना चाहिए वह भी और जो नहीं करना चाहिए वह भी कर बैठते हैं जिससे अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं और पारस्परिक वैर-भाव हो जाने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। यद्यपि प्राणी मात्र एक ही आकाश से अवकाश, एक ही सूर्य से प्रकाश और एक ही वायु से साँस लेता है अर्थात समष्टि शक्तियां सभी के प्रति एकता प्रदर्शित करती है। परन्तु बाह्य गुण, कर्म आकृति आदि के भेद से वह अभेद में भेद मानकर मिथ्या अहम भाव में आबद्ध हो गया है, जिससे अनेक प्रकार की आसक्तियां तथा कामनाएं उत्पन्न हो गई हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। चित्त के अशुद्ध हो जाने पर सब प्रकार के विकास स्वतः रुक जाते हैं क्योंकि राग-द्वेष में आबद्ध प्राणी त्याग तथा प्रेम को अपना ही नहीं पाता। त्याग के बिना चिर-शांति और प्रेम के बिना अगाध-अनंत रस की उपलब्धि नहीं होती। शांति के बिना सामर्थ्य, सामर्थ्य के बिना स्वाधीनता और स्वाधीनता के बिना जीवन ही संभव नहीं है। इस दृष्टि से चित्त के अशुद्ध होने से प्राणी का विकास

नहीं होता। राग सीमित प्यार में और द्वेष वैर-भाव में प्राणी को आबद्ध कर देता है। सीमित प्यार सुखासक्ति की ओर वैरभाव, भेद की दृढ़ता उत्पन्न करता है। सुखासक्ति से पराधीनता और भेद की दृढ़ता से अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं जो विनाश के मूल हैं। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि का जीवन में स्थान ही नहीं है। चित्त के अशुद्ध रहते हुए न तो चित्त में स्थिरता ही रहती है और न शांति तथा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है। सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्तव्य-परायणता निहित है। कर्तव्यनिष्ठ होते ही आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है जिसके होते ही चित्त में स्थिरता आ जाती है और भौतिक विकास भी स्वतः हो जाता है क्योंकि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में ही भौतिक विकास निहित है। भौतिक विकास की पराकाष्ठा में ही अध्यात्म जीवन और उसकी पराकाष्ठा में ही परम प्रेम की प्राप्ति निहित है। इस कारण चित्त की शुद्धि प्रत्येक साधक के लिए परम अनिवार्य है। चित्त शुद्ध हुए बिना निर्भयता, निवैरता, समता एवं मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। निर्भयता प्राप्त करने के लिए कर्तव्य-परायण होना अनिवार्य है। कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए चित्त में स्थिरता तथा शांति का रहना आवश्यक है।

कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान तथा सामर्थ्य उसे ही प्राप्त होती है जो राग-द्वेष रहित हो। अतः अपने विकास तथा दूसरों के हित के लिए चित्त की शुद्धि अत्यंत आवश्यक है।

कर्म तथा मान्यता आदि की भिन्नता होने पर भी यदि सभी के प्रति प्रीति की एकता हो जाय, तब भी चित्त शुद्ध हो सकता है और यदि शरीर आदि वस्तुओं से असंगता आ जाय तब भी चित्त शुद्ध हो सकता है परन्तु किसी से एकता और किसी से भेद स्वीकार करने पर चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। वास्तविकता तो यही है कि या तो सारी सृष्टि एक है अथवा शरीर आदि कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। सभी को अपना मानने से अथवा किसी भी वस्तु को अपना न मानने से चित्त शुद्ध हो जाता है। कारण कि सभी को अपना मानने से द्वेष नहीं रहता और किसी भी वस्तु को अपना न मानने से राग का नाश हो जाता है। राग-द्वेष रहित होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। राग-द्वेष रहित प्राणी के जीवन में कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है जिसके आते ही वह निर्भय हो जाता है। इतना ही नहीं न तो उससे किसी को भय होता है और न उसको किसी से भय होता है अथवा यों कहो कि वह सब प्रकार के क्षोभ तथा क्रोध से रहित हो जाता है और उससे दूसरे प्राणी भी क्षुभित तथा क्रोधित नहीं होते। कारण कि वह किसी का बुरा नहीं चाहता। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता उसके मन में अशुद्ध कर्म का जन्म ही नहीं होता। अशुद्ध कर्म के बिना किसी का अहित हो ही नहीं सकता अर्थात उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व-हितकारी सद्भावना से युक्त होती है। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति वास्तविक निवृत्ति की साधना है, वास्तविक निवृत्ति में ही चिर-शांति, सामर्थ्य, स्वाधीनता और अमरत्व आदि निहित हैं।

विवेकपूर्वक प्राणी देह आदि सभी वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़ सकता है। वस्तुओं से सम्बन्ध टूटते ही निर्लोभता, निर्मोहमा आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं और चित्त शुद्ध हो जाता है। निर्लोभता आते ही दरिद्रता सदा के लिए मिट जाती है। मोह-रहित होते ही निस्संदेहता अर्थात तत्व-ज्ञान स्वतः हो जाता है जिसके होते ही इंद्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव चित्त में अंकित नहीं होता। इंद्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही अनेकता में एकता का दर्शन होने लगता है और बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही विषमता में समता का बोध होता है अथवा यों कहो कि वास्तविक ज्ञान से भोग योग में अकर्त्तव्य में स्वतः बदल जाता है। इस दृष्टि से निस्संदेहता जीवन का आवश्यक अंग है जो निर्मोहता से ही प्राप्त हो सकती है।

वस्तुओं से अतीत के जीवन में विकल्प-रहित विश्वास होने से भी प्राणी का चित्त शुद्ध हो जाता है क्योंकि वस्तुओं से अतीत जो अनंत है उसका विश्वास प्राणी को वस्तुओं की दासता से मुक्त ही नहीं कर देता अपितु उस अनंत से सम्बन्ध जोड़ने में भी समर्थ होता है। यह नियम है कि जिससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाता है उसकी स्मृत्ति स्वतः होने लगती है जो वस्तुओं की आसक्ति का अंत कर देती है। ज्यों-ज्यों स्मृति सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों नित नव रस की उत्तरोत्तर वृद्धि स्वतः होती जाती है। अनंत की स्मृति में कितना रस है उसका वर्णन संभव नहीं है। परन्तु उस रस में कभी क्षति नहीं होती। यह नियम है कि रस के अभाव में ही खिन्नता और खिन्नता से ही काम की उत्पत्ति होती है जिससे प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः अनंत की अखंड स्मृति उदय हाते ही काम का अंत हो जाता है और चित्त फिर सदा के लिए निर्मल हो जाता है। अनंत की स्मृति अनंत से भिन्न की विस्मृति कर देती है जिसके होते ही स्मृति दिव्य, चिंमय प्रीति होकर अनंत को रस प्रदान करती है अथवा यों कहो कि प्रीति और प्रीतम में प्रेम का ही आदान-प्रदान है जो रस रूप है जिसकी माँग प्राणी को स्वाभाविक है।

किसी का बुरा न चाहने से सर्वात्म-भाव की उपलब्धि स्वतः होती है। वस्तुओं से अतीत के जीवन पर विकल्परहित विश्वास तथा उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने पर अनंत की अखण्ड स्मृति तथा परम प्रेम का उदय होता है। विवेकपूर्वक सभी वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़ने पर अचाह, अप्रयत्न तथा अभिन्नता प्राप्त होती है। सर्वात्मभाव, परम प्रेम तथा अभिन्नता प्राप्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। और फिर उसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं रहती अपितु उसकी आवश्यकता सभी को हो जाती है क्योंकि उससे सभी को प्रेम प्राप्त होता है। अथवा यों कहो कि उसका प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, जहां प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो सभी को स्वभाव से ही अभीष्ट है। अतः प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश करने के लिए प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग करना और किसी से सुख की आशा न रखना अनिवार्य है। यही चित्त-शुद्धि का सुगम उपाय है।

१९.०५.१९५६

निषेधात्मक साधन की आवश्यकता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति के आधार पर ही अपना मूल्यांकन करना चित्त को अशुद्ध करना है क्योंकि वस्तु आदि से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसका उपयोग किया जा सकता है, उससे ममता नहीं की जा सकती, उसके आधार पर अपना महत्व घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता और न उसमें जीवन-बुद्धि ही स्वीकार की जा सकती है। वस्तुओं आदि की ममता से लोभ-मोह आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। उनके आधार पर अपना महत्व घटाने-बढ़ाने से विषमता आती है और हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। वस्तुओं में जीवन-बुद्धि करने से जड़ता, परिच्छिन्नता आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति के आधार पर अपना मूल्यांकन करना चित्त की अशुद्धि में हेतु है। वस्तु, अवस्था आदि का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है। इसके अतिरिक्त वस्तु आदि का जीवन में कोई स्थान नहीं है।

वस्तु आदि की ममता के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी और सदुपयोग से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी। नवीन राग की उत्पत्ति न हो और विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही वस्तु आदि से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा हो जाती है।

यह नियम है कि वस्तु आदि से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही समस्त कामनाएं स्वतः मिट जाती हैं। कामनाओं की निवृत्ति में ही वास्तविक जीवन की उपलब्धि निहित है।

वास्तविक जीवन हमारा अपना जीवन है। उस जीवन में किसी प्रकार की विषमता, अभाव एवं जड़ता आदि विकार नहीं है। चित्त की अशुद्धि के कारण आज हम अपने को अपने जीवन से विमुख कर बैठे हैं और जो जीवन नहीं है उसमें आसक्त हो गये हैं। उसका परिणाम यह हुआ कि हम अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो गये हैं। यद्यपि वास्तविक जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा प्राणी में बीजरूप से विद्यमान है परन्तु अस्वाभाविक इच्छाओं ने जिज्ञासा की जागृति को ढक दिया है जिससे प्राणी वस्तु आदि की दासता में आबद्ध हो, कामना की अपूर्ति और पूर्ति के दुःख-सुख को ही जीवन मान बैठा है।

सुख-दुःख दिन-रात के समान आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं। भला उनसे नित्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जिससे नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता वह हमारा जीवन कैसे हो सकता है? कदापि नहीं। चित्त की अशुद्धि के कारण जो जीवन नहीं है, हम उसकी आशा करते हैं और जो जीवन है उससे निराश हो गये हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक प्रकार की आसक्तियां, क्षोभ, क्रोध, विस्मृति, पराधीनता आदि दोष उत्पन्न हो गये हैं। आसक्तियों ने स्वाधीन नहीं रहने दिया, क्षोभ ने शांति का अपहरण कर लिया, क्रोध ने प्रसन्नता का अंत कर दिया और विस्मृति ने

कर्त्तव्यपरायणता, अमरत्व एवं प्रेम से वंचित्त कर दिया। स्वाधीनता, शांति, प्रसन्नता, कर्त्तव्यपरायणता, अमरत्व और प्रेम के बिना जीवन ही क्या हे सकता है।

जिन दिव्य गुणों के प्राप्त करने में प्राणी स्वाधीन था उनकी प्राप्ति में अपने को असमर्थ मानता है, और जिन वस्तुओं की प्राप्ति में प्राणी सर्वदा पराधीन है उनकी प्राप्ति के लिए अपने को स्वाधीन तथा समर्थ मानता है, जो संभव नहीं है। यह अनहोनी बात जीवन में चित्त की अशुद्धि से आ गई है।

चित्त की अशुद्धि का कारण कोई और नहीं है। किसी और के द्वारा हमारा चित्त अशुद्ध नहीं हो सकता। हमारे प्रमाद से ही हमारा चित्त अशुद्ध हुआ है। अपने प्रमाद के मिटाने में प्राणी स्वाधीन है। जिस जीवन में हमारा सदैव अधिकार है उससे हमें निराश नहीं होना चाहिए। वास्तविक जीवन की आशा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाएगी, त्यों-त्यों जो अस्वाभाविक इच्छाएं हैं उनका त्याग स्वतः होता जाएगा। यह नियम है कि अस्वाभाविक इच्छाओं के त्याग में ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति निहित है। पर बड़े दुःख की बात यह है कि जिसकी प्राप्ति संभव है उससे निराश हो बैठे है। उस निराशा का अंत कर देना ही चित्त-शुद्धि का मुख्य उपाय है। प्राणी किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, वास्तविकता की ओर अग्रसर होने के लिए समष्टि शक्तियां उसे सहयोग देकर सफल बनाती हैं। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए।

साधन के दो प्रधान अंग होते हैं-एक निषेधात्मक और दूसरा विध्यात्मक। यह नियम है कि निषेधात्मक साधन की पूर्ति में सभी साधक स्वाधीन हैं क्योंकि उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं होती और उसमें कभी असिद्धि भी नहीं होती। जैसे, 'हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे'- इस साधन में किसी भी साधक को कोई भी कठिनाई नहीं है और उसकी सिद्धि भी वर्तमान में ही हो सकती है जिसके होते ही समस्त अशुद्ध संकल्प स्वतः मिट जाते हैं और उनके मिटते ही अकर्त्तव्य का अंत हो जाता है। अकर्त्तव्य के अंत में कर्त्तव्यपराणयता निहित है। इस दृष्टि से निषेधात्मक साधन परिपक्व होते ही विध्यात्मक साधन स्वतः हो जाता है। साधन के किसी एक अंग की परिपक्वता से दूसरे अंग की भी सिद्धि हो जाती है और साधक, साधन तथा साध्य में भेद नहीं रहता, जो सभी साधकों को अभीष्ट है। यह नियम है कि निषेधात्मक साधन से चित्त में शुद्धि आती है और विध्यात्मक साधन द्वारा समस्त जीवन में उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है। अतः चित्त की शुद्धि से कभी निराश नहीं होना चाहिए।

निषेधात्मक साधना को बिना अपनाए बलपूर्वक विध्यात्मक साधन का वेष बनाने से चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। कारण कि विध्यात्मक साधन तो स्वतः स्वाभाविक होना चाहिए। पर वह तभी संभव है जब निषेधात्मक साधन सिद्ध हो जाए। निषेधात्मक साधन विध्यात्मक साधन की भूमि है। जिस प्रकार भूमि के बिना कोई भी पौधा न तो उग सकता है और न हरा-भरा ही हो सकता है, उसी प्रकार निषेधात्मक साधन के बिना सिद्ध

हुए विध्यात्मक साधन जीवन से अभिन्न नहीं हो सकता। अर्थात केवल विध्यात्मक साधन से चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, अपितु मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न होता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। निषेधात्मक साधन निरभिमानता द्वारा ही हो सकता है क्योंकि निषेधात्मक साधन के मूल में अपने दोष की वेदना होती है, जो अभिमान को गलाती है। इस दृष्टि से निषेधात्मक साधन ही वास्तविक साधन है। विध्यात्मक साधन तो केवल उसका श्रृंगार मात्र है। विध्यात्मक साधन से तो साधक का प्रकाशन होता है पर साधक की साधना से अभिन्नता तो निषेधात्मक साधन से ही होती है। निषेधात्मक साधना में पराधीनता नहीं है क्योंकि वह दृढ़ संकल्प मात्र से सिद्ध हो जाती है। संकल्प-शक्ति सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है। अतः चित्त की शुद्धि का दृढ़ संकल्प ही चित्त को शुद्ध कर देता है।

अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य जानकर ही उसका त्याग करना चाहिए। किसी भय से भयभीत होकर अकर्त्तव्य का त्याग कुछ अर्थ नहीं रखता, प्रत्युत मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है जो अनर्थ का मूल है। अकर्त्तव्य-जनित जो सुख है, वह भय से दब जाता है, मिटता नहीं। इस कारण भयपूर्वक किया हुआ अकर्त्तव्य का त्याग वास्तविक नहीं है। इसी कारण कर्त्तव्य में प्रवृत्ति सहज भाव से स्वतः नहीं हो पाती। प्राकृतिक नियम के अनुसार अकर्त्तव्य के त्याग में ही कर्त्तव्य पालन निहित है। पर ऐसा तब होता है, जब बुराई को बुराई जानकर न किया जाए और भलाई को भलाई ही जानकर किया जाए, किसी प्रलोभन से नहीं। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि बुराई के त्याग के बिना भलाई संभव नहीं है।

भय और प्रलोभन दोनों ही दोष हैं। किसी दोष की निवृत्ति के लिए किसी दोष का आश्रय लेना निर्दोषता नहीं है अपितु निर्दोषता के वेष में महान दोष है। यह भली-भांति जान लेना चाहिए कि जो बुराई, बुराई के रूप में होती है वह सुगमतासे मिट सकती है पर जो बुराई भलाई के वेष में आती है उसका मिटना असंभव हो जाता है। इतना ही नहीं, उससे अनेक दोष उत्पन्न होने लगते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। अतः भय का आश्रय लेकर बुराई त्याग करने से बुराई-जनित सुखासक्ति का नाश नहीं होता, तब तक सर्वांश में निर्दोषता नहीं आती और उसके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता।

प्रलोभन भी एक बड़ा दोष है। उसका आश्रय लेकर किसी भी भलाई का करना भलाई भी नहीं है, अपितु भलाई के वेष में बुराई है क्योंकि प्रलोभन की सिद्धि न होने पर भलाई स्थायी नहीं रह पाती अर्थात वह जीवन से अभिन्न नहीं होती। अतः जो कर्त्तव्य जीवन नहीं है वह वास्तव में कर्त्तव्य ही नहीं है। इस कारण भलाई को भलाई जानकर ही किया जाए तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। इतना ही नहीं, वास्तविकता तो यह है कि कर्त्तव्य और जीवन एक हो जाने पर कर्त्तव्य के अभिमान से रहित कर्त्तव्य-परायणता स्वतः आ जाती है और उसी से चित्त शुद्ध होता है।

यह नियम है कि अकर्त्तव्य में कर्त्तव्य का अभिमान अनिवार्य है क्योंकि वह किसी राग से प्रेरित होकर ही किया जाता है। और कर्त्तव्य उस

अनंत का विधान है। इस कारण कर्त्तव्य पालन में कर्त्तृव्य का अभिमान उत्पन्न ही नहीं होता। जिस प्रवृत्ति में कर्त्तव्य का अभिमान होता है वह सीमित अहम-भाव को उत्पन्न करती है और जो प्रवृत्ति कर्त्तृव्य के अभिमान से रहित होती है, उससे सीमित अहम-भाव स्वतः मिट जाता है। सीमित अहम भाव अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करता है। भेद से कामनाओं का जन्म होता है। कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं कामनाएं जिज्ञासा तथा वास्तविक लालसा को भी दबा देती हैं, जिससे प्राणी न तो सत्य की ही खोज कर पाता है और न अपने परम प्रेमास्पद के प्रेम को ही प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से भेद का अंत करने के लिए सीमित अहह भाव का अंत करना अनिवार्य है। पर वह तभी संभव होगा, जब साधक भय और प्रलोभन से रहित होकर कर्त्तव्य का पालन करे।

कर्त्तव्यपराणयता राग-रहित करने में और अकर्त्तव्य का त्याग कर्त्तव्यपरायणता की सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। राग-रहित होते ही काम का नाश हो जाता है जिसके होते ही इंद्रियां विषयों से विमुख हो, मन में विलीन हो जाती हैं और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है जो योग है। योग से चिरशांति तथा आवश्यक सामर्थ्य का उदय होता है। यदि उसका सदुपयोग किया जाए तो बड़ी सुगमतापूर्वक साधक को स्वाधीनता, चिंमयता, निस्संदेहता, अमरता एवं प्रेम की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहने पर बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राणी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद को जान लेता है क्योंकि वस्तु, अवस्था आदि से असंग होने पर निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है और चित्त शुद्ध होने पर जो होना चाहिए वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। जो होना चाहिए उसके होने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति न होने से नवीन राग उत्पन्न नहीं होता। अर्थात अकर्त्तव्य के त्याग और कर्त्तव्यपरायणता से प्राणी वीतराग हो जाता है, जिसके होते ही सभी समस्याएं स्वतः हल हो जाती हैं।

२०.०५.१९५६

निज-ज्ञान की सामर्थ्य

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की अशुद्धि की प्रतीति जिस ज्ञान से होती है उसी ज्ञान में चित्त की शुद्धि का उपाय भी विद्यमान है और उस उपाय को चरितार्थ करने की सामर्थ्य भी उसी ज्ञान में है। अतः जिसे चित्त की अशुद्धि की अनुभूति है, वह चित्त को शुद्ध करने में सर्वदा समर्थ है। यद्यपि वह सामर्थ्य उस अनंत की ही देन है परन्तु उससे इतनी अभिन्नता है कि वह अपनी ही जैसी प्रतीत होती है। यह उस दाता की विलक्षणता है कि उसने वह सामर्थ्य

इतनी सुहृदयता से दी है कि जिसे वह मिली है, उसे वह अपनी ही जान पड़ती है। यह नियम है कि सभी सीमित शक्तियां उस अनंत शक्ति की ही अभिव्यक्तियां हैं अर्थात यों कहो कि वह अनंत शक्ति ही अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर रही है क्योंकि सारी सृष्टि एक है और उसका आधार भी एक है। वह किसी एक के प्रकाश से ही प्रकाशित है। इतना ही नहीं, यह सारी सृष्टि उस अनंत ही के किसी एक अंश मात्र में है। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु में स्वरूप की एकता और केवल गुणों की ही भिन्नता है।

समस्त सृष्टि में जो शक्ति निरंतर कार्य कर रही है, चित्त उसी शक्ति की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। वह स्वरूप से अशुद्ध नहीं है, अपितु व्यक्ति अपनी बनाई हुई अशुद्धि को चित्त की अशुद्धि मान लेता है और फिर चित्त व्यक्ति के अधीन नहीं रहता। उस स्थिति में व्यक्ति चित्त की निंदा करने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि मेरा ही दोष चित्त में प्रतिबिंबित हो रहा है। अब विचार यह करना है कि व्यक्ति का अपना दोष क्या है? इंद्रियों के अधूरे ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अंकित करना और बुद्धि के ज्ञान का अनादर करना व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। जब साधक बुद्धि के ज्ञान से इंद्रियों के ज्ञान का प्रभाव नष्ट कर देता है तब चित्त में किसी प्रकार की अशुद्धि का भास नहीं होता। जाने हुए को न मानना, न जानना नहीं है अपितु भूलना है। भूल प्राकृतिक दोष नहीं है, प्रत्युत व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। जो अपना बनाया हुआ दोष है उसी को मिटाने का दायित्व अपने पर है। यद्यपि उस दोष के मिटाने की सामर्थ्य अनंत की अहैतु की कृपा से प्रत्येक साधक को प्राप्त है परन्तु साधक असावधानी के कारण उस प्राप्त सामर्थ्य का स्वाध्याय नहीं करता। उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त जैसा हित-चिंतक अपना साथी अपने अधीन नहीं रहा। हम जिन दोषों को चित्त में अंकित करते रहते हैं, बेचारा चित्त उन दोषों को मिटाने के लिए निरंतर स्वभाव से ही प्रयत्नशील रहता है। पर हम उसकी इस महत्ता तथा उदारता को न मानकर उसकी निंदा ही करते हैं और उसे बलपूर्वक दबाते रहते हैं। यद्यपि चित्त को बलपूर्वक अपने अधीन कर नहीं सके परन्तु फिर भी यह चेत नहीं होता कि वास्तविकता क्या है? हमारा चित्त हमारे अधीन क्यों नहीं है? हमारे और उसके बीच द्वंद्व क्यों उत्पन्न हो गया है? यदि हमने किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध न जोड़ा होता तो क्या भला बेचारे चित्त में लोभ और मोह की प्रतीति होती? कदापि नहीं। हम जिससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, चित्त पर उसी का प्रभाव अंकित हो जाता है। यदि हम अनंत से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लें, तो चित्त स्वभाव से ही अनंत प्रेम से भर जाता है। इस दृष्टि से चित्त जैसी अलौकिक शक्ति कितने महत्व की वस्तु है! अहम भाव की शुद्धि में चित्त की शुद्धि स्वतः सिद्ध है। प्राणी अपनी अशुद्धि से ही चित्त को अशुद्ध करता है। चित्त वास्तव में अशुद्ध है ही नहीं। वह तो एक विभूति मात्र है।

कामना-पूर्ति के प्रलोभन और अपूर्ति के भय ने चित्त में राग-द्वेष अंकित कर दिया है। कामनाओं की उत्पत्ति एकमात्र अविवेक-सिद्ध है।

अविवेक का कोई स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत् प्राप्त विवेक के अनादर का नाम ही अविवेक है। प्राप्त विवेक का अनादर किसी का बनाया हुआ दोष नहीं है। जानते हुए न मानना उसी का दोष है, जो जानता है। जब साधक अपने इस दोष का अन्त कर देता है, तब सभी कामनाएँ स्वतः मिटने लगती हैं, जिनके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है और फिर चित्त में लेशमात्र भी अशुद्धि का भास नहीं रहता।

कामनाओं की उत्पत्ति जो अविवेक सिद्ध है, परिवर्तनशील, क्षणभंगुर वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ती है और जो सर्वदा, सर्वत्र, नित्य प्राप्त है, उससे विमुख करती है। यह कामना-उत्पति का परिणाम है। वस्तुओं के सम्बन्ध ने ही, जिससे नित्य सम्बन्ध है, उसकी विस्मृति और वस्तुओं की स्मृति उत्पन्न कर दी है। वस्तुओं के चिन्तन में आबद्ध प्राणी चित्त को अशुद्ध कर लेता है। चिन्तन मात्र से किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, अपितु उनकी आसक्ति ही दृढ़ होती है, क्योंकि वस्तुओं की उत्पति कर्मसापेक्ष है, चिन्तन-साध्य नहीं। जो कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन करना चित्त को अशुद्ध करना है और कुछ नहीं। कर्म-अनुष्ठान प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप ही सम्भव है और उसका फल प्राकृतिक विधान से निर्मित है। कर्म-अनुष्ठान में स्वाधीनता प्राणी को प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप ही है, उसके विपरीत नहीं है। इस दृष्टि से कर्म का महत्व परिस्थितियों के सदुपयोग में ही है। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिस्थितियों के सदुपयोग में ही उनकी दासता से मुक्त होने का साधन निहित है। अतः प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। पर उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करना चित्त को अशुद्ध करना है।

देह आदि वस्तुओं की प्राप्ति प्रतीत मात्र है, वास्तविक प्राप्ति नहीं है; क्योंकि यदि वस्तुएँ प्राप्त होती, तो प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग की अग्नि में न जलता, न संयोग-जनित सुखासक्ति दुःख में बदलती और न नित्ययोग की लालसा ही जाग्रत होती। वस्तुओं के वियोग की वेदना में नित्ययोग की लालसा का जाग्रत होना स्वतः सिद्ध है। नित्य-योग की लालसा उसके योग में हेतु है, जो नित्य प्राप्त है जो नित्य प्राप्त है, उससे प्रीति हो जाय, और जिन वस्तुओं का निरन्तर वियोग हो रहा है, उनका विधिवत् सदुपयोग कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं के परिवर्तन का बोध जिसे है, उसे ही अपने अपरिवर्तन का बोध भी है। अपरिवर्तन और परिवर्तन का नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है; प्रत्युत् अपरिवर्तनशील को परिवर्तनशील से विमुख होकर, अपने ही में अपने को सन्तुष्ट करना है, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि जिससे नित्य-सम्बन्ध है, जो नित्य प्राप्त है, जिसका वियोग किसी भी काल में सम्भव ही नहीं है, उससे दूरी तथा उसका अभाव भासता है, और जिससे एकता किसी भी काल में सम्भव ही नहीं है, जो केवल प्रतीत-मात्र है, जिसमें निरन्तर परिवर्तन है और जिसका अदर्शन है, उसकी समीपता और प्राप्ति भासती है, अर्थात् प्राप्त में अप्राप्त-बुद्धि और अप्राप्त में प्राप्त-बुद्धि हो गई है, यही चित्त की अशुद्धि है।

जिससे स्वरूप की भिन्नता है उसके राग ने, जिससे स्वरूप की एकता है उससे द्वेष तथा भेद उत्पन्न कर दिया है, अर्थात् उससे आत्मीयता नहीं होने दी। यह नियम है कि आत्मीयता में ही परमप्रेम निहित है। अतः जिससे स्वरूप की एकता है, उसी से आत्मीयता होनी चाहिए, तभी प्राप्त में प्रेम होगा।

राग की यह महिमा है कि जिससे हो जाता है उसके दोष का दर्शन नहीं होता, और बेचारा प्राणी उसी के अधीन हो जाता है। राग ऐसा मधुर बन्धन है कि सुदृढ़ अकर्त्तव्य शृंखला में बंधा प्राणी भले ही छूट जाय, पर राग में आबद्ध जब तक उसका त्याग न कर दे, छूट ही नहीं सकता। सुदृढ़ शृंखला का बन्धन तो दूसरों की सहायता से भी कट सकता है, पर राग का बन्धन तो रागी को स्वयं तोड़ना पड़ता है। इस दृष्टि से राग का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।पर ऐसा तभी सम्भव होगा, जब उसका अभेद तथा प्रेम उससे हो जाय, जिससे उसने भेद तथा द्वेष स्वीकार कर लिया है। जो सर्वकाल में अपने हैं, उनसे आत्मीयता स्वाभाविक होनी चाहिए, और जो अपने से भिन्न है ही नहीं, उससे अभेदता स्वतः सिद्ध होनी चाहिए। जो होना चाहिए, उसके न होने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। जिससे राग है, उसका त्याग स्वाभाविक है। इस दृष्टि से बेचारा रागी राग को अपने में भले ही सुरक्षित रखे और उसके कारण पराधीन बना रहे, पर जिससे उसका राग है, वह तो रह ही नहीं सकता। भला ऐसी दशा में राग से क्या लाभ? अर्थात् कुछ नहीं। राग ने ही भोग की रुचि उत्पन्न की है। भोग की रुचि ने ही बेचारे प्राणी को भोग-वासनाओं में आबद्ध किया है। भोग-वासनाओं ने ही उसे नित्य-योग से विमुख किया है और नित्य-योग की विमुखता ने ही चित्त को अशुद्ध कर दिया है।

जो अपने ही हैं, अथवा जो अपने से भिन्न नहीं हैं, उनसे प्रेम हो सकता है। और जिनसे मानी हुई एकता है, अथवा जो अपने से भिन्न हैं, उनकी सेवा की जा सकती है, उनसे ममता नहीं की जा सकती। समस्त साधन दो ही भागों में विभाजित हैं, प्रेम और सेवा। किन्तु सेवा उसकी हो, जो पर है, और उससे, जो पर नहीं है। समस्त कर्तव्य सेवा के प्रतीक हैं और विवेक प्रेम की भूमि है। सेवा से विद्यमान राग की निवृति और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। विवेक से अमरत्व की प्राप्ति तथा प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। जिनकी सेवा की जाय, उनसे ममता न हो, और जिससे प्रेम किया जाय, उससे कोई चाह न हो, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। ममता-युक्त सेवा और कामना-युक्त प्रेम तो चित्त को अशुद्ध ही करते हैं। अतः चित्त को शुद्ध करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि शरीर आदि सभी वस्तुओं की ममता का अन्त कर दिया जाय और प्राकृतिक नियम के अनुसार उनका सदुपयोग तथा उनकी सेवा की जाय। जिनसे नित्य योग है, जो सब प्रकार से अपने ही हैं, उनसे प्रेम हो, पर किसी प्रकार की चाह न हो। अचाह हुए बिना प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता और स्वार्थ-भाव का अन्त किए बिना सेवा सिद्ध ही नहीं होती। इस दृष्टि से चाह-रहित होने में प्रेम, और ममता तथा स्वार्थ-भाव से होने में सेवा निहित है। यह नियम है कि सेवा तथा प्रेम से चित्त स्वतः शुद्ध

हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होगा कि जब जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि की अनुभूति हुई है, उसी ज्ञान के द्वारा चित्त-शुद्धि की साधना का निर्माण किया जाय। चित्त की शुद्धि में ही भौतिक विकास तथा योग, बोध एवं प्रेम निहित है। भौतिक विकास में विद्यमान राग की निवृति योग में शान्ति और सामर्थ्य, बोध में निस्सन्देहता और अमरत्व एवं प्रेम में अगाध-अनन्त रस निहित है, जो सभी को अभीष्ट है। चित्त-शुद्धि के साधन में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। अतः चित्त-शुद्धि से कभी निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि जीवन की सार्थकता चित्त की शुद्धि पर निर्भर है और उसके लिए आवश्यक ज्ञान तथा सामर्थ्य अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त है। अतः चित्त की शुद्धि से निराश होना केवल अपना ही प्रमाद है और कुछ नहीं।

२१.०५.१९५६

चित्त की महिमा

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

बलपूर्वक दबाया हुआ चित्त शुद्ध तथा शान्त नहीं होता, अपितु कुछ काल के लिए स्थिर जैसा भासने लगता है। कारण, कि बल के प्रयोग में शिथिलता का आना अनिवार्य है, जिसके आते ही चित्त साधक को दबाने लगता है, अर्थात् उसके अधीन नहीं रहता। चित्त की ऐसी दशा देख, साधक उसकी निन्दा करने लगता है और इस बात पर विचार नहीं करता कि चित्त मेरे अधीन क्यों नहीं होता। यह नियम है कि बल का उपयोग अखण्ड नहीं हो सकता, उसमें शिथिलता आती ही है, जिसके आते ही वस्तुस्थिति में परिवर्तन हो जाता है। इसी कारण दबा हुआ चित्त पुनःचंचल होने लगता है। अतः जब तक चित्त शुद्ध न होगा, तब तक शान्त न होगा।

चित्त-शुद्ध के लिए बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करना है, बल से चित्त को दबाना नहीं है। बल के सदुपयोग का अर्थ है, निर्बलों की सेवा। सेवा वह भाव है, जो स्वार्थ-भाव गलाने में समर्थ है। स्वार्थ-भाव गलते ही पराधीनता स्वाधीनता में बदल जाती है और फिर चित्त स्वतः शुद्धता की और अग्रसर होने लगता है। पराधीन प्राणी का चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्रसन्नता सदैव प्राप्त एवं अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि पर निर्भर रहती है। इसी कारण चित्त प्राप्त की आसक्ति और अप्राप्त के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। यह नियम है कि प्राप्त वस्तुओं की आसक्ति और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन चित्त को अशुद्ध ही करता है। अतः स्वाधीनता के बिना चित्त शुद्ध हो नहीं सकता। 'पर' की सेवा में स्वाधीनता और 'पर' से सुख की आशा में पराधीनता निहित है। सेवा का अर्थ है, पराये दुःख से दुखी होना। पर-दुःख से दुखी होने में पराधीनता है ही नहीं। इतना ही नहीं, पराए दुःख से दुखी होने पर चित्त में अंकित सुख-भोग की आसक्ति स्वतः मिटने लगती है, जिसके मिटते ही चित्त में शुद्धता स्वतः आती है। दूसरों से सुख की आशा करने मात्र से ही चिद्ध अशुद्ध होने लगता है, क्योंकि आशा पूरी हो गई, तो राग की उत्पति हो जाती है और यदि पूरी नहीं हुई, तो क्रोध उत्पन्न होता है। राग

और क्रोध दोनों ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। राग से प्राणी जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध हो जाता है, क्रोध से स्मृति नष्ट होती है। और बेचारा प्राणी बिना अग्नि के दग्ध हो जाता है, जिससे प्राप्त सामर्थ्य का भी सदुपयोग नहीं कर पाता। स्मृति-नाश होने से कर्तव्य, स्वरूप तथा अनन्त की अहैतुकी कृपा की विस्मृति हो जाती है। कर्तव्य की विस्मृति कर्तव्य परायणता से वंचित्त कर देती है, स्वरूप की विस्मृति अमरत्व से विमुख कर मृत्यु में आबद्ध कर देती है और अहैतुकी कृपा की विस्मृति नित-नव प्रीति तथा उत्कण्ठा एवं उत्साह को नष्ट कर देती है। इस दृष्टि से राग तथा क्रोध चित्त को अशुद्ध ही करते हैं।

विवेक का आदर करते ही साधक देह आदि वस्तुओं से असंग हो जाता है। वस्तुओं की असंगता कामनाओं का अन्त कर देती है। कामनाओं के अन्त में ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति से चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से विवेक का आदर चित्त-शुद्धि में समर्थ है। प्राप्त बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में साधक सर्वदा स्वाधीन है। अतः चित्त को शुद्ध करने में लेशमात्र भी पराधीनता नहीं है। बल के दुरुपयोग से ही चित्त में हिंसा आदि दोषों की उत्पति होती है और विवेक के अनादर से मोह तथा अकर्तव्य आदि का जन्म होता है। इस दृष्टि से बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर की चित्त की अशुद्धि में हेतु हैं। बल तथा विवेक का अत्यन्त अभाव किसी भी साधक में नहीं है, अपेक्षाकृत न्यूनता तथा अधिकता भले ही हो। चित्त-शुद्धि के लिए अप्राप्त बल-विवेक अपेक्षित नहीं है, अपितु प्राप्त बल-विवेक का ही सदुपयोग करना है। बल तथा विवेक के अभाव में तो चित्त की शुद्धि-अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि बल के अभाव में अकर्तव्य में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। अकर्तव्य के बिना चित्त में अशुद्धि आती ही नहीं, तो फिर शुद्धि का प्रश्न ही कहां उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, सीमित बल के अभाव में या तो व्यक्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, अथवा अनन्त बल से एकता हो जाती है, क्योंकि बल के अत्यन्त अभाव में अहम् की उत्पति ही नहीं होती। अहम् के बिना भेद की सिद्धि नहीं होती, भेद के बिना किसी दोष की उत्पति नहीं होती। और जब दोष की उत्पति नहीं हुई, तो निर्दोषता स्वतः सिद्ध है। अतः बल और विवेक के अभाव में चित्त अशुद्ध नहीं होता, प्रत्युत् बल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से चित्त अशुद्ध होता है।

बल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से चित्त में जिन दोषों की उत्पति हो गई है, उनकी निवृति बिना किये कोई भी चित्त को केवल श्रम-मात्र से ही शुद्ध नहीं कर सकता। श्रम की सार्थकता वर्तमान कर्तव्य कर्म को आलस्य-रहित हो, करने मात्र में ही है, चित्त को दबाने में नहीं। कार्यकाल में चित्त की चंचलता का प्रश्न ही नहीं आता और कर्तव्य-कर्म में चित्त की अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं आता। कारण, कि कार्य-काल में चित्त का कार्य से तादात्म्य रहता है और कर्तव्य-कर्म विद्यमान राग की निवृति का साधन मात्र है। अतः चित्त की स्थिरता और शुद्धता का प्रश्न एक कार्य की पूर्ति और दूसरे कार्य की उत्पति से पूर्व, मध्य

में ही आता है और उसी काल में चित्त कैसा है, इसका ज्ञान होता है। कार्य की शुद्धता में कर्त्ता की शुद्धता प्रतिबिंबित होती है। कार्यकर्ता का ही एक चित्त है और कुछ नहीं। कर्त्ता में शुद्धि कार्य के आरंभ से पूर्व होनी चाहिए अर्थात शुद्ध कर्ता से ही, शुद्ध कार्य की सिद्धि हो सकती है। कर्त्ता में शुद्धता, भाव की शुद्धि से आती है और भाव में शुद्धि निज-विवेक के आदर में है। इस दृष्टि से विवेक से भाव में शुद्धि, भाव की शुद्धि से कर्त्ता में शुद्धि और कर्त्ता की शुद्धि से ही कर्म की शुद्धि होती है। शुद्ध कर्म से ही बल का सदुपयोग एवं विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और राग-रहित होने में ही चित्त की शुद्धि निहित है। इस दृष्टि से श्रम का उपयोग परिस्थिति के सदुपयोग मात्र में है। पर चित्त की शांति तो वास्तविक विश्राम में है।

विश्राम तीन प्रकार से उपलब्ध होता है- वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखकर करने से, विवेकपूर्वक चाह रहित होने से और विश्वासपूर्वक अनंत की अहैतु की कृपा के आश्रित होने से। विश्राम-काल में चित्त स्थिर, शांत तथा शुद्ध तो हो ही जाता है, उसके अतिरिक्त आवश्यक शक्ति का विकास भी होता है। ऐसी कोई सामर्थ्य है ही नहीं, जिसका उद्गम-स्थान विश्राम न हो। श्रम से सामर्थ्य का स्वाध्याय हो सकता है और विश्राम से आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से श्रम के अंत में विश्राम अपेक्षित है अथवा यों कहो कि विश्राम से ही श्रम की उत्पत्ति होती है और विश्राम में श्रम विलीन होता है क्योंकि श्रम के आदि और अंत में विश्राम ही है। इस रहस्य को जो साधक जान लेता है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त को शुद्ध, शांत तथा स्वस्थ कर लेता है। चित्त की शुद्धि में सर्व-हितकारी सद्भावनाएं तथा शांति में सामर्थ्य और स्वाधीनता निहित है और चित्त के स्वस्थ होने पर किसी भी दशा में न तो शांति भंग होती है और न अशुद्धि आती है। तब चित्त को जिसमें लगाना चाहिए, उसमें वह स्वभाव से ही लग जाता है और जिससे हटाना चाहिए, उससे हट जाता है अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति-काल में चित्त अनाशक्त और निवृत्तिकाल में चिंमय जीवन में विलीन हो जाता है। इतना ही नहीं, आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन सदा के लिए मिट जाता है तथा प्रत्येक दशा में शांति, प्रसन्नता एवं निर्भयता सुरक्षित रहती है।

अब यदि कोई यह कहे कि सामर्थ्य का सम्पादन तो श्रम में है, विश्राम में नहीं क्योंकि श्रम से ही प्राणी को आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती है। श्रम आलस्य का अंत करने के लिए बड़े ही महत्व की वस्तु है। शारीरिक और बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक पदार्थों के संयोग से ही आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। यह बात भी ठीक ही है। पर वस्तुओं की प्राप्ति तथा उनके संग्रह में सामर्थ्य है-यह बात विचारणीय है। सामर्थ्य की कसौटी क्या है? यदि इस पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट विदित होता है कि जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगे और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही न हो। ऐसा जिसका जीवन है, वही सामर्थ्यवान है। इतना ही नहीं, सामर्थ्यशील देश, समाज, वर्ग, जाति, व्यक्ति आदि वे ही माने जा सकते हैं कि जिनके द्वारा किसी का अहित न

हो; और जिनकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न हो। जो नहीं होना चाहिए, उसके करने में ही दूसरों का अहित है। और राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति में अपनी प्रसन्नता का अभाव है। इस दृष्टि से जिसके द्वारा किसी का अहित नहीं होता और जो राग-द्वेष रहित है वही सामर्थ्यशाली है। वस्तुओं के संग्रह-मात्र से कोई सामर्थ्यशाली नहीं हो जाता अपितु वस्तुओं का संग्रह तथा दुरुपयोग ही कर्त्ता को तथा समाज को असमर्थ बनाता है। जिससे असमर्थता आ जाय उसे सामर्थ्य कहना, कहां तक युक्ति-युक्त है? सामर्थ्य तो वही है जिससे असमर्थता का विनाश हो। इस दृष्टि से वह सामर्थ्य जिससे असमर्थता मिट जाती है, विश्राम में निहित है, श्रम में नहीं। हां, एक बात विचारणीय है कि कहीं आलस्य को विश्राम न मान लिया जाय। आलस्य और विश्राम में बड़ा भेद है। आलसी के जीवन में व्यर्थ-चिन्तन का प्रवाह रहता है और वह वस्तु, व्यक्ति आदि का दास हो जाता है परन्तु जिन्हें विश्राम प्राप्त है, वे सदैव वस्तु-व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन में अविचल भाव से निवास करते हैं। उनमें व्यर्थ-चिन्तन की तो गंध भी नहीं रहती, अपितु उनका शरीर विश्व के काम आ जाता है, हृदय में प्रीति की गंगा लहराती है और वे सब प्रकार के अभिमान से रहित हो जाते हैं, जो वास्तव में चित्त-शुद्धि का परिणाम है।

यह अप्राकृतिक नियम है कि जो किसी को भी भय देता है अथवा दबाता है, उसे स्वयं भी भयभीत होना पड़ता हैऔर उसकी विरोधी शक्ति उसे अवश्य दबाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में किसी को भय देने तथा दबाने का कोई स्थान नहीं है। तो फिर चित्त जैसी अलौकिक दिव्य शक्ति को भय देना, दबाना, उसकी निंदा करना, कहां तक न्यायसंगत है। बेचारा चित्त, रस तथा शांति का पुजारी है। वह निरंतर उसी की खोज में लगा है। हम उसे भय और प्रलोभन देकर किसी न किसी अवस्थ में आबद्ध करना चाहते हैं। पर वह तो सभी अवस्थाओं से अतीत की ओर जाना चाहता है। इस कारण चित्त कभी भी किसी भी अवस्था में अधिक देर तक नहीं ठहरता। किसी भी अवस्था में देर तक नहीं ठहरना चित्त का दोष नहीं है, अपितु विशेषता है। यदि साधक चित्त पर से अपना शासन हटा ले और अपने में से सभी माने हुए संबंधों का अंत कर दे, तो चित्त बड़ी ही सुगमतापूर्वक शुद्ध, शांत तथा स्वस्थ हो जाएगा। बेचारा चित्त देखे-सुने तथा माने हुए संबंधों में ही भटकता है। साधक असावधानी के कारण स्वयं तो माने हुए संबंधों का त्याग नहीं करता, जिस अनंत से नित्य सम्बन्ध है, उसको स्वीकार नहीं करता और चित्त से यह आशा करता है कि वह कहीं न भटके, एक ही में लगा रहे। भला इसमें चित्त का क्या दोष? यदि उस बेचारे का कोई दोष है तो केवल इतना ही कि वह आपके माने हुए संबंधों का आदर करता है और अधिक देर तक इसलिए नहीं ठहरता कि उसे उसकी ओर जाना है जिससे प्राणी का नित्य सम्बन्ध है। एक दृष्टि से चित्त के समान प्राणी का और कोई हित-चिंतक तथा आज्ञाकारी नहीं है परन्तु प्राणी असावधानी से अपने दोष को चित्त का दोष मान बैठता है।

अब यदि कोई यह बात स्वीकार न करे तो उसे चाहिए कि वह चित्त से सम्बन्ध तोड़ दे।

चित्त ने एक बार भी किसी से नहीं कहा कि 'मैं तुम्हारा हूं।' फिर भी जिसे उसने अपना कहा, उसके दोष को उस बेचारे ने अपना दोष मान लिया। जो चित्त की निंदा करता है, क्या बेचारे चित्त ने भी कभी उसकी निंदा की? कदापि नहीं। चित्त से सम्बन्ध तोड़ने पर भी चित्त स्वभाव से ही शुद्ध हो जाता है। अतः अपने को निर्दोष बनाकर चित्त को शुद्ध कर लो अथवा चित्त से असंग हो जाओ, तो चित्त शुद्ध हो जाएगा। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि चित्त को दबाने में नहीं है अपितु अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाकर विश्राम पाने में है।

२२.०५.१९५६

चित्त की चंचलता एवं संकल्पों की निवृत्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की चंचलता की अनुभूति उसी काल में होती है, जिस काल में चित्त की स्थिरता तथा शांति का प्रयास होता है। जब तक प्राणी के जीवन में चित्त की स्थिरता तथा शांति का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता, तब तक चित्त चंचल है, इस बात की अनुभूति भी नहीं होती। इस दृष्टि से चित्त की चंचलता की अनुभूति में चित्त की स्थिरता की साधना निहित है। अतः चित्त की चंचलता की अनुभूति जब-जब हो, तब-तब यह समझना चाहिए कि चित्त की स्थिरता की साधना आरंभ हो गई।

अब यह विचार करना है कि चित्त की चंचलता का भास ही कब होता है? उत्पन्न हुए संकल्पों की पूर्ति तथा पूर्ति के आशाकाल में चित्त की चंचलता का भास नहीं होता और यदि उत्पन्न हुए संकल्प का त्याग कर दिया जाए, तब भी चंचलता का भास नहीं होता। किंतु जब उत्पन्न हुए संकल्प की आपूर्ति की संभावना होती है तब चित्त की चंचलता का भास होता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि संकल्प-अपूर्ति न हो, अथवा संकल्प की उत्पत्ति ही न हो तो चित्त की चंचलता की किसी को भी अनुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि संकल्प-पूर्ति-काल में तो चित्त शरीर, इंद्रिय आदि वस्तुओं से तद्रूप हो जाता है और संकल्प-निवृत्ति-काल में चित्त का स्वतः निरोध हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि संकल्पों की आपूर्ति-काल में ही चित्त की चंचलता का भास है।

संकल्प-अपूर्ति का चित्र ही क्यों आता है? अनावश्यक संकल्पों की उत्पत्ति से। अनावश्यक संकल्प उत्पन्न ही क्यों होते हैं? संकल्प-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि होने से। संकल्प-पूर्ति-मात्र में ही जीवन-बुद्धि क्यों होती है? शरीर, इंद्रिय आदि वस्तुओं से तादात्म्य स्वीकार करने पर। समस्त संकल्पों का उदगम-स्थान भी वस्तुओं से तादात्म्य है और संकल्प-पूर्ति में भी वस्तुओं की ही महत्ता है; अथवा यों कहो कि वस्तु ही जीवन है- यह दृढ़ता ही वास्तव में संकल्प का स्वरूप है। वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति में संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का नाम संकल्प और संकल्प के स्थूल रूप का नाम वस्तु है। वस्तु और संकल्प के स्वरूप में एकता है। जैसे बीज और वृक्ष में एकता भी है और भिन्नता भी भासती है, उसी प्रकार संकल्प और वस्तुओं में एकता होने पर भी भिन्नता भासती है।

इसी कारण वस्तु की अस्वीकृति में संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती और निर्विकल्पता में वस्तु की प्रतीति ही नहीं होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प और वस्तु, ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, उसे वस्तु कहो अथवा संकल्प। ऐसा कोई संकल्प नहीं जिसमें विकल्प न हो और ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें परिवर्तन तथा उसका अदर्शन न हो। इस दृष्टिकोण से भी वस्तु और संकल्प में एकता ही है अर्थात वस्तुओं से तादात्मय अथवा उनमें जीवन-बुद्धि होने से ही संकल्प-पूर्ति का महत्व बढ़ जाता है, जिससे संकल्प-पूर्ति के सुख में आसक्ति हो जाती ह और उससे ही संकल्प-अपूर्ति का चित्र आता है। संकल्प-अपूर्ति की वेदना ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता स्वतः गलती जाती है। जिस काल में पूर्ण रूप से संकल्प-अपूर्ति की लालसा उदित होती है, जो संकल्पों का अंत कर निर्विल्पता प्रदान करती है, जिससे चित्त की चंचलता स्थिरता में बदल जाती है।

यद्यपि संकल्प-पूर्ति तथा अपूर्ति कोई विशेष ह्रास तथा विकास नहीं है, परन्तु संकल्प-पूर्ति की दासता में हास और संकल्प-अपूर्ति की वेदना में विकास निहित है। प्राकृतिक नियमानुसार संकल्प-पूर्ति राग की वास्तविकता को जानने के लिए है और संकल्प-अपूर्ति का सदुपयोग नवीन राग की उत्पत्ति न होने में है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति दोनों ही उपयोगी हैं। पर संकल्प-पूर्ति को ही जीवन मान लेना तो एक-मात्र प्रमाद ही है, जिससे चित्त चंचल तथा अशुद्ध होता है।

संकल्प-पूर्ति की समस्या ही प्राणी का वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ देती है। कारण, कि यदि संकल्प-पूर्ति की रुचि न हो, तो बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन न हों, अपितु संकल्प-पूर्ति का महत्व मिट जाने से इन्द्रियाँ प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जायं और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन न हो जाय, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जायगी। बुद्धि सम होते ही वस्तुओं से स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और फिर संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति का प्रश्न ही नहीं रहता। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का महत्व न रहने में निर्विकल्पता स्वतः सिद्ध है, जो चित्त को स्थिर तथा शान्त करने में समर्थ है।

यद्यपि संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति दोनों ही में उस अनन्त का मंगलमय विधान निहित है, क्योंकि दोनों ही के सदुपयोग में प्राणी का हित है, परन्तु प्राणी असावधानी से संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि संकल्प-पूर्ति का महत्व बढ़ जाता है, जो चित्त की अशुद्धि में हेतु है। संकल्प-अपूर्ति में यदि यह अनुभव किया जाय कि यह उस अनन्त के संकल्प की पूर्ति है, तो बड़ी ही सुगमता से संकल्प-अपूर्ति की वेदना उस अनन्त के प्रेम को जाग्रत कर सकती है। इस दृष्टि से संकल्प-अपूर्ति का कितना महत्व है? परन्तु बेचारा प्राणी इस रहस्य को बिना ही जाने संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत हो जाता है। अतः जब-जब जीवन में संकल्प-अपूर्ति

का चित्र सामने आए, तब-तब साधक को यही समझना चाहिए कि मेरे संकल्प की अपूर्ति में प्रेमास्पद के संकल्प की पूर्ति निहित है, जो प्रेमी के लिए रसरूप है। भौतिक दृष्टि से व्यक्ति के संकल्प की अपूर्ति में समाज के संकल्प की पूर्ति है, और आध्यात्मिक दृष्टि से संकल्प-अपूर्ति में संकल्प निवृत्ति की प्रेरणा है, अथवा यों कहो कि अभाव की अनुभूति है, जो अभाव का अभाव करने की प्रेरणा देती है। सभी दृष्टियों से संकल्प-अपूर्ति का बड़ा ही महत्व है। संकल्प-अपूर्ति के महत्व को अपना लेने पर संकल्प-पूर्ति का महत्व अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही संकल्प-अपूर्ति में दुःख जैसी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। अतः संकल्प-अपूर्ति-काल में साधक को एक विशेष प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए। संकल्प-अपूर्ति की प्रसन्नता संकल्प-निवृत्ति प्रदान करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, संकल्प-पूर्ति यदि वस्तुओं का महत्व बढ़ाती है, तो संकल्प-निवृत्ति वस्तुओं से अतीत के जीवन का महत्व बढ़ाती है। वस्तुओं से अतीत के जीवन में किसी प्रकार का वैषम्य, अभाव तथा जड़ता नहीं है। इसी कारण उस जीवन की लालसा-मात्र से चित्त से शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं से अतीत के जीवन की लालसा तभी सबल तथा स्थायी हो सकती है, जब संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा संकल्प-निवृत्ति में विशेष अभिरुचि हो। उसमें अभिरुचि तभी होती है, जब संकल्प-अपूर्ति की वेदना संकल्प-पूर्ति के सुख के राग को मिटा सके। इस दृष्टि से संकल्प-अपूर्ति की वेदना में ही संकल्प निवृत्ति की साधना निहित है। परन्तु संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत होना, और संकल्प-पूर्ति की दासता को जीवित रखना कुछ अर्थ हीं रखता। संकल्प-अपूर्ति के दुःख से दुखी होना चाहिए, पर संकल्प-पूर्ति की आशा में आबद्ध नहीं रहना चाहिए। दुःख का होना कोई दोष नहीं है, पर उसके भय से भयभीत होकर सुख का चिन्तन करना वास्तविक दोष है। दुःख जितना गहरा होता है, उतनी ही स्पष्ट जाग्रति आती है; क्योंकि दुःख ही एक ऐसा मूल मन्त्र है जिससे वस्तु, व्यक्ति आदि के स्वरूप का बोध होता है। वस्तु आदि का यथार्थ ज्ञान वस्तुओं से असंगता प्रदान करने में समर्थ है। वस्तुओं की असंगता में ही अचाह पद की प्राप्ति, और उसमें ही चित्त-शुद्धि निहित है।

वस्तुओं से तादात्म्य अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। अविवेक विवेक का अभाव नहीं, अपितु विवेक का अनादर है। विवेक का अनादर कब से आरम्भ हुआ है, इसका पता सम्भव नहीं, परन्तु विवेक का आदर वर्तमान में ही हो सकता और उसके आदर मात्र से ही अविवेक का अभाव हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है। अभाव उसी का होता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो, अर्थात् जो किसी और की सत्ता से ही सत्ता पाता है। इसी कारण किसी ने भी अविवेक को विषय नहीं किया। उसके प्रभाव से भले ही अपने को असावधान कर लिया हो, पर अविवेक को अविवेक ने अपने से भिन्न कभी नहीं देखा। जिस प्रकार निर्धन में धन की लालसा रहती है, अथवा यों कहो कि जैसे, धन की लालसा के अतिरिक्त निर्धनता कुछ नहीं है, उसी प्रकार विवेक की

लालसा के अतिरिक्त अविवेक कुछ भी नहीं है और अविवेक से भिन्न अविवेक का कोई अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से अविवेक कब तक है? जब तक प्राप्त विवेक का आदर नहीं, और प्राप्त विवेक का आदर कब तक नहीं? जब तक इन्द्रिय ज्ञान में ही तादात्म्य तथा सद्‌बुद्धि है। इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह होते ही जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जागृति सभी कामनाओं का अन्त कर अपनी पूर्ति में आप समर्थ हो जाती है। यह नियम है कि जिज्ञासा की पूर्ति में ही निस्सन्देहता तथा निर्भयता निहित है। भय तथा सन्देह का अन्त होने पर चित्त स्वभाव से ही शुद्ध तथा शान्त होने लगता है, क्योंकि भय तथा सन्देह ने ही चित्त को अशुद्ध किया है। यदि भय तथा सन्देह की वेदना असह्य हो जाय, अथवा यों कहो कि उसका मिटाना वर्तमान जीवन की वस्तु हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भय तथा सन्देह का अन्त हो सकता है। परन्तु जब तक प्राणी भय तथा सन्देह के रहते हुए चैन से रहता है, तब तक उसका अन्त नहीं होता। निस्सन्देह एवं अभय होने की माँग इतनी तीव्र होनी चाहिए कि उसके बदले में कोई प्रलोभन उस माँग में शिथिलता उत्पन्न न कर सके। प्राणी अपनी माँग की पूर्ति में भले ही असमर्थ हो, परन्तु अपूर्ति-जनित दुःख में तो सर्वदा समर्थ है। माँग की अपूर्ति का दुःख उस समय तक उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिए, जब तक माँग की पूर्ति न हो जाय। यह तभी सम्भव होगा, जब निस्सन्देहता एवं निर्भयता प्राप्ति से लेशमात्र भी निराशा न हो, अपितु नित-नव आशा का संचार होता रहे।

सन्देह तथा भय सदैव सुरक्षित नहीं रह सकते, क्योंकि निस्सन्देहता तथा निर्भयता में ही जीवन है। जो जीवन है, उससे निराश होना प्रमाद है और कुछ नहीं। प्रमाद अपना ही बनाया हुआ दोष है। प्रमाद को प्रमाद जान लेने पर वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक मिट जाता है, और उसके मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। चित्त की शुद्धि में ही चित्त की शान्ति तथा प्रसन्नता निहित है। शान्ति सामर्थ्य को प्राप्त कराती है और प्रसन्नता खिन्नता को खाकर काम का अन्त करती है। काम के अन्त में ही सब प्रकार के सुख-दुःख का अन्त हो जाता है, और सुख-दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि वर्तमान की ही वस्तु और उसी में जीवन की सार्थकता सिद्ध होता है।

२३.०५.१९५६

ज्ञान और जीवन की अभिन्नाता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

ज्ञान और जीवन में भेद प्रतीत होना ही चित्त की अशुद्धि है। वास्तव में तो ज्ञान में ही जीवन और जीवन में ही ज्ञान है। जीवन और ज्ञान में विभाजन सम्भव नहीं है। जो सम्भव नहीं है, उसका भासित होना चित्त की अशुद्धि के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? क्या वह जीवन हो सकता है, जो अपने को अपने आप प्रकाशित न करे? कदापि नहीं। जो अपने को अपने आप प्रकाशित कर रहा है, क्या वह ज्ञान-

शून्य हो सकता है? कभी-भी नहीं। इस दृष्टि से ज्ञान ही जीवन और जीवन ही ज्ञान है।

वास्तविक ज्ञान में निस्सन्देहता है और अधूरे ज्ञान में सन्देह है। सन्देह की वेदना में ही जिज्ञासा की जागृति है और जिज्ञासा की पूर्ति में ही वास्तविक ज्ञान है। इसलिये जितने प्रश्न उत्पन्न होते है, उन सबकी भूमि अल्प-ज्ञान है, ज्ञान का अभाव नहीं। अल्प-ज्ञान में ही सद्भाव होने से कामनाओं की उत्पति होती है। यद्यपि कामनाओं की उत्पति जिज्ञासा को मिटा नहीं पाती, परन्तु उसमें शिथिलता अवश्य आ जाती है, जिससे सन्देह की वेदना दब जाती है और कामना-पूर्ति के सुख की दासता उत्पन्न हो जाती है। जब तक सन्देह की वेदना सबल नहीं होती, तब तक कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन नष्ट नहीं होता। उसके नष्ट हुए बिना न तो जिज्ञासा की पूर्ति होती है और न परम प्रेम का उदय ही होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार निस्सन्देहता में ही जीवन तथा प्रेम में ही रस निहित है। किसी भी प्राणी को रस-विहिन जीवन प्रिय नहीं, और जीवन-रहित रस भी अभीष्ट नहीं, अर्थात् रस और जीवन दोनों ही की आवश्यकता है। रस में जीवन है, अथवा जीवन में रस है, इसका निर्णय युक्ति-युक्त सम्भव नहीं, किन्तु यह सभी को मान्य है कि यदि जीवन है, तो उसमें रस अवश्य हो।

जीवन उसे नहीं कह सकते, जिसका कभी अभाव हो अथवा जिसमें परिवर्तन हो, और रस उसे नहीं कह सकते, जिसमें क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति हो। इस दृष्टि से वस्तु आदि से तद्रूप होने में न तो जीवन की ही सिद्धि है और न रस की ही उपलब्धि सम्भव है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही सतत् परिवर्तनशील है और उसका अदर्शन होता है; अथवा यों कहो कि प्रत्येक वस्तु उत्पति-विनाश युक्त है। उत्पति-विनाश के क्रम में स्थिति केवल भस-मात्र है। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं, उसमें जीवन की स्वीकृति कुछ अर्थ नहीं रखती।

यद्यपि जीवन की माँग प्राणीमात्र में स्वाभाविक है, परन्तु जिसमें जीवन की माँग है क्या है, क्या वह स्वयं जीवन नहीं है? यदि वह स्वयं जीवन है, तो माँग कैसी? और माँग है, तो जीवन कैसा? क्योंकि बिना अभाव की अनुभूति के माँग की उत्पति ही नहीं हो सकती और जिसमें माँग की उत्पति होगी, उसका अस्तित्व माँग की उत्पति से पूर्व भी होना चाहिए। यदि अस्तित्व है, तो फिर जीवन की लालसा कैसी? यह नियम है कि लालसा तथा जिज्ञासा उसी की हो सकती है, जिसका नित्य, स्वतन्त्र, स्वतः-सिद्ध अस्तित्व है। किसी भी उत्पति-विनाशयुक्त वस्तु का नित्य, स्वतन्त्र, स्वतः सिद्ध अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः वस्तुओं के आश्रय से जीवन की उपलब्धि सम्भव नहीं है, अथवा यों कहो कि वस्तुओं में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन वस्तुओं से अतीत होना चाहिए। वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही वस्तुओं से असंगता प्रदान करने में समर्थ है।

इन्द्रियों के ज्ञान से वस्तुओं में सत्यता तथा सुन्दरता भासती है, परन्तु फिर भी वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती। इतना ही नहीं, बेचारी इन्द्रियाँ भी अपने को अपने आप

प्रकाशित नहीं करती। इस दृष्टि से इन्द्रियों की गणना भी वस्तुओं ही में होती है। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय जिस वस्तु को विषय करती है, उस वस्तु की अपेक्षा उसमें कुछ विलक्षणता है, परन्तु पर-प्रकाश्य होने के कारण इन्द्रियों का भी स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, उसमें कितनी ही विलक्षणता क्यों न हो, वह वस्तु ही है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय की अपेक्षा सूक्ष्म तथा विभु भले ही हो, परन्तु जिस ज्ञान से इन्द्रियों का ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा तो इन्द्रियाँ स्थूल तथा सीमित ही है। इन्द्रियों का ज्ञान जिससे होता है, उसे बुद्धि का ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान से प्राणी इन्द्रियों को विषय करता है, उस ज्ञान से प्रत्येक वस्तु वैसी नहीं मालूम होती जैसी इन्द्रियों के ज्ञान से प्रतीत होती है। यद्यपि वस्तु वही है जिसे इन्द्रियों ने विषय किया, परन्तु ज्ञान में भेद होने के कारण वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय वह नहीं रहा, जो इन्द्रियों को था। इन्द्रियों ने जिसे सत्य और सुन्दर बताया था, उसी को उस ज्ञान ने, जिसने इन्द्रियों को विषय किया, अनित्य तथा असुन्दर बताया। एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विपरीत निर्णय होने के कारण व्यक्ति में वास्तविक जानने की जिज्ञासा स्वतः होती है। इन्द्रियों के ज्ञान के प्रभाव ने व्यक्ति में कामनाओं को जन्म दिया, और उस ज्ञान ने जिज्ञासा को जाग्रत किया, जिससे कि इन्द्रियों को जाना था। दोनों प्रकार के ज्ञान का प्रभाव किसी एक पर ही है, और उसी में कामना तथा जिज्ञासा निवास करती है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा को शिथिल बनाता है और जिज्ञासा की जागृति कामनाओं का नाश करती है। जो व्यक्ति अपने को कामना-युक्त मानता था, वही अपने को जिज्ञासा मानता है। जिस ज्ञान से वस्तुएँ सत्य और सुन्दर मालूम होती थी, वह ज्ञान उस ज्ञान की अपेक्षा अल्प है, जिससे वस्तुएँ अनित्य तथा असुन्दर मालूम होती हैं। एक काल में किसी भी व्यक्ति पर एक प्रकार के ज्ञान का ही प्रभाव रहता है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटते ही राग वैराग्य में और भोग योग में बदल जाता है, जिसके बदलते ही कामनाएं मिट जाती हैं और जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है, अथवा यों कहो कि कामनाओं का नाश इन्द्रियों को विषयों से विमुख कर देता है। विषयों से विमुख होते ही इन्द्रियों का ज्ञान उस ज्ञान में विलीन हो जाता है, जिसने इन्द्रियों को विषय किया था।

विषयों की विमुखता में वस्तुओं की महत्ता कुछ नहीं रहती, जिसके न रहने पर वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है। उस जीवन में पराधीनता नहीं है, और दीनता तथा अभिमान नहीं है, वहां विषमता भी नहीं है, जहाँ विषमता नहीं रहती है, वहाँ प्रसन्नता स्वतः उदित होती है। जहां प्रसन्नता रहती है, वहाँ खिन्नता निवास नहीं करती और जहाँ खिन्नता निवास नहीं करती, वहां काम की उत्पत्ति ही नहीं होती। काम का अभाव होते ही भेद या भिन्नता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही निस्सेन्दहता, निर्भयता, चिन्मयता आदि जीवन में स्वतः प्राप्त होती हैं। उसी जीवन की माँग वस्तुओं में आबद्ध प्राणी को

रहती है। वस्तुओं की दासता ने ही प्राणी को उस जीवन से विमुख किया गया है। उस जीवन की विमुखता से जीवन की माँग उत्पन्न हुई है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। पर कब? जब वस्तुओं से अपने को अंसग कर लिया जाय। वस्तुओं से अंसग होने के लिये इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटाना होगा। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही साधक वास्तविक जीवन का अधिकारी हो जाता है।

इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव जिस ज्ञान से मिटता है, वह ज्ञान भी अल्प है, क्योंकि राग को वैराग्य में और भोग को योग में परिवर्तित कर देने के बाद वह ज्ञान अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करता। जो पर-प्रकाश्य है, वह नित्य नहीं हो सकता। निस्सन्देहता नित्य-ज्ञान में निहित है। यद्यपि नित्य ज्ञान का किसी भी काल में अभाव नहीं है, परन्तु अल्प ज्ञान को ही ज्ञान मान लेने पर नित्य-ज्ञान से भिन्नता भासने लगती है। यह नियम है कि वस्तुओं के परिवर्तन का ज्ञान जब वस्तुओं की सत्यता के ज्ञान का अपहरण कर लेता है, तब साधक की नित्य ज्ञान से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। चित्त-शुद्धि के लिये वस्तुओं के परिवर्तन तथा अदर्शन के ज्ञान का प्रभाव अनिवार्य है।

वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता के ज्ञान का प्रभाव और वस्तुओं के परिवर्तन तथा अदर्शन के ज्ञान का प्रभाव जिस पर होता है, उसी में जीवन तथा रस की माँग है, क्योंकि वही खिन्नता तथा मृत्यु से भयभीत है। खिन्नता और मृत्यु का भय जीवन तथा रस की आवश्यकता जाग्रत करता है। परन्तु कब? जब खिन्नता तथा मृत्यु के भय से साधक अधीर न हो जाय, अपितु उस भय का नाश करने के लिये उत्कण्ठा एवं उत्साहपूर्वक साधन में तत्पर बना रहे।

भय का अन्त वर्तमान की वस्तु है। उसके लिये भविष्य की आशा करना, अथवा, उससे निराश होना साधक का प्रमाद है और इस प्रमाद से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि भय की अनुभूति निर्भयता की लालसा जाग्रत करने में समर्थ है; परन्तु भय की अनुभूतिमात्र से ही अधीर हो जाने पर प्राणी जड़ता में आबद्ध हो जाता है, जिससे जिज्ञासा में शिथिलता आ जाती है, जिसके आते ही 'वस्तु ही जीवन है' और जीवन ही वस्तु है, ऐसा मान बैठता है। इस मान्यता ने भय का अन्त नहीं होने दिया। साधक के जीवन में इस मान्यता का कोई स्थान ही नहीं है।

वस्तु में अहम्-बुद्धि स्वीकार करने पर ही वस्तु का महत्व बढ़ता है और वस्तुओं की कामना उत्पन्न होती है, क्योंकि वस्तु से अतीत होने पर किसी भी वस्तु की कामना उत्पन्न नहीं होती। वस्तु में अहम्-बुद्धि जिस देव ने स्वीकार की है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व आज तक किसी को नहीं मिला। पर वस्तु में से यदि अहम्-बुद्धि का त्याग कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तुओं की कामना मिट जाती है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति, अर्थात् निस्सन्देहता और प्रेम का उदय स्वतः हो जाता है। निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति में कितना रस है, कैसा दिव्य-जीवन है! इसका वर्णन सम्भव नहीं है, क्योंकि वर्णन करने के साधन सीमित हैं, अनित्य हैं और वह जीवन अगाध है, अनन्त है।

वस्तु में अहम्-बुद्धि जिसने स्वीकार की, यदि उसे वस्तु कहें तो यह भी यथार्थ नही, क्योंकि वस्तु पर-प्रकाश्य है और पर-प्रकाश्य में किसी को स्वीकार-अस्वीकार करने की स्वाधीनता सम्भव नहीं, और यदि उसे अवस्तु कहें, तो अवस्तु को वस्तु की अपेक्षा नहीं, और न अवस्तु-वस्तु का सम्बन्ध ही सम्भव है। इस दृष्टि से वस्तु में अहम्-बुद्धि जिसने स्वीकार की है, वह वस्तु-अवस्तु से विलक्षण है, और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि वस्तु में अहम्-बुद्धि का अन्त होने से केवल नित्य-चिन्मय जीवन का बोध सिद्ध होता है। उसमें किसी प्रकार की परिच्छिन्नाता का भास नहीं होता; अर्थात् वस्तुओं से जो अतीत है, वह अनन्त, नित्य-चिन्मय है। वह अपने को और अपने से भिन्न को प्रकाशित करता है। इतना ही नहीं, समस्त वस्तुए उसके किसी एक अशंमात्र में भासित होता हैं। अतः जो वस्तुओं से परे है, वह स्वयं वस्तुओं में अहम्-बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकता। जिसने वस्तु में अहम्-बुद्धि स्वीकार की है, उसके सम्बन्ध में केवल यही कह सकते हैं कि वह वस्तु-अवस्तु से विलक्षण है।बिना किसी आश्रय के उसका भास नहीं होता और आश्रय का त्याग करते ही, वह अवस्तु में विलीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि उसका योग तथा प्रेम हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसके सम्बन्ध में युक्ति-युक्त कथन कुछ नहीं बनता। मान्यता की दृष्टि से उसे चाहे कुछ मान लिया जाय। यह मानना भी उसका ही एक रूपान्तर होगा; अर्थात् वस्तु में अहम्-बुद्धि जैसे मान ली गई और जिससे अनेक कामनाएं उत्पन्न हो गईं, वैसे ही उस विलक्षण देव का कोई भी नाम भले ही रख लिया जाय, वह मान्यता ही होगी और कुछ नहीं। उसी में इन्द्रियों के ज्ञान के प्रभाव के आधार पर कामना उत्पन्न होती है, और जिस ज्ञान से इन्द्रियों के अल्प-ज्ञान, अर्थात् अधूरा ज्ञान सिद्ध होता है, उस ज्ञान के प्रभाव से उसी में जिज्ञासा जाग्रत होती है। वही अपने को कभी भोगी और कभी जिज्ञासु नाम से सम्बोधित करता है। भोग-वासनाओं से भिन्न भोगी के अस्तित्व को किसी ने देखा नहीं, और जिज्ञासा से भिन्न जिज्ञासु को किसी न जाना नहीं। वासना और जिज्ञासा के समूह में ही समस्त समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। जब जिज्ञासा वासनाओं को खा लेती है, तब सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं। जिज्ञासा और वासना का द्वन्द्वात्मक स्वरूप ही वह देव है, जिसने वस्तुओं में अहम्-बुद्धि स्वीकार की है। वासनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति के बाद उस द्वन्द्वात्मक स्वरूप का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। निस्सन्देता, योग और प्रेम से भिन्न की चर्चा करना किसी मान्यता को ही जन्म देना है। योग सामर्थ्य और शान्ति का प्रतीक है, निस्सन्देहता जीवन तथा नित्य-ज्ञान का प्रतीक है, और प्रेम नित-नव रस का प्रतीक है। ये तीनों किसी एक में ही निहित हैं। जिसकी कोई भी परिभाषा नहीं की जा सकती, अपितु अनेक परिभाषायें जिसमें सिद्ध होती हों, और फिर भी जो सभी परिभाषाओं से विलक्षण हो, उस अनन्त की महिमा ही योग, ज्ञान तथा प्रेम है। चित्त शुद्ध हो जाने पर यह रहस्य स्वयं खुल जाता है और वस्तु में अहम्-बुद्धि का अत्यन्त अभाव होने पर चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त-शुद्धि में ही व्यक्ति का पुरुषार्थ है, जो अपने में से वस्तु-

भाव का त्याग और वस्तु में से अहम्-भाव का त्याग करने पर स्वतः हो जाता है। और फिर ज्ञान और जीवन में भेद नहीं रहता। अतः इस भेद का अन्त करने के लिए चित्त की शुद्धि ही परम पुरुषार्थ है।

२४.०५.१९५६

व्यक्तित्व के मोह का अन्त

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध हो चित्त को अशुद्ध कर लेता है, जिसके होते ही एक विचित्र द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो उसे किसी भी दशा में स्थिर नहीं रहने देती और न सभी अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने देती है। अथवा यों कहो कि द्वन्द्वात्मक स्थिति से जिस अहम्-भाव की उत्पत्ति होती है, उस अहम्-भाव में इतना मोह हो जाता है कि व्यक्ति को उसका विनाश सहन नहीं होता। उसको सुरक्षित रखने के लिये वह कभी तो अपने को सुखी और कभी दुःखी, समर्थ और कभी असमर्थ, कभी जानकर और कभी अनजान मानता रहता है। पर सर्वांश में न अपने को सुखी ही मानता है और न दुःखी, न सामर्थ्यवान् और न असमर्थ, न जानकर और न अनजान। इतना ही नहीं न जानने की वेदना से भी अपने को बचाता है। किसी न किसी अंश में यह मान लेता है कि मैं जानता तो हूँ, मुझमें ज्ञान है। पर उस ज्ञान का आदर कितना है, इस पर ध्यान ही नहीं देता। उसका परिणाम यह होता है कि वह मान लेता है कि मैं जानता नहीं। अर्थात न तो साधक न जानने की वेदना को ही तीव्र होने देता है और न जितना जानता है, उसका आदर ही करता है। उससे उसकी वस्तुस्थिति द्वन्द्वात्मक बनी रहती है। उस द्वंद्वात्मक स्थिति का अंत चित्त शुद्ध होने पर ही हो सकता है।

चित्त की शुद्धि के लिए साधक को सरलतापूर्वक अपनी वस्तुस्थिति अपने सामने स्पष्ट रखनी चाहिए। अपने से अपनी दशा को छिपाना नहीं चाहिए। वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय होते ही या तो व्याकुलता की अग्नि प्रज्ज्वलित होगी अथवा आनंद की गंगा लहराएगी। व्याकुलता की अग्नि में समस्त अशुद्धि भस्मीभूत हो सकती है और आनंद की गंगा में भी समस्त विकार गल जाते हैं। इन दोनों में से किसी भी एक से चित्त शुद्ध हो सकता है। यद्यपि व्याकुलता में आनंद और आनंद में व्याकुलता ओत-प्रोत है परन्तु एक काल में एक ही की प्रधानता प्रतीत होती है। जिस प्रकार आनंद काष्ठ में अग्नि और अग्नि में काष्ठ स्थित है, उसी प्रकार आनंद में व्याकुलता और व्याकुलता में आनंद है। अग्नि के रहते हुए भी काष्ठ में शीतलता और काष्ठ के रहते हुए अग्नि में दाहकता विद्यमान है। उसी भाँति आनंद में व्याकुलता और व्याकुलता में आनंद है।

इसी आनंद तथा व्याकुलता का सीमित एवं स्थूल रूप सुख-दुःख, सामर्थ्य-असामर्थ्य और जानना न जानना है। व्यक्ति में व्यक्तित्व क्या है, इसको भली-भांति जान लेने पर व्यक्तित्व नहीं रहता, क्योंकि अपने में अपनापन स्वीकार करना वास्तविकता से अपरिचित्त होना है। यदि अपने में

अपनेपन की खोज की जाय, तो अपनापन नहीं मिलेगा। कारण, कि अपने में अपनी जैसी कोई वस्तु है नहीं, फिर भी अहम और मम भासित होता है जिससे द्वंद्वात्मक स्थिति पोषित होती है। इस दृष्टि से खोज के अभाव में ही साधक वास्तविकता से विमुख हो जाता है। सुख, सामर्थ्य और जानने में पारस्परिक एकता है और दुःख, असमर्थता एवं न जानने में पारस्परिक एकता है। इस दृष्टि से जानना और न जानना अथवा सामर्थ्य और असमर्थता कहो, अथवा सुख और दुःख कहो, यही द्वंद्व है। इनमें से किसी एक द्वंद्व के मिट जाने पर सभी द्वंद्व मिट जाते हैं। साधक को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चाहे सुख-दुःख के द्वंद्व का अथवा जानने न जानने के द्वंद्व का अथवा सामर्थ्य-असमर्थता के द्वंद्व का अंत कर डालना चाहिए।

सुख में दुःख का दर्शन करते ही दुःख मिट जाता है। दुःख के मिटते ही आनंद की गंगा लहराने लगती है। सामर्थ्य में असमर्थता का दर्शन करते ही निर्भरता आती है जिसके आते ही असमर्थता मिट जाती है। जानने में न जानने का दर्शन करते ही जिज्ञासा जाग्रत होती है जो न जानने का अंत कर निस्संदेहता प्रदान करती है। निस्संदेहता, सामर्थ्य और आनंद में द्वंद्व नहीं है अपितु द्वंद्वातीत वास्तविक जीवन है।

सुख में दुःख का दर्शन करने का उपाय यह है कि साधक को सुख के आदि और अंत को जानना चाहिए। ऐसा कोई सुख है नहीं जिसके आदि और अंत में दुःख न हो। आदि और अंत के दुःख को ही मध्य के सुख में देखना चाहिए। सुख में दुःख का दर्शन करते ही सुख की आसक्ति मिट जाएगी जिसके मिटते ही कामनाओं का अंत हो जावेगा। कामना-रहित होते ही निस्संदेहता, सामर्थ्य और आनंद से अभिन्नता हो जाएगी। जानने के अभाव में जिज्ञासा जाग्रत नहीं होती प्रत्युत कुछ न कुछ जानने में ही जिज्ञासा जाग्रत होती है। जब साधक अधूरी जानकारी में सन्देह अर्थात न जानना देखने लगता है, तब जिज्ञासा जाग्रत होती है। इस दृष्टि से जानने न जानने का द्वंद्व मिटने पर भी वास्तविकता से अभिन्नता हो जाती है। सामर्थ्य के अभाव में असमर्थता की प्रतीति नहीं होती अपितु सीमित सामर्थ्य में ही असमर्थता का दर्शन होता है। अतः सामर्थ्य में असमर्थता का दर्शन करते ही अभिमान गल जाता है जिसके गलते ही सर्व समर्थ की निर्भरता आ जाती है जो अनंत से अभिन्न कर देती है।

समस्त दोषों का मूल एकमात्र अपनी वस्तुस्थिति से अपरिचित्त रहना अर्थात अपने से अपने को छिपाना है। अपने से अपने को साधक क्यों छिपाता है। मिथ्या अभिमानजनित सुख की दासता में आबद्ध होने से अपने को छिपाने का स्वभाव बन जाता है। उस स्वभाव में आबद्ध होकर साधक कभी तो अपने को समझदार, कभी बेसमझ, कभी सामर्थ्यवान, कभी असमर्थ, कभी सुखी और कभी दुखी मानने लगता है। पर किसी भी मान्यता पर दृढ़ नहीं रहता। और जो जानता है वह नहीं मानता। जो कर सकता है, उसके न करने से करने का राग निवृत्त नहीं होता। करने का राग निवृत्त हुए बिना न तो करने से छुटकारा ही मिलता है और न साधक अपने आपको समर्पित ही कर पाता है। इस कारण कभी

पुरुषार्थी होने की सोचता है और कभी अपने को असमर्थ मानकर सर्व समर्थ के शरणागत होने में विश्वास करता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अपनी असमर्थता का परिचय ही सर्वसमर्थ की निर्भरता में हेतु है और सामर्थ्य की अनुभूति में ही पुरुषार्थ की प्रेरणा निहित है क्योंकि प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग का ही नाम पुरुषार्थ है।

यद्यपि पुरुषार्थ और शरणागति का परिणाम एक है परन्तु वह रहस्य तभी खुलता है जब साधक एकनिष्ठ हो जाय। या तो प्राप्त सामर्थ्य के अनुरूप पुरुषार्थी हो जाय अथवा असमर्थता से परिचित्त होकर सर्व समर्थ के प्रति समर्पित हो जाय। समपर्ण और पुरुषार्थ में विरोध नहीं है। पुरुषार्थ से साधक सीमित बल का सदुपयोग कर उसके अभिमान से रहित हो जाता है, जिसके होते ही शरणागति स्वतः आ जाती है। और शरणागत का अनंत बल से सम्बन्ध हो जाता है जिससे आवश्यक पुरुषार्थ स्वतः होने लगता है। जब तक दीनता और अभिमान का अभाव नहीं हो जाता तब तक पुरुषार्थ अथवा शरणागति किसी न किसी की आवश्कता बनी ही रहती है। पुरुषार्थ से शरणागति और शरणागति से पुरुषार्थ स्वतः होने लगती है। अंतर केवल इतना ही है कि शरणागत के पुरुषार्थ में कर्त्तृव्य का अभिमान नहीं रहता और पुरुषार्थी की शरणागति में दीनता नहीं रहती, प्रत्युत अभिन्नता रहती है।

निरभिमानता और अभिन्नता का स्वरूप एक है क्योंकि दोनों ही में भेद का नाश हो जाता है, क्योंकि भेद की उत्पत्ति अभिमान तथा भिन्नता में ही निहित है। मिली हुई सीमित योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु को अपनी मान लेने से अभिमान की उत्पत्ति होती है और वस्तु, अवस्था आदि के आधार पर अपने अस्तित्व को स्वीकार करने से भिन्नता उत्पन्न होती है। अभिमान और भिन्नता से ही चित्त अशुद्ध होता है। अतः चित्त-शुद्धि के लिए इन दोनों का अंत करना अनिवार्य है। अभिमान का अंत करने के लिए प्राप्त वस्तु आदि की ममता का त्याग करना होगा। कारण कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जिसका समष्टि शक्तियों से विभाजन हो सके। फिर किसी भी वस्तु को अपना मानना क्या ईमानदारी है? अर्थात घोर बेईमानी है। बेईमानी का अंत होते ही अभिमान स्वतः गल जाता है। हां यह अवश्य है कि किसी भी वस्तु को अपना न मानने पर भी उसका सदुपयोग किया जा सकता है जिसके करने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। जिस अनंत से वस्तु प्राप्त हुई, उसी अनंत से उनके सदुपयोग में कोई कठिनाई अर्थात असमर्थता नहीं है। बस यह पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ के दो भाग हुए-प्राप्त वस्तु आदि को अपना न मानना और उनका सदुपयोग करना।

अपना न मानने से अभिमान गल जाता है और सदुपयोग करने से विद्यमान राग निवृत्त हो जाता है। विद्यमान राग की निवृत्ति में ही अनुराग का उदय निहित है और अभिमान के गलने में ही अभिन्नता स्वतः सिद्ध है। अनुराग और अभिन्नता, इन दोनों का स्वरूप एक है, क्योंकि अभिन्नता में अनुराग निहित है और अनुराग से भिन्नता का नाश होता है।

प्राप्त वस्तु आदि को अपना न मानना, यह सिद्ध करता है, कि वे जिसकी देन हैं, उसका

विश्वास आवश्यक है। समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है और कुछ नहीं। वस्तुओं की उत्पत्ति तथा विनाश के मूल में कोई उत्पति-विनाश-रहित, अलौकिक, स्वतः-सिद्ध तत्त्व का होना अनिवार्य है। यद्यपि उसे इन्द्रिय, बुद्धि, आदि के द्वारा भले ही विषय न किया हो, परन्तु उसका होना स्वतः-सिद्ध है, नहीं तो उत्पत्ति-विनाश ही सिद्ध न होगा। जिसे बुद्धि आदि से नहीं जानते हैं, उसी पर विश्वास हो सकता है। अतः विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर जब साधक अहम् और मम को उस अनन्त के समर्पण कर देता है, तब भी वही दिव्य जीवन प्राप्त होता है, जो पुरुषार्थ-साध्य है।

अहम् के समर्पण से भेद का नाश हो जाता है, क्योंकि अहम्भाव से ही भेद का भास होता है। मम के समर्पण से ही अनासक्ति उत्पन्न होती है। अनासक्ति अनुराग को और अभेदता अभिन्नता को प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से शरणागत साधक भी पुरुषार्थी के समान अनुराग तथा अभिन्नता से सम्पन्न हो जाता है। पुरुषार्थी यदि मिले हुए का सदुपयोग कर सिद्धि पाता है तो शरणागत उस दाता से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर सिद्धि पाता है। मिली हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से भी चित्त शुद्ध होता है, और जिससे मिली है, उससे नितय सम्बन्ध स्वीकार करने से भी चित्त शुद्ध हो जाता है।

मिले हुए की ममता व्यक्तित्व के मोह को उत्पन्न करती है और उसका त्याग मोह का अन्त करने में समर्थ है। व्यक्तित्व के मोह का अन्त होते ही द्वन्द्वात्मक स्थिति मिट जाती है, जिसके मिटने से चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि के लिये यह अनिवार्य है कि प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग किया जाय, पर उससे ममता न की जाय। यह नियम है कि वस्तु आदि की ममता गलकर स्वतः अनन्त के नित्य सम्बन्ध में विलीन हो जाती है। बस, यही शरणागति है। प्राप्त का सदुपयोग पुरुषार्थ, और उसकी ममता का त्याग शरणागति है। अतः पुरुषार्थ तथा शरणागति की एकता के द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त-शुद्ध हो सकता है।

२५.०५.१९५६

सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

दो अनुभूतियों का संघर्ष चित्त की अशुद्धि है। कारण, कि चित्त पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव भी अंकित है और उसके विरोध में बुद्धि का ज्ञान भी है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव संकल्प-पुर्ति के सुख में आबद्ध करता है। संकल्प-अपुर्ति का दुःख इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह उत्पन्न करता है; अथवा यों कहो कि पराधीनता की अनुभूति होती है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति काल में भी प्राणी पराधीन ही है, परन्तु-संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता के कारण पराधीनता में स्वाधीनता के समान सुखी होता है और यह मान लेता है कि 'मैं तो स्वाधीन हूं, जो चाहता हूं, उसे कर डालता हूं।' यदि उससे यह पुछा जाय कि तुम जो कुछ करते हो, उसकी साधन-सामग्री क्या तुम्हारी अपनी ही है? क्या उस पर तुम्हारा स्थायी अधिकार है? क्या उन साधनों के तुम अधीन नहीं हो? यदि इसी का नाम स्वाधीनता है, तो पराधीनता क्या है?

पराधीनता में स्वाधीनता में मान लेना पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव में प्रमाद है। वस्तुओं का आश्रय घोर पराधीनता है, पर प्राणी वस्तुओं के अभाव में अपने को पराधीन मानता है। वस्तुओं का अभाव यद्यपि पराधीनता की अनुभूति कराने में हेतु है, परन्तु प्राणी उस अभाव को पराधीनता मानता है। यह अनुभूति का अनादर है।

अनुकूल वस्तुओं की प्राप्ति में सुख का भास वस्तुओं की दासता में आबद्ध करता है। वस्तुओं में अनुकूलता का दर्शन, क्या वास्तविकता है? इस रहस्य को बिना ही जाने प्राणी वस्तुओं में अनुकूलता मानता है। जिन वस्तुओं की स्थिति ही सिद्ध नहीं होती, उन वस्तुओं में अनुकूलता स्वीकार करना अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। अविवेक का अन्त होने पर वस्तुओं में अनुकूलता का दर्शन नहीं होता और फिर दो अनुभूतियों का द्वन्द्व स्वतः मिट जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रतिकूलता में भी अनुकूलता है और अनुकूलता में ही प्रतिकूलता है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही का यदि सदुपयोग किया जाय, तो परिणाम एक ही हो सकता है। प्राणी अनुकूलता और प्रतिकूलता के परिणाम पर विचार नहीं करता, इस कारण उसे दोनों में विरोध, अथवा संघर्ष प्रतीत होता है। ऐसी कोई अनुकूलता है ही नहीं, जिसने प्रतिकूलता को जन्म न दिया हो और न ऐसी कोई प्रतिकूलता ही है, जिसमें प्राणी का हित न हो।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी के अहित की भावना नहीं है और न किसी से राग तथा द्वेष है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय के प्रति श्रद्धा रखना अनिवार्य है। तो फिर अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में भेद मानना और उनके परिणाम में एकता न स्वीकार करना अपनी ही भूल हो सकती है और कुछ नहीं। अनुकूलता स्वभाव से प्रिय है और प्रतिकूलता स्वभाव से ही अप्रिय है, परन्तु फिर भी अनुकूलता चली जाती है और प्रतिकुलता आ जाती है। जो अपने आप आती है, उसको हटाने का प्रयास, और जो अपने आप जाती है, उसको बनाये रखने की आशा, क्या कभी सफल हो सकती है? कदापि नहीं।

अनुकूलता में प्रियता क्यों भासती है, और प्रतिकूलता में भय क्यों होता है? कामनाओं की उत्पत्ति से जो क्षोभ होता है, उस क्षोभ की क्षणिक निवृत्ति के लिये अनुकूलता में प्रियता भासती है। यद्यपि कामना-पूर्ति के पश्चात् पुनः कामनाओं की उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति में जितना सुख भासता है, उससे कहीं अधिक उसके परिणाम में दुःख अपने आप आता है। परन्तु प्राणी असावधानी के कारण सुख के आदि और अन्त के दुःख पर दृष्टि न रखकर क्षणिक सुख पर ही दृष्टि रखता है। इस सुख-लोलुपता के कारण ही अनुकूलता में प्रियता भासती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राणी जब कामना-पूर्ति के सुख को कामना-निवृत्ति का साधन नहीं मानता, अपितु कामना-पूर्ति को ही जीवन मानता है, तब उस सुख की दासता से मुक्त करने के लिये प्रतिकूलता आती है। इस दृष्टि से प्रतिकूलता में प्राणी का विकास निहित है, क्योंकि

अनुकूलता के सदुपयोग से जब प्राणी अपना हित नहीं करता, तब प्रतिकूलता के द्वारा प्राकृतिक विधान उस हित की और अग्रसर करता है। परन्तु अनुकूलता की आसक्ति प्रतिकूलता में भय उत्पन्न करती है। अनुकूलता और प्रतिकूलता तो प्राकृतिक हैं, परन्तु अनुकूलता की आसक्ति और प्रतिकूलता का भय चित्त की अशुद्धि है। यदि साधक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करने का प्रयास करे, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक अनुकूलता की आसक्ति और प्रतिकूलता का भय मिट सकता है, जिसके मिटते ही दो अनुभूतियों का द्वन्द्व स्वतः मिट जाता है और चित्त शुद्ध हो जाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर वस्तुएँ सुखद प्रतीत होती हैं-यह भी एक अनुभूति है और बुद्धि के ज्ञान से प्रत्येक वस्तु में सतत् परिवर्तन एवं अदर्शन प्रतीत होता है-यह भी एक अनुभूति है। इन दोनों अनुभूतियों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, जिसके कारण प्राणी के जीवन में एक विचित्र संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। बुद्धि के ज्ञान का आदर सहज भाव से हो नहीं पाता और इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अंकित रहता है। ऐसी स्थिति में कामना-पूर्ति का प्रलोभन और कामना-निवृत्ति की लालसा दोनों ही में परस्पर संघर्ष होने लगता हैं। सभी कामनाएं किसी की दूरी नहीं होतीं। और कोई भी कामना पूरी न हो, यह बात भी नहीं है; अर्थात् कुछ कामनाएं अवश्य पूरी हो जाती हैं, जो कामनाएं पूरी हो ही नहीं सकती, उनको जमा रखना कुछ अर्थ नहीं रखता और जो कामनाएं स्वतः पूरी हो जाती हैं, उनको रखना भी कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः कामना-पूर्ति और पूर्ति में कामनाओं को महत्व देना निरर्थक है। जिन्हें पूरा होना है, वे पूरी हो ही जायेंगी और जिन्हें पूरा नहीं होना है, वे हो ही नहीं सकती। ऐसी दशा में कामना-निवृत्ति में ही महत्व प्रतीत होता है। कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति का ही साधन है और कामना-अपूर्ति में भी कामना-निवृत्ति को ही प्रधानता देनी चाहिए। कामना-निवृत्ति का महत्व बढ़ते ही कामना-पूर्ति का सुख और अपूर्ति का दुःख निर्जीव हो जाता है, जिसके होते ही इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिट जाता है और बुद्धि के ज्ञान का आदर होने लगता है, जो चित्त की शुद्धि में हेतु है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन कभी-कभी इतना बढ़ जाता है कि प्राणी न होने वाली बातों को सोचने लगता है, अर्थात् इच्छापूर्ति के चिन्तन में बंध जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो इच्छाएं पूरी हो ही नहीं सकती, उनका तो चिन्तन करता रहता है, और जो इच्छाएँ पूरी होती हैं, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है। इतना ही नहीं, जीवनी-शक्ति समाप्त हो जाती है और इच्छाओं का समूह ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है। उस समय प्राणी की बड़ी ही दीन-हीन दशा हो जाती है। वह वस्तुओं के वियोग की वेदना में फंस जाता है और जो नहीं चाहता है, वही दृश्य उसके सामने आता है; अथवा यों कहो कि बेचारा प्राणी मिथ्याचारी हो जाता है। वह अनेक प्रकार के भय तथा अभावों को अनुभव कर व्यथित होता रहता है। यद्यपि इच्छाओं की उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है और उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है, परन्तु

उस जीवन की और प्राणी ध्यान नहीं देता। प्राकृतिक विधान का विरोध कर भंयकर संघर्ष में आबद्ध हो जाता है। इच्छा-पूर्ति-अपूर्ति परिस्थिति है, जीवन नहीं। उसके सदुपयोग में प्राणी का हित है। उसको जीवन मान लेने से तो चित्त अशुद्ध ही होता है, जो अवनति का मूल है।

परिस्थिति के सदुपयोग से साधक से साधक परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश कर सकता है। उस जीवन में किसी प्रकार की विषमता, अभाव, भय या जड़ता नहीं है। उस जीवन की प्राप्ति प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति साधन-मात्र है, साध्य नहीं। साधन-बुद्धि से प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही समान हैं। जिस प्रकार यात्री दाएं-बाएं दोनों ही पैरों से चलकर अपने गन्तव्य स्थल पर पहुचंता है, उसी प्रकार साधक अनूकुल तथा प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों के सदुपयोग से अपने अभीष्ट लक्ष्य तथा पहुंचता है।

प्रकातिक नियम के अनुसार भोग-समाग्री निरन्तर मिट रही है, और और भोगने की शक्ति का भी हास हो रहा है, परन्तु भोग की रुचि का नाश नहीं हुआ। ऐसा वस्तुस्थिति में प्राणी को बड़ी ही उलझन होती है। यदि भोग की रुचि का भी नाश हो जाता, तो भोग से अतीत जो जीवन है, उसकी प्राप्ति हो जाती। भोग से अतीत के जीवन की लालसा न हो, और भोग-युक्त जीवन सुरक्षित न रहे, ऐसी दशा में न तो शान्ति ही मिल सकती है और न प्रसन्नता। समस्त इच्छाओं के मूल में यद्यपि चिरशान्ति तथा अखण्ड प्रसन्नता पाने की लालसा बीज-रूप से विद्यमान है, परन्तु उस लालसा को कामना-पूर्ति के सुख और कामना-अपूर्ति से प्राणी दबा देता है। सुख-दुःख अपने आप आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं, उनमें आबद्ध होना चित्त को अशुद्ध करना है। सुख में उदारता और दुःख में त्याग अपना लेने पर सुख-दुःख का बन्धन स्वतः टूट जाता है और फिर साधक सुख-दुःख से अतीत के जीवन का अधिकारी हो जाता है।

भोग की रुचि का नाश भोग की वास्तविकता जान लेने पर स्वतः हो जाता है। भोग की वास्तविकता का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, वह ज्ञान साधक में विद्यमान है और भोग की रुचि भी उसमें अंकित है। जब तक साधक भोग की रुचि को महत्व देता है, तब तक उसकी बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन रहती हैं, अर्थात् वह उत्तरोत्तर चेनता से जड़ता की और गतिशील होता है। परन्तु यदि साधक विद्यमान ज्ञान के प्रकाश में भोग की रुचि का अंत कर डाले, तो बड़ी ही सुगमता उत्तरोत्तर जड़ता से चेतना की और अग्रसर होता जाता है। अर्थात् विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में और मन बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही भोग योग में बदल जाता है। भोग पराधीनता, जड़ता आदि में आबद्ध करता है और योग स्वाधीपता, सामर्थ्य तथा चिन्मयता प्रदान करता है। इस दृष्टि से भोग की अपेक्षा योग बड़े ही महत्व की वस्तु है। योग की लालसा भोग की रुचि का अन्त करने में समर्थ है, परन्तु भोग की रुचि योग की लालसा को शिथिल भले ही बनादे, मिटा नहीं सकती। प्रतिकूलता जीवन में केवल योग की लालसा को

प्रबल बनाने के लिए आती है। योग की लालसा भोग की रुचि को खाकर योग से अभिन्न कर देती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

अपने आप आए हुए दुःख का प्रभाव कितना है, और सुख की लोलुपता कितनी है, इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। जो दुःख अपने आप आया है, उस दुःख का भी जीवन में स्थान है। और जो सुख अपने आप चला जाता है, उस पर ध्यान देना है। सुख के आदि अन्त में दुःख है। यदि उस दुःख का प्रभाव इतना हो जाय कि सुख की लोलुपता मिट जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश हो सकता है। यद्यपि उस जीवन से देश काल की पूरी नहीं है, क्योंकि वह सुख-दुःख के समान आता-जाता नहीं है, अपितु सर्वत्र ज्यों-का-त्यों है।परन्तु सुख-दुःख के आक्रमण से आक्रान्त प्राणी उसे अपना नहीं पाता। यदि प्राणी धीरजपूर्वक शान्त चित्त से दुःख के भय से भयभीत न हो, और अपने आप जाने वाले सुख की दासता में आबद्ध न रहे, तो वह सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज कर सकता है। सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज दुःख के भय से और सुख की दासता से सदा के लिए मुक्त कर देती है। सुख की आसक्ति और दुःख के भय ने ही चित्त को अशुद्ध कर दिया है।

चित्त शुद्ध करने के लिए यह अनिवार्य है कि दुःख के महत्व को अपना लिया जाय। इससे सुख की दासता स्वतः मिट जायगी, जिसके मिटते ही सुख-दुःख का सदुपयोग स्वतः होने लगता है और फिर सुख-दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति हो जाती है।

दुःख का भय और सुख की दासता, सुख-दुःख का सदुपयोग नहीं होने देते, और उसके बिना सुख-दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः दुःख के भय तथा सुख की दासता का अन्त करना अनिवार्य है। सुख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा भी सुख के राग को खा लेती है, और सुख-दुःख से अतीत के जीवन का विश्वास भी सुख-दुःख से सम्बन्ध-विच्छेद कराने में समर्थ है। उपर्युक्त तीनों बातों में से जिस साधक को जो सुगम हो उसे वही अपना लेना चाहिए। किसी एक के भी अपना लेने से सफलता हो सकती है। दुःख का महत्व अथवा सुख से अतीत के जीवन की खोज, अथवा सुख-दुःख से अतीत के जीवन पर विश्वास, चित्त की शुद्धि में समर्थ है।

२६.०५.१९५६

सन्देह की निवृत्ति तथा निस्सन्देहता की प्राप्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना करने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। कारण, कि इन्द्रियों के अल्प-ज्ञान को ज्ञान मान लेना सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी में विषयों की रुचि उत्पन्न हो जाती है, जो उसे भोगी बना देती है। इन्द्रियों के ज्ञान से जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके परिवर्तन और अदर्शन का ज्ञान प्राणी को है। इसमें किसी

भी साधक को सन्देह नहीं है। सभी साधक अपने शरीर के परिवर्तन को और वस्तु एवं व्यक्ति के वियोग को भी जानते हैं। यह भी जानते हैं कि जो वस्तु अवस्था आदि पहले थी, वह अब नहीं है और जो अब है, वह आगे न रहेगी। इस जानकारी में सन्देह नहीं है। परन्तु उसमें सन्देह की स्थापना करली है, अर्थात् उसका प्रभाव अपने पर नहीं होने दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि विषयों का राग निवृत्त न हो सका, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया। सन्देह में निस्सन्देहता के आरोप से तो विषयों की रुचि उत्पन्न हुई और निस्सन्दहेता में सन्देह की स्थापना से विषयों में आसक्ति हो गई। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सन्देह में निस्सन्देहता और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना से ही चित्त अशुद्ध हो गया है।

सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप कब हुआ और क्यों हुआ? कब हुआ, इसका तो पता नहीं, पर सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप मिटाया जा सकता है। यह नियम है कि जो चीज मिटाई जा सकती हैं, उसकी उत्पत्ति स्वीकार करनी ही पड़ती है, क्योंकि किसी का विनाश ही उसकी उत्पत्ति को सिद्ध करता है। अतः जो जानते हैं, उसको न मानने से ही सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप हुआ है। प्रत्येक संयोग के वियोग को, प्रत्येक वस्तु के परिवर्तन तथा अदर्शन को एवं विषय-प्रवृत्ति के दुष्परिणाम को हम जानते हैं, पर उसे मानते नहीं, अर्थात् उस जानकारी का प्रभाव अपने पर नहीं होने देते। उसका परिणाम यह होता है कि सन्देह की वेदना उदित नहीं होती, जिज्ञासा की जागृति नहीं होती और भोग-प्रवृत्ति में ही जीवन-बुद्धि हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

जाने हुए को न मानने से ही कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य और योग में भोग उत्पन्न हो गया है। यद्यपि कर्त्तव्य और योग अकर्त्तव्य और भोग की अपेक्षा सहज और स्वाभाविक है, परन्तु चित्त के अशुद्ध हो जाने से वह कठिन और अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। यह सभी जानते हैं कि निर्बल सबल से रक्षा की आशा रखता है, यह माँग सहज और स्वाभाविक है, इसका पूरा होना भी सम्भव है, क्योंकि बल से निर्बल की सहायता हो सकती है। परन्तु अपने से निर्बल की सेवा करने में कठिनाई प्रतीत होती है। इस कठिनाई में तो न जानने का दोष है और न असमर्थता का, केवल जाने हुए का अनादर है, अथवा जो कर सकते हैं, उसको न करना है। यह अकर्त्तव्य-कर्त्तव्य के प्रमाद से उत्पन्न हुआ है, उसका अस्तित्व वास्तविक नहीं है। जिसका अस्तित्व नहीं है, उसके अधीन हो जाना, क्या अस्वाभाविकता नहीं है?

अपने प्रति वैर-भाव, अपना अनादर, अपनी हानि और अपने अभीष्ट नहीं है, वही दूसरों के प्रति कर डालना, क्या अकर्त्तव्य नहीं है? अर्थात् अकर्त्तव्य है। अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति असमर्थता से, अथवा न जानने से नहीं होती, अपितु सामर्थ्य के दुरुपयोग एवं जाने हुए को न मानने से होती है। जो असमर्थ और अनभिज्ञ है, उसके जीवन में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जो समर्थ और विज्ञ है, उसी के जीवन में कर्त्तव्य का प्रश्न है। कर्त्तव्य का प्रश्न उतने ही अंश में है, जितने अंश में वह जानता है और कर सकता है।

अर्थात् प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु के अनुरूप ही कर्त्तव्य-पालन हो सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन में प्राणी सर्वदा स्वाधीन है। जिसके पालन में स्वाधीनता मान लेना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। असावधानी वर्तमान में मिटाई जा सकती है। इसके लिए भविष्य की आशा करना, अथवा हार स्वीकार करना सर्वथा त्याज्य है। है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसके लिए भविष्य की आशा की जा सकती है, क्योंकि उसके फल में कर्त्ता स्वाधीन नहीं है, अपितु कर्म का फल प्राकृतिक विधान के अधीन है, और कर्म-सामग्री भी प्राकृतिक है, व्यक्तिगत नहीं। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन में फल की आशा नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत कर्त्तव्य-पालन अभीष्ट है। कर्त्तव्य-पालन से दूसरों के अधिकारों की रक्षा होती है और कर्त्ता में से विद्यमान राग निवृत्त होता है। यही कर्त्तव्य का वास्तविक फल है। यह फल प्रत्येक कर्त्तव्यनिष्ठ को स्वतः प्राप्त होता है। परन्तु जो कर्त्तव्यनिष्ठ कर्त्तव्य के बदले में विषय-भोग की आशा करता है, वह कर्त्तव्य भी अकर्त्तव्य की श्रेणी में ही आ जाता है। अकर्त्तव्य से अपनी और दूसरों की क्षति ही होती है, किसी का हित नहीं होता। इस दृष्टि से साधक के जीवन में अकर्त्तव्य का कोई स्थान ही नहीं है। जिसका जीवन में कोई स्थान नहीं है, उसका त्याग वर्तमान में हो सकता है। यह नियम है कि अकर्त्तव्य के त्याग में कर्त्तव्य-पालन निहित है, अथवा यों कहो कि अकर्त्तव्य का त्याग ही कर्त्तव्य-पालन की भूमि है।

कर्त्तव्य-पालन भोग से योग की ओर अग्रसर करता है और अकर्त्तव्य योग से विमुख कर भोग में आबद्ध करता है। योग भोग की अपेक्षा सहज तथा स्वाभाविक है और श्रम रहित है। कारण कि प्रत्येक भोग-प्रवृत्ति से पूर्व योग है और भोग-प्रवृत्ति के अंत में भी योग है अर्थात भोग के आदि और अंत में योग है। परन्तु साधक भोगासक्ति के कारण भोग-प्रवृत्ति के अंत में भी भोग का ही चिन्तन करता रहता है, जिससे उसे अपने-आप आने वाले योग में प्रीति नहीं होती अथवा यों कहो कि श्रम-रहित योग में निष्ठा नहीं रहती। भोग का आरम्भकाल भले ही सुखद प्रतीत हो किंतु परिणाम में तो शक्तिहीनता, जड़ता, पराधीनता आदि में ही प्राणी आबद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं भोक्ता सर्वदा भोग-सामग्री के अधीन रहता है और भोग-सामग्री सदैव बदलती रहती है उसमें स्थिरता नहीं है और भोगने की शक्ति का ह्रास होता रहता है। अथवा यों कहो कि भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तुओं का विनाश भी स्वाभाविक है। इस स्वाभाविकता का आदर करने पर भोग की रुचि नष्ट हो जाती है। भोग की रुचि का नाश होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति के अंत में स्वतः योग प्राप्त होता है। उस प्राप्त योग में ज्यों-ज्यों निष्ठा परिपक्व होती जाती है त्यों-त्यों शक्तिहीनता, जड़ता, पराधीनता आदि सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं क्योंकि योग, शांति, सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं चिंमयता का प्रतीक है। भोग श्रम-साध्य और योग श्रम-रहित है। भोग में पराधीनता और योग में स्वाधीनता है। भोग चेतना से जड़ता की ओर योग जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर

करता है। भोग से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास और योग से आवश्यक सामर्थ्य का संचय स्वतः होता है। परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण भोग की रुचि उत्पन्न हो जाती है जो साधक को योगनिष्ठ नहीं होने देती। यदि सन्देह में निस्संदेहता और निस्संदेहता में सन्देह की स्थापना न की जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक अकर्त्तव्य में और भोग योग में बदल जाता है।

चित्त की अशुद्धि से प्राणी कर्त्तव्य-विज्ञान तथा योग विज्ञान से विमुख हुआ है और अकर्त्तव्य तथा भोग में आबद्ध हो गया है। अकर्त्तव्य और भोग में आबद्ध होने से प्राणी प्रमादी और हिंसक बन गया है। प्रमादी होने से साधक अपने को देह मानने लगता है, जिससे इंद्रियजन्य स्वभाव से तद्रूपता हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि साधक इंद्रियों के अल्प तथा अधूरे ज्ञान को ही ज्ञान मान लेता है और विषय में आसक्त होकर सब प्रकार से दीन-हीन हो जाता है। हिंसक हो जाने से स्वार्थ-भाव इतना बढ़ जाता है कि दूसरों की हानि में अपना लाभ, दूसरों के दुःख में अपना सुख, दूसरों के ह्रास में अपना विकास, दूसरों के विनाश में अपनी रक्षा और दूसरों के अहित में अपना हित मानने लगता है जो वास्तविकता के सर्वथा विपरीत है। इस दृष्टि से अनर्थों का कारण एकमात्र अकर्त्तव्य तथा भोग में आबद्ध होना है।

कर्त्तव्य-विज्ञान प्राणी की स्वाभाविकता आवश्यकता है क्योंकि अपने प्रति किसी को भी अकर्त्तव्य अपेक्षित नहीं है। कर्त्तव्य प्राकृतिक विधान है। विधान का अनादर अपनी भूल है। भूल को भूल जानकर उसका त्याग करना अनिवार्य है। भूल न जानने में नहीं है, प्रत्युत जाने हुए को न मानने में है। जाने हुए को न मानना प्राकृतिक दोष नहीं है अपितु व्यक्ति का अपना ही बनाया हुआ दोष है। अपने बनाए हुए दोष को मिटाने का दायित्व भी अपने ही पर है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान को न अपनाना किसी और की भूल नहीं है। भूल कितनी ही पुरानी क्यों न हो, भूल को जान लेने पर वह सदा के लिए मिट जाती है। यह नियम है कि भूल-काल में भी वस्तुस्थिति ज्यों की त्यों रहती है। परन्तु भूल वास्तविकता का परिचय नहीं होने देती। इस कारण साधक वास्तविकता को अपने जीवन से भिन्न मानने लगता है। पर वास्तविकता तो जीवन से अभिन्न है। जिससे भिन्नता नहीं है, उसकी प्राप्ति श्रम रहित और स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान और जीवन में एकता है। जिस कर्त्तव्य-विज्ञान में अभिन्नता है, चित्त की अशुद्धि के कारण वह जीवन से अलग प्रतीत हो रहा है और जिस अकर्त्तव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है वह जीवन से तद्रूप हो गया है। अकर्त्तव्य उसी की सत्ता से उस पर शासन करता है, जो उसे अपनाता है। कर्त्तव्य-विज्ञान का महत्व तथा स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर अकर्त्तव्य सदा के लिए स्वतः मिट जाता है। अतः कर्त्तव्य-विज्ञान, जो स्वाभाविक आवश्यकता है, उसे शीघ्रातिशीघ्र अपना लेना अनिवार्य है।

कर्त्तव्य को अपना लेने से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी जिसके होने से प्रत्येक प्रवृत्ति के अंत में स्वभाव से आने वाली निवृत्ति में दृढ़ता आयेगी, जिससे जिज्ञासा सबल तथा स्थायी हो जायेगी। जिज्ञासा की पूर्णता कामनाओं का नाश

करने में समर्थ है। कामनाओं का अंत होते ही योग का उदय होगा। योग अनंत की वह विभूति है जो शांति, सामर्थ्य, स्वाधीनता, चिंमयता अमरत्व आदि दिव्य जीवन से अभिन्न कर देती है। योग की प्राप्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन है। कर्त्तव्य-पालन यदि विद्यमान राग का अंत करने में समर्थ है तो योग नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देगा। विद्यमान राग-निवृत्त हो जाय और नवीन राग की उत्पत्ति न हो-यही चित्त की शुद्धि है, जो कर्त्तव्य-विज्ञान तथा योग-विज्ञान को अपना लेने पर स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य और भोग की रुचि का नाश करना अनिवार्य है। भोगशक्ति से ही अकर्त्तव्य का जन्म होता है। इंद्रिय-ज्ञान में सन्देह न होने से भोगाशक्ति दृढ़ होती है और उसमें सन्देह होने पर जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो भोगासक्ति के नाश में समर्थ है। इस दृष्टि से जिज्ञासा की जागृति से चित्त शुद्ध हो सकता है। परन्तु साधक जब तक इंद्रिय-ज्ञान का उपयोग कर्त्तव्य-पालन में हो सकता है परन्तु उसकी सत्यता अंकित न हो। कर्त्तव्य का ज्ञान भी उसी ज्ञान में विद्यमान है जिससे इंद्रियों के ज्ञान में सन्देह होता है। वह ज्ञान अनंत की ओर से प्रत्येक साधक को प्राप्त है। उस प्राप्त ज्ञान का आदर करना और उसी के प्रकाश में इंद्रियों के ज्ञान का उपयोग करना चित्त-शुद्धि के लिए आवश्यक है। इंद्रियों के ज्ञान में सन्देह की उत्पत्ति ही वास्तविक निस्संदेहता की ओर अग्रसर करती है। वास्तविक निस्संदेहता में जीवन है। उसमें सन्देह करना और इंद्रिय-ज्ञान में सन्देह न करना, इस असावधानी से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि निस्संदेहता सामर्थ्य, शांति, अमरत्व, स्वाधीनता, चिंमयता आदि की भांति स्वाभाविक है परन्तु साधक इंद्रियों के ज्ञान को ही ज्ञान मानकर स्वाभाविक माँग में शिथिलता उत्पन्न कर लेता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं स्वाभाविक माँग की शिथिलता से ही काम का जन्म होता है और काम की उत्पत्ति से ही इंद्रियों के ज्ञान में सत्यता भासती है जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। इस दृष्टि से इंद्रिय-ज्ञान की सत्यता और काम की उत्पत्ति दोनों अन्यान्योश्रित हैं। इन दोनों में से किसी एक का अंत होने पर दोनों का अंत हो जाता है। काम समस्त कामनाओं की भूमि है और कामनाओं की उत्पत्ति इंद्रियों और उनके विषयों से सम्बन्ध जोड़ती है, जिसके टूटते ही इंद्रियाँ मन में और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है तथा बुद्धि सम हो जाती है। बस यही योग है। योग की लालसा-मात्र से सिद्ध हो सकताहै उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु या व्यक्ति या परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि योग के साधन में किसी प्रकार का श्रम नहीं है अपितु योग की सिद्धि विश्राम में ही निहित है। वास्तविक विश्राम की उपलब्धि कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति से ही संभव है। अतः चित्त-शुद्धि के लिए साधक को सावधानीपूर्वक वास्तविक निस्संदेहता प्राप्त करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

२७.०५.१९५६

असंभव का त्याग तथा संभव की प्राप्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

जो संभव है उसमें प्रवृत्ति न हो अथवा उसकी लालसा तथा जिज्ञासा न हो और असंभव है उसका चिन्तन हो-यही चित्त की अशुद्धि है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, सत्य की खोज, प्रिय-लालसा संभव है और वस्तु-व्यक्ति आदि से नित्य योग असंभव है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही परिवर्तनशील है और प्रत्येक संयोग वियोग में बदलता ही है। किसी के भी सभी संकल्प पूरे नहीं होते। परन्तु जो संकल्प पूरे नहीं हो सकते उनका त्याग संभव नहीं है और संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता से साधक मुक्त भी हो सकता है। जो हो सकता है उसके कर डालने पर जो मिलना चाहिए, वह मिल जाता है। अतः जो असंभव है उसका त्याग करके जो संभव है उसको पूरा करने से चित्त स्वतः शुद्ध हो जाएगा।

अनावश्यक संकल्पों के त्याग से आवश्यक संकल्प सुगमतापूर्वक पूरो हो सकते हैं। परन्तु संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध होने से अनावश्यक संकल्प उत्पन्न होने लगते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में आबद्ध हो जाता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों के त्याग की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब साधक शुद्ध संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध न हो, क्योंकि संकल्प-पूर्ति का सुख नवीन संकल्पों को जन्मदाता है। इतना ही नहीं सुख-भोग की रुचि से ही अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं। कारण कि सुख का भोग देहाभिमान को पुष्ट करता है। यह नियम है कि देहाभिमान में आबद्ध प्राणी चाह-रहित हो ही नहीं सकता। अचाह हुए बिना अशुद्ध संकल्पों का त्याग संभव नहीं है और अशुद्ध-संकल्पों के त्याग किए बिना शुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति एवं पूर्ति संभव नहीं है। यद्यपि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति राग-रहित होने का उपाय है परन्तु साधक असावधानी के कारण संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध होकर विद्यमान राग की निवृत्ति की तो कौन कहे, नवीन राग उत्पन्न कर लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार संकल्प-पूर्ति विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है और संकल्प-अपूर्ति संकल्प-पूर्ति की दासता से मुक्त करने में अपेक्षित है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति दोनों में ही साधक का हित है। परन्तु जो व्यक्ति संकल्प-पूर्ति को महत्व देता है और संकल्प-अपूर्ति को अनावश्यक तथा निरर्थक मानता है वह संकल्प-अपूर्ति के भय तथा संकल्प-पूर्ति की दासता में आबद्ध हो चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

संकल्प-अपूर्ति में दुःख, पूर्ति में सुख और निवृत्ति में शांति स्वतः सिद्ध है। अथवा यों कहो कि संकल्प-अपूर्ति में अभाव की अनुभूति और पूर्ति में वस्तु-व्यक्ति आदि की दासता एवं निवृत्ति में स्वाधीनता प्राप्त होती है। संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के परिणाम में कोई भेद नहीं है। अंतर केवल इतना है कि संकल्प-अपूर्ति-काल में वस्तु-व्यक्ति आदि के अभाव में पराधीनता और संकल्प-पूर्ति में वस्तु-व्यक्ति आदि की उपलब्धि में पराधीनता की अनुभूति होती है। अर्थात संकल्प-पूर्ति -अपूर्ति में प्राणी पराधीन ही रहता है जो किसी को स्वभाव से प्रिय नहीं है। जब संकल्प-

पूर्ति-अपूर्ति के परिणाम में समानता है तो फिर संकल्प-पूर्ति को महत्व देना ओर संकल्प-अपूर्ति से भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। संकल्प-पूर्ति का महत्व मिटते ही संकल्प-अपूर्ति का भय स्वतः मिट जाता है जिससे संकल्प-निवृत्ति अपने-आप आ जाती है। यदि साधक संकल्प-निवृत्ति की शांति में रमण न करे तो चित्त-शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक चाह की पूर्ति में श्रम तथा पराधीनता है और चाह रहित होने में न तो श्रम ही है और न पराधीनता, अपितु स्वाधीनता और विश्राम है। बड़े ही आश्चर्य की बात है तो यह कि फिर भी प्राणी चाह-पूर्ति के लिए जितना लालायित रहता है उतना चाह-निवृत्ति के लिए नहीं। यद्यपि चाह-रहित होना आवश्यक चाह की पूर्ति में बाधक नहीं है। और चाह-युक्त रहने से ही चाह की पूर्ति में बाधक नहीं है। और चाह-युक्त रहने से ही चाह पूरी हो जाएगी, यह कोई नियम नहीं है। फिर भी साधक चाह-रहित हो नहीं पाता, यह बड़ी ही जटिल समस्या है। अचाह होने में कोई पराधीनता तथा श्रम नहीं है, किंतु चाह-रहित होने के लिए प्राप्त वस्तु आदि से सम्बन्ध तोड़ना होगा। वस्तुओं का सदुपयोग तथा व्यक्तियों की सेवा भले ही विधिवत की जाय परन्तु उनकी ममता का अंत करना अनिवार्य है। अप्राप्त वस्तु-व्यक्ति आदि के चिन्तन को भी मिटाना होगा। ममता मात्र से ही वस्तु-व्यक्ति सुरक्षित नहीं रह सकते और न चिन्तन मात्र से किसी वस्तु-व्यक्ति आदि की प्राप्ति ही संभव है। ममता और चिन्तन से केवल वस्तु-व्यक्ति आदि में आसक्ति ही हो सकती है और कुछ नहीं। वस्तु आदि की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन करना भूल है। यदि साधक प्राप्ति वस्तु आदि से ममता और अप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन न करे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। परन्तु यह तभी सम्भव होगा, जब साधक जीवन ही में मृत्यु का अनुभव कर ले। क्योंकि मृत्यु और त्याग का स्वरूप एक है, परिणाम में ही भेद है। मृत्यु का परिणाम जन्म है, और त्याग का परिणाम अमरत्व है। इतना ही नहीं, मृत्यु अनिच्छापूर्वक आती है और त्याग स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है। यद्यपि मृत्यु और त्याग दोनों ही में वस्तु-व्यक्ति का वियोग है। परन्तु अन्तर यह है कि मृत्यु से सम्बन्ध तो बना रहता है, पर वस्तु नष्ट हो जाती है, और त्याग से वस्तु तो बनी रहती है, पर उससे सम्बन्ध नहीं रहता। वस्तु-व्यक्ति आदि का सम्बन्ध ही चित्त को अशुद्ध करता है, क्योंकि इससे लोभ, मोह आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

मृत्यु तो वस्तु का नाश करती है, और त्याग वस्तु के सम्बन्ध का नाश करता है। वस्तु न रहे और सम्बन्ध बना रहे, तथा वस्तु रहे और सम्बन्ध न रहे, इन दोनों के परिणाम में बड़ा भेद है। सम्बन्ध बना रहा और वस्तु न रही, तो उसकी आसक्ति चित्त को शुद्ध कर देती है। सम्बन्ध नहीं रहा, और वस्तु बनी रही, तो चित्त अशुद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से वस्तु-व्यक्ति का होना, न होना चित्त की शुद्धि में हेतु नहीं है, प्रत्युत वस्तुओं का सम्बन्ध-विच्छेद चित्त को शुद्ध करता है, और सम्बन्ध चित्त को अशुद्ध करता है।

समस्त वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर वर्तमान में ही साधक अचाह पद को प्राप्त

कर सकता है। अचाह में ही नित्य-योग, चिर-शान्ति अमरत्व और परम-प्रेम निहीत है।

वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। परन्तु इन्द्रियों के ज्ञान में सत्यता वस्तुओं के स्वरूप का बोध नहीं होने देती। साधक को जब तक इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह नहीं होता, तब तक जिज्ञासा की जाग्रति नहीं होती। जिज्ञासा की जाग्रति के बिना वस्तुओं की कामना का नाश नहीं होता, और कामना-नाश हुए बिना वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं है। कारण, कि कामना-पूर्ति का प्रलोभन ही व्यक्ति को वस्तुओं में सत्यता एंव सुन्दरता का भास करता है, जो चित्त को अशुद्ध करता है।

जिज्ञासा की जाग्रति आवश्यक कार्य में बाधक नहीं है, क्योंकि जो कार्य मिटाया नहीं जा सकता, उसका पूरा होना अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य समष्टि-शक्ति के से सहयोग से पूरा होता है। पर उस कार्य के द्वारा सुख का भोग, अथवा सुख की आशा व्यक्ति स्वंय अपने प्रमाद से करता है। जिज्ञासा सुख-भोग तथा सुख की आशा का नाश करती है, कार्य का नहीं। जब प्रत्येक कार्य सुख भोग तथा सुख की आशा से रहित होने लगता है, तब कार्य के अन्त में जिज्ञासा की जाग्रति कामनाओं का नाश करने में समर्थ होती है। अर्थात् जिज्ञासा काम की नाशक है, कार्य की नहीं। कार्य तो प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राप्त परिस्थिति के द्वारा स्वतः होता रहता है। आवश्यक कार्य के लिए प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि के सदुपयोग की अपेक्षा है, अप्राप्त वस्तु आदि के चिन्तन की नहीं ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों वस्तु-व्यक्ति आदि का चिन्तन स्वतः मिटता जाता है, अथवा यों कहो कि जिज्ञासा-पूर्ति तथा काम का नाश युगपद् है, जो चित्त की शुद्धि में हेतु है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार निवृत्ति कामनाओं की, पूर्ति जिज्ञासा की तथा प्राप्ति प्रेम की होती है। कामनाओं की निवृत्ति में योग, जिज्ञासा की पूर्ति में बोध और प्रेम की प्राप्ति में अगाध में अनन्त रस निहीत है। अतः प्रत्येक प्रवृत्ति का योग, बोध तथा प्रेम पर दृष्टि रखते हुए ही करना चाहिए, तभी सुगतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। प्रवृत्ति का सौनदर्य प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में और परिस्थिति का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। विद्यमान राग की निवृत्ति होने पर जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति की उत्कट लालसा स्वतः उत्पन्न होती है। जिज्ञासा की पूर्ति नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देती और प्रेम की प्राप्ति सब प्रकार की खिन्नता, नीरसता, भिन्नता आदि को खा लेती है। खिन्नता का अन्त होते ही प्रसन्नता प्राप्त होती है, नीरसता का अन्त होते ही अगाध अनन्त रस मिलता है और भिन्नता का अन्त होते ही भेद का नाश हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता निहीत है। परन्तु प्रेम की प्राप्ति जिज्ञासा की पूर्ति में ही सम्भव है, क्योंकि प्रेम निस्सन्देहता की भूमि में ही उदय होता है और जिज्ञासा की पूर्ति कामनाओं की निवृति हो सकती है। अतः कामना-निवृति के लिए ही अनावश्यक कामनाओं का

त्याग और आवश्यक कामनाओं को पूरा करना है। आवश्यक कामनाएं प्राकृतिक विधान के अनसार स्वतः पूरी हो जाती हैं। परन्तु कामना-पूर्ति का उद्देश्य,कामना-निवृति न होने के कारण कामना-पूर्ति श्रम-साध्य प्रतीत होती है। यदि साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन से रहित हो जाय, तो बड़ी ही सुगतापूर्वक उसका चित्त शुद्ध हो सकता है।

कामना-पूर्ति के प्रलोभन न ही, जो सम्भव है, अर्थात् जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति, उसे असम्भव सा बना दिया है और वस्तु-व्यक्ति आदि का नित्य संयोग सुरक्षित रखने की सोचना, जो असम्भव है, उसमें सम्भाव्यता का भास कर दिया है। सम्भव में असम्भव और असम्भव में सम्भव का दर्शन कामना-पूर्ति के प्रलोभन से ही प्रतीत होता है। यद्यपि जो असम्भव है, वह सम्भव हो नहीं सकता और जो सम्भव है, उससे निराश होना कुछ अर्थ नहीं रखता। परन्तु प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव में आबद्ध होने के कारण निराशा में आशा में निराशा मान बैठता है, जो सर्वथा त्याज्य है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से कभी निराश नहीं होना चाहिए। परन्तु उसका उपयोग कामना-निवृत्ति, जिज्ञासा-पूर्ति एंव प्रेम प्राप्ति के लिए करना चाहिए। असत्य को असत्य जान लेने पर सत्य की खोज तथा उसकी प्राप्ति हो सकती है। अतः सत्य की खोज एंव उसकी प्राप्ति से भी निराश नहीं होना चाहिए। वस्तुओं से अतीत जो है, उस पर विश्वास सकता है। जिस पर विश्वास हो सकता है, उससे नित्य-सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। जिससे नित्य सम्बन्ध है, उसकी मधुर समृति अपने-आप होती है। यह नियम है कि किसी की स्मृति किसी की विस्मृति करा देती है। अतः जिनसे नित्य-सम्बन्ध है, उनकी मधुर स्मृति वस्तु आदि की विस्मृति करा देती है, जिसके होते ही प्रेमी प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद का प्रेम प्रेमी का जीवन हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रस-रूप है।

प्रेम की प्राप्ति सम्भव है। उससे कभी निराश नहीं होना चाहिए और वस्तु, व्यक्ति आदि का नित्य संयोग असम्भव है, उसकी आशा नहीं करनी चाहिए। व्यक्तियों की सेवा और वस्तुओं का सदुपयोग कर्त्तव्य है। उससे कभी विमुख नहीं होना चाहिए। कर्त्तव्य-परायणता और प्रेम की आशा दृढ़ होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

२८.०५.१९५६

गुणदोष-युक्त द्वन्द्व से मुक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय

गुण-दोष-युक्त अवस्था में आसक्त होने से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है, कारण कि द्वन्द्वात्मक स्थिति में गुण का अभिमान और दोष की उत्पत्ति स्वतः होती है। यद्यपि गुण का अभिमान भी दोष ही हे परन्तु उसका बाह्य रूप दोष नहीं प्रतीत होता, अपितु गुण ही भासता है। यह नियम है कि प्रतीति का मूल सीमित अहम्भाव है, जो स्वयं दोष है। जब प्राणी दोष के ऊपर गुण का लेप कर लेता है, तब गुण-दोष-युक्त द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो उसे अपराधी-भाव अथवा मिथ्या अभिमान में आबद्ध कर देता है। अपराधी-

भाव-जनित दुःख को दबाने के लिये मिथ्या अभिमान की उत्पत्ति होती है और मिथ्या अभिमान दोष को जन्म देता है। दोष की उत्पत्ति प्राणी में अपराधी भाव दृढ़ कर देती है। अपराधी-भाव के दृढ़ होते ही प्राणी अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। उसका परिणाम यह होता है कि उसके जीवन में उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होने के लिए उत्कण्ठा तथा उत्साह नहीं रहता, जिसके न रहने से नीरसता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती हे, जो क्षोभ तथा क्रोध को उत्पन्न कर प्राणी को कर्त्तव्य से च्युत कर देती है।

यह नियम है कि आसक्ति उसी से होती है, जिससे किसी न किसी प्रकार की भिन्नता हो। जिससे स्वरूप की एकता होती है, उसकी आसक्ति नहीं होती, क्योंकि भेद से आसक्ति उत्पन्न होती है, अभेद में नहीं। जब साधक के जीवन में और गुणों में एकता नहीं होती, तभी गुणों की आसक्ति तथा उनका अभिमान उत्पन्न होता है, जो समस्त दोषों का मूल है। दोष-जनित सुख-भोग ही प्राणी में दोषों की आसक्ति उत्पन्न करता है। ऐसा कोई दोष है ही नहीं, जिससे प्राणी की वास्तविक एकता हो जाय। सभी दोष उत्पत्ति-विनाश-युक्त है। जो वस्तु उत्पत्ति-विनाश-युक्त होती है, उसकी स्वरूप से स्थिति नहीं होती। उत्पत्ति-विनाश का जो क्रम है, वही स्थिति जैसा प्रतीत होता है। इस दृष्टि से किसी भी दोष की स्थायी स्थिति सिद्ध नहीं है। इसी कारण ऐसा कोई दोषी है ही नहीं, जो सर्वदा दोषी हो और सभी के लिए दोषी हो। इतना ही नहीं, दोष में सत्ता सीमित गुण की होती है, दोष की नहीं। यदि दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो उसकी निवृत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। दोष-जनित सुख के प्रलोभन से भले ही दोष की पुनरावृत्ति हो, किन्तु दोष की निवृत्ति की लालसा किसी न किसी अंश में प्रत्येक दोषी में सदैव रहती है। परन्तु जब दोष-निवृत्ति की लालसा सर्वांश में जाग्रतृ हो जाती है, तब सभी दोष स्वतः निर्जीव हो जाते हैं, अथवा यों कहो कि निर्दोषता आ जाती है।

इस दृष्टि से गुण-दोष-युक्त अवस्था वास्तविक नहीं है, प्रत्युत् गुण का सीमित रूप ही दोष है, अथवा यों कहो कि गुण के विपरीत जो कुछ है, वही दोष है। गुण का सीमित होना गुण का अभिमान और गुण के विपरीत होना दोष, इनका भास होना ही गुण-दोष-युक्त द्वन्द्व है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। ज्यों-ज्यों गुण का अभिमान गलता जाता है, त्यों-त्यों दोष भी मिटते जाते हैं। सर्वांश में गुणों का अभिमान गल जाने पर दोष स्वतः मिट जाता है। जिस प्रकार बिना भूमि के कोई भी पौधा न उगता ही है और न वृद्धि ही पाता है, उसी प्रकार गुणों के अभिमान के बिना न किसी दोष की उत्पत्ति ही होती है और न वृद्धि ही। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान ही वास्तविक दोष है। इतना ही नहीं, गुण का अभिमान दोष-जनित सुख की आसक्ति का नाश नहीं होने देता और न दोष की उत्पत्ति की वेदना ही जाग्रत होने देता है। यह नियम हे कि दोषों की उत्पत्ति की वेदना दोष-जनित सुख की आसक्ति को खाकर निर्दोषता प्रदान करने में समर्थ है।

गुण और जीवन की भिन्नता ने ही गुणों को मिथ्या अभिमान उत्पन्न किया और गुणों के

अभिमान से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति हुई। यदि साधक गुण और जीवन का भेद मिटा दें, तो बड़ी सुगमतापूर्वक गुण-दोष-युक्त अवस्था का अन्त हो सकता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

समस्त गुण स्वाभाविक हैं, और समस्त दोष उत्पत्ति-विनाश-युक्त, अर्थात् अस्वाभाविक हैं। स्वाभाविकता में अस्वाभाविकता की स्थापना यदि न की जाय, तो अस्वाभाविकता स्वतः मिट जाती है, और फिर जीवन तथा गुणों में भेद नहीं रहता। इस दृष्टि से प्रत्येक दोष उसी समय तक जीवित है, जब तक उससे सम्बन्ध स्वीकार किया हुआ है, अर्थात् भूतकाल की घटना को वर्त्तमान में स्वीकार करना ही दोष को जीवित रखना है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। दोष का ज्ञान जिस ज्ञान में विद्यमान है यदि उसका अनादर न किया जाय, तो किसी भी दोष की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। ज्ञान स्वाभाविक है और उसका आदर भी स्वाभाविक है। उस स्वाभाविकता में यदि अस्वाभाविकता की स्थापना न की जाय, तो दोष जैसी वस्तु सिद्ध ही नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक दोष की सिद्धि ज्ञान के अनादर में निहित है। ज्ञान का अनादर कब से हुआ है, उसका ज्ञान सम्भव नहीं है, पर उसका आदर वर्त्तमान में संभव है, जिसके करते ही ज्ञान का अनादर और उसका परिणाम-दोषों की उत्पत्ति, अर्थात् दोष और उसका कारण सदा के लिये मिट जाता है। अतः जाने हुए के अनादर ने ही गुण और जीवन में भिन्नता उत्पन्न कर दी हे, जो सभी दोषों का मूल है।

समस्त दोषों में आसक्ति दोषजनित सुख के भोग में निहित है। यदि दोष जनित सुख का भोग न किया जाय, तो दोषों में अनासक्ति अपने आप हो जाती है, जिसके होते ही निर्दोषता स्वतः आ जाती है। अपने आप वही आती है जो वास्तव में है। उस निर्दोषता को जब साधक असावधानी के कारण सीमित अहम् में स्थापित कर लेता है, तब गुणों का अभिमान उत्पन्न हो जाता है, जिसके होते ही दोषों की पुनरावृत्ति होने लगती है। दोष की आसक्ति भोग में, अर्थात् इन्द्रिय और विषय में सम्बन्ध जोड़ती है, और गुण की आसक्ति सीमित अहम्भाव की पूजा में आबद्ध करती है। अहम्भाव की पूजा साधक के जीवन में दम्भ उत्पन्न करती है, और इन्द्रिय तथा विषयों का सम्बन्ध साधक को पराधीन बनाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। भोग्य वस्तुओं की कामना और व्यक्तित्व के आदर की दासता गुण-दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति में ही निहित है। यद्यपि व्यक्तित्व का आदर अधिकार-लालसा के त्याग में तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा में निहित है और भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति प्राकृतिक न्याय से होती है, परन्तु साधक असावधानी से भोग्य वस्तुएँ और व्यक्तित्व का आदर बलपूर्वक दूसरों को भय तथा प्रलोभन देकर प्राप्त करना चाहता है, जो वास्तव में सम्भव नहीं है। बल के सदुपयोग से निर्बलों में निर्भयता ओर सबल तथा निर्बल के बीच एकता आती है। सबल और निर्बल के बीच भिन्नता और पारस्परिक भय बल के दुरुपयोग से ही होता है, जिसका कारण एकमात्र चित्त की अशुद्धि है।

जिस प्रकार प्रत्येक लहर में जल सागर का है, लहर का नहीं, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में बल उस अनन्त का है, व्यक्ति का नहीं। जब व्यक्ति अनन्त के बल को अपना बल मान लेता है, तब उसमें मिथ्या अभिमान उत्पन्न होता है, जो सबल और निर्बल के बीच भेद उत्पन्न कर देता है, जिससे अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि सबल निर्बल और निर्बल सबल होता रहता है। यह नियम है कि जिस बल का भास किसी की निर्बलता पर निर्भर है, वह वास्तव में बल के वेष में निर्बलता ही है, बल नहीं, क्योंकि यदि बल होता तो दूसरों की निर्बलता को दूर करने के काम आता । जिससे दूसरों में निर्बलता की वृद्धि होती है, उसे बल मान लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तविक बल वही है जो सबल और निर्बल में एकता उत्पन्न कर दे। यह तभी सम्भव होगा जब प्राप्त बल को निर्बलों की धरोहर मान लिया जाय, अपनी भोग सामग्री नहीं। बल को निर्बल के समर्पित करते ही बल का अभिमान गल जाता है, जिनके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दशा में कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योंकि कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य प्राकृतिक विधान के अनुरूप सबमें विद्यमान है। विद्यमान ज्ञान तथा सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्त्तव्यपरायणता की पराकाष्ठा है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता नहीं है। व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, कर्त्तव्य से च्युत होना असावधानी है, वास्तविकता नहीं। परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-पालन से किसी का अनादर नहीं होता, प्रत्युत् उसका जीवन विधान बन जाता है। विधान और जीवन में जो एकता है, यही चित्त की शुद्धि है और विधान और जीवन में जो भेद है, वही चित्त की अशुद्धि है। कर्त्तव्य का विधान कर्त्ता में मौजूद है। पर वह बेचारा असावधानी के कारण उसका आदर नहीं करता और जो नहीं जानता है, उसको जानने के लिए और जो नहीं कर सकता है, उसे करने के लिए व्यर्थ ही चिन्तित रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो जानकारी थी, वह आच्छादित लगती है, और जो सामर्थ्य थी उसका हास होने लगता है। अतः जो नहीं जानते हैं उसके जानने के लिए और जो नहीं कर सकते हैं उसको करने के लिये कभी चिन्तित नहीं होना चाहिए, प्रत्युत जो जानते हैं और जो कर सकते हैं उसे आलस्य तथा असावधानी से रहित होकर करने के लिये सतत् उद्यत रहना चाहिए।

अब यदि कोई यह कहे कि जो नहीं जानते हैं उसको जानने की चिन्ता न करने से तो जानकारी में वृद्धि न होगी, तो कहना होगा कि जानकारी में वृद्धि जानकारी के आदर से होती है, उसकी चिन्ता करने से नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार ज्ञान और जीवन में एकता होने से आवश्यक ज्ञान और सामर्थ्य अपने आप स्वतः प्राप्त होती है, उसके लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती। ज्ञान तथा अप्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य के लिये वे ही प्राणी चिन्तित रहते हैं, जो प्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करते। प्राणी पर दायित्व अप्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान के सम्पादन का नहीं है, अपितु प्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान के

सदुपयोग का है। कर्त्तव्य-पालन के लिये आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु स्वतः प्राप्त होती है। प्राणी उस प्राप्त सामर्थ्य तथा वस्तु को अपनी मानकर व्यर्थ ही दीनता और अभिमान में आबद्ध हो जाता है।

प्राणी दीनता में आबद्ध होने पर अप्राप्त सामर्थ्य और ज्ञान के लिये चिन्ता करता है और अभिमान में आबद्ध होने से प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तु का दुरुयोग करता है। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी के जीवन में दीनता तथा अभिमान का कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि अभिमान तो तब किया जाय जब सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु अपनी हो और दीन तब बना जाय जब वह करना पड़े जो नहीं कर सकते और उस ज्ञान की अपेक्षा हो जो प्राप्त नहीं है। किसी भी विधान के अनुसार वह कर्त्तव्य हो ही नहीं सकता, जिसके पालन की सामर्थ्य तथा ज्ञान कर्ता में न हो। जैसे-जिसके पास किसी प्रकार का संग्रह नहीं है, उस पर किसी प्रकार का कर नहीं लगता और न कोई किसी प्रकार की आशा करता है। सामर्थ्य, योग्यता और वस्तुओं के संग्रह में ही कर्त्तव्य का प्रश्न है और संग्रह के अनुसार करने में कोई कठिनाई नहीं है। अतः कर्त्तव्य-पालन स्वाभाविक है, उसमें जो अस्वाभाविकता है, अथवा जो कठिनाई प्रतीत होती है, वह केवल कर्त्ता की अपनी ही असावधानी है, और कुछ नहीं।

गुण-दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति कर्त्तव्यनिष्ठ होने से स्वतः मिट जाती है। पर कर्त्तव्य-पालन तभी सम्भव होता है, जब व्यक्ति अपनी वास्तविकता को छिपाने का प्रयास न करें, प्रत्युत् जो सत्य है उसको निर्भयतापूर्वक प्रकाशित करने में समर्थ हो और उस परिस्थिति के अनुसार जो कर्त्तव्य है, उसके पालन में दृढ़ हो। सत्य-प्रकाशन से किसी का अहित नहीं है और परिस्थिति के अनुसार साधन करने से अनादर आदर में स्वतः बदल जाता है। परन्तु प्राणी वर्तमान के दुःख से भयभीत होकर कर्त्तव्य-पालन में तत्पर नहीं होता और सत्य को छिपाकर मिथ्या आदर पाने के लिये व्यर्थ ही चेष्टा करता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्यकर्त्तव्य-पालन के लिये थी, उसका दुर्व्यय हो जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जिसकी अवनति हुई है, उसकी उन्नति हो सकती है और जो अशुद्धि है वह शुद्धि में बदल सकती है। अकर्त्तव्य, कर्त्तव्य से मिट सकता है। वर्तमान में कितनी ही असमर्थता तथा भय क्यों न हो, परन्तु उस स्थिति में जो करना चाहिए उसके करने से आवश्यक सामर्थ्य तथा निर्भयता अपने आप आ जाती है। निर्भयता आने पर सामर्थ्य का सद्व्यय होने लगता है। अतः प्राप्त सामर्थ्य के सद्व्यय से गुण-दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार चित्त में ही समस्त विकास निहित है।

२९.०५.१९५६

सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से मुक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

सुख को सुरक्षित रखने के प्रलोभन और दुःख के भय ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है।

यद्यपि सुख के आदि और अन्त में दुःख स्वाभाविक है, परन्तु प्राणी दुःख पर दृष्टि न रखकर सुख की दासता में अपने को आबद्ध कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि सुख भी सुरक्षित नहीं रहता और दुःख से भी बच नहीं पाता, अर्थात् न तो सुख के भोग की ही सिद्धि होती है और न दुःख के भय से ही छुटकारा मिलता है, जिसके न मिलने से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

सुख क्या है? उसमें इतनी प्रियता क्यों? यदि इस पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख संकल्पपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संकल्प-निवृत्ति के वास्तविक महत्व को जानने से और संकल्प-अपूर्ति के दुःख को सहन न करने से संकल्प-पूर्ति के सुख में प्रियता मालूम होती है। यद्यपि प्रत्येक संकल्प की पूर्ति नवीन संकल्प की जननी है, परन्तु असावधानी के कारण प्राणी इस तथ्य पर ध्यान नहीं देता और संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार कर चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

प्राकृतिक नियुमानुसार प्रत्येक परिस्थिति में संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द्व है। अतः किसी भी परिस्थिति से यह आशा करना कि संकल्प अपूर्ति का चित्र अर्थात् दुःख नहीं आएगा और संकल्प पूर्ति के सुख का स्वप्न सुरक्षित बना रहेगा, असम्भव में सम्भव बुद्धि स्वीकार करना है, जो अविवेक सिद्ध है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति समान ही अर्थ रखती है, तो फिर अप्राप्त परिस्थिति का संकल्प करना निरर्थक ही सिद्ध होता है और परिस्थिति को ही जीवन मानना सुख-दुःख में आबद्ध होना ही है और कुछ नहीं, जो चित्त की अशुद्धि है।

सुख-दुःख अपने आप आने-जाने वाली वस्तु हैं। उनके सदुपयोग में ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। सुख-दुःख का सदुपयोग सुख-दुःख से अतीत के जीवन से सम्बन्ध जोड़ने में अथवा उससे अभिन्न करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, सुख-दुःख का सदुपयोग सुख-दुःख में समानता का दर्शन कराता है, जिससे सुख की दासता और दुःख का भय मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। सुख-दुःख के सुदपयोग के महत्व को भली भाँति जान लेने पर किसी अप्राप्त परिस्थिति की कामना नहीं रहती और प्राप्त परिस्थिति साधक-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होती; अथवा यों कहो कि परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि नहीं रहती, जिसके न रहने पर संकल्प पूर्ति की दासता मिट जाती है और संकल्प-निवृत्ति का महत्व चित्त में अंकित हो जाता है। ज्यों-ज्यों संकल्प-निवृत्ति का महत्व सबल एवं स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों संकल्प-अपूर्ति का दुःख और पूर्ति का सुख स्वतः मिट जाता है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन प्राणी को सर्वांश में सत्य का अनुसरण नहीं करने देता, अर्थात् न तो असत्य को जानकर उससे विमुख ही होने देता है और न असत्य को प्रकट करने का साहस ही रहने देता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति सत्य की तो चर्चा करता है और असत्य में रमण करता है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। कामना-पूर्ति की दासता प्राणी के मूल्य का अपहरण कर लेती है, जिसके होते ही साधक

वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन हो जाता है। वस्तु के अधीन होने से लोभ और व्यक्ति के अधीन होने से मोह की उत्पत्ति होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

सर्वांश में सत्य का अनुसरण किये बिना निज ज्ञान ओर जीवन में जो भिन्नता हो गई है, उसका नाश नही हो सकता और उसके बिना सत्य से अभिन्नता नहीं हो सकती, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति के प्रलोभन को त्याग, सत्य का अनुसरण करना अनिवार्य है।

कामना-पूर्ति ने ही असत् से सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। यद्यपि असत्य को जानना स्वाभाविक है, परन्तु उससे विमुखता दुर्लभ हो गई है, क्योंकि असत् से सम्बन्ध स्वीकार करने पर ही कामना की उत्पत्ति और पूर्ति होती है। कामना की उत्पत्ति और पूर्ति का द्वन्द्व सत्य की जिज्ञासा जाग्रत नहीं होने देता। सत्य की जिज्ञासा के बिना असत्य के त्याग की सामर्थ्य नहीं आती। यह नियम है कि सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं, पर सत्य की जिज्ञासा असत् को खाकर सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। अतः सत्य की जिज्ञासा के बिना असत् से विमुखता सम्भव नहीं और कामना-पूर्ति के प्रलोभन का त्याग बिना किये सत्य की जिज्ञासा जाग्रत हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से सत्य से अभिन्न होने के लिए कामनाओं का त्याग अनिवार्य है।

समस्त दोषों का मूल कामना-पूर्ति का प्रलोभन है। अपने जाने हुए दोष को बनाये रखने की रूचि में भी कामनापूर्ति का सुख ही हेतु है। यह नियम है कि जाने हुए दोष को अपना लेने पर व्यक्ति अपनी दृष्टि में भी अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। जो अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं रह जाता, वही दूसरों से आदर पाने की मिथ्या आशा करता है और उसके लिये अपने दोष को छिपाता है। यद्यपि दोष छिपाया नहीं जा सकता, परन्तु अनादर के भय से भयभीत होकर एक दोष को छिपाने के लिए अनेक दोष करने लगता है। ज्यों-ज्यों दोष करता जाता है, त्यों-त्यों अनादर का भय स्वतः बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों अनादर का भय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों असत् को असत् जानकर भी उसे प्रकाशित नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि पारस्परिक अविश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिससे एकता मिट जाती है, जिसके मिटते ही संघर्ष उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है।

यदि अपने दोष को स्पष्ट जान लिया जाय, उसे प्रकाशित कर दिया जाय तथा उसे न दुहराया जाय, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक अनादर तथा हानि का भय मिट सकता है, जिसके मिटते ही चित्त-शुद्ध होने लगता है। इतना ही नहीं, निर्दोषता आ जाती है, जिसके आते ही प्राणी अपनी तथा दूसरों की दृष्टि में आदर एवं प्यार पाने के योग्य हो जाता है। इस दृष्टि से अपनी भूल छिपाने के लिये असत्य का आश्रय लेना, अथवा यों कहो कि सत्य का प्रकाशन न करना सर्वथा त्याज्य है। सर्वांश में सत्य का अनुसरण और असत् से विमुखता एवं सत्य को प्रकट करने का साहस तभी सम्भव है, जब साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन से रहित हो जावे, क्योंकि उसके बिना सफलता सम्भव नहीं है।

वर्तमान वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय प्राप्त किये बिना कोई भी साधक उत्कृष्टता की ओर अग्रसर नहीं हो सकता, क्योंकि जब तक प्राणी अपनी वस्तुस्थिति से अपरिचित्त है, तब तक सच्ची वेदना जाग्रत नहीं होती। उसके बिना संकल्प-पूर्ति के सुख का राग निवृत नहीं होता और रागनिवृत्ति के बिना दोषयुकत प्रवृत्तियों से अरुचि नहीं होती।

किसी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर दोष-युक्त प्रवृत्ति में प्रवृत्त न होना कोई महत्व की बात नहीं हैं, क्योंकि दोष न करने मात्र से ही दोष-जनित सुख की रुचि नष्ट हो जाती और उसके नष्ट हुए बिना दोष का त्याग सम्भव नहीं है, क्योंकि दोषयुक्त प्रवृत्ति न होने पर भी उसका राग चित्त में अंकित रहता है, जो कभी भी ऊपर से स्थापित की हुई निर्दोषता का अन्त कर सकता है, अर्थात् भय से शिथिलता आ जाने से और सुख का प्रलोभन उत्पन्न होने पर कभी भी त्यागा हुआ दोष दुहराया जा सकता है। इस कारण दोष-जनित सुख से अरुचि जितनी सबल होती है, उतनी ही सबल दोष-जनित सुख के राग की निवृत्ति होती है, जो निर्दोषता प्रदान करने में समर्थ है। निर्दोषता के बिना असत् का त्याग और सत् से अभिन्नता सम्भव नहीं है।

अपनी निर्बलता का यथेष्ठ और यर्थाथ परिचय ही वस्तु-स्थिति का परिचय है। अपने किसी सीमित गुण का भास मात्र वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय नहीं है, क्योंकि गुण का भास तो मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, उससे साधक में क्रान्ति नहीं आती, अपितु किसी-न-किसी अंश में शिथिलता ही आती हैं। अतः अपनी निर्बलताओं का ज्ञान ही वस्तुस्थिति का वास्तविक ज्ञान है। निर्बलता के ज्ञान में उसके मिटाने की लालसा निहित है, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी प्राणी को अपने में निर्बलता बनाए रखना अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टि से जितना स्पष्ट अपनी निर्बलताओं का परिचय होता है, उतनी ही तीव्रता के साथ उन्हें मिटाने की लालसा जाग्रत होती है। यह नियम है कि निर्बलता मिटाने की लालसा- निर्बलता-जनित सुख की इच्छाओं को खा लेती है, जिससे निर्बलताओं को पुनः न दुहराने की सामर्थ्य आ जाती है, जो चित्त को शुद्ध करने में हेतु हैं।

निर्बलता-जनित वेदना को दबाने का प्रयास निर्बलताओं का आह्वान करना है। अपना गुण और पराये दोष देखने मात्र से ही निर्बलता-जनित वेदना में शिथिलता आ जाती है, जिससे बेचारा प्राणी निर्बलताओं में आबद्ध हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त-शुद्धि के लिए दोष-जनित दुःख का तीव्र होना आवश्यक है, क्योंकि दुःख से ही सुख का राग मिट सकता है। पर किसी भी स्थिति में साधक को निर्दोषता से निराश नहीं होना है, क्योंकि निर्दोषता से प्राणी की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। जिससे वास्तविक एकता है, उसकी प्राप्ति सम्भव है और जिन दोषों से प्रमादवश एकता स्वीकार कर ली है, उनकी निवृत्ति हो सकती है। दोषों से उत्पन्न हुई परिस्थिति के परिवर्तन में भले ही काल अपेक्षित हो, परन्तु दोष-रहित होने के लिए तो दोष को न दुहराने का दृढ़

व्रत ही पर्याप्त है, जो वर्तमान में हो सकता है। प्राणी निर्दोष कहलाने में भले ही परतन्त्र हो, पर निर्दोष होने में सर्वदा स्वतन्त्र है।

यह प्राकृतिक नियम है कि निर्दोष होने पर निर्दोषता का प्रादुर्भाव उसके बाह्य जीवन में स्वतः होने लगता है। इतना ही नहीं, कालान्तर में उसका जीवन विधान बन जाता है। निर्दोष कहलाने की कामना तो एक दोष ही है। उससे तो सदैव सजग रहना चाहिए, क्योंकि निर्दोष कहलाने की रुचि सीमित अहम्भाव को पुष्ट करती है, जो समस्त दोषों का मूल है। इस दृष्टि से दोष से भी कहीं अधिक दोष है अपने को निर्दोष कहलाने की कामना में आबद्ध रखना। इतना ही नहीं, निर्दोष कहलाने की कामना तभी तक जीवित रहती है, जब तक साधक सर्वांश में निर्दोष नहीं हो जाता।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या सर्वांश में निर्दोषता सम्भव है? तो कहना होगा कि आंशिक निर्दोषता तो प्रत्येक दोषी में रहती है, क्योंकि सर्वांश में कोई दोषी हो ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जो सभी का सर्वदा बुरा चाहे। बुरे-से-बुरे व्यक्ति में भी किसी-न-किसी अंश में किसी-न-किसी के प्रति भलाई की भावना अवश्य रहती है। यह नियम है कि भावना के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि सर्वांश में सभी के लिये कोई दोषी नहीं होता, किन्तु निर्दोषता सर्वांश में ही होती है। यदि सर्वांश में कोई दोषी होता, तो उसे अपने दोष का ज्ञान ही नहीं होता। दोष का ज्ञान यह सिद्ध करता है कि जीवन में किसी-न-किसी अंश में निर्दोषता है।

संकल्प-पूर्ति के सुख का प्रलोभन और अपूर्ति के दुःख का भय चित्त को अशुद्ध करता है। यदि संकल्प की उत्पत्ति ही न हो, तो चित्त के अशुद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। इस दृष्टि से संकल्प-उत्पत्ति ही चित्त की अशुद्धि का मूल कारण है। अब विचार यह करना है कि संकल्प का स्वरूप क्या है और उसकी उत्पत्ति ही क्यों होती है? प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति का कारण एकमात्र अपने में देह-भाव स्वीकार करना है, जो अविवेक-सिद्ध है। अविवेक विवेक के आदर-मात्र से ही मिट सकता है। देह आदि वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना ही संकल्प का स्वरूप है।

अब यदि कोई यह कहे कि जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही हैं, उनके अस्तित्व को क्यों न स्वीकार किया जाए? तो कहना होगा कि क्यों कोई ऐसी वस्तु है कि जिसमें सतत् परिवर्तन न हो रहा हो? अथवा जिसका अदर्शन न हो अथवा जिसका वियोग न हो? इन्द्रिय-ज्ञान से जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष होती है, उन्हीं में बुद्धिज्ञान से सतत् परिर्वतन भासित होता है, अथवा यों कहो कि कोई भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति ऐसी नहीं है जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त न हो। इतना ही नहीं, उत्पत्ति-विनाश के क्रम में ही स्थिति भासमात्र है, वास्तविक नहीं। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं है, जो केवल प्रतीति-मात्र है, उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने-मात्र से बेचारा साधक संकल्पकी उत्पत्ति और पूर्ति

में आबद्ध हो गया हे और जो सभी वस्तुओं से अतीत वास्तविक जीवन है, उससे विमुख हो गया है। यद्यपि जो वस्तुएँ प्रतीत हो रही है, उनकी प्राप्ति कभी सम्भव नहीं है और जो वास्तविक जीवन प्रतीत नहीं हो रहा है, उसकी ही प्राप्ति सम्भव है, परन्तु बेचारा साधक इस रहस्य को बिना ही जाने प्रतीति-मात्र को प्राप्ति और जिसकी प्रतीति नहीं है, प्रत्युत प्राप्त है, उसकी अप्राप्ति मान लेता है। यह मान्यता वास्तविकता से वंचित्त करती है। प्रतीति प्राप्ति का चिन्ह नहीं है, अपितु किसी-न-किसी प्रकार की दूरी तथा भेद सिद्ध करती है, अथवा यों कहो कि प्रतीति में अल्प-ज्ञान का प्रभाव है, जिससे अप्राप्त भी प्राप्त के समान भासित होता है। यह नियम है कि भोग, मोह और आसक्ति की उत्पत्ति तभी होती है, जब प्राप्त-बुद्धि स्वीकारकर ली जाय। इस स्वीकृति से ही चित्त अशुद्ध होता है। जिसकी प्रतीति इन्द्रिय और बुद्धि-ज्ञान से संभव नहीं है, प्रत्युत् जिसके प्रकाश से इन्द्रिय तथा बुद्धि प्रकाशित हैं, उसकी अप्राप्ति तथा उससे भेद एवं दूरी स्वीकार करना उसी प्रकार की भूल है, जिस प्रकार प्रतीति को प्राप्ति स्वीकार करना है।

यदि साधक प्रतीति से विमुख होकर श्रमरहित हो जाय, तो जो नित्य-प्राप्त है उसमें प्रीति, उससे नित्ययोग एवं उसका बोध स्वत्ः हो सकता है, जिसके होते ही चित्त सदा के लिये शुद्ध हो जाता है। योग, बोध और प्रेम प्राप्त में और भोग, मोह और आसक्ति अप्राप्त में प्रवृत्त कराते हैं। अप्राप्त की प्रवृत्ति श्रम है, और कुछ नहीं, जिससे प्राप्त शक्ति का हास ही होता है, जो प्राणी को शक्ति हीनता, जड़ता और पराधीनता में आबद्ध करता है और जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। जिस काल में जड़ता, पराधीनता और शक्तिहीनता की वेदना जाग्रत होती है, उसी काल में प्रतीति से विमुखता उदय होती है, जिसके होते ही प्राप्त से योग और उसका बोध एवं उससे प्रेम स्वतः हो जाता है, जो वास्तविक जीवन है। अतः संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख के प्रलोभन तथा भय से रहित होने में ही चित्त की शुद्धि निहित है। चित्त की शुद्धि में ही योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति है, जो वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है।

कर्त्तव्य का पालन एवं अकर्त्तव्य का त्याग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक साधक में कर्त्तव्य का ज्ञान तथा उसके पालन की सामर्थ्य विद्यमान है, क्योंकि वर्तमान जीवन साधननिष्ठ होने के लिए ही मिला है, परन्तु असावधानी के कारण अकर्त्तव्य जानकर उसका त्याग न करना और कर्त्तव्य को कर्त्तव्य जानकर कर्त्तव्यनिष्ठ न होना चित्त को अशुद्ध करना है। कर्त्तव्य-पालन में ही चित्त की शुद्धि निहित है और अकर्त्तव्य के त्याग से ही कर्त्तव्य-पालन की सामर्थ्य उदित होती है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि के लिये सर्वप्रथम अकर्त्तव्य का त्याग अनिवार्य है। साधन के दो अंग है-एक वह जो निषेधात्मक है, अर्थात् न करने वाला और दूसरी विधि विध्यात्मक है, अर्थात् करने

वाली बात। निषेधात्मक साधन को अपना लेने में साधक असमर्थ नहीं है। यह नियम है कि निषेधात्मक साधना के सिद्ध होने पर विध्यात्मक साधना स्वतः होने लगती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

निषेधात्मक साधना की सिद्धि वर्तमान में ही हो सकती है, क्योंकि उसके लिये किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा नहीं है, और न वह श्रम-साध्य है। उसकी सिद्धि के लिये साधक का केवल दृढ़व्रती होना है, अथवा यों कहो कि अकर्त्तव्य-जनित सुख-लोलुपता का त्याग करना है। यह नियम है कि सुख की आशा के त्याग से स्वार्थ-भाव स्वतः गल जाता है, जिसके गलते ही समस्त दिव्य गुण अपने आप उदित होते हैं, जो विध्यात्मक साधना को सिद्ध करने में समर्थ हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है।

कर्त्तव्य-पालन वर्तमान की वस्तु है। उसका संबन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। उसके लिये आगे-पीछे का चिन्तन अपेक्षित नहीं है और न किसी अप्राप्त परिस्थिति की ही आवश्यकता है, अपितु प्राप्त परिस्थिति के द्वारा ही प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति का कर्त्तव्य निहित है और उसी के पालन में उद्देश्य की पूर्ति है। कर्त्तव्य की सार्थकता दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग में है। इस कारण कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी से किसी का अहित नहीं होता और न उसमें पराधीनता रहती है। जिस प्रवृत्ति से किसी का अहित हो और कर्त्ता में पराधीनता का जन्म हो, वह प्रवृत्ति अकर्त्तव्य है, कर्त्तव्य नहीं।

कर्त्तव्य का मूल मंत्र है-बल का सदुपयोग और विवेक का आदर। बल के सदुपयोग से दूसरे के अधिकार की रक्षा होती है और विवेक के आदर से अपने अधिकार के त्याग की सामर्थ्य आती है। दूसरों के अधिकारकी रक्षा से परस्पर में एकता होती है और संघर्ष का नाश हो जाता है। जितनी भिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं उनके मूल में बल का दुरुपयोग, अर्थात् दूसरों के अधिकारों का अपहरण है। यह नियम है कि भिन्नता में ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी बल का दुरुपयोग नहीं करते। बल के सुदपयोग की सामर्थ्य विवेक के आदर में निहित है, क्योंकि विवेक का आदर किये बिना बल का सदुपयोग सम्भव नहीं है। विवेक में ही कर्त्तव्य का ज्ञान और अकर्त्तव्य के त्याग की सामर्थ्य निहित है, क्योंकि विवेक के प्रकाश में ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भेद स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं, विवेक का आदर करने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक काम-रहित हो जाता है, क्योंकि विवेक सत् और असत् का विभाजन करने में समर्थ है। काम का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

यदि कोई साधक अपने को बल और विवेक से रहित मानता हो तो वह भी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार निर्बल में निर्भर होने की शक्ति आ जाती है और जो कुछ नहीं जानता उसमें विकल्प रहित विश्वास उदित होता है। निर्भरता साधक को अभिमान रहित कर

देती है, जिसके होते ही भिन्नता तथा भेद गल जाता है और निर्भयता आ जाती है। भिन्नता गलते ही प्रेम का उदय होता है और भेद के मिटते ही यर्थाथ का बोध हो जाता है। प्रेम में अगाध अनन्त रस तथा बोध में जीवन निहित है। इस दृष्टि से निर्बल साधक भी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। बल के सदुपयोग से भी परस्पर में एकता आती है और निर्भर होने से भी भेद तथा भिन्नता का नाश हो जाता है। अतः निर्बल और सबल दोनों ही कर्त्तव्यनिष्ठ होकर एक ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं और दोनों ही का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि तो एकमात्र बल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर में निहित है, जो वास्तव में अकर्त्तव्य है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य से भिन्न कोई तीसरी स्थिति हो नहीं सकती। हाँ, यह अवश्य है कि आंशिक कर्त्तव्य और आंशिक अकर्त्तव्य अपना लेने के कारण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाय। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व अकर्त्तव्य से भी कहीं अधिक निन्दनीय है, क्योंकि केवल अकर्त्तव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता और कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर द्वन्द्वातीत जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जिसमें किसी प्रकार का वैषम्य तथा अभाव नहीं है। अतः जीवन में जो विषमता तथा अभाव का दर्शन होता है, उसका कारण एकमात्र कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व है। आंशिक कर्त्तव्य वास्तव में अकर्त्तव्य का ही एक रूप हैं, क्योंकि आंशिक कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य का ही एक ही रूप हैं, क्योंकि आंशिक कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य का आश्रय रहता है। यह नियम है कि अकर्त्तव्य चित्त को अशुद्ध ही करता है, क्योंकि अकर्त्तव्य के रहते हुए वास्तविक कर्त्तव्य-परायणता सम्भव नहीं है और उसके बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। अतः अकर्त्तव्य को त्याग कर ही, कर्त्तव्य-परायणता से चित्त शुद्ध हो सकता है।

यद्यपि किसी-न-किसी अंश में बल तथा विवेक प्रत्येक साधक में विद्यमान है, परन्तु यदि कोई अपने को विवेक-रहित मानता है, तो वह भी विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। विकल्प-रहित विश्वास किसी वस्तु आदि पर नहीं हो सकता, क्योंकि जिसके सम्बन्ध में अधूरी जानकारी होती है उसके सम्बन्ध में सन्देह होता है, विश्वास नहीं। विश्वास उसी पर होता है जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते वह सभी वस्तुओं से अतीत हो सकता है, क्योंकि वस्तुओं के सम्बन्ध में तो कुछ-न-कुछ जानते ही हैं।

जो वस्तुओं से अतीत है उस पर विकल्प-रहित विश्वास होने से भी साधक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योंकि विश्वास में सम्बन्ध जोड़ने की सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। जिस पर विश्वास होता है उससे ममता हो ही जाती है। यह नियम है कि ममता प्रियता को जाग्रत करती है। प्रियता आत्मीयता और आत्मीयता अभिन्नता प्रदान करती है। अभिन्नता भेद को खाकर अभय करने में समर्थ है। भय का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। विकल्प-रहित विश्वास के द्वारा साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तुओं से अतीत, जो है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर उसके प्रेम को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से जो साधक यह मानता है कि मैं कुछ नहीं जानता, वह भी

विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर साधननिष्ठ, अर्थात् कर्त्तव्य-परायण हो सकता है।

समस्त साधक दो श्रेणियों में ही विभाजित हो सकते हैं। एक तो वे, जो यह मानते हैं कि हम कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते और दूसरे वे, जो मानते हैं और जानते नहीं। जो साधक अधूरी जानकारी को स्वीकार करते हैं, वे जिज्ञासु होकर कर्तव्यनिष्ठ हो जाते हैं, क्योंकि अधूरी जानकारी में ही सन्देह की उत्पत्ति होती है और सन्देह की भूमि में ही जिज्ञासा उदित होती है, जो जिज्ञासु को वास्तविकता से अभिन्न कर देती है। जो साधक केवल मानते हैं, जानते कुछ नहीं, वे अपनी मान्यता के अनुरूप जिसे मानते हैं उस पर विश्वास कर उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर उसकी प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाते हैं। जिज्ञासु, जिज्ञासा होकर वास्तविकता से अभिन्न होता है और विश्वासी अपने विश्वासपात्र की प्रीति होकर वास्तविकता से अभिन्न होता है। यह नियम है कि समस्त कामनाएँ जिज्ञासा की अग्नि में भस्मीभूत हो जाती है, जिनके होते ही जिज्ञासु, जिज्ञासा और वास्तविकता में कोई भेद नहीं रहता, अर्थात् त्रिपुटी मिट जाती है। विश्वासी, विश्वास और विश्वासपात्र, इन तीनों में भी एकता हो जाती है, क्योंकि विश्वासी अपने विश्वासपात्र की प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाता है, कारण कि प्रीति भेद तथा दूरी को रहने नहीं देती। साधन का आरम्भ चाहे सन्देह से हो अथवा विश्वास से, साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो ही जाता है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक कर्त्ताकर्त्तव्य होकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। कर्त्ता का अस्तित्व कर्त्तव्य से भिन्न कुछ नहीं रहता।

समस्त कर्त्तव्य दो भागों में विभाजित हैं- एक तो कर्त्तव्य का वह भाग, जो कर्त्ता के दोषों को अन्त कर उसे निर्दोषता प्रदान करता है और दूसरा कर्त्तव्य का वह भाग, जो कर्त्ता को प्रेम प्रदान कर प्रेमास्पद से अभिन्न करता है। निर्दोषता और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रेम में निर्दोषता और निर्दोषता में प्रेम ओत-प्रोत है, अर्थात् प्रेम और निर्दोषता में विभाजन नहीं हो सकता। निर्दोषता किसी और में हो और प्रेम किसी और में, यह सर्वदा असम्भव है। जिसमें वास्तविक निर्दोषता है, उसी में अविचल प्रेम है। इतना ही नहीं, निर्दोषता और प्रेम इन दोनों में स्वरूप की एकता है- निर्दोषता जीवन है, तो प्रेम रस। रस विहीन जीवन और जीवन रहित रस किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः प्रेम और निर्दोषता यह दोनों किसी एक की ही विभूतियाँ हैं, जो सभी का सब कुछ है।

निर्दोषता और प्रेम योग की भूमि में ही निहित हैं। योग कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी को स्वतः प्राप्त होता है, कारण कि कर्त्तव्य-पालन कर्त्ता को राग-रहित कर देता है। राग-रहित होते ही भोग योग में स्वतः बदल जाता है, जो जीवन तथा प्रेम प्रदान करने में समर्थ है।

योग साधन का वह स्तर है, जिसमें किसी प्रकार का श्रम तथा अस्वाभाविकता नहीं है, अथवा यों कहो कि विश्राम तथा स्वाभाविकता से युक्त है। विश्राम तथा स्वाभाविकता में कर्तृत्व के अभिमान की गंध भी नहीं रहती। यह नियम है कि

कर्त्तृत्व का अभिमान गल जाने पर सीमित अहम्भाव शेष नहीं रहता, ऐसा होने पर निरभिमानता, अभेद और अभिन्नता स्वतः आ जाती है, जिनमें योग, बोध तथा प्रेम स्वतः सिद्ध है।

सन्देह रहते हुए जिज्ञासा की जागृति का न होना और विश्वास होने पर विश्वासपात्र से विश्वासी के नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति का दृढ़ न होना ही असाधन अथवा अकर्त्तव्य है। असाधन और अकर्त्तव्य के त्याग में ही साधन में निष्ठा और कर्त्तव्यपराणता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि असाधन और अकर्त्तव्य के त्यागमात्र से ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही साधन और जीवन में भेद नहीं रहता, अर्थात् साधन जीवन और जीवन साधन होता जाता है। साधन साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्त्तव्य भाव-रूप है और अकर्त्तव्य अभावरूप है। जो भावरूप है वह अविनाशी है और जो अभावरूप है, उसका नाश होता है। इसी कारण कर्त्तव्य की प्राप्ति और अकर्त्तव्य की निवृत्ति होती है। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-युक्त जो द्वन्द्वात्मक स्थिति प्रतीत होती है, वही साधक को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के अभिमान में आबद्ध करती है, जिसके होते ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार अंधकार की प्रतीति प्रकाश से सिद्ध है- कारण कि प्रकाश के अभाव में किसी ने अन्धकार को देखा नहीं-उसी प्रकार आंशिक कर्त्तव्य में ही अकर्त्तव्य की स्थिति प्रतीत होती है। यदि साधक सर्वांश में कर्त्तव्य को अपना लें, तो अकर्त्तव्य सदा के लिए स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व नहीं रहता और चित्त शुद्ध हो जाता है। कर्त्तव्य-काल में अकर्त्तव्य और अकर्त्तव्य-काल में कर्त्तव्य प्रतीत नहीं होता, अर्थात् एक काल में एक ही का भास होता है, परन्तु कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की स्मृति चित्त में अंकित हो जाती है, जिससे व्यक्ति कभी तो भूतकालिक घटनाओं के आधार पर अपनी महिमा गाता है और कभी निन्दा करता है। तदनुसार अपने को दोषी और निर्दोष, ऊँचा और नीचा, भला और बुरा मानकर सुखी-दुःखी होता है।

परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूल जाता है और घटनाओं से प्राप्त प्रकाश से वर्त्तमान में अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने के लिए अथक प्रयत्नशील रहता है। घटनाओं का चिन्तन कर्त्तव्यनिष्ठ होने में विघ्न है और उनका वास्तविक अर्थ अपना लेना कर्त्तव्य-पालन में सहायक है।

कर्त्तव्यपरायणता वर्तमान की वस्तु हैं, जिसके अपनाते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होते ही चित्त में अंकित स्मृति स्वप्नवत् निर्जीव हो जाती है, अथवा मिट जाती है, जिसके मिटने पर गुण-दोष का अभिमान गल जाता है और उसके गलते ही निर्दोषता तथा प्रेम-स्वतः प्राप्त होता है। अतः प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप कर्त्तव्यनिष्ठ होकर चित्त शुद्ध करना अनिवार्य है।

३१.०५.१९५६

जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

जानने की सामर्थ्य का उपयोग प्राणी अपने व्यक्तिगत जीवन पर न करके जब दूसरों पर करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। कारण कि जानने की सामर्थ्य से ही दोष का दर्शन होता है। यदि उसका उपयोग अपनी वस्तुस्थिति पर किया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योंकि अपने दोष के दर्शन अपने को निर्दोष बनाने में समर्थ है, और पर-दोष अपने को दोषी बनाने में हेतु है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक दोष उत्पत्ति-विनाशयुक्त है। जो वस्तु उत्पत्ति विनाश-युक्त है, उसकी वास्तविक स्थिति सिद्ध नहीं होती, अपितु उत्पत्ति-विनाश का जो क्रम है, उसी में स्थिति भासित होती है। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं होती उसके अस्तित्व को स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है और कुछ नहीं।

दोष की उत्पत्ति से पूर्व और दोष न दुहराने पर निर्दोषता स्वतः सिद्ध है। दोष की सत्ता तो केवल दोष के उत्पत्ति-काल में ही है। समस्त दोषों की भूमि गुण का अभिमान है। पर-दोषदर्शन से उसमें नित-नव वृद्धि होती है और व्यक्तिगत दोष के दर्शन से गुण का अभिमान गल जाता है इस दृष्टि से दोष दर्शन की सामर्थ्य का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब वह अपने व्यक्तिगत जीवन पर किया जाय। सामर्थ्य स्वयं न गुण होती है और न दोष। उसका यथावत् उपयोग साधन है और उसके विपरीत करना असाधन है साधन से चित्त शुद्ध होता है और असाधन से अशुद्ध होता है। अतः जानने की सामर्थ्य का उपयोग व्यक्गित जीवन पर ही करना हितकर सिद्ध होता है।

प्रकाश अन्धकार का नाशक है और वस्तुस्थिति का प्रकाशक है, अर्थात् प्रकाश में जो वस्तुएँ जैसी है, वे वैसी ही दिखाई देती है, पर जिस अन्धकार ने उन वस्तुओं को आच्छादित कर रखा था, वह अन्धकार प्रकाश होने-मात्र से मिट जाता है। उसी प्रकार जानने की सामर्थ्य से व्यक्तिगत जीवन की वस्तुस्थिति का ठीक परिचय हो जाता है और जिस अज्ञान ने वस्तुस्थिति को ढक दिया था वह मिट जाता है।

वस्तुस्थिति के परिचय में क्रान्ति स्वतः सिद्ध है, क्योंकि जाना हुआ दोष असह्य हो जाता है। यह नियम है कि जिसका होना असह्य होता है वह मिट जाता है और जिसका न होना असह्य होता है वह प्राप्त हो जाता है। अतः वस्तुस्थिति के ज्ञान में दोष की निवृत्ति और निर्दोषता की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। पर वह तभी सम्भव होगा जब जानने की सामर्थ्य का उपयोग दूसरों पर न करने का स्वभाव बना लिया जाय।

जानने की सामर्थ्य किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत वस्तु नहीं है और न उत्पत्ति-विनाश युक्त है अपितु उसकी देन है, जिसमें अनन्त ज्ञान है। उस अनन्त ज्ञान से जो ज्ञान मिला है उसी में साधन-निर्माण की सामर्थ्य निहित है। पर उसकी अनुभूति तभी होती है जब प्राप्तज्ञान का अध्ययन किया जाय। जानने की सामर्थ्य का अध्ययन बड़े ही महत्व की वस्तु है, क्योंकि उस ज्ञान में ही अपने दोष का ज्ञान, उस दोष को मिटाने का उपाय तथा निर्दोषता का भी ज्ञान है। जानने की सामर्थ्य से ही

प्राणी अपनी वस्तुस्थिति को जानता है। और उसी से अपने लक्ष्य को ही जानता है। लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जिस साधन-प्रणाली की अपेक्षा है उसका ज्ञान भी जानने की सामर्थ्य में निहित है। इस दृष्टि से जानने का दोष किसी भी साधक के जीवन में स्वभाव से नहीं है।

जाने हुए के अनादर से ही जानने का दोष साधक को अपने में भासित होने लगता है। यदि जानने की सामर्थ्य का यथेष्ट आदर किया जाय, तो न जानने का दोष प्रतीत न होगा। समस्त साधनों का निर्माण जानने की सामर्थ्य में ही निहित है। जानने की सामर्थ्य का प्रकाशन इन्द्रिय द्वारा भी होता है तथा बुद्धि के द्वारा भी और इन दोनों से रहित भी जानने की सामर्थ्य अपने को प्रकाशित करती है।

इन्द्रियों के स्तर पर जानने की सामर्थ्य विषयों को, अर्थात शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को प्रकाशित करती है। विषयों की प्रतीति में सत्यता, अर्थात् अपरिवर्तन स्वीकार करना इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है। परन्तु उन्हीं विषयों को यदि बुद्धि के स्तर से जानने का प्रयास किया जाय, तो किसी भी भोग्य-वस्तु में अपरिवर्तन का दर्शन न होगा, अपितु सतत् परिवर्तन की अनुभूति होगी। जब साधक बुद्धि के स्तर से प्रकाशित जानने की सामर्थ्य का आदर करने लगता है, तब विषयों से अरुचि स्वतः जाग्रत होती है, अथवा यों कहो कि भोग्य वस्तुओं पर सन्देह होने लगता है। उसी सन्देह की भूमि में जिज्ञासा जाग्रत होती है। इन्द्रियों के स्तर से प्रकाशित जानने की सामर्थ्य ने जिन कामनाओं को, अर्थात् विषयासक्ति को जन्म दिया था, जिज्ञासा की जागृति उन कामनाओं का नाश करती है और विषयासक्ति विरक्ति में बदल जाती है, जिसके बदलते ही साधक राग-रहित हो जाता है। राग-रहित होते ही भोग योग में स्वतः बदल जाता है और फिर बुद्धि के स्तर से अतीत जानने की सामर्थ्य में प्रवेश हो जाता है, जो निस्सन्देहता प्रदान करने में समर्थ है।

सन्देह में जो निस्सन्देहता की मान्यता है, इसी ने चित्त को अशुद्ध किया है और चित्त की अशुद्धि से ही सन्देह सहन होता रहता है, अर्थात् सन्देह की वेदना जाग्रत नहीं होती। सन्देह की वेदना का जाग्रत न होना चित्त की अशुद्धि को दृढ़ करना है। चित्त की शुद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि सन्देह में जो निस्सन्देहता की स्थापना कर ली गई है उसका अभाव करना होगा, तभी सन्देह की वेदना का उदय होगा, अर्थात् इन्द्रियज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है, यह स्वीकार करना होगा। यह स्वीकृति ही सन्देह में जो निस्सन्देहता की स्थापना है, उसका अभाव कर देगी।

इन्द्रियों के स्तर में जानने की सामर्थ्य विधान नहीं है, अपितु शक्ति है। यह नियम है कि शक्ति में स्वभाव से ही जड़ता होती हैं। जिसमें जड़ता होती है उसका उपयोग किसी विधान के अधीन होना चाहिए, तभी उसका सदुपयोग हो सकता है। विधान-शून्य शक्ति का उपयोग हास का मूल है और उसी से चित्त अशुद्ध होता है। इन्द्रियों के स्तर की जानने की सामर्थ्य भोग की प्रवृत्ति में भले ही समर्थ हो, परन्तु भोग-सामग्री की वास्तविकता के जानने में सर्वथा असमर्थ है। सीमित सामर्थ्य को सर्वदा असमर्थता ही मानना

चाहिए, सामर्थ्य को अभाव नहीं।अतः इन्द्रियों के स्तर की जानने की सामर्थ्य को जानने का अभाव न मानकर अल्पज्ञान मानना चाहिए। अधूरी जानकारी जिज्ञासा जागृति में साधनरूप है। इस दृष्टि से प्रत्येक स्तर का ज्ञान आदरणीय है, परन्तु प्रत्येक स्तर का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है, वास्तविक ज्ञान तो सभी स्तरों के ज्ञान से अतीत है।

प्रत्येक स्तर के ज्ञान का साधन-बुद्धि से उपयोग किया जा सकता है। इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग निर्बलों की सेवा में और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग राग-रहित होने में, अथवा वस्तुओं की सत्यता और सुन्दरता का अपहरण में निहित है। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग होने लगता है, त्यों-त्यों चित्त पर बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव स्थायी होने लगता है, जिसके होते ही भोग की रुचि योग की लालसा में बदल जाती है। जिस काल में योग की लालसा भोग की रुचि का अन्त कर देती है, उसी काल में योग स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि के स्तर से अतीत जानने की जो सामर्थ्य है, उससे अभिन्नता हो जाती है।

बुद्धि के स्तर से अतीत जो ज्ञान है, उसमें कर्त्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान आदि सभी विद्यमान हैं। कर्त्तव्य-विज्ञान को अपना लेने पर साधक के चित्त से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और उसका बाह्य परिणाम यह होता है कि व्यक्ति और समाज में एकता हो जाती है, अथवा यों कहो कि सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है, क्योंकि कर्त्तव्य-विज्ञान दूसरों के अधिकार की रक्षा की प्रेरणा देता है और उसमें प्रवृत्त करता है। कर्त्तव्य-विज्ञान के अनुरूप जब साधक कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है, तब वह स्वतः योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है। योग-विज्ञान नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देता, जिसके न होने से चित्त चिर-शान्ति में निवास करने लगता है, जिससे जड़ता पराधीनता और शक्तिहीनता अपने आप मिटने लगती है, अथवा यों कहो कि चिन्मयता और स्वाधीनता से अभिन्न होने की सामर्थ्य आ जाती है।

योग-विज्ञान की परावधि में अध्यात्म-विज्ञान का उदय होता है, जिसके होते ही सब प्रकार के भेद मिट जाते हैं। भेद का अन्त होने पर सीमित अहम्-भाव गल जाता है, जिसके गलते ही अनन्त से अभिन्नता हो जाती है, अर्थात् अनन्त के प्रेम की प्राप्ति होती है।

जानने की सामर्थ्य, जो अनन्त की देन है, उसका सदुपयोग अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति पर ही करना उचित्त है, क्योंकि अपने कर्त्तव्य को जानना है और दूसरों के अधिकार को भी। किसी के कर्त्तव्य में ही किसी का अधिकार निहित है, कारण कि ऐसा कोई कर्त्तव्य हो ही नहीं सकता जिससे किसी के अधिकार की रक्षा न हो, अथवा यों कहो कि दूसरों के अधिकार के ज्ञान में ही अपना कर्त्तव्य निहित है। कर्त्तव्य-पालन पराधीनता का अन्त करता है और परस्पर में एकता की स्थापना करता है, परन्तु जब व्यक्ति जानने की सामर्थ्य का उपयोग अपने अधिकार और दूसरों के कर्त्तव्य में करने लगता है, तब बेचारा पराधीन हो जाता है, क्योंकि उसकी प्रसन्नता दूसरों की उदारता पर ही निर्भर हो जाती

है। यदि अधिकार की पूर्ति हो गयी, तो राग में आबद्ध हो जाता है और पूर्ति न हुई तो क्षुभित तथा क्रोधित हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः जानने की सामर्थ्य का उपयोग दूसरों के अधिकार और अपने कर्त्तव्य को जानने में करना चाहिए।

अकर्त्तव्य का नाश कर्त्तव्य के जानने में है और कर्त्तव्य का ज्ञान दूसरों के अधिकार की पूर्ति में हैं। अकर्त्तव्य के नाश में कर्त्तव्यपरायणता और दूसरों के अधिकार की पूर्ति में वस्तु आदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। वस्तु आदि के सम्बन्ध-विच्छेद में चिरशांति, नित्य-योग, निस्सन्देहता एवं प्रेम निहित है। वस्तु, व्यक्ति आदि के सम्बन्ध से ही चित्त अशुद्ध हो गया है और वस्तु, व्यक्ति आदि का सम्बन्ध कर्त्तव्य से च्यतु होने पर ही दृढ़ होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद कराने में समर्थ है। अपने व्यक्तिगत जीवन पर जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग करने में ही कर्त्तव्य का ज्ञान निहित है।

वस्तुस्थिति का परिचय होने पर साधक को अपने में अभाव का ज्ञान होता है, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति अपूर्ण है, परिवर्तनशील है और पर-प्रकाश्य है। अभाव का ज्ञान अभाव का अभाव कराने की प्रेरणा देता है, अथवा यों कहो कि अभाव के ज्ञान में लक्ष्य का ज्ञान निहित है। अभाव के ज्ञान से प्राप्त परिस्थिति से असंगता की रुचि उदित होती है और परिस्थिति से असंग होने पर अभाव का अभाव हो जाता है। पर कब? जब किसी अप्राप्त परिसिथति का आह्वान न हो। अप्राप्त परिस्थिति का अह्वान परिस्थिति के स्वरूप को न जानने से होता है। जब इन्द्रिय ज्ञान का प्रभाव चित्त में अंकित नहीं रहता, तब परिस्थिति के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक बुद्धि के स्तर पर जानने की जो सामर्थ्य है, उसका आदर न किया जाय, अथवा उसका सदुपयोग न हो। बुद्धि के ज्ञान का सदुपयोग विधान है। उसके अनुरूप इन्द्रियों का व्यापार होने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। अतः जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग अपने कर्त्तव्य तथा लक्ष्य के ज्ञान में है और कर्त्तव्य-परायणता में लक्ष्य की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। कर्त्तव्य-परायणता वर्तमान जीवन की वस्तु है। इस दृष्टि से वर्तमान के सदुपयोग मात्र से ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

१.०६.१९५६

मान्यताओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ मानता है और मान्यता के अनुरूप ही कुछ-न-कुछ करता है एवं करने के अनुसार ही परिस्थिति उत्पन्न होती है। परिस्थिति में जीवन-बुद्धि हो जाने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है और उसके सदुपयोग में प्राणी का हित है, परन्तु उसे जीवन मान लेने से तो चित्त अशुद्ध ही होता है।

वस्तु अवस्था एवं परिस्थिति में अहम्-बुद्धि, मान्यता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करती है। यद्यपि समस्त मान्यताओं के मूल में जो है उसे

किसी मान्यता में आबद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी मान्यताएँ उसी से सत्ता पाती हैं और उसी से प्रकाशित होती हैं। जिससे सभी मान्यताएँ प्रकाशित होती हैं, अथवा सत्ता पाती हैं उसकी जिज्ञासा तथा लालसामात्र से चित्त शुद्ध होने लगता है, क्योंकि जो सभी मान्यताओं का प्रकाशक है वह सब प्रकार से पूर्ण तथा अनन्त हैं। अनन्त की जिज्ञासा तथा लालसा कामनाओं का अन्त कर देती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

समस्त मान्यताएँ चार भागों में विभाजित हैं-भोगी, योगी, जिज्ञासु और प्रेमी। भोगी वही प्राणी है जो कामना-पूर्ति में ही जीवन मानता है। कामना-पूर्ति प्राणी को वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध कर देती है, जिसके होते ही लोभ-मोह आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। भोग, भोग की दृष्टि से भले ही उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट हो, किन्तु चित्त की अशुद्धि की दृष्टि से तो सभी भोगों का समान अर्थ है, अर्थात् ऐसा कोई भोग है ही नहीं जिससे चित्त अशुद्ध न हो। इतना ही नहीं, भोग-प्रवृत्ति की तो कौन कहे, उसकी रुचिमात्र से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः भोग की रुचि का नाश हुए बिना चित्त किसी भी तरह शुद्ध नहीं हो सकता।

जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर है वही भोगी है, अथवा यों कहो जो देह-जनित व्यापार में ही जीवन-बुद्धि रखता है वही भोगी हैं। भोग का आरम्भ-काल सुखद प्रतीत होता है, परन्तु उसका परिणाम भयंकर दुःखद होता है। जो साधक भोग के परिणाम पर दृष्टि रखता है उसे भोग से अरुचि हो जाती हैं। भोग की अरुचि में योग की रुचि का उदय हैं। योग की रुचि सबल तथा स्थायी होने पर भोग की रुचि का नाश कर देती है। भोग की रुचि का नाश भोग-प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः योग प्रदान करता है। इस दृष्टि से भोग की रुचि के नाश में ही योग की प्राप्ति निहित है।

कोई भी प्राणी अपने को भोगी मानकर चित्त को शुद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि मान्यता के अनुरूप रुचि ओर रुचि के अनुसार प्रवृत्ति होती है तथा प्रवृत्ति-जनित सुख की आसक्ति नित नया राग उत्पन्न करती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। जब साधक भोग के परिणाम को भली-भाँति जान लेता है, तब भोगवासनाओं का अन्त करने के लिये अपनी मान्यता को परिवर्तित करने का प्रयास करता है। किसी भी मान्यता की जो अस्वीकृति है, वह किसी अन्य मान्यता की जननी भी है। इस नियम के अनुसार जब साधक अपने को भोगी नहीं मानता तब योगी, जिज्ञासु तथा प्रेमी-इनमें से किसी भी मान्यता को स्वीकार कर लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मान्यता में उसके अनुरूप कर्त्तव्य का विधान निहित है। विधान के अनुसार जीवन होने पर मान्यता स्वतः बदल जाती है, अथवा जो सभी मान्यताओं से अतीत है उसका योग, उसकी जिज्ञासा एवं उसका प्रेम उदित होता है। प्रत्येक मान्यता उसी समय तक जीवित रहती है जब तक मान्यता के अनुरूप जो विधान है उसमें और जीवन में एकता न हो।

विधान और जीवन की एकता होने पर मान्यता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही साधक को अनन्त की जिज्ञासा और अनन्त का

योग, अनन्त का प्रेम प्राप्त होता है, क्योंकि मान्यता कर्त्तव्य का प्रतीक है। कर्त्तव्य-पालन राग-निवृत्ति का साधन है। राग-निवृत्ति होने पर सीमित अहम्-भाव गल जाता है, जिसके गलते ही योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है। योग की पूर्णता में बोध तथा बोध में प्रेम निहित है। भोग, प्राणी का इन्द्रिय, बुद्धि आदि वस्तुओं से तादात्म्य प्रदान करता है और योग सभी वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है, क्योंकि भोग में कामनापूर्ति और योग से कामना-निवृत्ति होती है। कामना निवृत्त होने पर जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। कामनाओं की निवृत्ति होनेपर किसी भी वस्तु से तादात्म्य नहीं रहता। उसका परिणाम यह होता है कि जो सभी वस्तुओं से अतीत है उसमें सहज स्थिति स्वतः हो जाती है। यदि साधक स्थिति-जनित शान्ति में रमण न करें, तो स्थिति का अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही योग स्वतः बोध में विलीन हो जाता है जिसके होते ही निस्संदेहता, स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है।

भोग की रुचि रहते हुए योग की उपलब्धि सम्भव नहीं है। यद्यपि योग भोग की अपेक्षा सहज तथा स्वाभाविक है और उसका परिणाम भी हितकर है, परन्तु भोग-वासना शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध जोड़ देती है जिसमें काम की उत्पत्ति होती है। काम की उत्पत्ति होते ही अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती है, जिनकी पूर्ति-आपूर्ति के सुख-दुःख में प्राणी आबद्ध हो जाता है और सहज योग से विमुख हो जाता है। अतः भोग-वासनाओं के त्याग में ही योग की सिद्धि है। सुख की आशा तथा सुख का सम्पादन एवं उसका भोग प्राणी को मन के अधीन कर देता है, जिसके होते ही मन इन्द्रियों के अधीन और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन हो जाती हैं। इस कारण शान्ति, सामर्थ्य, निस्सन्देहता, अमरत्व आदि से प्राणी विमुख हो जाता है। अतः सुख की आशा से रहित होने से चित्त शुद्ध हो सकता है।

सुख की आशा का त्याग होते ही अपने आप होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त शांति में होता है। शांति सामर्थ्य, स्वाधीनता आदि की भूमि है और सुख की आशा रहते हुए प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में किसी-न-किसी वस्तु-व्यक्ति आदि का चिन्तन होने लगता है, जो शांति में निवास नहीं होने देता। प्रत्येक प्रवृत्ति की उत्पत्ति से पूर्व जो शांति है वहीं शांति, यदि प्रवृत्ति के अन्त में हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रवृत्ति का राग मिट सकता है, कारण कि प्रवृत्ति के चिन्तन में ही प्रवृत्ति का राग निहित है। प्रवृत्ति तो विद्यमान राग की निवृत्ति का साधनमात्र है। उससे कोई क्षति नहीं होती, किन्तु प्रवृत्ति-जनित सुख की आसक्ति प्रवृत्ति का चिन्तन उत्पन्न कर प्रवृत्ति से तादात्म्य कर देती है, जिसने नवीन राग की उत्पत्ति हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

प्रवृत्ति का अन्त नवीन राग की उत्पत्ति में न हो, प्रत्युत् विद्यमान राग की निवृत्ति में हो, तो चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्त की शुद्धि अनाश्यक संकल्पों का अन्त कर देती है और आवश्यक संकल्पों की पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं होने देती। इतना ही नहीं, संकल्प-निवृत्ति की शांति में भी रमण नहीं करने देती। जब साधक सुख के

भोग और शान्ति में रमण नहीं करता, तब अपने आप उस जीवन से अभिन्न हो जाता है जो सभी वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है।

सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन में प्रवेश तभी सम्भव होगा, जब साधनरूप मान्यता तथा प्रवृत्ति के द्वारा विद्यमान राग की निवृत्ति हो और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, अर्थात् प्रवृत्ति के अंत में सहज निवृत्ति स्वतः आ जाय। किसी वस्तु, व्यक्ति आदि का प्रवृत्ति के अंत में आह्वान न हो और जो वस्तु प्राप्त है उसमें लेशमात्र भी ममता न रहे, अपितु सहज-निवृत्ति पूर्वक शांति, निस्सन्देहता एवं नित-नव रस की प्राप्ति हो। प्राप्त वस्तुओं की ममता का त्याग और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन का अभाव विवेक साध्य है, जो वर्तमान में हो सकता है। जो वर्तमान में हो सकता है, उसके लिये भविष्य की आशा करना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वस्तुओं से अतीत के जीवन में स्थिति अथवा उसकी जिज्ञासा एवं उसका प्रेम चित्त को शुद्ध कर देता है। राग-रहित होने से वस्तुओं से अतीत के जीवन में स्थिति अपने आप होती है। राग-रहित होने के लिए ही वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना है। पर वह तभी सम्भव होगा जब देह में अहम्बुद्धि न हो और वस्तुओं में ममबुद्धि न हो। देह में अहम्बुद्धि का त्याग निज विवेक के आदर में निहित है, अर्थात् जिसे 'यह' करके सम्बोधित करते हैं उसमें अहम्भाव स्वीकार करना प्राप्त विवेक का अनादर है, अथवा यों कहो कि जो जानते हैं उसको न मानना है। जाने हुए को न मानने से ही देह में अहम्बुद्धि उत्पन्न हो गई है और उसी का परिणाम यह हुआ कि प्राप्त वस्तुओं में ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना उत्पन्न हो गई, जिससे जिज्ञासा में शिथिलता आ गई हैं। यद्यपि जानने की लालसा नष्ट नहीं हुई, परन्तु वह वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं रह गई है।

व्यक्ति को कामना-पूर्ति जैसे वर्तमान की वस्तु प्रतीत होती है, वैसे ही जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु नहीं प्रतीत होती । इस प्रमाद ने ही जिज्ञासा में शिथिलता उत्पन्न कर दी है। यद्यपि कामना-पूर्ति वर्तमान की वस्तु नहीं है, उसके लिये श्रम तथा अप्राप्त वस्तु अपेक्षित रहती है, किन्तु जिज्ञासा-पूर्ति तो किसी वस्तु-विशेष पर निर्भर नहीं है। इतना ही नहीं, प्राप्त वस्तुओं की भी जिज्ञासा-पूर्ति में अपेक्षा नहीं है। जिज्ञासा-पूर्ति तो एकमात्र सन्देह की वेदना असह्य हो जाने पर ही निर्भर है, अथवा यों कहो कि जब साधक वास्तविकता को बिना जाने किसी प्रकार भी नहीं रह सकता, बस उसी काल में जिज्ञासा स्वतः पूरी हो जाती है। सन्देह रहते हुए चैन से रहना प्रमाद है। सन्देह की निवृत्ति अवश्य हो सकती है। उससे निराश होना साधक की असावधानी है, जिसका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जिज्ञासु ज्यों-ज्यों जाने हुए में दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों जिज्ञासा-पूर्ति की योग्यता स्वतः आती जाती है। इस दृष्टि से जाने हुए में दृढ़ रहना ही जिज्ञासा-पूर्ति की सहज साधना है। जाना हुआ दृढ़ तभी होता है जब उसका प्रभाव साधक पर हो जाय।

जो वस्तुएँ इन्द्रिय तथा बुद्धि द्वारा प्रतीत होती हैं उनके वास्तविक स्वरूप को बिना जाने उन पर विश्वास करना सन्देह को सहन करने का

स्वभाव बना लेना है, जो जिज्ञासा-पूर्ति में सबसे भयंकर विघ्न है। जिस वस्तु को इन्द्रिय द्वारा जानते हो, उसी वस्तु को बुद्धि के द्वारा जानो। ऐसा करते ही वस्तुओं की स्थिति सुरक्षित न रहेगी, जिसके न रहने से प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना मिट जायेगी, जिसके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति हो जायेगी और फिर स्वतः निस्सन्देहता उदित होगी, जो साधक को वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देगी। निस्सन्देहता के साम्राज्य में पराधीनता नहीं है और न जड़ता है। इसी कारण सन्देह-रहित होने में जो जीवन है वह जीवन वस्तुओं की दासता में नहीं है। वस्तुओं की दासता का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं के विश्वास ने उसके विश्वास का अपहरण कर लिया है जिससे समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और जिसमें विलीन होती है एवं जिससे सभी वस्तुएँ सत्ता पाती हैं और प्रकाशित होती हैं। यदि साधक विवेक-पूर्वक वस्तुओं की वास्तविकता को जानकर उनके विश्वास से मुक्त हो जाय, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक उन पर विश्वास हो जाता है जिनसे सभी को सब कुछ मिला है, अथवा यों कहो कि जो सभी में है और सभी से अतीत है। यह नियम है कि जिस पर व्यक्ति विश्वास कर लेता है उससे सम्बन्ध हो जाता है और जिससे संबन्ध हो जाता है उसकी स्मृति उदित होती है, जो प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाती है जिसकी वह प्रीति है। कारण, कि प्रीति भेद तथा भिन्नता को खा लेती है।

वस्तुओं के विश्वास ने ही वस्तुओं से तद्रूपता तथा सम्बन्ध उत्पन्न कर दिया है, जिससे बेचारा प्राणी प्राप्त वस्तुओं की दासता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना में आबद्ध हो गया है, जिससे चित्त में अशुद्धि आ गयी है। अतः वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा उसमें स्थिति एवं उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए साधक को सर्वदा तत्पर रहना चाहिए। कारण, कि उसके बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता और चित्त की शुद्धि के बिना शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती।

२.०६.१९५६

अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित निर्णय

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

व्यक्ति अपने सम्बन्ध में क्या जानता है और क्या मानता है, इसके विकल्प-रहित निर्णय न होने से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः अपने सम्बन्ध में व्यक्ति को निस्सन्देह होने के लिए वर्तमान में ही तत्पर होना चाहिए, क्योंकि यह समस्या ऐसी नहीं है जिसके लिए भविष्य की आशा की जाय। इस समस्या के हल हुए बिना कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती, क्योंकि जो अपने ही सम्बन्ध में सन्देहयुक्त है वह किसी और के सम्बन्ध में क्या जान सकता है।

यह नियम है कि अपने संबन्ध में निस्सन्देह होने पर ही साधक अपने कर्त्तव्य और लक्ष्य के सम्बन्ध में निस्सन्देह हो सकता है, क्योंकि अपने में ही अपना कर्त्तव्य तथा अपना लक्ष्य विद्यमान है। अपने को देह मानकर कोई भी

संकल्प-अपूर्ति के दुःख और पूर्ति के सुख से मुक्त नहीं हो सकता और अपने को देह से अलग जानकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिरशान्ति में निवास कर सकता हैं। जिसे सुख और दुःख में ही आबद्ध रहना है, वह अपने को देह से अलग अनुभव नहीं कर सकता और जिस सुख-दुःख से मुक्त होना है वह अपने को देह में आबद्ध नहीं रख सकता।

अपनी आवश्यकता के अनुसार व्यक्ति अपने को किसी मान्यता में बाँध लेता है। इस दृष्टि से आवश्यकता के ज्ञान में ही अपना ज्ञान निहित है। आवश्यकता उसे नहीं समझना चाहिए जिसकी निवृत्ति सम्भव हों। आवश्यकता वही है जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। आवश्यकता की पुनरावृत्ति भी नहीं होती। इसी कारण आवश्यकता का त्याग नहीं हो सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता उसकी प्राप्ति स्वाभाविक है। जिसकी प्राप्ति स्वाभाविक है, उसी में वास्तविक जीवन है और वही अपना लक्ष्य है। यद्यपि आवश्यकता में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह आवश्यकता है, परन्तु आवश्यकता के अपूर्ति काल में यह रहस्य स्पष्ट नहीं होता; प्रत्युत् ऐसा प्रतीत होता है कि जिसको आवश्यकता है, और जिसकी आवश्यकता है, इन दोनों में भिन्नता है। जिसमें आवश्यकता है, वह अपने में अभाव अनुभव करता है, और जिसकी आवश्यकता है उसमें पूर्णता स्वीकार करता है। इस दृष्टि से पूर्णता की आवश्यकता ही आवश्यकता का स्वरूप है। परन्तु जब पूर्णता की लालसा को वस्तुओं की कामनाओं से आच्छादित कर दिया जाता है तब व्यक्ति अपने में अनेक मान्यताओं को स्वीकार करता है और मान्यता के अनुसार अपने कर्त्तव्य का निर्णय करता है।

व्यक्ति एक और मान्याएँ अनेक हो जाने से अपने सम्बन्ध में बेचारा व्यक्ति विकल्प-रहित निर्णय नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में आबद्ध रहता है, और वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति प्रश्न वर्तमान जीवन से संबंधित नहीं रहतां। जो समस्या वर्तमान जीवन से संबंधित नहीं रहती, उसके लिये व्यक्ति व्याकुल नहीं होता। जिसके लिये व्याकुलता नहीं होती उसके लिये अपना सर्वस्व समर्पित नहीं होता, अथवा यों कहो कि व्यकित उसे सब कुछ देकर नहीं प्राप्त करता। समस्त मान्यताओं के मूल में अपना अस्तित्व क्या है, इसको जाने बिना कामनाओं का अन्त नहीं हो सकता और कामना-निवृत्ति के बिना आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। आवश्यकता की पूर्ति के बिना अभाव का अभाव नहीं हो सकता।

कामना-पूर्ति-अपूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, अपने को देह मान लेना है। अपने को देह मानकर कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं हो सकता और पराधीनता किसी भी व्यक्ति को स्वभाव से प्रिय नहीं है। स्वभाव से अप्रियता उसी में होती है; जिसमें स्वरूप से भिन्नता हों। इस दृष्टि से अपने को देह मानने में अपनी अनुभूति का विरोध है। जिस मान्यता के सम्बन्ध में निज-अनुभूति का विरोध हो, उस मान्यता को स्वीकार करना कभी भी विकल्प-रहित नहीं हो सकता। जो

मान्यता विकल्प-रहित नहीं है उसका त्याग करना अनिवार्य है।

अपने को देह न मानने पर सभी कामनाऐं निवृत्त हो जाती है, जिनके निवृत्त होते ही सुख-दुःख का बन्धन टूट जाता है और चिरशान्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है, परन्तु जो साधक शांति में रमण करने लगता है उसकी शान्ति सुरक्षित नहीं रहती, जिसके न रहने से साधक उसी स्थिति में आ जाता है जो अभाव-रूप थी। इस दृष्टि से शान्ति में भी जीवन-बुद्धि स्वीकार करना विकल्प-रहित नहीं है।

शान्ति में जीवन-बुद्धि न रहने पर शान्ति में रमण रुचिकर नहीं रहता, क्योकि प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता जीवन की है। शान्ति से अरुचि होते ही शान्ति से अतीत के जीवन में प्रवेश होता है, जिसमें पराधीनता नहीं है। अतः स्वाधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर पराधीनता का अन्त करने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए। सुख-दुःख तथा शान्ति से अतीत के जीवन की लालसा साधक को संकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति से असंग कर देती है।

स्वाधीनता की आवश्यकता मिटाई नहीं जा सकती। अतः उसकी पूर्ति अनिवार्य है। अब विचार यह करना है कि स्वाधीनता की आवश्यकता किसमें है। स्वाधीनता की आवश्यकता उसी में हो सकती है जो पराधीनता से दुःखी है। पराधीनता से दुःखी वही है जिसने देह से तादात्म्य स्वीकार किया है। जिसने देह से तादात्म्य स्वीकार किया है, वह किसी भी काल में देह नहीं हो सकता। अतः अपने को देह मानना युक्ति-युक्त नहीं है। देह से तादात्म्य न रहने पर अपना अस्तित्व क्या है, इसं संबन्ध में कुछ भी कहना बनता नहीं, क्योंकि जो कुछ कहा जायगा,वह देह के द्वारा ही कहा जायगा। देह के द्वारा जो कुछ कहा जायगा, उसमें किसी-न-किसी अंश में देह का प्रभाव आ जायगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता उसका अस्तित्व नहीं है। वर्णन भले ही न हो, पर उसकी प्राप्ति हो सकती है।

देह से तादात्म्य कब, किसने स्वीकार किया था, इसका ज्ञान संभव नहीं है, परन्तु देह से तादात्म्य मिटते ही, जो पराधीनता से दुःखी था, वह स्वाधीनता से अभिन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि वह उसका योग, बोध तथा प्रेम हो जाता है जो अनन्त है। इस दृष्टि से व्यक्ति का अस्तित्व अनन्त के योग, बोध और प्रेम की लालसा से भिन्न कुछ नहीं है।

योग, बोध तथा प्रेम की अप्राप्ति-काल में ही उनकी लालसा प्रतीत होती है और उस लालसा के आधार पर ही व्यक्तित्व का भास होता है। लालसा के पूर्ति-काल में व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व शेष नहीं रहता, और न उसकी प्रतीति ही होती है। इस दृष्टि से अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में वास्तविक जीवन की लालसा के अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते। परन्तु यह रहस्य तभी खुलता है जब लालसा की पूर्ति हो, और लालसा की पूर्ति तभी हो सकती है जब वस्तु-व्यक्ति आदि की कामनाओं की निवृत्ति हो। वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की कामना के आधार पर व्यक्ति अपने में देह-बुद्धि स्वीकार करता है।

कामना-पूर्ति के प्रलोभन का नाश होते ही देह से स्वतः संबन्ध विच्छेद हो जाता है, अथवा यों कहो कि समस्त कामनाएँ गलकर वास्तविक लालसा के स्वरूप में परिवर्तित हो जाती है, जिसके होते ही भोग, योग में; अविवेक, बोध में और आसक्ति, प्रेम में बदल जाती है; अथवा यों कहो कि योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति किसको होती है, इसके सम्बन्ध में यही कह सकते हैं कि भोग, अविवेक और आसक्ति में जो आबद्ध था उसी को योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति हुई। भोक्ता में-से भोग की रुचि और भोग की प्रवृत्ति को अलग कर देने पर भोक्ता के अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार अविवेकी में-से अविवेक और आसक्त में-से आसक्ति विभाजित करके उनके अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। इतना ही नहीं, जिसमें भोक्ता का आरोप है उसी में अविवेक और आसक्ति का आरोप है, अर्थात् भोक्ता को ही अविवेकी और आसक्त कह सकते हैं।

भोक्ता कोई और हो, और अविवेकी तथा आसक्त कोई और हो, ऐसा सम्भव नहीं है। जो भोक्ता है वही कर्त्ता भी है क्योंकि भोक्तृत्व किसी और में हो, और कर्तृत्व किसी और में हो- यह भी युक्ति-युक्त नहीं है। जो अपने को भोक्ता तथा कर्त्ता मानता है उसी में भोग के दुःखद परिणाम के कारण जिज्ञासा तथा लालसा उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से जो कर्त्ता-भोक्ता था वह अपने को जिज्ञासु और योग बोध तथा प्रेम तथा प्रेम का अभिलाषी मानता है। भोग की रुचि का नाश करने के लिये जो लालसा जाग्रत होती है, वही लालसा अविवेक तथा आसक्ति का भी नाश करती है, क्योंकि भोग की रुचि का नाश होते ही अविवेक तथा आसक्ति का नाश स्वतः हो जाता है।

वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा से भोग की रुचि पुष्ट होती है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा का त्याग स्वतः होता जाता है। जिस काल में वस्तुओं की वास्तविकता का बोध हो जाता है, उसी काल में उनके द्वारा सुख की आशा का सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही समस्त वस्तुओं में स्वतः विमुखता हो जाती है। वस्तुओं की विमुखता में ही अनन्त की सम्मुखता निहित है।

समस्त सृष्टि को वस्तु के ही अर्थ में लेना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान से भले ही वस्तुएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हों, पर बुद्धि के ज्ञान से समस्त वस्तुएँ एक हैं; और बुद्धि से अतीत के ज्ञान में वस्तुओं का अभाव है, अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान से अनेक वस्तुएँ सत्य प्रतीत होती हैं और बुद्धि-ज्ञान से अनेक वस्तुओं में एकता और परिवर्तन प्रतीत होता है। बुद्धि से अतीत के ज्ञान में समस्त वस्तुएँ अभावरूप हैं।

संकल्प-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करने पर कोई भी व्यक्ति जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दुःखों से बच नहीं सकता और न अपने को देह से भिन्न ही अनुभव कर सकता है, अथवा यों कहो कि अपने में से देहभाव का त्याग नहीं कर सकता। संकल्प-पूर्ति के जीवन ने ही देह से तादात्म्य दृढ़ किया है। इसी कारण बेचारा संकप-पूर्ति के सुख में आबद्ध साधक

अपने को देहाभिमान से रहित नहीं कर पाता। इस जड़ता के जीवन से ऊपर उठने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य का स्वाध्याय दुखियों की संकल्प-पूर्ति में हो। ऐसा करने से चित्त करुणित होगा। करुणित होने से जड़ता कोमलता में परिवर्तित हो जाएगी और सुख-भोग की रुचि स्वतः मिट जायगी, जिसके मिटते ही सभी का दुःख अपना और अपना सुख सभी का हो जाएगा। ऐसा होते ही प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन मिट जाएगा, जिसके मिटते ही वस्तुओं से असंगता हो जाएगी, जो सभी दोषों का अन्त करने में समर्थ है।

दोषों के अन्त में ही निर्दोषता की उपलब्धि स्वतः सिद्ध है। निर्दोषता की प्राप्ति में ही भोग योग में स्वतः बदल जाता है। योग शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। सामर्थ्य में ही स्वाधीनता और स्वाधीनता में ही नित्य-जीवन तथा प्रेम निहित है। सुख के त्याग में शान्ति की प्राप्ति और शांति में ही सामर्थ्य का उदय होता है। सामर्थ्य के स्वाध्याय से स्वाधीनता प्राप्त होती है, और स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने पर प्रेम की प्राप्ति होती है, अथवा यों कहो कि संकल्प-पूर्ति की दासता से मुक्त होने पर शांति, शान्ति में रमण न करने से स्वाधीनता और स्वाधीनता के समर्पण में परम प्रेम का उदय है, जो नित-नव रस प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित निर्णय यही हो सकता है कि व्यक्ति अपने को वास्तविकता का जिज्ञासु अथवा अनन्त का प्रेमी स्वीकार करे। अपने को जिज्ञासु अथवा प्रेमी स्वीकार करते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, क्योंकि जिज्ञासु तथा प्रेमी की मान्यता में देहाभिमान तथा वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता शेष नहीं रहती, जो चित्त की शुद्धि में समर्थ है।

३.०६.१९५६

स्वाभाविक माँग एवं अस्वाभाविक इच्छाएँ

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

जब व्यक्ति प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का उपयोग अपनी स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में न करके अस्वाभाविक इच्छाओं की प्रवृत्ति में करने लगता है, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। स्वाभाविक आवश्यकता के रहते हुए अस्वाभाविक इच्छाओं की उत्पत्ति ही क्यों होती है? उसका एकमात्र कारण यह है कि व्यक्ति सामर्थ्य तथा योग्यता में ही जीवन बुद्धि स्वीकार कर लेता है। वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता में जीवन बुद्धि स्वीकार करते ही देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है। देह में अहम्-बुद्धि दृढ़ होते ही अस्वाभाविक इच्छाएँ उत्पन्न होती है, जो बेचारे प्राणी को वस्तु, अथवा परिस्थिति आदि में आबद्ध कर देती है।

स्वाभाविक आवश्यकता और अस्वाभाविक इच्छाओं में एक बड़ा अन्तर यह है कि अस्वाभाविक इच्छाओं के अनुरूप प्रवृत्ति होती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती, क्योंकि अनेक बार इच्छाओं की पूर्ति के लिये प्रवृत्त होने पर भी परिणाम में अभाव ही शेष रहता है; परन्तु स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति होने पर सामर्थ्य,

स्वाधीनता एवं रसरूप अनंत-नित्य जीवन की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, अस्वाभाविक इच्छाओं की प्रवृत्ति के लिए किसी-न-किसी वस्तु आदि की अपेक्षा होती है, किन्तु स्वाभाविक आवश्कयता-पूर्ति के लिये किसी भी वस्तु या व्यक्ति की अपेक्षा नहीं होती, अपितु प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का स्वाध्याय केवल सर्वहितकारी प्रवृत्ति में ही होता है। इस दृष्टि से प्राप्त-अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता की अपेक्षा स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में नही हैं। हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्त वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता के अभिमान तथा संग्रह से रहित होने के लिए उनका स्वाध्याय करना अनिवार्य होता है। यही प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग साधनरूप है। साधन में साध्य-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद है। साधन-सामग्री साधन के लिए अभीष्ट है, पर उसमें जीवन-बुद्धि मान लेना साध्य से विमुख होना हैं, अथवा यों कहो कि स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति से वंचित्त होना और अस्वाभाविक इच्छाओं में आबद्ध हो जाना है, उससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति किसी परिस्थिति में निहित नहीं है। उसके लिए किसी परिस्थिति का चिन्तन करना आवश्यकता को इच्छाओं का रूप देना है। आवश्यकता एक है और इच्छाएँ अनेक। आवश्यकता उसी की है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, और इच्छाएँ उसकी है जिसमें सतत् परिवर्तन तथा अभाव है। स्वाभाविक आवश्यकता तथा इच्छाओं का भेद जान लेने पर इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता-पूर्ति की उत्कट लालसा जाग्रत होती है। आवश्कता-पूर्ति की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वतः निर्जीव होती जाती हैं, अथवा यों कहो कि स्वाभाविक आवश्यकता की जाग्रति अस्वाभाविक इच्छाओं को खा लेती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जिन इच्छाओं में प्रवृत्त होना अनिवार्य है उनकी प्रवृत्ति के लिये परिस्थिति स्वतः प्राप्त होती है और जिन इच्छाओं की प्रवृत्ति अनावश्क है उनके लिये परिस्थिति प्राप्त नहीं होती। इस रहस्य को न जानने के कारण बेचारा प्राणी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करने लगता है।

यद्यपि चिन्तनमात्र से परिस्थिति प्राप्त तो नहीं हो जाती, परन्तु अप्राप्त परिस्थिति की आसक्ति अथवा रुचि दृढ़ होती है। जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो और उसकी रुचि उत्पन्न हो जाय, उसका परिणाम यह होता है कि बेचारा प्राणी विवशता में आबद्ध होकर कभी तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है और कभी उसे निरर्थक मानकर झूठा सन्तोष करता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त के अशुद्ध हो जाने पर जो जानना चाहिए उसकी जिज्ञासा सबल नहीं होती और जो मानना चाहिए उस पर विकल्प-रहित विश्वास नहीं होता। परिस्थितियों के स्वरूप को यथावत् जाने बिना परिस्थितियों की दासता नष्ट नहीं होती, और सभी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक जीवन है, उसको माने बिना उस पर विश्वास तथा उससे नित्य-सम्बन्ध नहीं होता। परिस्थितियों की दासता

का अन्त होने पर ही अप्राप्त परिस्थिति की रुचि का नाश होता है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन में विकल्प-रहित विश्वास होने से ही उस जीवन की स्मृति का उदय होता है।

समस्त परिस्थितियों की अभिरुचि का नाश और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की स्मृति अस्वाभाविक इच्छाओं को खा लेती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्राप्त-अप्राप्त परिस्थितियों में निरर्थकता का दर्शन दो प्रकार से होता है, एक तो परिस्थितियों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने से और दूसरा रुचिकर परिस्थिति की अप्राप्ति के क्षोभ से। रुचिकर परिस्थिति की अप्राप्ति के क्षोभ से परिस्थिति में जो निरर्थकता का भास होता है, वह परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं कर पाता, अपितु ऊपर से तो परिस्थिति की अरुचि का अपने में आरोप कर लेता है और भीतर परिस्थिति की दासता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। इस भयंकर स्थिति में बेचारे साधक के चित्त की बड़ी ही दीन दशा हो जाती है, जो मिथ्या अहंकार को जन्म देकर उस बेचारे को अस्त-व्यस्त कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जो स्वतः होना चाहिए वह होता नहीं, और जो हो ही नहीं सकता उसके करने की सोचता रहता है, जिससे प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का हास होता है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता, जिसके बिना किये विद्यमान राग की निवृत्ति नहीं होती, प्रत्युत अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से नवीन राग की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होता है।

यद्यपि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग होने पर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु बेचारा साधक परिस्थिति के स्वरूप को जाने बिना राग-रहित नहीं हो पाता और राग-रहित हुए बिना परिस्थितियों से अतीत के जीवन की प्राप्ति नहीं होती।

परिस्थितियों के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से परिस्थितियों में जो निरर्थकता ज्ञात होती है, उससे परिस्थिति में जीवन-बुद्धि नहीं रहती, जिसके न रहने पर प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य आ जाती है, और अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान नहीं होता। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थिति से असंग करने में समर्थ है, और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग किसी भी परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं होने देता, अर्थात् परिस्थिति से असंगता सुरक्षित रहती है, जिससे सभी परिस्थितियों से विमुखता दृढ़ हो जाती है, जो परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है।

जिस ज्ञान से परिस्थितियों के स्वरूप का बोध होता है, वह ज्ञान क्या किसी परिस्थिति का ही परिणाम है? अथवा परिस्थिति किसी ज्ञान की अभिव्यक्ति है? अथवा यों कहो कि क्या जड़ता से चेतन की उत्पत्ति हुई है? अथवा जड़ता चेतन की ही एक अभिव्यक्ति है? इन दोनों मान्यताओं में से जिस साधक को जो मान्यता मान्य हो, वह उसी को भले ही माने, पर यह तो दोनों ही को मान्य होगा कि साधक को जड़ता से चेतना की ओर

अग्रसर होना है। यदि चेतना को जड़ता का परिणाम कोई माने, तो भी यह तो मानना ही होगा कि चेतन को जड़ की ओर गतिशील नहीं होना चाहिए, क्योंकि चेतन का जड़ की ओर गतिशील होना विकास से हास की ओर जाना है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

यदि जड़ता को चेतना की ही अभिव्यक्ति मान लिया जाय, तब भी जड़ता का अभाव स्वीकार कर चेतन से ही अभिन्न होना अभीष्ट होगा। उपर्युक्त दोनों मान्यताओं में से किसी भी मान्यता का यह मत नहीं हो सकता कि चेतना से जड़ता की ओर जाना चाहिए। जड़ता से सम्बन्ध-विच्छेद करना अथवा जड़ता के अस्तित्व को स्वीकार न करना दार्शनिक भेद हो सकता है, पर चिन्मय जीवन से अभिन्न होने में दोनों ही दार्शनिक दृष्टियां समर्थक हैं, विरोधी नहीं। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टि का स्वाध्याय जिस जीवन से अभिन्न करता है वह जीवन एक है। दर्शन में भेद होने से साधन में भेद हो सकता है, पर वास्तविक लक्ष्य में भेद नहीं हो सकता। इस दृष्टि से परिस्थितियों की अभिरूचि का त्याग प्रत्येक साधक को अभीष्ट होगा, क्योंकि सभी साधकों की स्वाभाविक आवश्यकता एक है।

अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि और परिस्थितियों में निरर्थकता के दर्शन का द्वन्द्व तभी मिट सकता है, जब प्राप्त परिस्थिति का आदर पूर्वक सदुपयोग हो और अप्राप्त परिस्थिति की रुचि का नाश हो तथा परिस्थितियों से अतीत के जीवन में विश्वास हो, क्योंकि परिस्थितियों से अतीत के जीवन का विश्वास परिस्थितियों की दासता से मुक्त करने में समर्थ है। प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त की देन तथा प्राकृति न्याय है। प्राकृति न्याय में प्राणी का हित निहित है। इस मान्यता से प्रत्येक परिस्थिति में समान बुद्धि हो जाएगी, जो परिस्थितियों के सदुपयोग की प्रेरणा देने में समर्थ है।

परिस्थिति का सदुपयोग बड़ी सावधानीपूर्वक, पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर, स्वाभाविक आवश्यकता पर दृष्टि रखकर, करना चाहिए। परिस्थिति-जन्य सुख-दुःख में आबद्ध नहीं होना चाहिए और परिस्थिति की अपूर्णता तथा परिवर्तन के ज्ञान का आदर करना चाहिए। प्राप्त परिस्थिति की ममता और अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि के त्याग में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

स्वाभाविक आवश्यकता किसी परिस्थिति की नहीं है, अपितु सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन की हे, क्योंकि ऐसी कोई परिस्थिति है ही नहीं जिससे सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं नित-नतून रस तथा अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन की प्राप्ति हो। परिस्थिति तो केवल राग-निवृत्ति का साधन मात्र है। स्वाभाविक आवश्यकता वर्तमान जीवन की वस्तु है। उससे निराश होना साधक की भूल हैं। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। स्वाभाविक आवश्यकता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती हे, त्यों-त्यों परिस्थिति-जनित खिन्नता स्वतः मिटती जाती है। खिन्नता का अन्त होते ही अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि स्वतः मिट जाती है, क्योंकि खिन्नता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है। और काम

की उत्पत्ति ही अस्वाभाविक इच्छाओं को जन्म देती है। स्वाभाविक आवश्यकता की शिथिलता में ही अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। इसी कारण इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में प्राणी आबद्ध हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति भौतिक-दृष्टि से कर्म का परिणाम तथा प्राकृतिक न्याय, अध्यात्म-दृष्टि से माया-मात्र और आस्तिक दृष्टि से उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति है। प्राकृतिक न्याय में प्राणी का हित निहित है। इस कारण उसका आदर किया जाय, किन्तु उसमें जीवन-बुद्धि की स्थापना न की जाय, क्योंकि न्याय उद्देश्य की पूर्ति में साधनरूप होता है, उसमें जीवन नहीं है। जो माया-मात्र है, उसमें मिथ्याबुद्धि होते ही उसकी सत्यता मिट जाती है, जिसके मिटते ही वास्तविकता का बोध हो जाता है। इस दृष्टि से भी परिस्थिति जीवन नहीं है।

अनन्त की अभिव्यक्ति अनन्त से भिन्न नहीं है। इस दृष्टि से भी परिस्थिति का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं सिद्ध होता है, प्रत्युत वह जिसकी अभिव्यक्ति है, उसमें उसी की सत्ता है अथवा वहीं है। उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से परिस्थिति-मात्र में ही जीवन-बुद्धि रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चित्त की शुद्धि भौतिक दृष्टि से परिस्थितियों के सदुपयोग में, अध्यात्म-दृष्टि से परिस्थितियों के अभाव में और आस्तिक दृष्टि से परिस्थितियों के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा में निहित है।

४.०६.१९५६

निज दोष और दुःख का वास्तविक ज्ञान

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

यदि व्यकित अपने दोष और दुःख से भली-भाँति परिचित्त हो जाय, अर्थात् उसे अपने दोष और दुःख का यथावत् ज्ञान हो जाय, अथवा साधक को अपने साधन तथा साध्य में विकल्प-रहित विश्वास हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। कारण, कि चित्त की अशुद्धि एकमात्र अपने दुःख और दोष के सम्बन्ध में यथेष्ट ज्ञान तथा साधन और साध्य में विकल्परहित विश्वास न होने में ही है। अतः निज-विवेक के प्रकाश में अपने दुःख और दोष को जानना अनिवार्य है, जिसे वह स्वयं जान सकता है। दुःख का स्पष्ट ज्ञान होने पर ही उसकी निवृत्ति की उत्कट अभिलाषा जाग्रत होती है, और दोष के ज्ञान में ही निर्दोषता की आवश्यकता निहित है। इस दृष्टि से दुःख तथा दोष का ज्ञान ही व्यक्ति के विकास का मूल है।

ऐसा कोई दोष है ही नहीं जिसके मूल में कामना-उत्पत्ति न हो, और ऐसा कोई दुःख है ही नहीं जिसके मूल में कामना-उत्पत्ति न हो। कामना-उत्पत्ति और अपूर्ति ही दोष तथा दुःख है, जो वास्तव में अविवेक-सिद्ध है। प्राप्त विवेक के आदर से अविवेक की निवृत्ति वर्तमान में हो सकती है। कारण, कि विवेक के अनादर के अतिरिक्त अविवेक कोई वस्तु ही नहीं है। विवेक का अनादर किसी और का बनाया हुआ दोष नहीं है, उसे व्यक्ति ने स्वयं ही अपनाया है। इस कारण उसके त्याग का दायित्व उसी पर है। यह नियम है

कि पुरुषार्थ की पूर्णता में ही कर्त्तव्य की समाप्ति है, और कर्त्तव्य की समाप्ति में सफलता स्वतः सिद्ध है।

विवेक प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है। उसके उपयोग मात्र में ही प्राणी का पुरुषार्थ है। विवेक किसी कर्म का फल नहीं है, क्योंकि कर्म-अनुष्ठान से पूर्व कर्म की सामग्री बिना किसी कर्म के ही प्राप्त होती है, यह प्राकृतिक नियम है। ऐसा कोई कर्म हो ही नहीं सकता जिसकी सिद्धि ज्ञान, सामर्थ्य तथा वस्तुओं के बिना सम्भव हो। प्रत्येक परिवर्तनशील परिस्थिति भले ही कर्म का परिणाम हो, परन्तु कर्म की मूल सामग्री किसी कर्म का परिणाम नहीं हो सकती। वह तो किसी की देन है, अथवा यों कहो कि स्वतः प्राप्त है। इस दृष्टि से समस्त ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। जिसको जितना प्राप्त है उसके स्वाध्याय में ही व्यक्ति का अधिकार है और वही उसका साधन है।

ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तुएँ असीम हैं, उनकी गणना तथा सीमा नहीं हो सकती। व्यक्ति उनकी खोज भले ही कर सके, पर उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकता। यह नियम है कि खोज उसी की होती है, जो है। इस दृष्टि से विज्ञान विज्ञानवेत्ता की, दर्शन, दर्शनकार की और कला, कलाकार की खोज है, उपज नहीं। जिस प्रकार दाना भूमि से मिलकर अपने स्वाभावानुसार विकास पाता है, उसी प्रकार व्यक्ति अन्तर्मुख होकर अपनी रुचि के अनुसार विकास पाता है। इस दृष्टि से जिस व्यक्ति को ज्ञान, सामर्थ्य तथा वस्तु प्राप्त है वह उस अनन्त की है, व्यक्ति की नहीं है। व्यक्ति ने तो प्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य एवं वस्तु में केवल ममता कर ली है, अथवा यों कहो कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं ज्ञान का अभिमान कर लिया है। अनन्त की देन को अनन्त के समर्पित करना साधन है और उसी के नाते प्राप्त का सदुपयोग करना भी साधन है। इतना ही नहीं, जिससे सब कुछ मिला है उसको बिना प्राप्त किये सर्वांश में दुःख तथा दोष का अन्त नहीं हो सकता। अतः उसको प्राप्त करना ही साध्य है। प्राप्ति से पूर्व साधन और साध्य के सम्बन्ध में विकल्प-रहित विश्वास ही हो सकता है, साध्य के स्वरूप का बोध नहीं। जिस प्रकार प्रत्येक बीज अपने स्वभाव का अन्त किये बिना उसके स्वरूप को नहीं जान पाता, जिससे वह विकसित होता है, उसी प्रकार व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वभाव का अन्त किये बिना उस अनन्त के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता, जिससे वह सब प्रकार का विकास पाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति में सतत् परिवर्तन तथा विनाश है। अतः प्राप्त वस्तु आदि से ममता करना, उनका अभिमान करना, उसमें रमण करना तथा उनके आश्रय को स्थायी बनाना, अविवेक के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

वस्तुओं के सतत् परिवर्तन तथा उनके अदर्शन की अनुभूति का अनादर ही अविवेक को पुष्ट करता है और उसकी पुष्टि से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है।

इस मूल दोष को स्पष्ट जान लेने से कामना-निवृत्ति तथा अविवेक का अन्त करने की

लालसा जाग्रत होती है। वह लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों अनन्त की अहैतुकी कृपा-शक्ति स्वतः उस लालसा की पूर्ति की सामर्थ्य तथा योग्यता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अविवेक का अन्त करने की अभिलाषा ही अविवेक के नाश में समर्थ है। मूल दोष तथा दुःख के रहते हुए समस्त दोषों और दुःखों का सदा के लिये अन्त नहीं हो सकता और उसका अन्त हुए बिना साधन तथा साध्य में विकल्प रहित विश्वास नहीं हो सकता।

अविवेक तथा कामना-उत्पत्ति ही मूल भूल, अर्थात् दोष है। इस दोष की निवृत्ति विवेक तथा कामना-निवृत्ति से ही सम्भव है। उसके लिये प्राप्त विवेक का आदर करना होगा। कामना-अपूर्ति ही मूल दुःख है। उसकी निवृत्ति कामना-पूर्ति द्वारा सम्भव नहीं हैं। हाँ, जो कामनाएँ किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकतीं उनकी पूर्ति प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः हो जाती है। परन्तु उन कामनाओं की पूर्ति का जो सुख है साधक को उसका त्याग करना होगा। कामना-पूर्ति के सुख-भोग से रहित होने पर नवीन कामनाएँ उत्पन्न नहीं होंगी। इस दृष्टि से जो कामनाएँ मिटाई नहीं जा सकती, वे पूरी हो-होकर स्वतः मिट जायेंगी। कामना-पूर्ति के सुख के प्रलोभन से ही नवीन कामनाओं का जन्म होता है। जिन कामनाओं की पूर्ति किसी भी कारण से संभव नहीं है, उन कामनाओं का त्याग करना ही अनिवार्य है। कामनाओं के त्याग में साधक सर्वदा स्वाधीन है। पराधीनता कामना-पूर्ति में है, निवृत्ति में नहीं। कामना-निवृत्ति का महत्व जानने पर पराधीनता सदा के लिये मिट जाती हे और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख की आशा उत्पन्न करता है और कामना-अपूर्ति के दुःख से भयभीत होने पर कामना-पूर्ति का प्रलोभन उत्पन्न होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कामना-अपूर्ति का दुःख कामना-पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त करने के लिये आता है। पर प्राणी असावधानी के कारण उस दुःख से भयभीत हो जाता है, जिसके होते ही चित्त में नीरसता तथा खिन्नता उत्पन्न होती है। नीरसता तथा खिन्नता की भूमि में ही काम का जन्म होता है जो समस्त कामनाओं की भूमि है। इस दृष्टि से काम का अन्त हुए बिना कामनाओं की निवृत्ति सम्भव नहीं है। नीरसता के रहते हुए काम का नाश नहीं हो सकता और प्रीति के बिना नीरसता मिट नहीं सकती। वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा ने ही प्राणी को जड़ता में आबद्ध कर दिया है। जड़ता में आबद्ध होने से ही प्रीति आच्छादित हो गयी है। वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर ही जड़ता का नश हो सकता है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये साधक को सर्वप्रथम शरीर रूपी वस्तु के स्वरूप को जानना होगा। शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सारे विश्व का ज्ञान हो जाता है। कारण, कि शरीर विश्वरूपी सागरकी ही एक लहर है।

शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता में ही समस्त विश्व की सत्यता तथा सुन्दरता निहित है, अथवा यों कहो कि शरीर की आसक्ति ने ही समस्त वस्तुओं में आसक्ति उत्पन्न कर दी है।

शरीर के वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर इसकी सत्यता तथा सुन्दरता स्वतः मिट जाती है। अतः जो ज्ञान प्राप्त है उससे शरीर की वास्तविकता को जानकर साधक बड़ी ही सुगमता से काम रहित हो सकता है। जिस साधक को अपने शरीर में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन नहीं होता, उसे किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन नहीं होता। वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता का नाश होते ही वस्तुओं की ममता अपने आप मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध होने लगता है और सर्वांश में वस्तुओं का सम्बन्ध-विच्छेद होने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

जिस ज्ञान से वस्तुओं की वास्तविकता का बोध होता है, उसी ज्ञान में वस्तुओं से संबन्ध-विच्छेद करने की सामर्थ्य विद्यमान है और वह प्रत्येक साधक को प्राप्त है। अतः जो ज्ञान प्राप्त है, उसी के द्वारा साधक को प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को जान लेना चाहिए, जिससे वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता का नाश हो जाए और वस्तुओं से अतीत के जीवन में विकल्परहित विश्वास हो जाए । वस्तुओं से अतीत का जीवन ही वास्तविक साध्य है और जिस ज्ञान से वस्तुओं के स्वरूप का बोध होता है, वह ज्ञान वास्तविक साधन है।

वस्तुओं से तद्रूपता स्वीकार करना ही मूल दोष है, जिसकी निवृत्ति उसी ज्ञान से हो सकती है जिस ज्ञान से वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। मूल दोष की निवृत्ति में ही साधन की पूर्णता है, और साधन की पूर्णता में ही सिद्धि निहित है।

निज ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के स्वरूप को जानने का प्रयास न करना ही साधक की असावधानी है, और अनन्त की देन का अनादर है। अनन्त की देन का अनादर तथा असावधानी को अपनाना ही असाधन है। असाधन का त्याग किए बिना साधन में श्रद्धा तथा तत्परता उत्पन्न नहीं होती, जिसके उत्पन्न हुए बिना साधन-परायणता नहीं होती, और साधन-परायणता के बिना सिद्धि नहीं होती। इस दृष्टि से असाधन का त्याग ही मूल साधन है। इस मूल साधन में विकल्प-रहित विश्वास करना अनिवार्य है। निज ज्ञान का आदर करने पर बड़ी सुगमता से असाधन का अन्त हो सकता है, जो मूल साधन है। निज ज्ञान का आदर करने पर कोई भी साधक अपने को देह नहीं मान सकता। अपने में से देह-भाव का त्याग होते ही किसी भी कामना की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मूल दोष की निवृत्ति का साधन एक मात्र निज ज्ञान के द्वारा अपने में से देह-भाव का त्याग करना है। अपने में से देह-भाव का त्याग वर्त्तमान में हो सकता है। अतः मूल दोष की निवृत्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसके लिये भविष्य की आशा करना भूल है।

जो वर्तमान जीवन की वस्तु है उसे वर्तमान में ही पूरा करना है, और जिसे वर्तमान में पूरा करना है उसके करने में साधक सर्वदा स्वाधीन है। परन्तु मूल साधन में विकल्प रहित विश्वास न होने के कारण बेचारा साधक साधन-निष्ठ होने में अपने को असमर्थ मान बैठता है, जो वास्तविकता नहीं है। निज विवेक के द्वारा अपने में से देह-भाव का त्याग मूल साधन है। सभी

वस्तुओं से अतीत का जीवन ही साध्य है। इन दोनों में विकल्प-रहित विश्वास होने पर कामना उत्पत्ति और अपूर्ति(जो मूल दोष तथा दुःख है) की निवृत्ति हो सकती है। मूल दोष तथा दुःख के ज्ञान से साधन और साध्य में विकल्प-रहित विश्वास स्वतः होता है और साधन तथा साध्य में विकल्प-रहित विश्वास होने से दोष और दुःख की निवृत्ति होती है। अतः मूल दोष और दुःख के वास्तविक ज्ञान से तथा साधन और साध्य में विकल्प-रहित विश्वास होने से चित्त शुद्ध होता है।

५.०६.१९५६

इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग एवंबुद्धि-ज्ञान का आदर

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

आए हुए दुःख को सुख तथा सुख की आशा से दबाने के प्रयास में, और जाने हुए दोष को बनाए रखने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। जाने हुए दोष को बनाये रखने में प्रधान कारण सुख-लोलुपता ही है, क्योंकि दोष-जनित सुख से अरुचि होने पर दोष मिटाने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है, अथवा यों कहो कि दोष स्वतः मिट जाते हैं। कामना-पूर्ति के अतिरिक्त सुख का ओर कोई स्वरूप नहीं है। कामना-पूर्ति में पराधीनता का दोष सदैव रहता है। इस दृष्टि से समस्त सुख दोष जनित ही हैं, क्योंकि पराधीनता समसत दोषों का केन्द्र है। अतः आए हुए दुःख को सुख एवं सुख की आशा से दबाने तथा मिटाने का प्रयास सर्वदा निरर्थक एवं अहितकर ही सिद्ध होता है, क्योंकि सुख नवीन दुःख को जन्म देता है, और प्रत्येक सुख के आरम्भव में भी किसी-न-किसी प्रकार के दुःख को अपनाना ही पड़ता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार दुःख, सुख की दासता से मुक्त करने के लिये अथवा सुख की वास्तविकता का अनुभव कराने के लिये आता है। इस दृष्टि से दुःख जीवन का आवश्यक अंग है। उससे भयभीत होना भूल है। दुःख का सदुपयोग सुख तथा सुख की दासता से मुक्त कर सुख-दुःख से अतीत के जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, सुख के सदुपयोग के लिये भी दुःख ही अपेक्षित हैं, क्योंकि पर दुःख से दुखी हुए बिना कोई भी उदार तथा करूण नहीं हो सकता और करुणा तथा उदारता में ही सुख का स्वाध्याय सम्भव है, अथवा यों कहो कि सुख का महत्व तभी प्रतीत होता है जब किसी दुःखी से सम्बन्ध स्थापित किया जाय। यदि दुःख तथा दुःखी का दर्शन न हो, तो सुख की प्रतीति ही सम्भव नहीं है।

दुःख का अत्यन्त अभाव होने पर कभी सुख का दर्शन ही नहीं होता, क्योकि दुःख के अभाव में तो आनन्द है, जीवन है, नितनूतन अगाध अनन्त रस है। इतना ही नहीं, सुख प्राणी को जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध करता है और आनन्द चिन्यमता तथा स्वाधीनता से अभिन्न करता है। सुख का भास कामना-पूर्ति में और आनन्द में प्रवेश कामना-निवृत्ति से होता है। सुख अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करता है और आनन्द सब प्रकार के भेदों का अन्त करता है। सुख भोग और भोक्ता को जन्म देता है और आनन्द, स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है। सुख सीमित और परिवर्तनशील है और आनन्द असीम तथा

अपरिवर्तनशील है। इस दृष्टि से सुख और आनन्द में बड़ा भेद है। पर इस रहस्य को बिना जाने बेचारा प्राणी सुख का दास हो जाता है और आनन्द से निराश हो जाता है, जो चित्त की अशुद्धि में हेतु है।

अपने आप आए हुए दुःख को सुख के द्वारा दबाने की रुचि क्यों होती है, और जाने हुए दोष को बनाए रखने का स्वभाव क्यों बन गया है? सुख-भोग की आसक्ति के कारण ही प्राणी आए हुए दुःख को सुख से दबाने का प्रयास करता है, और सुख को सुरक्षित बनाये रखने के लिए जाने हुए दोष को अपनाता है। सुख-भोग की आसक्ति का मूल कारण अपने में इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का अंकित होना है। जिसमें इन्द्रियज्ञान का प्रभाव अंकित है, वह क्या है, इसका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं। परन्तु उसका भास अपने में ही प्रतीत होती है। अपने का स्पष्ट अर्थ भी ज्ञात नहीं है, तभी इन्द्रियों का ज्ञान अंकित होता है। परन्तु जब बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव अंकित होने लगता है, तब इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव स्वतः मिट जाता है, क्योंकि ज्ञान में ज्ञान अंकित नहीं हो सकता, अपितु अल्प-ज्ञान विशेष ज्ञान में विलीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि अल्प-ज्ञान विशेष-ज्ञान से अभिन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि अल्प-ज्ञान मिट जाता है। जिस प्रकार अल्प प्रकाश विशेष प्रकाश में विलीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि जैसे विशेष प्रकाश अल्प प्रकाश को खा लेता है, उसी प्रकार विशेष-ज्ञान अल्प-ज्ञान का नाशक है।

इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव जिसमें अंकित होता है वह अपने को भोगी अथवा कामी मान लेता है। पर जब बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह उत्पन्न करता है, तब वही कामी अपने को जिज्ञासु मान लेता है। अपने को कामी स्वीकार करते ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनकी पूर्ति-अपूर्ति में सुख-दुःख का भास होता है। परन्तु ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह होता जाता है, त्यों-त्यों जिज्ञासा जाग्रत होती जाती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं का नाश करने लगती है। जिस काल में इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिट जाता है, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ण जागृति हो जाती है और जिज्ञासा की पूर्ण जागृति में कामनाओं की निवृत्ति हो जाती है।

कामनाओं की निवृत्ति होते ही जिसने अपने को कामी स्वीकार किया था, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतीत नहीं होता, अपितु जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। जिज्ञासा जिससे अभिन्न होती है, वह कोई वस्तु नहीं है, अपितु समस्त वस्तुओं से अतीत, अनुपम, विलक्षण तत्त्व है। उसकी प्राप्ति सम्भव है, पर उसका वर्णन सम्भव नहीं है। कारण, कि इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही बुद्धि का ज्ञान उसी प्रकार मिट जाता है जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है और फिर इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का भेद शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि बुद्धि तथा उसके ज्ञान का महत्व भी नहीं रहता, क्योंकि महत्व उसी का रहता है जिसकी आवश्यकता हो। बुद्धि के ज्ञान की आवश्यकता उसी समय तक रहती है, जिस समय तक इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव अंकित है, अथवा यों कहो कि जिस प्रकार बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान के

प्रभाव को खा लेता है, उसी प्रकार अनन्त-नित्य-ज्ञान बुद्धि के ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होते ही समस्त तारामण्डल का प्रकाश उसी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव अनन्त ज्ञान में विलीन हो जाता है।

परन्तु जब तक इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव सर्वांश में नाश नहीं होता, तब तक बुद्धि के ज्ञान का महत्व तथा उसका अस्तित्त्व भासित होता हे। जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठ को भस्म कर स्वयं शान्त हो जाती है, उसी प्रकार अपने में उत्पन्न हुआ बुद्धि-ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खाकर स्वयं सम हो जाता है, जिसके होते ही वही ज्ञान अपने आपमें ज्यों-का-त्यों स्थित हो अपने आपको प्रकाशित करता है।

इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का द्वन्द्व जब तक रहता है, तब तक चित्त शुद्ध नहीं होता। इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से बुद्धि-ज्ञान में शिथिलता भले ही आ जाय, पर बुद्धि-ज्ञान का नाश नहीं होता और बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव नष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से इन्द्रिय और बुद्धि के ज्ञान का द्वन्द्व बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से ही मिट सकता है। इन्द्रिय ज्ञान से नहीं।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति दुराचार-युक्त और बुद्धि-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति सदाचार-युक्त होती है। यद्यपि अपने प्रति किसी को दुराचार युक्त प्रवृत्ति अभीष्ट नहीं हैं, परन्तु इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से आसक्त प्राणी दूसरों के प्रति दुराचार-युक्त प्रवृत्ति करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। जो अपने को अभीष्ट है, वहीं दूसरों के प्रति करने से बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है और फिर इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का द्वन्द्व मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव में आसक्त प्राणी सुख का दास हो जाता है और दुःख से भयभीत होने लगता है। सुख की दासता और दुःख का भय चित्त को शुद्ध नहीं होने देता। यद्यपि बुद्धि का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा कहीं सबल तथा स्थायी है, परन्तु सुख-लोलुपता के कारण प्राणी बुद्धि-ज्ञान का अनादर करता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह अल्प सुख के लिए घोर दुःख भोगता है, क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो सुख की अवधि दुःख की अपेक्षा कहीं अल्प है, अर्थात् दुःख सुख की अपेक्षा सबल भी है और चिरायु भी। सुख-दुःख के इस रहसय को जान लेने पर सुख का महत्व घट जाता है, जिसके घटते ही इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव स्वतः मिट जाता है, अथवा यों कहो कि बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव दृढ़ हो जाता है, जिसके होते ही जीवन संयम, सदाचार और सेवायुक्त हो जाता है।

बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव में कर्त्तव्य का ज्ञान निहित है। ज्यों-ज्यों कर्त्तव्य-परायणता दृढ़ तथा स्वाभाविक होती जाती है, त्यों-त्यों अकर्त्तव्य का अन्त स्वतः होता जाता है। अकर्त्तव्य का अन्त होने पर स्वार्थ-भाव, दुराचार और असंयम का अन्त हो जाता है, अथवा यो कहो कि सर्वांश में संयम, सदाचार और सेवा स्वतः होने लगती है। संयम, सदाचार और सेवा की पूर्णता में सीमित अहम्भाव

स्वतः गल जाता है, जिसके गलते ही भेद का नाश हो जाता है और फिर किसी प्रकार का भय तथा अभाव शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

संयम, सदाचार और सेवा की अपूर्णता में ही अहम्भाव प्रतीत होता है, जिससे भेद की उत्पत्ति होती है, क्योंकि गुणों के अभिमान के बिना भेद की उत्पत्ति संभव नहीं है। गुण का अभिमान गुणों की अपूर्णता में ही जीवित रहता है, वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। जो गुण देहाभिमान को पुष्ट करता है वह गुणों के वेष में वास्तव में दोष है, क्योंकि देहाभिमान के रहते हुए सर्वांश में निर्दोषता संभव नहीं है। इतना नहीं नही, जो दोष, दोष के स्वरूप में प्रतीत होता है, उसकी निवृत्ति सुगमतापूर्वक हो सकती है, किन्तु जो दोष गुण का वेष धारण करके आता है उसका अन्त करना बड़ा ही दुष्कर होता है। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान महान दोष है। समस्त गुण स्वरूप से उस अनन्त का स्वभाव हे, जिससे सभी को सब कुछ प्राप्त होता है और जो सभी का सब कुछ है। संयम, सदाचार और सेवा की पूर्णता में संयमी, सदाचारी और सेवकपन का भाव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जिसे अपने में संयम, सदाचार तथा सेवा प्रतीत होती है, वह वास्तव में संयमी, सदाचारी तथा सेवक है नहीं।

सर्वांश में असंयम का अन्त संयम के अभिमान को खा लेता है और फिर सदाचार तथा सेवा तो रहती है, पर सदाचारी तथा सेवक नहीं रहता। सेवक से रहित जो सेवा और सदाचारी से रहित जो सदाचार है, वही वास्तव में संयम, सदाचार तथा सेवा है। संयम की पराकाष्ठा में अहिंसा स्वतः आ जाती है। अहिंसा, करुणा और प्रेम की एकता निर्वैरता की और निर्वासना स्वाधीनता की जननी हैं। स्वाधीनता, निर्वैरता, करुणा और प्रेम में संयम, सदाचार तथा सेवा की पूर्णता है। करुणा तथा प्रेम में अगाध-अनन्त रस में निहित है। निर्वैरता तथा स्वाधीनता में सब प्रकार के भय, भिन्नता एवं असमर्थता का अत्यत अभाव है।

इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव काम उत्पन्न करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है, और बुद्धिजन्य का प्रभाव जिज्ञासा जाग्रत कर कामनाओं का अन्त करने में समर्थ है। कामनाओं का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से बुद्धि-ज्ञान का आदर चित्त-शुद्धि का सुगम उपाय है। बुद्धि-ज्ञान का अनादर ही जाना हुआ दोष है, जिसका अन्त किये बिना सुख की आशा मिट नहीं सकती, और उसके बिना दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति सम्भव नहीं हैं। दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति से ही स्वाधीनता, निर्भयता एवं अगाध-अनन्त रस की प्राप्ति हो सकती है, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि के लिये साधक को इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का अन्त करने के लिए बुद्धि-ज्ञान का आदर करते हुए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, जो वर्तमान जीवन की वस्तु है। इसके लिए भविष्य की आशा करना उससे निराश होना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

६.०६.१९५६

आसक्ति की निवृत्ति एवं प्रेम की प्राप्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

जो नित्य प्राप्त नहीं है उसमें आसक्ति होने पर और जो नित्य प्राप्त है उसमें प्रेम न होने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार आसक्ति उसी में होती है जो नित्य प्राप्त नहीं है, अर्थात् जो सदैव नहीं रहता। परन्तु यह आसक्ति की विलक्षणता है कि जो वस्तु नित्य प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त जैसा भासित कराती है और नित्य प्राप्त के प्रेम को-आच्छादित कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जिससे देशकाल की दूरी नहीं है, वह अप्राप्त प्रतीत होता है और जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है, वह प्राप्त जैसा प्रतीत होता है। उस प्रतीति मात्र को ही बेचारा प्राणी प्राप्ति मान लेता है। यद्यपि प्रतीति में सतत् परिवर्तन है, परन्तु परिवर्तन पर दृष्टि ही नहीं रहती। इतना ही नहीं, प्रत्येक संयोग सतत् वियोग में बदल रहा है, किन्तु संयोग की दासता सबल तथा स्थायी होती जा रही है। जिसका वियोग अनिवार्य है, उसके संयोग की रुचि बनाए रखना चित्त को अशुद्ध ही करना है।

आसक्ति उसी में होती है, जिसकी वास्तविक सत्ता न होने पर भी प्रतीति हो, अर्थात् जो वस्तु है नहीं, पर प्रतीति होती है, उसी में प्राणी आसक्त हो जाता है। जो है नहीं, उसकी प्रतीति का कारण क्या है? इस प्रश्न की उत्पत्ति जिसमें है वह स्वयं अपने को क्या मानता है? अथवा यों कहो कि प्रश्न का उद्गम स्थान क्या है? किसी भी प्रश्नकर्त्ता में उसी समय तक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, जिस समय तक वह अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह नहीं हो जाता। जिसे अपने सम्बन्ध में ही सन्देह है, उसे किसी पर भी सन्देह हो सकता है, अथवा जो अपने को किसी मान्यता में आबद्ध कर सकता है, वह किसी में भी किसी भी मान्यता की स्थापना कर सकता है, अर्थात् जिसे अपने सम्बन्ध में सन्देह होता है, उसे ही दूसरों के सम्बन्ध में सन्देह होता है। जो अपने को कुछ मान लेता है, वही दूसरे को भी कुछ मान लेता है। इस दृष्टि से जब तक प्रश्नकर्त्ता अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह नहीं हो जाएगा, तब तक किसी भी वास्तविकता को नहीं जान सकता। जो प्रतीत हो रहा है यदि वह है, तो उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती? अर्थात् उससे एकता क्यों नहीं होती?

यह नियम है कि प्राप्ति-काल में प्रयत्न नहीं रहता, किन्तु जो प्रतीत हो रहा है उसकी ओर सतत् प्रवृत्ति होती है। परिणाम में अभाव के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता। यदि प्रतीति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो उसकी प्राप्ति अवश्य होता। प्रवृत्ति-जनित सुख-दुःख को ही यदि प्राप्ति मान लिया जाय, तो फिर अप्राप्ति किसे मानेंगे? प्रवृत्ति में सुख का भास भी तब होता है, जब प्रवृत्ति की रुचि हो और परिणाम में सुख की आशा हो, अर्थात् रुचि और आशा के आधार पर प्रवृत्ति सुखद भासती है, और रुचि और आशा का जन्म प्रतीति को सत्य मान लेने से होता है। जिसकी सत्यता प्राप्ति से पूर्व स्वीकार कर ली, उसकी रुचि तथा उससे सुख की आशा उत्पन्न हो

जाती है, जो प्रतीति से सम्बन्ध जोड़ देती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रतीति में ममता हो जाती है, ममता में प्रियता उत्पन्न होती है और प्रियता आसक्ति को जन्म देती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

इन्द्रियों से विषयों की, मन से इन्द्रियों की, बुद्धि से मन की और निज-ज्ञान से बुद्धि की प्रतीति होती है। जिस ज्ञान से बुद्धि की प्रतीति होती है, क्या उस ज्ञान को बुद्धि की आवश्यकता है? कदापि नहीं, क्योंकि जो नित्य ज्ञान है उसे बुद्धि के परिवर्तनशील ज्ञान की क्या आवश्यकता होगी?

जो बुद्धि का ज्ञाता है, क्या उसे अपनी पूर्ति के लिए शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि किसी भी वस्तु की अपेक्षा है? यदि नहीं है, तो उसने बुद्धि, मन आदि से सम्बन्ध क्यों स्थापित किया? और यदि है तो क्यों है? क्या प्रश्नकर्त्ता स्वयं अपने को बुद्धि का ज्ञाता स्वीकार करता है? अथवा अपने को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि मानता है? अथवा ज्ञाता और शरीर से विलक्षण कुछ और अपने को मानता है? प्रश्नतकर्त्ता को अपने सम्बन्ध में भी कोई-न-कोई निर्णय देना होगा। शरीर को मैं मान नहीं सकता और अपने को ज्ञाता मानकर शरीर से संबन्ध जोड़ नहीं सकता। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध जोड़े बिना प्रतीति की चर्चा कर नहीं सकता। यदि प्रतीति की चर्चा करता है, तो स्वयं प्रतीति से तद्रूप हो जाता है। जो नहीं है, उससे तद्रूप होकर उसको जान नहीं सकता, और जो है, उससे भिन्न होकर उसको जान नहीं सकता, और जो है, उससे भिन्न होकर उसको जान नहीं सकता, अर्थात् "है" से अभिन्न होकर 'है' को प्राप्त करता है, और जो नहीं है, उससे असंग होकर उसकी वास्तविकता को जान सकता है।

अतः प्रतीति की वास्तविकता को जानने के लिए प्रतीति से असंग होना अनिवार्य है। प्रतीति से असंग होते ही प्रतीति का अभाव स्वतः हो जाता है और फिर यह प्रश्न ही शेष नहीं रहता कि न होने पर प्रतीति क्यों होती है। बुद्धि और ज्ञाता के मध्य में जो अपने आपकी स्वीकृति होती है, जिस स्वीकृति को अनेक मान्यताओं में आबद्ध कर लिया है, वह न प्रत्तीति है और न ज्ञाता, अथवा यों कहो कि स्वीकृति में सत्यता उसी समय तक रहती है, जिस समय तक उसको स्वीकार किया है। इस दृष्टि से अपने-अपने सम्बन्ध में जिस-जिसने जो-जो स्वीकृति विकल्प-रहित रूप से स्वीकार कर ली है, वह स्वीकृति स्वयं अपना एक अस्तित्व मान लेती है और स्वीकृति के अनुसार ही कोई-न-कोई कामना उत्पन्न हो जाती है। कामना की पूर्ति के लिये ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है और कामना-निवृत्ति के लिये ही प्रतीति से अतीत किसी नित्य की प्राप्त सत्ता सिद्ध होती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि कामना-पूर्ति का रोग जब तक है, तब तक प्रतीति की ओर गति है। परिणाम में भले ही अभाव हो, पर कामनापूर्ति का प्रलोभन प्रतीति की ओर गतिशील करता रहता है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन सर्व के ज्ञाता में हो नहीं सकता, क्योंकि जो सर्व का ज्ञाता है उसमें काम है ही नहीं, और जिन साधनों से कामना की पूर्ति होती है उन साधनों में भी कामनापूर्ति का प्रलोभन नहीं हो सकता। कामना-

पूर्ति का प्रलोभन जिसमें है, वह न ज्ञाता है और न शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कोई वस्तु। वस्तु से सम्बन्ध जोड़कर भले ही वस्तु-जैसा प्रतीत हो और कामना-अपूर्ति के दुःख से दुःखी होकर भले ही उसमें कामना-निवृत्ति की जिज्ञासा जाग्रत हो।

जो कामना-पूर्ति-अपूर्ति से सुखी-दुखी होता है और जिसमें कामना-निवृत्ति की जिज्ञासा होती है, उसीमें समस्त प्रश्न उत्पन्न होते हैं। कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर समस्त आसक्तियां स्वतः गल जाती हैं, जिनके गलते ही, जो नित्य प्राप्त है उससे प्रेम स्वतः हो जाता है, जिससे चित्त की अशुद्धि मिट जाती है।

जो अपने को कामी मानता है, वही अपने को जिज्ञासु तथा प्रेमी भी मानता है। परन्तु जब तक कामना-पूर्ति का प्रलोभन है, तभी तक वह कामी है, और जब तक कामी है, तभी तक आसक्तियों में आबद्ध है। बेचारा आसक्त प्राणी जिस वस्तु में आसक्त हो जाता है, उसके दोष नहीं जान पाता। जिसके दोष का ज्ञान नहीं होता, उससे निवृत्ति नहीं होती। कारण आसक्ति रहते हुए दोष-युक्त वस्तुओं से सम्बन्ध बना ही रहता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अपने में देह-भाव की स्वीकृति दृढ़ होने पर ही काम की उत्पत्ति होती है और काम की उत्पत्ति होने पर कामनाएँ उत्पन्न होती है। कामना-पूर्ति में पराधीनता, जड़ता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं और कामना-उत्पत्ति का प्रवाह चलने लगता है, जिससे कामना-अपूर्ति-काल में दुःख और पूर्ति-काल में पराधीनता की वेदना उत्पन्न होती है। जब उत्पन्न हुई वेदना सहन नहीं होती, तब साधक में कामना-निवृत्ति की लालसा उदित होती है, जो कामना-पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त कर कामना निवृत्ति के साम्राज्य में प्रवेश करा देती है, जिसके होते ही, जो अपने को कामी, अर्थात् भोगी मानता था, वही अपने को योगी मान लेता है, क्योंकि कामना निवृत्त होने पर देह से संबन्ध विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व मिट जाता है और फिर वह अपने को भोगी नहीं मानता।

ज्यों-ज्यों साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन से मुक्त होता जाता है, त्यों-त्यों कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य स्वतः आती जाती है, क्योंकि कामना-पूर्ति के सुख की दासता ही नवीन कामना को उत्पन्न करती है। कामना-पूर्ति के सुखकी दासता का अत्यन्त अभाव होते ही नवीन कामनाओं की उत्पत्ति नहीं होती और कामना-पूर्ति के सुख की आसक्ति भी नहीं रहती, जिसके मिटते ही कामना-निवृत्ति की शान्ति स्वतः प्राप्त होती है। यदि साधक कामना-निवृत्ति की शान्ति में रमण न करें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक शांति से अतीत जो चिन्मय, स्वाधीन साम्राज्य है, उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही योग की पूर्णता हो जाती है। योग की पूर्णता से ही ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, अथवा यों कहो कि कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति योग से और योग ज्ञान तथा प्रेम से अभिन्न कर देता है। परन्तु जो अप्राप्त है, उसमें प्राप्त-बुद्धि और जो प्राप्त है, उसमें अप्राप्त बुद्धि

होने से भोग का अन्त और योग, ज्ञान तथा प्रेम से एकता हो नहीं पाती।

देह-भाव की स्वीकृति है, उससे एकता नहीं है, परन्तु स्वीकृति में ही अहम्-बुद्धि होने से भिन्नता होने पर भी एकता प्रतीत होने लगती है। उसी का परिणाम यह होता है कि जिस देहातीत, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से एकता है, अर्थात् जो प्राप्त है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है। जिसके एकता नहीं है, उसमें आसक्ति हो गई, और जिसकी प्राप्ति है, उससे प्रेम नहीं हुआ। यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे भिन्नता है, उससे अनासक्ति होनी चाहिए और जो नित्य प्राप्त है, उससे प्रेम होना चाहिए परन्तु अप्राप्त को प्राप्त मान लेने से और नित्य-प्राप्त को अप्राप्त मानने से, जो होना चाहिए वह नहीं हुआ, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया। जो होना चाहिए, उसके न होने का एकमात्र कारण स्वीकृति में अहमबुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वीकृति केवल अस्वीकृति से ही मिट सकती है, वह किसी और प्रकार से नहीं मिटाई जा सकती। अतः 'देह मैं नहीं हूँ-इतने मात्र से ही देह से सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो जायगा और नित्य-प्राप्त का प्रेम स्वतः जाग्रत होगा।

देह की प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र में ही, जो देह से अतीत है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है, अथवा यों कहो कि विश्व की प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र से ही, जो विश्व का आधार है एवं जिससे समस्त विश्व प्रकाशित है, उसकी अप्राप्ति होती है। जिसके किसी अंश-मात्र में समस्त विश्व प्रतीत हो रहा है, उस अनन्त की अप्राप्ति का भास केवल विश्व की प्राप्ति की स्वीकृति में ही है।

शरीर में ममता की प्राप्ति भी अपने को शरीर मानने पर ही होती है। बुद्धि द्वारा जानते हैं, मन के द्वारा विश्वास करते हैं और वाणी के द्वारा वर्णन करते हैं कि 'शरीर मेरा है।' बुद्धि, मन, वाणी भी तो शरीर ही हैं। शरीर से भिन्न वाणी, बुद्धि आदि का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी तो शरीर ही हैं। तीनों शरीरों से असंग होकर किसी ने भी शरीर की ममता को नहीं जाना। इतना ही नहीं, शरीर और विश्व में विभाजन किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हैं। इस दृष्टि से शरीर और विश्व में स्वरूप की एकता है, अर्थात् जिस धातु से विश्व निर्मित है, उसी धातु से शरीर भी निर्मित है। जो विश्व का प्रकाशक तथा आधार है वही शरीर का भी प्रकाशक है। विश्व किसी और की सम्पत्ति हो और शरीर किसी और की, यह युक्ति-युक्त सिद्ध नहीं हैं। शरीर और विश्व किसी एक ही की वस्तु है। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु को अपना मानना है, अथवा अपने को कोई वस्तु मानना, सर्वथा विवेकहीनता है। समस्त वस्तुओं की ममता से रहित हो जाने पर और सभी वस्तुओं से असंग हो जाने पर, अहम् और मम का सदा के लिए अन्त हो जाता है, जिसके होते ही सब प्रकार के भेद स्वतः मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

अपने को देह आदि किसी-न-किसी स्वीकृति में आबद्ध कर लेने से ही समस्त प्रवृत्तियों का आरम्भ होता है। प्रवृत्ति साधन भी है आर असाधन भी। अपने को व्यक्ति मान लेने पर

समाज की सेवा करता साधनरूप प्रवृत्ति है, और समाज से स्वार्थ-सिद्धि करना असाधनरूप प्रवृत्ति है। अपने को प्रेमी मानकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करना साधन, और प्रेमास्पद से कुछ भी माँगना असाधन है। समस्त आसक्तियाँ स्वार्थभाव से उत्पन्न होती है। सेवाभाव स्वार्थभाव का अन्त कर अनासक्ति प्रदान करता है, अथवा यों कहो कि साधन-रूप प्रवृत्ति अनासक्ति प्रदान करती है, और असाधनरूप प्रवृत्ति आसक्ति उत्पन्न करती है। अनासक्ति आसक्ति को खाकर स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही प्रेम का उदय होता है। समस्त स्वीकृतियों को अस्वीकार करने पर निर्वासना अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही, जो है नहीं, उसकी निवृत्ति हो जाती है और जो है, उसकी प्राप्ति हो जाती है, अथवा यों कहो कि जो है नहीं, उसकी आसक्ति मिट जाती है, और जो है, उससे प्रेम हो जाता है। आसक्ति, अनासक्ति और प्रेम, इन तीनों में भेद है। आसक्ति वस्तुओं की दासता में आबद्ध करती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अनासक्ति वस्तुओं की दासता से मुक्त कर स्वाधीनता तथा उदासीनता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अनासक्ति आसक्ति की अपेक्षा बड़े ही महत्व की वस्तु है। परन्तु प्रेम आसक्ति-अनासक्ति दोनों से विलक्षण है। प्रेम पूर्ति, निवृत्ति, पराधीनता तथा स्वाधीनता से परे अलौकिक-चिन्मय तत्त्व है। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रसरूप है। प्रवृत्ति निवृत्ति में, भोग योग में, स्वार्थ सेवा में परिवर्तित हो जाने पर आसक्ति मिट जाती है और जिसके मिटते ही, जो नित्य-प्राप्त है, उससे प्रेम स्वतः हो जाता है। प्रेम श्रम-रहित, स्वाभाविक स्वतः सिद्ध तत्त्व है।

निवृत्ति स्वाधीनता, योग सामर्थ्य और सेवा करुणा तथा उदारता प्रदान करती है। आसक्ति का अभाव तथा प्रेम का उदय हो जाने पर निवृत्ति, योग तथा सेवा तीनों में एकता हो जाती है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता, सामर्थ्य, करुणा और उदारता सभी दिव्य गुण प्रेम में विलीन हेा जाते हैं, क्योंकि प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता तथा लक्ष्य की प्राप्ति निहित है। स्वीकृतियों में अहम्बुद्धि का अन्त होते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं और फिर साधनरूप स्वीकृति के अनुरूप कर्त्तव्यनिष्ठ होकर प्राणी आसक्ति-रहित हो जाता है। आसक्ति-रहित होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के रूप में, कर्तव्य के अभिमान तथा फल की आशा से रहित, प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ स्वतः होने लगती है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करती है। चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी प्रेम से विमुख हुआ है। अतः 'अहम्' और 'मम' का अन्त कर, चित्त शुद्ध कर, प्रेम को प्राप्त कर लेना चाहिए।

७.०६.१९५६

सुख-भोग की आशा का त्याग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

प्राणी जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, उससे सुख की आशा करने से उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। चित्त की अशुद्धि किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से नहीं होती, अपितु अशुद्धि तब होती है जब प्राणी वस्तु व्यक्ति आदि से सुख की

आशा अथवा वस्तुओं का भोग करने लगता है। इस दृष्टि से सुख की आशा तथा सुख के भोग में ही चित्त की अशुद्धि निहित है।

जिन वस्तुओं से सुख की आशा करते हैं; क्या उनसे प्राणी का नित्य-सम्बन्ध है? अथवा जिन व्यक्तियों से सुख की आशा करते हैं, क्या वे स्वयं दुःखी नहीं है? अथवा जिस परिस्थिति को सुखद मानते हैं, क्या उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है? अथवा जिस अवस्था में सुख का भास होता है, क्या उसमें परिवर्तन नहीं है? किसी भी वस्तु से नित्य-सम्बन्ध सम्भव नहीं है। कोई भी व्यक्ति दुःख से रहित नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति अभाव युक्त है और प्रत्येक अवस्था में परिवर्तन है। तो फिर उनसे सुख की आशा करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? प्रमाद उसे नहीं कहते,

जिसे प्राणी जानता नहीं। जाने हुए को भूल जाना, अथवा उसका आदर न करना ही प्रमाद है, जो स्वयं प्राणी ने बनाया है, इस बनाए हुए दोष से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। उसका परिणाम यह हुआ है कि जो वस्तुएँ उत्पत्ति विनाश-युक्त हैं, पर-प्रकाश्य हैं, उनमें सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होने लगती है, और बेचारा प्राणी उनकी दासता में आबद्ध हो गया है। वस्तुओं की दासता ने प्राणी में लोभ जैसे भयंकर दोष की उत्पत्ति कर दी है। प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ ही दरिद्रता का मूल है। इतना ही नहीं, लोभ से ही प्राणी जड़ता में आबद्ध हो, चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है।

व्यक्तियों से सुख की आशा करने का परिणाम यह हुआ है कि बेचारा प्राणी संयोग की दासता और वियोग के भय में आबद्ध हो गया हैं। यद्यपि प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग में बदल रहा है, परन्तु सुख की आशा संयोग-काल में वियोग का दर्शन नहीं करने देती, जिससे बेचारा प्राणी मोह में आबद्ध होकर अमरत्व से विमुख हो गया है। इतना ही नहीं, जिन व्यक्तियों से प्राणी सुख की आशा करता है वे व्यक्ति भी स्वयं उससे सुख की आशा करने लगते हैं, अथवा यों कहो कि दो दुःखी परस्पर में एक-दूसरे के मोह में आबद्ध हो जाते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण है। जो अपूर्ण है उसे सुखद स्वीकार करना अपूर्णता में आबद्ध हो जाना है, जिससे बेचारा प्राणी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक पूर्ण जीवन है, उससे विमुख हो जाता है।

प्रत्येक अवस्था स्वभाव से ही सीमित तथा परिवर्तनशीन है। उससे सुख की आशा करते ही प्राणी परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है, अथवा यों कहो कि अनन्त से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति किसी से भी सुख की आशा करना, अथवा उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, अथवा उनके आधार पर अपना महत्व आँकना अपने को वास्तविकता से दूर करना है और अनेक प्रकार के अभाव में आबद्ध हो जाना है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

सुख-भोग तथा सुख की आशा में आबद्ध प्राणी का चित्त न तो स्वस्थ ही हो सकता है और न शान्त एवं शुद्धि ही। चित्त के स्वस्थ हुए बिना कभी प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकता। चित्त की शान्ति के बिना आवश्यक

सामर्थ्य का विकास नहीं हो सकता और चित्त की शुद्धि के बिना पवित्र भाव का प्रादुर्भाव नहीं होता। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग किए बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश ही हो सकता है। आवश्यक सामर्थ्य के बिना न तो स्वाधीनता ही प्राप्त होती है और न प्राणी सीमित सामर्थ्य के मिथ्या अभिमान से ही मुक्त हो पाता है। पवित्र भाव के बिना न तो कर्म ने में शुद्धि ही आती है और न हृदय में सरसता एवं प्रीति का ही संचार होता है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करने पर उनसे ममता हो जाती है, अथवा यों कहो कि उनमें ही अहम्-बुद्धि बन जाती है, जिससे काम की उत्पत्ति होती है और काम की भूमि में ही अनेक कामनाओं का जन्म होता है, जिनकी पूर्ति के लिए वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि से सम्बन्ध हो जाता है। सम्बन्ध होते ही समस्त दोष स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। यह नियम है कि जिन वस्तुओं, व्यक्तियों आदि से केवल मानी हुई एकता है, जातीय तथा स्वरूप की नहीं, उनसे नित्य-सम्बन्ध हो नहीं सकता। जिनसे नित्य-सम्बन्ध हो नहीं सकता, उनकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती। जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उनसे सम्बन्ध स्वीकार करना केवल चित्त को अशुद्ध ही करना है। अतः वस्तुओं के सदुपयोग तथा व्यक्ति की सेवा के द्वारा उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना लोभ-मोह आदि दोषों की निवृत्ति सम्भव नहीं है।

लोभ-मोह आदि दोषों का अन्त हुए बिना न तो वस्तुओं का सदुपयोग ही हो सकता है और न व्यक्तियों की सेवा ही हो सकती है। वस्तुओं के सदुपयोग के बिना प्राणी उनकी दासता से न तो मुक्त हो सकता है और न जड़ता से ही ऊपर उठ सकता है। व्यक्तियों की सेवा के बिना परस्पर में स्नेह की एकता सम्भव नहीं है, स्नेह की एकता के बिना पारस्परिक संघर्ष नहीं मिट सकते। संघर्षों का अन्त हुए बिना निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति हुए बिना चित्त शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ्य नहीं हो सकता।

शरीर का अस्तित्व सृष्टि से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार समुद्र की कोई भी लहर समुद्र से भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु सृष्टि से अभिन्न है, अथवा यों कहो कि शरीर और संसार में भेद और भिन्नता केवल प्रतीति-मात्र है, वास्तविक नहीं। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु की स्वीकृति समस्त सृष्टि की स्वीकृति है और सृष्टि की स्वीकृति में ही वस्तु की स्वीकृति है। वस्तु और सृष्टि का विभाजन नहीं हो सकता। अतः वस्तु के ज्ञान में ही सृष्टि का ज्ञान निहित है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के गुणों में भले ही भेद हो, पर सारी सृष्टि किसी एक ही धातु से निर्मित है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में किसी अनुत्पन्न तत्त्व का होना अनिवार्य है, क्योंकि उत्पत्ति किसी से होगी, बिना आधार के उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से उत्पत्ति-विनाश के ज्ञान में अनुत्पन्न तत्त्व की स्वीकृति स्वतः सिद्ध है। यद्यपि जिससे जिसकी

उत्पत्ति होती है उसमें सत्ता उसी की होती है जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है। परन्तु प्रतीति उसकी होती है जो उत्पन्न हुआ है और जो अनुत्पन्न तत्त्व है उसकी प्रतीति नहीं होती। उत्पन्न हुई वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती, अपितु उसी से प्रकाशित होती है जिससे वह उत्पन्न हुई है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि का जो प्रकाशक है उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, अथवा यों कहो कि सृष्टि में सत्ता उसी की है जिससे वह प्रकाशित है, क्योंकि पर-प्रकाश्य वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता। जिसका स्वतन्त्र अस्तिव नहीं है उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना, उससे सुख की आशा करना और उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना व उससे ममता करना चित्त को अशुद्ध करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसकी सेवा की जा सकती है, उससे ममता करना अथवा उससे सुख की आशा करना भूल है। सेवा-भाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों स्वार्थ-भाव स्वतः मिटता जाता है। स्वार्थ-भाव का अन्त होते ही सुख-भोग तथा सुख की आशा सदा के लिए मिट जाती है और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है। सेवा भाव है, कर्म नहीं। इस दृष्टि से छोटी-बड़ी सेवा समान अर्थ रखती है। सेवा का स्वरूप है- प्राप्त सुख किसी दुःखी को भेंट कर देना, और उसके बदले में सेवक कहलाने तक की भी आशा न करना। सेवक कहलाने की लालसा भी स्वार्थ ही है। स्वार्थ-भाव के रहते हुए बड़ी से बड़ी सेवा भी सेवा नहीं है। स्वार्थ-भाव गलने पर ही सेवा सम्भव है। सेवा सुख-भोग की आसक्ति को खाकर सेवक के हृदय को करुणा तथा उदारता से भरपूर कर देती है। उदारता संग्रह को और करुणा शुष्कता एवं कटुता को खाकर सेवक को अपरिग्रही तथा द्रवीभूत बना देती है, जिसके होते ही सेवा पूजा तथा प्रेम में परिवर्तित हो जाती है।

सेवा उसी अंश में हो सकती है, जिस अंश में सेवक सुखी है, क्योंकि सेवा सुखी का साधन है, अथवा यों कहो कि जिसका हृदय पराए दुःख से भरा रहे, वही सेवा कर सकता है, क्योंकि सेवा सुख देकर दुःख लेने का पाठ पढ़ाती है। पराया दुःख अपना हो जाने पर प्राणी दुःखी नहीं रहता, क्योंकि पर-दुःख से दुःखी होने में जिस रस की निष्पत्ति होती है, उसकी समानता किसी भी सुख-भोग से नहीं है। सुख-भोग से चित्त अशुद्ध ही होता है, पर उस रस से चित्त शुद्ध हो जाता है।

सेवा की पूर्णता में पूजा का उदय अपने आप होता है। कारण कि सुखासक्ति का अत्यन्त अभाव होने पर राग-द्वेष मिट जाता है, जिसके मिटते ही त्याग तथा प्रेम स्वतः आ जाता है। त्याग के आते ही निरभिमानता एवं समर्पण-भाव स्वतः जाग्रत होता है। निरभिमानता तथा समर्पण-भाव ही वास्तविक पूजा है। पूजा की पूर्णता में प्रेम का उदय है।

प्रेम के साम्राज्य में प्रेम तथा प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती। इतना ही नहीं, प्रेमी और प्रेमास्पद का भेद भी स्वतः गल जाता है, क्योंकि प्रेम में प्रेम का ही आदान-प्रदान है। इस कारण प्रेमी प्रेमास्पद और प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है, अथवा यों कहो कि कौन प्रेमी है और कौन

प्रेमास्पद, इसका भास ही नहीं रहता। प्रेम क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति से रहित है। निवृत्ति काम की होती है प्रेम की नहीं, पूर्ति जिज्ञासा की होती है प्रेम की नहीं, और क्षति सुख-भोग की होती है प्रेम की नहीं। प्रेम की तो उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। प्रेम स्वभाव से ही रसरूप है तथा अगाध और अनन्त है, इस कारण अनिर्वचनीय तत्त्व है।

सुख-भोग तथा सुख की आशा का अन्त करने के लिए प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तुओं के द्वारा विश्व की सेवा अनिवार्य है, क्योंकि उसका अन्त हुए बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। चित्त की शुद्धि में ही उसका स्वस्थ तथा शान्त होना भी निहित है। यदि कोई साधक अपने को सवा करने में असमर्थ मानता है, तो उसे त्याग को अपना लेना चाहिए। त्याग के अपना लेने पर सेवा, पूजा तथा प्रेम की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न मानना और किसी से भी किसी प्रकार भी सुख की आशा न करना, अर्थात् चाह रहित होना, अथवा यों कहो कि 'अहम्' और 'मम' का अन्त करना ही त्याग का वास्तविक स्वरूप है।

यह नियम है कि सब प्रकार की चाह का अन्त होते ही जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अर्थात् जो केवल प्रतीति मात्र है, उसकी निवृत्ति हो जाती है और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, उस अनन्त की प्राप्ति हो जाती है। चाह-रहित होने में निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी सर्वदा स्वाधीन है, परन्तु उसके लिए प्राणी को जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करना होगा। संसार से सच्ची निराशा, जीवन ही में मृत्यु का अनुभव है।

चाह की उत्पत्ति, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उससे सम्बन्ध जोड़ देती है और जो सर्वत्र सर्वदा ज्यों-का-त्यों है उससे दूरी उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से चाह-रहित होना परम अनिवार्य है। चाह-रहित होने के लिए, जो प्रतीति-मात्र है, उसकी सत्ता को स्वीकार न करना, अपितु उसमें उसी का दर्शन करना, जिसके प्रकाश से वह प्रकाशित है, आवश्यक है, अथवा यों कहो कि असत् का त्याग और सत् को अपना लेना ही चाह रहित होने का सुगम उपाय है। यह नियम है कि असत् के त्याग में ही सत् की प्राप्ति निहित है। असत् को असत् जान लेने पर उसके त्याग की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

असत् के त्याग तथा सेवा, पूजा और प्रेम से चित्त शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है।

८.०६.१९५६

मान्यताओं का नाश एवं प्रीति का उदय

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

जब प्राणी अपने को जाने बिना किसी मान्यता को स्वीकार कर मिथ्या अभिमान में आबद्ध हो जाता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। कारण, कि मिथ्याभिमान से भेद की उत्पत्ति होती है, जिसके होते ही काम उत्पन्न होता है। काम की भूमि में ही कामनाएँ जन्म पाती हैं, जिनकी पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में आबद्ध होने से प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त के अशुद्ध होते ही बेचारा प्राणी दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलने लगता है। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार के अभावों में ग्रसित

होने से उसमें वर्तमान वस्तुस्थिति में सन्देह की व्यथा उदय होती है।

यदि वह व्यथा वर्तमान जीवन की वस्तु बन जाय, तो वास्तविक जीवन की जिज्ञासा जाग्रत कर देती है। परन्तु यदि किसी कारण उस व्यथा में शिथिलता आ जाय, तो प्राणी इन्द्रियजन्य ज्ञान के आधार पर कोई-न-कोई काल्पनिक चित्र की स्थापना कर उसे अपने जीवन का उद्देश्य बना कर किसी अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति के लिए कार्यक्रम बना लेता है। यदि वह कार्यक्रम सफल हो गया, तो कुछ काल जीवन के मूल प्रश्न को भूल जाता है, और परिस्थितिजन्य, परिवर्तनशीन सुख में सन्तोष कर बैठता है। पर यह स्थिति उसके मूल प्रश्न को हल नहीं कर पाती, अथवा यों कहो कि मूल प्रश्न कुछ काल के लिए दब-सा जाता है, मिटता नहीं। और यदि अपनी काल्पनिक परिस्थिति को प्राप्त करने में असफल हो गया, तो भयभीत होकर मिथ्या अहंकार को जाग्रत कर परिस्थिति से संघर्ष करने लगता है; अथवा यों कहो कि काल्पनिक आशाओं में विचरने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो जीवन का मूल प्रश्न था, जिसका हल होना वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे कालान्तर की वस्तु मान कर उसकी ओर से उदासीन हो जाता है। और जो न तो वर्तमान में ही प्राप्त हो सकता है और कालान्तर में ही निश्चित रूप से जिसकी प्राप्ति सम्भव है, इतना ही नहीं, यदि प्राप्त भी हो जाय, तो भी उससे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता-यह जानते हुए भी उसके लिए प्रयास करता रहता है, जिससे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार सभी कार्यक्रम उसकी प्राप्ति के लिए बनाए जाते हैं, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, अर्थात् किसी अप्राप्त परिस्थिति के लिए ही कार्यक्रम बनता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति अभाव-रूप है, परिवर्तनशील है, क्योंकि जो उत्पत्ति से पूर्व नहीं है वह प्राप्त होने पर भी न रहेगी। इस कारण सभी परिस्थितियों में जीवन का मूल प्रश्न ज्यों-का-त्यों रहता है। परिस्थितियों के आधार पर बेचारा प्राणी अपने को सफल-असफल मान कर सुखी-दुःखी होता रहता है।

सुख-दुःख का द्वन्द्व उसे विश्राम नहीं लेने देता, जिसके बिना न तो प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग ही हो पाता है और न आवश्यक सामर्थ्य का विकास ही होता है। प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से ही जीवन का मूल प्रश्न हल हो सकता है। पर कब? जब परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न हो। परिस्थितियों में जीवन बुद्धि न रहने से प्रतिकूलता का भय तथा अनुकूलता की दासता स्वतः मिट जाती है और किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान नहीं होता। प्रतिकूलता का भय मिटते ही प्राप्त बल का सदुपयोग होने लगता है, और अनुकूलता की दासता मिटते ही प्राप्त विवेक का आदर होने लगता है। प्राप्त बल के सदुपयोग से निर्बलता मिट जाती है, अर्थात् आवश्यक बल स्वतः प्राप्त होता है और प्राप्त विवेक के आदर से दूसरों के अधिकार और अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा जाग्रत होती है। आवश्यक बल की प्राप्ति तथा कर्त्तव्य के ज्ञान से कर्त्तव्य-परायणता आती

है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही प्राणी विद्यमान राग से रहित हो जाता है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होने देती। जब विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती, तब चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने का एक मात्र कारण यह है कि प्राणी अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह नहीं होता। अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह न होने से अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में भी सन्देह-रहित नहीं होता और लक्ष्य के सम्बन्ध में सन्देह-युक्त होने के कारण अपने साधन के सम्बन्ध में भी निस्सन्देह नहीं होता। अपने सम्बन्ध में सन्देह-रहित होने से साधन और साध्य के सम्बन्ध में भी सन्देह नहीं रहता। अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह होने के लिए यह अनिवार्य है कि प्राणी अपने को उन सभी स्वीकृतियों से मुक्त कर लें, जिसने अपने को आबद्ध कर लिया है। यदि किसी कारण प्राणी सभी मान्यताओं का अन्त करने में अपने को असमर्थ पाता हो, तो उसे अपने सम्बन्ध में किसी एक ऐसी मान्यता को विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर स्वीकार कर लेना चाहिए, जिस मान्यता का परिवर्तन न हो, अर्थात् जो नित्य हो। सभी मान्यताओं का अन्त करने से जिस वास्तविकता का बोध होता है, किसी एक नित्य मान्यता की स्वीकृति द्वारा भी उसी वास्तविकता से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से चाहे विचारपूर्वक सभी मान्यताओं का अन्त कर दिया जाय, अथवा विश्वासपूर्वक किसी नित्य मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय, तो प्राणी अपने सम्बन्ध में सन्देह-रहित हो सकता है।

समस्त मान्यताओं का नाश वही प्राणी करता है, जो विषयों को इन्द्रियों के, इन्द्रियों को मन के और मन को बुद्धि के अधीन करने में समर्थ हो, अर्थात् जिसमें मन और बुद्धि का द्वन्द्व शेष न रहे। द्वन्द्व न रहने पर बुद्धि समता में स्थित हो जाती है, जिसके होते ही स्वतः विचार उदय होता है, जो सभी मान्यताओं को खाकर मान्यताओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देता है।

समस्त मान्यताओं का नाश होते ही निर्वासना आ जाती है और निर्वासना आते ही मिथ्या अभिमान स्वतः गल जाता है। फिर किसी प्रकार का भेद शेष नहीं रहता। भेद के नाश में ही काम का अन्त है और काम का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है, जिसके होते ही जीवन प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही प्रेम की प्राप्ति होती है। चित्त शुद्ध होने पर कामनाओं का नाश और जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

मिथ्या अभिमान से भेद और भेद से काम की उत्पत्ति होती है, जो वासनाओं की भूमि है। वासनाओं का अन्त विचार से और विचार का उदय बुद्धि के सम होने पर स्वतः होता है। बुद्धि की समता मन की निर्विकल्पता में निहित है और मन की निर्विकल्पता इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव नष्ट होने पर सुरक्षित रहती है। इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह होने पर जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जागृति इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खा लेती है।

मिथ्या अभिमान के रहते हुए प्राणी अपने को भोगासक्ति में आबद्ध कर लेता है। भोग की क्षण-भंगुरता का ज्ञान भोगासक्ति से मुक्त करने में समर्थ है, क्योंकि उस ज्ञान से ही सन्देह की व्यथा जाग्रत होती है। यदि प्राणी उस व्यथा को सुख की आशा से न दबाये, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक जिज्ञासा की जागृति भोगासक्ति का नाश कर मिथ्या अभिमान का अन्त कर देती है।

मिथ्या अभिमान में अनेक मान्यताएँ उत्पन्न होती है, परन्तु प्रत्येक मान्यता के मूल में किसी की कामना, जिज्ञासा तथा लालसा रहती है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा तथा लालसा को सबल तथा स्थायी नहीं होने देता, परन्तु लालसा तथा जिज्ञासा का अन्त भी नहीं होता। कामना भोग्य वस्तु की प्रियता, और जिज्ञासा निस्सन्देहता की प्रियता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भोग्य वस्तु की असारता का ज्ञान उसके भोग की आसक्ति का नाश करने में समर्थ है। भोगासक्ति का नाश भोग की प्रियता को जिज्ञासा में परिवर्तित कर देता है। जिस काल में जिज्ञासा की पूर्ण जागृति होती है, उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति जिस अनन्त से अभिन्न करती है, प्रियता उसी अनन्त का प्रेम हो जाती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट होता जाता है कि प्राणी में एक स्वाभाविक प्रियता है। जब उसका सम्बन्ध देहाभिमान से होता है तब वह अनेक कामनाओं के रूप में प्रतीत होती है और जब उस प्रियता का सम्बन्ध सन्देह की वेदना से हो जाता है, तब वह जिज्ञासा का रूप धारण कर निस्सन्देहता प्रदान करती है। निस्सन्देहता जिसका बोध कराती है, प्रियता उसी का प्रेम है। इस दृष्टि से यदि प्राणी अपने सम्बन्ध में यह स्वीकार करें कि 'मैं केवल प्रीति हूँ' तो अनेक मान्यताएँ प्रीति में विलीन हो सकती है। इस मान्यता का परिवर्तन नहीं हो सकता, और न अभाव हो सकता है, अर्थात् अपने को 'प्रीति' स्वीकार करना ही वास्तविक एवं नित्य मान्यता है।

प्रीति स्वभाव से ही दिव्य, चिन्मय तथा विभु है। कारण, कि प्रीति सुख की आशा को खा लेती है और नित-नूतन रस प्रदान करती है। जो प्रीति सुख की आशा से रहित है, वह दिव्य है। जो दिव्य है वह चिन्मय है और जो चिन्मय है वह विभु है। प्रीति का उद्गम-स्थान अचाह में है, क्योंकि चाह रहित हुए बिना प्रीति का उदय होता ही नहीं। इस दृष्टि से प्रीति की भूमि बन्धन से रहित है अथवा यों कहो कि मुक्ति ही प्रीति का उद्गम स्थान है। प्रीति स्वभाव से ही दूरी तथा भेद की नाशक है। इस कारण प्रीति देश-काल की परिधि से अतीत है। प्रीति क्षति-पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित होने से आनन्दामृत-वर्षिणी है, अथवा यों कहो कि प्रीति आनन्द को भी आनन्दित करती है। प्रीति में ही समस्त साधनों की समाप्ति है। प्रीति के बिना कभी किसी को रस की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। और उसके बिना खिन्नता, क्षोभ, क्रोध, राग आदि विकारों का अन्त असम्भव है। प्रीति से अभिन्नता होने पर ही काम का नाश हो सकता है, अथवा यों कहो कि अपने को प्रीति स्वीकार करने पर प्राणी काम रहित हो जाता है। काम का अन्त होते ही कामनाएँ स्वतः मिट जाती हैं और फिर मिथ्याअभिमान अपने आप गल जाता है। इस दृष्टि

से प्रीति और विचार दोनों ही का परिणाम एक है। विचार असत् को असत् जान कर असत् से असंगता और सत् से अभिन्नता प्रदान करता है। और प्रीति प्रीतम को रस प्रदान कर प्रीतम से अभिन्न हो जाती है, अथवा यों कहो कि प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है, और कुछ नहीं। इतना ही नहीं, प्रीति और प्रीतम से भिन्न कभी किसी को किसी और का अनुभव ही नहीं है।

प्रीति देहाभिमानियों में आसक्ति के रूप में भासित होती है। आसक्त प्राणी अपनी अभीष्ट वस्तुओं में आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से आसक्ति भी किसी की प्रीति ही है, परन्तु अविवेक के कारण उसमें निर्मलता नहीं है। इसलिए आसक्ति त्याज्य है। परन्तु आसक्ति में जो मिठास है वह भी स्वार्थ-परायण प्रीति ही है। जिज्ञासा और तत्त्व-ज्ञान में एकता प्रदान करने में भी प्रीति का ही चमत्कार है। कारण, कि निस्सन्देहता की प्रीति ही जिज्ञासा का स्वरूप है। सभी स्तरों में जहाँ कहीं रस की निष्पत्ति है, वहाँ किसी-न-किसी रूप में प्रीति का ही चमत्कार है। परन्तु जब प्रीति अपने को सभी काल्पनिक मान्यताओं से मुक्त कर लेती है, तब वह अपने निर्मल स्वरूप से अभिन्न हो जाती है, जिसके होते ही उस अनन्त को, जो सब प्रकार से पूर्ण है, रस प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि उसके प्रेम को पाकर सर्वदा नित-नूतन बनी रहती है। प्रीति का उदय होता है, पर अन्त नहीं, और न कभी पूर्ति ही होती है, क्योंकि अनन्त की प्रीति अनन्त ही है। पूर्ति-निवृत्ति न होने से नित-नूतन रस की निष्पत्ति कराने में प्रीति ही समर्थ है। प्रीति में प्रीतम से भिन्न और किसी की सत्ता नहीं है।

सभी मान्यताओं से अतीत जो है, वही प्रीति का आश्रय भी है। उन दोनों में स्वरूप की एकता है। प्रीति सभी में और सभी से अतीत में निवास करती है, परन्तु किसी सीमित वस्तु अवस्था एवं परिस्थिति में आबद्ध नहीं होती। यही प्रीति और आसक्ति में भेद है। जिज्ञासा कामनाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। पर प्रीति की कभी पूर्ति नहीं होती। यही जिज्ञासा और प्रीति में भेद है। प्रीति प्रियतम में और प्रियतम प्रीति में निवास करते हैं, और वे दोनों ही अनन्त हैं, अथवा यों कहो कि प्रीति एक में दो और दो में एकता का विलक्षण दर्शन कराती है। प्रीति की अभिन्नता सर्वदा रस रूप है। सभी मान्यताओं का अन्त होने पर और अपने को प्रीति स्वीकार करने पर मिथ्या अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

९.०६.१९५६

सामूहिक दुःख की अनुभूति का महत्व

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

व्यक्तिगत दुःख से भयभीत प्राणी सुख की दासता में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। यद्यपि दुःख प्राकृतिक विधान है, परन्तु उससे भयभीत होना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्राणी का व्यक्तिगत दुःख उसे सामूहिक दुःख का बोध कराने में साधन-मात्र है। सामूहिक दुःख की अनुभूति प्राणी को सुख की दासता में आबद्ध नहीं करती, अपितु दुःख से अतीत के जीवन की लालसा जाग्रत करती है। इस

दृष्टि से सामूहिक दुःख की अनुभूति में प्राणी का विकास निहित है। अतः व्यक्तिगत दुःख से भयभीत न होकर उसके द्वारा सामूहिक दुःख का अनुभव करना अनिवार्य है। ऐसा करते ही व्यक्तिगत दुःख भी दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति में साधन हो सकता है।

दुःख-सुख से चित्त अशुद्ध नहीं होता। प्रत्युत दुःख के भय एवं सुख की दासता से चित्त अशुद्ध होता है। दुःख का प्रभाव जीवन में जागृति लाता है और दुःख का भय प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास करता है। सुख का स्वाध्याय प्राणी को उदार बनाने में समर्थ है, और उसकी दासता जड़ता में आबद्ध करती है। दुःख का भय तथा सुख की दासता प्राणी को शक्तिहीनता तथा जड़ता में आबद्ध करती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। दुःख के प्रभाव से प्राप्त जागृति और सुख के सद्व्यय से प्राप्त उदारता चित्त को शुद्ध कर देती है।

जागृति परिस्थितियों से असंगता प्रदान करती है। उदारता सुख-भोग की आसक्ति का अन्त करती है। असंगता से सभी कामनाओं का नाश हो जाता है, और सुख-भोग की आसक्ति का अन्त होते ही दुःख का भय तथा सुख की लोलुपता मिट जाती है। सुख-लोलुपता तथा दुःख का भय मिटते ही स्वाधीनता तथा निर्भयता और कामनाओं का नाश होते ही निस्सन्देहता स्वतः आ जाती है। स्वाधीनता, निर्भयता एवं निस्सन्देहता में चित्त की शुद्धि निहित है।

परिस्थितिजन्य दुःख तो सुख की दासता में और विवेकजन्य दुःख सत्य की खोज में प्रवृत्त करता है, क्योंकि विवेकजन्य दुःख में संसार के स्वरूप का ज्ञान होता है, अथवा यों कहो कि संसार के स्वरूप के ज्ञान से विवेक-जनित दुःख उदित होता है। विवेक-जनित दुःख सजीव है और घटना-जनित दुःख निर्जीव है। सजीव दुःख सामर्थ्य प्रदान करता है और निर्जीव दुःख सुख-लोलुपता उत्पन्न करता है। सुख-लोलुपता उत्तरोत्तर प्राणी को शक्तिहीन बनाती है एवं जड़ता की ओर गतिशील करती है तथा सजीव दुःख से प्राप्त सामर्थ्य साधक को असत् से सत् की ओर, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर और जड़ता से चिन्मयता की ओर गतिशील करती है। इस दृष्टि से सजीव दुःख बड़े ही महत्व की वस्तु है और निर्जीव दुःख में आबद्ध रहना सर्वथा निन्दनीय है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में दुःख है, पर सुख का प्रलोभन उस दुःख का भास नहीं होने देता। सुख के प्रलोभन से दबाया हुआ दुःख सर्वदा नवीन दुःख को जन्म देता रहता है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों सुख का प्रलोभन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर परिस्थिति-जनित दुःख उत्पन्न होता रहता है। परिस्थिति-जनित दुःख से कोई भी प्राणी बच नहीं सकता। जिससे बच नहीं सकते, उससे भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः परिस्थिति-जनित दुःख में भी भयभीत न होकर सुख के प्रलोभन का त्याग करना चाहिए, जिसके होते ही परिस्थितिजनित दुःख भी सजीव हो जाएगा, जो साधन-रूप है।

दुःख को सजीव बनाने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि सजीव दुःख से ही

दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की उपलब्धि एवं असत्य का त्याग और सत्य की प्राप्ति हो सकती है।

सामूहिक दुःख की विमुखता व्यक्तिगत दुःख से भयभीत करती है। इस कारण सामूहिक दुःख पर दृष्टि रखना अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना न तो प्राणी सत्य की खोज ही कर सकता और न असत् को असत् जान कर भी उसके त्याग में समर्थ होता है। असत् के त्याग के बिना सत् से अभिन्नता हो नहीं सकती और सामूहिक दुःख से दुःखी हुए बिना असत् के त्याग की योग्यता नहीं आती। अतः सामूहिक दुःख को अपना लेने में ही प्राणी का हित है। सामूहिक दुःख चित्त को करुणित तथा द्रवीभूत बनाता है, जिससे चित्त में अंकित सुख का राग मिट जाता है और अनुराग का उदय होता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो जाता है, जिससे चित्त शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है।

व्यक्तिगत दुःख के भय से भयभीत प्राणी असत् को असत् जान लेने पर भी उसका त्याग नहीं करता, प्रत्युत् असत् के द्वारा सुख-सम्पादन में लगा रहता है। यद्यपि उसका परिणाम अहितकर ही सिद्ध होता है, परन्तु व्यक्तिगत दुःख का भय उसे प्रमादी बना देता है। इस भयंकर स्थिति से मुक्त होने के लिए यह अनिवार्य है कि असत् को असत् जान कर उसका त्याग किया जाय। असत् से सुख सम्पादन की आशा न की जाय।

असत् का त्याग वर्तमान की वस्तु है और उसके त्याग से ही सत् से अभिन्नता होती है। असत् के त्याग में प्राणी पराधीन नहीं है, अपितु सर्वदा स्वाधीन है। कारण, कि असत् स्वयं ही उसका त्याग कर देता है जो उसे अपनाना चाहता है, अर्थात् जो स्वयं अलग हो रहा है उससे सम्बन्ध-विच्छेह करना ही असत् का त्याग है।

असत् का त्याग और सत् से अभिन्नता युगपद् है। अथवा यों कहो कि असत् के त्याग में ही सत् का प्रेम निहित है, क्योंकि किसी का त्याग ही किसी का प्रेम होता है। त्याग अभ्यास नहीं है, अपितु श्रमरहित सहज साधन है और विवेक-सिद्ध है। इसी कारण त्याग वर्तमान में ही फल देता है। त्याग असत् से मुक्त करता है और प्रेम सत् से अभिन्न करता है। त्याग और प्रेम दोनों ही स्वाभाविक सहज साधन हैं। त्याग और प्रेम को अपना लेने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध होता है; अथवा यों कहो कि सुख की दासता तथा दुःख के भय से चित्त अशुद्ध होता है। इन दोनों के मूल में अविवेक ही हेतु है, क्योंकि अविवेक से ही देहाभिमान दृढ़ होता है और उससे ही अनेक प्रकार के सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। देहाभिमान के कारण ही आदर, अनादर, लाभ, हानि, संयोग-वियोग का सुख-दुःख होता है। यदि चित्त से लोभ, मोह की अशुद्धि निवृत्त हो जाय, तो आदर-अनादर, हानि-लाभ तथा संयोग वियोग का सुख-दुःख स्वतः मिट जाता है, क्योंकि लोभ के दोष में ही हानि-लाभ का सुख-दुःख निहित है और मोह के दोष में ही संयोग-वियोग एवं आदर-अनादर का सुख-दुःख निहित है। लोभ और मोह का दोष

अपने को देह मान लेने पर उत्पन्न होता है। अपने को देह मान लेना केवल अविवेक सिद्ध है।

वियोग, हानि और अनादर का भय मिटाने पर संयोग, लाभ एवं आदर का प्रलोभन स्वतः मिट जाता है। निर्लोभता के बिना हानि का भय और निर्मोहता के बिना अनादर तथा वियोग का भय मिट नहीं सकता। अपने को देह से अलग अनुभव किए बिना निर्मोहता प्राप्त नहीं हो सकती और वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप बिना जाने निर्लोभता आ नहीं सकती। इस दृष्टि से अपने को देह से अलग अनुभव करना और वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानना अनिवार्य है, जो विवेकसिद्ध है। विवेक प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है, अथवा यों कहो कि अनन्त की देन है। इतना ही नहीं, विवेक ही आदि गुरु-तत्त्व है। उसी में कर्त्तव्य तथा लक्ष्य का ज्ञान विद्यमान है। उसके अनादर में से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। पर यह रहस्य चित्त शुद्ध होने पर ही स्पष्ट होता है। उससे पूर्व तो व्यक्तिगत दुःख का भय और सुख का प्रलोभन ही जीवन प्रतीत होता है, जो वास्तव में अविवेक सिद्ध है। वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के द्वारा व्यक्तियों की सेवा चित्त को शुद्ध करती है और व्यक्तियों के द्वारा सुख का भोग तथा सुख की आशा चित्त को अशुद्ध करती है। यद्यपि वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति अधिक महत्व की वस्तु है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से तो व्यक्ति भी वस्तु है। इतना ही नहीं, अपने देह भी एक वस्तु ही है और समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त तथा पर-प्रकाश्य न हो। तो फिर वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा करना और उनके अभाव से भयभीत होना, क्या, युक्ति-युक्त है? कदापि नहीं।

वस्तुओं की निरर्थकता का ज्ञान वस्तुओं की दासता से मुक्त कर उनके सदुपयोग की प्रेरणा देता है, क्योंकि वस्तुओं के स्वरूप को जान लेने पर वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही सभी वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर अनादर का भय और आदर की आशा मिट जाती है, क्योंकि देह-रूपी वस्तु से ममता नहीं रहती और न किसी से भिन्नता ही रहती है, अपितु स्नेह की एकता जीवन हो जाती है।

स्नेह की एकता प्राप्त होते ही सभी का आदर होने लगता है और अपने आदर की कामना शेष नहीं रहती। कामनाओं का अन्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

आदर की कामना प्राणी में तभी तक रहती है, जब तक वह आदर के योग्य नहीं है। आदर के योग्य कब तक नहीं हैं? जब तक उसकी प्रसन्नता किसी वस्तु, व्यक्ति आदि पर निर्भर है। कारण, कि वस्तु व्यक्ति आदि की दासता में ही अनादर निहित है। आदर के योग्य वही है, जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरे का हित निहित है, अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्ति से ही आदर मिलता है। स्वार्थभाव का अत्यन्त अभाव एवं सर्वात्मभाव की स्वीकृति में ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति सम्भव है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अन्त में निर्वासना स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की

अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

स्वार्थ-भाव के अभाव में सर्वहितकारी भाव और सर्वहितकारी भाव में निष्कामता स्वतः सिद्ध है। निष्कामता राग को अनुराग में और भोग को योग में परिणत कर देती है। योग की पूर्णता में शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता निहित है और स्वाधीनता में निस्सन्देहता अर्थात् वास्तविकता का बोध स्वतः सिद्ध है। अथवा यों कहो कि निष्कामता की भूमि में योगरूपी वृक्ष स्वतः उगता है और उस पर तत्त्वज्ञानरूपी फल लगता है, जो प्रेमरस से परिपूर्ण है। तत्त्वज्ञानरूपी फल प्राप्त होने पर ही निस्सन्देहता, अमरत्व तथा अगाध-अनन्त-रस की प्राप्ति होती है, जिसकी माँग प्राणी को स्वाभाविक है। परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण प्राणी उससे विमुख हो गया है।

अतः व्यक्तिगत सुख की दासता तथा दुःख के भय का अन्त कर सामूहिक दुःख को अपनाकर चित्त को शान्त, शुद्ध तथा स्वस्थ करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब चित्त-शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु मान ली जाय। यह नियम है कि जो वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं होती उसके लिए प्राणी उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक कर्त्तव्य-परायण नहीं होता और न उसके लिए परम व्याकुलता ही जाग्रत होती है। कर्त्तव्य परायणता तथा परम व्याकुलता में ही सिद्धि निहित है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है।

१०.०६.१९५६

क्षमा-प्रार्थना एवं क्षमा-शीलता का महत्व

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

की हुई भूल के आधार पर अपने में दोषी-भाव अंकित हो जाने से और अपने प्रति होने वाले अन्याय तथा अत्याचार के आधार पर दूसरों को दोषी मान लेने से चित्त में अशुद्धि आ जाती है। उसकी निवृत्ति के लिए यह अनिवार्य है कि की हुई भूल को न दुहराने का व्रत लेकर व्यथित हृदय से क्षमा-याचना की जाय और जिन्होंने अपने प्रति बुराई की है, उसके बिना ही माँगे स्वयं अपनी ओर से सदा के लिए क्षमा कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक चित्त की अशुद्धि मिट जाती है। परन्तु क्षमा माँगने का बल उन्हीं प्राणियों में होता है जो एक क्षण भी दोषी नहीं रहना चाहते, अपनी भूल को बड़ी ही ईमानदारी से स्वीकार कर लेते हैं। अर्थात् जो वर्तमान में निर्दोष होना चाहते हैं, वे ही क्षमाप्रार्थी हो सकते हैं। दोष-जनित सुख में आसक्त प्राणी दुःख से बचने के लिए भले ही क्षमा की बात कहे, पर वह वास्तव में क्षमा-प्रार्थी नहीं हो सकता। कारण, कि दोष-जनित सुख की आसक्ति दोष न दोहराने का व्रत नहीं लेने देती। दुःख से बचने के लिए तो सर्व-साधारण अर्थात् बड़े-से-बड़ा अपराधी भी क्षमा माँगने लगता है। पर सच्चाई पूर्वक क्षमा वहीं माँग सकता है, जो दोषी होने से घोर दुःखी है। दोष का होना उतनी भूल नहीं है, जितनी भूल किए हुए दोष को स्वीकार न करना और दोष-जनित प्रवृत्ति से घोर दुःखी न होना है। यद्यपि प्रत्येक दोषी में दोष की स्वीकृति स्वतः होती है, परन्तु अनादर के भय से

जानते तथा मानते हुए भी अपने से और दूसरों से उसे छिपाना चाहता है, क्योंकि स्वभाव से प्राणी अपनी तथा दूसरों की दृष्टि में दोषी होकर रहने में क्षुभित होता है और क्षोभ के दुःख से बचने के लिए मिथ्या प्रयास करता है।

यह नियम है कि जो अपने को धोखा नहीं देता, वह दूसरों को धोखा दे ही नहीं सकता, अर्थात् जो बुराई प्राणी अपने प्रति करता है, वहीं दूसरों के प्रति भी करता है। इतना ही नहीं, यदि हम अपने प्रति कोई बुराई न करें, तो दूसरों की, की हुई बुराई का प्रभाव हम पर हो ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि प्राणी प्रथम स्वयं अपने प्रति बुराई करता है, तब दूसरों की की हुई बुराई उसे क्षुभित करती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जो स्वयं बुरा हो नहीं जाता, वह दूसरों के साथ बुराई कर ही नहीं सकता, क्योंकि दोषी होने पर ही दोषयुक्त प्रवृत्ति का जन्म होता है। इस दृष्टि से प्राणी के निर्दोष होने पर ही उसके द्वारा निर्दोष प्रवृत्ति हो सकती है। दोषयुक्त प्रवृत्ति से पूर्व प्राणी अपने अहम्भाव में दोष की स्थापना कर लेता है, तभी दोषयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जैसे, अपने में लोभ तथा मोह की स्थापना करने पर ही लोभ तथा मोहयुक्त प्रवृत्ति होती है, क्योंकि कर्त्ता जैसा अपने को मान लेता है, उसके अनुरूप ही कर्म होता है। किन्तु उस किए हुए कर्म का संस्कार कर्त्ता की रुचि के अनुसार न होकर कर्म के अनुसार अंकित होता है, इस कारण दोषयुक्त प्रवृत्ति से दोषी-भाव की स्थापना स्वतः हो जाती है। यद्यपि किसी की रुचि अपने को दोषी स्वीकार करने की नहीं है। यदि होती, तो कोई उसको छिपाने का प्रयास न करता। परन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार किए हुए कर्म का संस्कार अंकित हो ही जाता है और उन्हीं संस्कारों के आधार पर भावी परिस्थिति का निर्माण होता है।

जब किसी की रुचि अपने को दोषी स्वीकार करने की नहीं है, तो फिर कोई अपने अहम्भाव में दोष की स्थापना क्यों करता है? प्राप्त-अप्राप्त वस्तुओं के द्वारा सुख का भोग अथवा सुख की आशा से विवश होकर प्राणी अपने को दोषी मान लेता है, अर्थात् कामनापूर्ति के सुख का प्रलोभन उसे दोषयुक्त प्रवृत्ति करने की प्रेरणा देता है। यदि वह प्राणी प्राप्त विवेक से कामनापूर्ति के सुख का त्याग कर सके, तो बड़ी सुगमता से दोष-युक्त प्रवृत्ति का निरोध कर सकता है। जिसे कामनापूर्ति के सुख का भास है, उसी को दोष का भी ज्ञान है। सुख का प्रलोभन बढ़ जाने पर दोष का ज्ञान होते हुए भी उस ज्ञान का आदर नहीं कर पाता। इसी कारण अपने में दोषी-भाव की स्थापना हो जाती है, क्योंकि दोष का ज्ञान था, पर उसका अनादर किया।

यह नियम है कि जब से प्राणी दृढ़तापूर्वक प्राप्त विवेक का आदर करने लगता है, तभी से दोष-युक्त प्रवृत्तियों का जन्म नहीं होता, परन्तु भूतकाल की प्रवृत्तियों की स्मृति अंकित रहती है, उन्हीं के आधार पर वह वर्तमान में निर्दोष रहने पर भी अपने को दोषी मानता है।

यदि जीवन में निर्दोषता न होती, तो दोष का ज्ञान ही न होता, क्योंकि सर्वांश में प्राणी कभी भी दोषी नहीं होता। और यदि कोई सर्वांश में दोषी है, तो उसे दोष का ज्ञान भी नहीं है। दोष का ज्ञान

उसी प्राणी को है, जो सर्वांश में दोषी नहीं हैं। जो सर्वांश में दोषी नहीं है, उसी को दोषी-भाव की स्वीकृति व्यथित करती है। ज्यों-ज्यों वह व्यथा तीव्र होती जाती है, त्यों-त्यों दोषीभाव के निवारण की रुचि जाग्रत होती जाती है। सर्वांश में निर्दोष होने की रुचि जाग्रत होते ही प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक क्षमायाचना कर सकता है और दोष को न दुहराने का व्रत लेकर अपने में निर्दोषता की स्थापना कर सकता है, जिसके करते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

दोषी होने की तीव्र वेदना प्राणी को क्षमा-प्रार्थी बनाने में समर्थ है और क्षमा माँगने में की हुई भूल न दुहराने का व्रत स्वाभाविक है। की हुई भूल न दुहराने के व्रत में निर्दोषता की स्थापना अपने आप हो जाती है, क्योंकि जो भूल को दुहराता नहीं, वह अपने को सहज भाव से ही निर्दोष मान सकता है। यह नियम है कि दोष की उत्पत्ति आंशिक और निर्दोषता की अभिव्यक्ति सर्वांश में होती है। अतः निर्दोषता की स्थापना सर्वांश में ही हो सकती है, आंशिक नहीं, अथवा यों कहो कि निदोष होने के लिए प्राणी को सभी दोषों का त्याग करना अनिवार्य है और यही क्षमायाचना का वास्तविक अर्थ है। किसी भी अपराध के बदले में किसी से भी क्षमा-याचना की जाए, उस क्षमा-याचना में सभी दोषों के त्याग की भावना हो, तभी वह क्षमा-याचना है। क्षमा किसी भी व्यक्ति से क्यों न माँगी जाए, वह वास्तव में समष्टि से हो जाती है, क्योंकि व्यक्ति के प्रति की हुई बुराई समाज के प्रति हो जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई किसी के साथ भलाई तथा बुराई करे, उसका प्रभाव सारे विश्व के साथ जाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रभाव अखिल लोक-लोकान्तर तक पहुँचता है क्योंकि सब कुछ किसी एक से सत्ता पाकर एक ही में स्थित है, अर्थात् सबका प्रकाशक एक ही है, जो अनन्त है। प्राणी जो कुछ करता है, वह उसी के प्रति होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी उसी से होती है, इस कारण बड़ी ही सावधानी-पूर्वक सजग रहना चाहिए कि बुराई की उत्पत्ति ही न हो।

क्षमा-याचना करने पर यदि कोई क्षमा न करे, तो लेशमात्र भी चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षमा करने की क्षमता उस अनन्त में ही है। व्यक्ति के रूप में उसी से क्षमा-याचना की जाती है। किन्तु क्षमा माँगने का अर्थ यह होना चाहिए कि अब जाने हुए दोषों की पुनरावृत्ति की तो कौन कहे, उत्पत्ति ही न होगी अर्थात् पूर्ण रूप से निर्दोषता को अपना लिया है, यह भावना दृढ़ बनी रहे। यही क्षमा-याचना का वास्तविक स्वरूप है।

क्षमा माँगते ही क्षमा-प्रार्थी के जीवन में निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम्-भाव गल जाता है और फिर की हुई भूल की स्मृति निर्जीव हो जाती है। परन्तु यदि अपने बुराई करने वालों को बिना ही माँगे क्षमा नहीं कर दिया, तो चित्त में वैर-भाव तथा प्रतिहिंसा के संस्कार अंकित रहेंगे, जो पूर्ण रूप से निर्दोषता से अभिन्नता नहीं होने देंगे। इस कारण क्षमाशील होना भी अनिवार्य है। वास्तव में क्षमा-प्रार्थी वही हो सकता है, जो क्षमाशील हो।

निर्दोषता की अभिव्यक्ति तभी सुरक्षित रह सकती है, जब किसी के प्रति वैर-भाव की गन्ध तक न रहे। यह तभी सम्भव है जब किसी के प्रति भी दोषी-भाव न रहे, अर्थात् अपने प्रति होने वाली बुराई का कारण भी अपने को ही मान लिया जाय। जिन्हें दोषी मान लिया है, यदि किसी कारण उन्हें निर्दोष मानने में असमर्थता प्रतीत हो, तो उन्हें अनजान बालक की भाँति क्षमा कर दिया जाय और उनकी निर्दोषता के लिए उस अनन्त से क्षमा-प्रार्थना की जाय। कोई भी प्राणी किसी के प्रति कोई भी बुराई उस समय तक कर ही नहीं सकता, जिस समय तक वह स्वयं अपने को बुरा न बना ले। जिस बेचारे ने अपने को ही बुरा बना लिया, जिसके द्वारा यदि किसी प्रकार की अपनी क्षति हो भी गयी, तो भी वह दया का पात्र है, दण्ड का नहीं। क्षमाशील की दृष्टि से सभी अदण्डनीय है। क्षमाशील होने पर ही प्राणी क्षमा-प्रार्थी हो सकता है। क्षमाशील प्राणी अपने तथा दूसरों में निर्दोषता की अभिव्यक्ति के लिए क्षमायाचना करता है, वही क्षमा प्रार्थी है। इस दृष्टि से क्षमाशील होने पर ही प्राणी क्षमाप्रार्थी हो सकता है। क्षमाशीलता उस अनन्त का स्वभाव है। अतः उससे अभिन्न होने के लिए क्षमाशील होना अनिवार्य है। क्षमाशील होने में असमर्थता केवल अधिकार-लोलुपता के कारण ही प्रतीत होती है। यदि प्राणी दूसरों की अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग कर डाले, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक क्षमाशील हो सकता है। अधिकार लोलुपता ही क्षमाशीलता का अपहरण करती है। क्षमाशीलता बल है, निर्बलतर नहीं; उदारता है, संकीर्णता नहीं। क्षमाशीलता में अभिन्नता है, भिन्नता नहीं। क्षमाशील वही हो सकता है, जो सभी में अपने परम प्रेमास्पद का दर्शन करता है। जिसके जीवन में से प्रतिहिंसा की भावना का अत्यन्त अभाव हो गया है, जो सभी का हित चाहता है और अपराधी से अपराधी की भी प्रसन्नता जिसे अभीष्ट है, अथवा यों कहो कि पतित से पतित प्राणी में भी जिसे पवित्रता का दर्शन होता है, अर्थात् जिसमें दोष देखने की दृष्टि ही नहीं है, वही क्षमाशील हो सकता है।

अपने प्रति होने वाले अन्याय से क्षुभित तथा क्रोधित न होने से क्षमाशील का बल बढ़ता है, अथवा यों कहो कि क्षमाशील प्राणी को अपने प्रति होने वाले अन्याय में भी अन्याय करने वाले प्राणी का प्रेम ही प्रतीत होता है। जब उसका मन क्षुभित नहीं होता, तब वह दुःखी नहीं होता। उसके दुःखी न होने से प्रकृति में क्षोभ नहीं होता, जिससे अन्याय करने वाले का अहित नहीं होता और वह स्वतः निर्दोष हो जाता है, अथवा यों कहो कि क्षमाशीलता उसके हृदय को बदल देती है। यदि प्राणी किसी से किसी प्रकार के सुख की आशा न करे और किसी का बुरा न चहे तो उसके जीवन में क्षमाशीलता की अभिव्यक्ति हो जाती है।

क्षमाप्रार्थी वही हो सकता है, जो की हुई भूल को किसी भी प्रलोभन तथा भय से दुहराता नहीं है अपितु पूर्ण निर्दोषता ही जिसे अभीष्ट है, अथवा यों कहो कि जो अपना सर्वस्व देकर निर्दोष रहता चाहता है। निर्दोषता को सुरक्षित करने के लिए जिसे बड़ी-से-बड़ी कठिनाई सहन करने में प्रसन्नता होती है, वही सच्चा क्षमाप्रार्थी है।

क्षमा माँगने तथा क्षमा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता तथा निर्वैरता जीवन में स्वाभाविक आ जाती है। निर्दोषता आते ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्त्तव्यकर्त्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगता है, जिसके होते ही भेद नष्ट हो जाता है। भेद का अन्त होते ही योग, बोध तथा प्रेम स्वतः प्राप्त होता है।

क्षमाप्रार्थी अपने प्रति न्याय करता है और क्षमाशील होकर दूसरों के प्रति प्रेम करता है। जो क्षमाप्रार्थी है वही क्षमाशील है और जो क्षमाशील है वही क्षमाप्रार्थी हो सकता है। अपने प्रति न्याय करने से निर्दोषता और दूसरों के प्रति प्रेम करने से निर्वैरता आ जाती है। निर्दोषता तथा निर्वैरता का प्रादुर्भाव होते ही सीमित अहम्भाव गल जाता है, जिसके गलते ही प्रेमी और प्रेमास्पद में, जिज्ञासु और तत्त्वज्ञान में, शरीर और विश्व में तथा व्यक्ति और समाज में अभिन्नता हो जाती है।

क्षमाप्रार्थी में जब निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो जाती है, तब किए हुए दोष की स्मृति स्वतः मिट जाती है और फिर उसमें पर-दोष दर्शन की दृष्टि उत्पन ही नहीं होती; जिससे वह स्वभाव से ही क्षमाशील हो जाता है। पर-दोष-दृष्टि का अन्त होते ही अपने में से दोष की स्वीकृति ही सदा के लिए मिट जाती है, जिसके मिटते ही सर्वदा अपने प्रीतम का ही दर्शन होने लगता है। अथवा यों कहो कि अपने से भिन्न की प्रतीति ही नहीं रहती। निर्दोषता की अभिव्यक्ति से सीमित अहम्भाव गल जाता है और पर-दोष-दर्शन की दृष्टि का अन्त होने पर भेद का नाश हो जाता है। इस दृष्टि से क्षमा माँगने तथा करने से सर्वांश में अभेदता प्राप्त होती है, जिसके होते ही बाह्य रूप से अनेक भेद प्रतीत होने पर भी जीवन स्नेह की एकता से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यों कहो कि भेद में अभेदता का दर्शन होता रहता है और फिर चित्त सदा के लिए शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है। अतः क्षमा माँगने तथा करने में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

११.०६.१९५६

अपने से भिन्न सत्ता की अस्वीकृति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

जब प्राणी अपने से भिन्न की, अर्थात् जिससे स्वरूप की एकता नहीं है, उसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, तब अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वह अशुद्धि ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों भिन्नता तथा अनेक प्रकार के भेद पुष्ट होते जाते हैं और चित्त में अशुद्धि दृढ़ होती जाती है। चित्त की अशुद्धि और भिन्नता तथा भेद एक दूसरे से पोषित होते हैं। विवेक-पूर्वक भिन्नता तथा भेद का अन्त होने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है; जिसके होते ही भिन्नता अभिन्नता में और भेद अभेद में, अर्थात् अनेकता एकता में विलीन हो जाती है।

जिसका वियोग अनिवार्य हो, जिसमें सतत् परिवर्तन हो, जिसका अदर्शन हो तथा जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त एवं पर-प्रकाश्य हो, उसकी सत्ता स्वीकार करने से भेद तथा भिन्नता का जन्म

होता है। कारण, कि उससे नित्य-योग, अभिन्नता तथा प्रेम सम्भव नहीं है। नित्य-योग के बिना चिर-शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता, अभिन्नता के बिना निर्भयता तथा निस्सन्देहता और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की प्राप्ति हो नहीं सकती। शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता, निर्भयता और अगाध अनन्त रस के बिना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति सम्भव नहीं है और आवश्यकता-पूर्ति के बिना अभाव का अभाव हो नहीं सकता और उसके बिना जीवन की सार्थकता तथा पूर्णता सिद्ध नहीं होती। अतः उत्पत्ति-विनाशयुक्त वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व अस्वीकार कर उसी की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए, जिसकी प्राणी को स्वाभाविक आवश्यकता है।

स्वाभाविक आवश्यकता उसी की होती है, जिसकी प्राप्ति में लेश-मात्र भी सन्देह न हो, जिसकी सत्ता स्वतन्त्र तथा स्वयं-प्रकाश हो और जिसमें स्वाभाविक प्रेम हो। कामना उसी की होती है, जिसकी प्रतीति भले ही हो, पर प्राप्ति सम्भव न हो और जिसमें आसक्ति भले ही हो, पर प्रेम सम्भव न हो। इस दृष्टि से जिन वस्तु, व्यक्ति आदि की कामना है, उनकी सत्ता स्वीकार करना भूल है। कामना-पूर्ति-जनित सुख के प्रलोभन में आबद्ध होकर कामना-अपूर्ति के भयंकर दुःख को भोगने के अतिरिक्त और किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। जब प्राणी इस रहस्य को जान लेता है, तब वस्तुओं की प्रतीति होने पर भी उनकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता, अथवा यों कहो कि प्राप्त वस्तुओं से भी ममता-रहित होकर उनसे विमुख हो जाता है। वस्तुओं की प्राप्ति वस्तुओं से तादात्मय स्वीकार करने पर भासती है। वस्तुओं से विमुख होने पर न तो उनकी प्रतीति ही होती है, न प्राप्ति ही भासती है। कारण, कि वस्तुओं से अतीत के जीवन में जड़ता का लेश नहीं है, अपितु चिन्मय साम्राज्य है, जिसमें भेद और भिन्नता की गन्ध भी नहीं है और जो असीम तथा अनन्त है। उसी की सत्ता से सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। वही जिज्ञासुओं का तत्त्वज्ञान, प्रेमियों का प्रेमास्पद, सेवकों का सेव्य एवं तत्त्व-वेत्ताओं का निज-स्वरूप हैं। उसी में पुरुषार्थवादियों के पुरुषार्थ की, प्रेमियों के प्रेम की, विवेकियों के विवेक की तथा योगियों के योग की पूर्णता सिद्ध होती है।

आवश्यकता की पूर्ति में कामनाओं की उत्पत्ति ही विघ्न है और कामनाओं की उत्पत्ति में वस्तुओं से ममता तथा उनमें अहम् बुद्धि की स्थापना ही हेतु है। आवश्यकता की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है और कामनाओं की पूर्ति सदैव प्राणी को भविष्य की आशा में आबद्ध करती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कामनापूर्ति का सुख नवीन कामनाओं को जन्म देता है। परिणाम यह होता है कि अनेक बार कामनाओं की पूर्ति होने पर भी वस्तुस्थिति ज्यों-की-त्यों अभावरूप ही रहती है। उस अभाव की वेदना जाग्रत होने पर प्राणी कामना-पूर्ति के प्रलोभन का त्याग कर कामना-निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। कामना-पूर्ति का महत्तव मिटते ही कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। यह नियम है कि कामनाओं की निवृत्ति में ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है। कामना-पूर्ति श्रम साध्य है, स्वाभाविक नहीं।

उसके लिये किसी-न-किसी परिस्थिति की अपेक्षा होती है। प्रतिकूल परिस्थिति में कामना-पूर्ति सम्भव नहीं है। अथवा यों कहो कि कामना-पूर्ति के लिए प्राणी को पराधीनता स्वीकार करनी ही पड़ती है, क्योंकि बाह्य वस्तु, व्यक्ति आदि के सहयोग के बिना कामना-पूर्ति सम्भव ही नहीं है। किन्तु कामना-निवृत्ति श्रम रहित है, स्वाभाविक है, उसके लिए किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है। अथवा यों कहो कि जिसे स्वाधीनता में ही प्रियता है, वह बड़ी ही सुगमता पूर्वक कामनाओं का अन्त कर सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वाधीनता की प्रियता, पराधीनता की सुदृढ़ श्रृंखला को स्वतः तोड़ देती है। इतना ही नहीं, पराधीनता ने जिन आसक्तियों को उत्पन्न कर दिया था, स्वाधीनता की प्रियता का उदय होते ही वे स्वतः गल जाती है, जिसके गलते ही काम का अन्त हो जाता है और स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति, अर्थात् अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

यह नियम है कि प्राणी जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, उसका अस्तित्व भासने लगता है। जिसका अस्तित्व भासने लगता है, उस पर विश्वास होने लगता है। जिस पर विश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध हो जाता है। जिससे सम्बन्ध हो जाता है, उसमें प्रियता स्वतः उत्पन्न होती है। जिसमें प्रियता उत्पन्न हो जाती है, उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है। जिसकी स्मृति होने लगती है, उसमें आसक्ति हो जाती है। और जिसमें आसक्ति हो जाती हैं, उसमें सत्यता, सुख-रूपता, सुन्दरता प्रतीत होने लगती है और फिर प्राणी उसके अधीन हो जाता है। इस कारण जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, उसके अतिरिक्त किसी और की सत्ता स्वीकार नहीं करनी चाहिए। वस्तु आदि की स्वीकृति से ही प्राणी इनमें आसक्त और उनके अधीन हो गया है, अथवा यों कहो कि प्राणी अपनी स्वीकृति में आप बँध गया है।

स्वीकृति का बन्धन अस्वीकृति से ही मिट सकता है। उसके लिए किसी अभ्यास-विशेष की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई अस्वीकृति-मात्र को ही अभ्यास मान ले, तो इसी अभ्यास की अपेक्षा है, किसी और की नहीं। अस्वीकृति के लिए केवल वस्तुओं के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान अपेक्षित है, किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान जिसमें निहित है, वह ज्ञान प्राणी को स्वतः प्राप्त है। अतः प्राप्त विवेक के आदर-मात्र से ही वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान में ही वस्तुओं की अस्वीकृति निहित है जो चित्तशद्धि में हेतु है। स्वाभाविक आवश्यकता उसी की है, जिसके बिना प्राणी किसी प्रकार नहीं रह सकता। जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रहता सकता, उसकी नित्य प्राप्ति होनी चाहिए और उससे देशकाल की दूरी भी नहीं हो सकती, अर्थात् वह सर्वत्र-सर्वदा है। परन्तु उससे भिन्न की सत्ता स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ है कि जो नित्य प्राप्त है, वह अप्राप्त-सा प्रतीत होता है और जो अप्राप्त है, वह प्राप्त प्रतीत होता है, अथवा यों कहो कि प्राप्त में अप्राप्त-बुद्धि और अप्राप्त में प्राप्त-बुद्धि हो गई है, जो चित्त की अशुद्धि है।

स्वीकृतिमात्र से जो अनेकता प्रतीत हो रही है, वह अस्वीकृति-मात्र से मिट सकती है, जिसके मिटते ही अनेकता में एकता का दर्शन होता है। ज्यों-ज्यों एकता की प्रियता सबल तथा स्थायी होती है, त्यों-त्यों अनेकता की प्रतीति स्वतः गलती जाती है और चित्त शुद्ध हो जाता है। अनेकता की प्रतीति का अस्तित्व मिटते ही चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है और फिर किसी प्रकार का प्रलोभन, भय, भिन्नता तथा भेद शेष नहीं रहता और फिर स्वाभाविक प्रीति का उदय होता है। जिसके होते ही प्रेमी को प्रेमास्पद से जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से और योगी को योग से भिन्न की सत्ता ही नहीं भासती। अथवा यों कहो कि जो प्रेमी का प्रेमास्पद है, वहीं जिज्ञासु का तत्त्वज्ञान है और योगी का योग है, अर्थात् उस एक ही में प्राणी अपनी-अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी में विवेक-शक्ति, भाव-शक्ति और श्रम-शक्ति है।

विवेक, भाव और क्रिया-तीनों के द्वारा किसी एक ही की प्राप्ति होती है, अथवा यों कहो कि क्रिया, भाव तथा विवेक तीनों प्रेम में विलीन हो जाते हैं, क्योंकि प्रेम भिन्नता तथा भेद का नाशक है और रस का उत्पादक है, जिसकी सभी को स्वाभाविक आवश्यकता है। अतः अनेकता की अस्वीकृति से प्रेम को प्राप्त कर चित्त शुद्ध करना अनिवार्य है।

प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को स्वीकार करने पर यदि संकल्पों की उत्पत्ति प्रतीत हो, तो उनके उद्गम की खोज करना चाहिए। खोज करते ही यह स्पष्ट विदित होगा कि वस्तुओं में अहम् बुद्धि स्वीकार करना ही संकल्पों का उद्गम है। उस उद्गम का अन्त, अर्थात् वस्तु में से अहम्बुद्धि का त्याग करने पर वे सभी अपने आप मिट जाएँगें, जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं तथा जिनकी पूर्ति में किसी का अहित है, अर्थात अशुद्ध और अनावश्यक संकल्प निवृत्त हो जाएँगे और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प कर्त्तृत्व के अभिमान तथा फल की आश से रहित स्वतः पूरे हो जाएँगे और निर्विकल्पता अपने आप आ जाएगी, जिसके आते ही शान्ति का उदय होगा, जो सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है।

प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता की अस्वीकृति और देहरूपी वस्तु में से अहम्बुद्धि का त्याग हो जाने पर जो संकल्प प्रतीत होते हैं, वे केवल भुने हुए दानों के समान हैं। उनके आधार पर काम की उत्पत्ति नहीं होती है। उस पर भी यदि संकल्प-उत्पत्ति प्रतीत होती हो, तो उनका सम्बन्ध जिन वस्तुओं से हैं, उन वस्तुओं की सत्यता स्वीकार नहीं करनी चाहिए, अपितु उन वस्तुओं में तत्त्व रूप से अपने प्रेमास्पद का ही दर्शन करना चाहिए। संकल्प और वस्तु की सत्यता का अभाव होते ही प्रेमास्पद से भिन्न की प्रतीति ही न होगी, अथवा यों कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद की नित-नव लीला ही का दर्शन होगा। ज्यों-ज्यों प्रेम सबल होता जाएगा, त्यों-त्यों प्रेमी का अस्तित्व गल कर प्रेम में परिणत होता जाएगा और फिर प्रेम और प्रेमास्पद ही की सत्ता रह जाएगी, अर्थात् प्रेम में प्रेमास्पद और प्रेमास्पद में प्रेम-ही-प्रेम रह

जाएगा, क्योंकि प्रेमी और प्रेमास्पद में प्रेम का ही आदान-प्रदान है।

जिज्ञासु जिसकी उसे जिज्ञासा है उससे, सेवक अपने सेव्य से और प्रेमी अपने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता स्वीकार न करे, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्त शुद्ध होते ही जिज्ञासु जिज्ञासा, सेवक सेवा और प्रेमी प्रेम होकर उस अनन्त से अभिन्न हो जाता है, जो सभी का सब कुछ है, जिससे सभी को सत्ता मिलती है, अथवा यों कहो कि जो अपनी महिमा में आप स्थित है। उसका योग ही वास्तविक योग, उसका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान और उसका प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। उससे भिन्न का योग भोग है, योग नहीं। उससे भिन्न का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है उससे भिन्न का प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है। जो वास्तविक योग, ज्ञान तथा प्रेम नहीं है, उससे मोह-आसक्ति तथा अनेक विकार उत्पन्न होते हैं, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः अपने से भिन्न की सत्ता को अस्वीकार कर चित्त को शुद्ध कर वास्तविक योग, ज्ञान तथा प्रेम प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाने में ही जीवन की पूर्णता सिद्ध है।

१२.०६.१९५६

व्यक्ति, दृश्य एवं दृष्टियाँ

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

व्यक्ति एक है, दृश्य भी एक है, पर दृष्टियाँ अनेक हैं। व्यक्ति जिस दृष्टि से दृश्य को देखता है, उसके अनुसार उस पर प्रभाव पड़ता है। इन्द्रिय-दृष्टि सबसे स्थूल दृष्टि है। इसके प्रभाव की आसक्ति से चित्त अशुद्ध होता है। इन्द्रिय-दृष्टि से दृश्य में सत्यता, सुन्दरता तथा अनेकता का भास होता है, अथवा यों कहो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-विषयों में रुचि उत्पन्न होती है, जिससे इन्द्रियाँ विषयों के, मन इन्द्रियों के और बुद्धि मन के अधीन हो जाती है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन होते ही वस्तुओं में जीवन-बुद्धि हो जाती है, जिसके होते ही प्राणी सुख-लोलुपता, जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह बेचारा संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व में आबद्ध होकर सुखी-दुःखी होने लगता है। ऐसा कोई संकल्प-पूर्ति का सुख है ही नहीं, जिसके आदि और अन्त में दुःख का दर्शन न हो। इतना ही नहीं, सुख-काल में भी सुख में स्थिरता नहीं रहती। जिस प्रकार तीव्र भूख लगने पर प्रथम ग्रास में जितना सुख भासता है, उतना दूसरे में नहीं, अर्थात् प्रत्येक ग्रास में क्रमशः सुख की क्षति होती जाती है और अन्तिम ग्रास में सुख नहीं रहता, केवल भोग की क्रिया-जनित सुखद स्मृति ही रह जाती है, जो नवीन संकल्पों को उत्पन्न करती है। और प्राणी पुनः स्थिति में आ जाता है, जिसमें संकल्प-पूर्ति के सुख से पूर्व था, अर्थात् संकल्प-उत्पत्ति का दुःख ज्यों का त्यों भासने लगता है। उसी प्रकार प्रत्येक भोग-प्रवृत्ति का परिणाम होता है।

भोग-प्रवृत्ति के इस दुष्परिणाम की अनुभूति से व्यक्ति को इन्द्रिय-दृष्टि पर सन्देह होता है। इसके होते ही बुद्धि-दृष्टि का आदर होने लगता है। ज्यों-ज्यों बुद्धि-दृष्टि का आदर बढ़ने

लगता है, त्यों-त्यों इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटने लगता है। सर्वांश में इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिट जाने पर अन्य वस्तुओं की तो कौन कहे, जिस शरीर में सत्यता, सुन्दरता, सुखरूपता प्रतीत होती थी, वह शरीर मल-मूत्र की थैली तथा अनेक व्याधियों का घर प्रमाणित होता है। बुद्धि-दृष्टि के स्थायी होते ही शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने की रुचि उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में सतत् परिवर्तन तथा क्षण भंगुरता का दर्शन स्पष्ट होने लगता है। अथवा यों कहो कि कोई भी वस्तु इन्द्रिय-दृष्टि से जैसी प्रतीत होती थी, अर्थात् उसका एक अपना अस्तित्व मालूम होता था, वह नहीं मालूम होता, अपितु वह अनेक वस्तुओं का समूह प्रतीत होती है। इतना हीं नही, बुद्धि-दृष्टि से अनेकता में एकता और व्यक्त में अव्यक्त प्रतीत होता है। इस कारण वस्तुओं की आसक्ति मिट जाती है और वास्तविकता की जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो सभी कामनाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। बुद्धि-दृष्टि से राग वैराग्य में और भोग योग में बदल जाता है।

फिर विवेक-दृष्टि उदय होती है जो काम का अन्त कर प्राणी को चिर-शांति तथा स्वाधीनता एवं चिन्मयता की ओर उन्मुख कर देती है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि जाग्रत होती है, जो भेद तथा दूरी का अन्त कर अपने ही में सन्तुष्ट कर देती है। अन्तर्दृष्टि की पूर्णता में प्रीति की दृष्टि का उदय होना स्वाभाविक है। प्रीति की दृष्टि समस्त दृष्टियों में एकता का बोध कराती है, क्योंकि प्रीति से सभी अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। प्रीति स्वभाव से ही सर्वत्र-सर्वदा अपने प्रेमास्पद को ही पाती है। कारण, कि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न किसी अन्य को कभी देखा ही नहीं। प्रीति की दृष्टि रसरूप होने से प्रेमास्पद में नितनूतनता का बोध कराती है। प्रीति पूर्णरूप से प्रीतम को देख ही नहीं पाती, क्योंकि प्रीति और प्रीतम दोनों ही अनन्त, दिव्य तथा चिन्मय है।

प्रीति के साम्राज्य में जड़ता का लेश नहीं है। प्रीति पूर्ति-निवृत्ति से रहित होने से मिलन में वियोग और वियोग में भी मिलन का रस प्रदान करती है। अर्थात् प्रीति की दृष्टि से मिलन और वियोग दोनों ही रसरूप हैं। प्रीति स्वरूप से ही रसरूप है। उसमें अस्वाभाविकता लेशमात्र भी नहीं है, इसी कारण अखण्ड तथा अनन्त है। प्रीति एक में दो और दो में एक का दर्शन कराती है, अथवा यों कहो कि एक और दो की गणना से विलक्षण है। उसमें भेद और भिन्नता की तो गन्ध ही नहीं है। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और प्रीति में ही प्रीतम का निवास है। चिन्मय साम्राज्य में प्रीति ओर प्रीतम का नित्य विहार है, अथवा यों कहो कि प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान-प्रदान है।

इन्द्रिय और बुद्धि-दृष्टि का द्वन्द्व जब तक रहता है, तब तक चित्त में अशुद्धि रहती है। ये दोनों दृष्टियाँ प्रतीति के क्षेत्र में ही कार्य करती हैं। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव वस्तुओं की स्थिति का अन्त कर उनसे अतीत के जीवन की लालसा जाग्रत करता है। इन्द्रिय दृष्टि से जिन वस्तुओं की स्थिति स्वीकार की थी, बुद्धि-दृष्टि उस स्थिति को वस्तुओं के उत्पत्ति-विनाश का क्रम-मात्र मानती है और कुछ नहीं। अर्थात् वस्तु की स्थिरता बुद्धि-दृष्टि

स्वीकार नहीं करती। उसका परिणाम यह होता है कि दृश्य से विमुखता हो जाती है और विवेक-दृष्टि उदय होती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योंकि अशुद्धि अविवेक-सिद्ध है।

इन्द्रिय-दृष्टि भेग की रुचि को सबल बनाती है, बुद्धि-दृष्टि भोगों से अरुचि उत्पन्न करती है और विवेक-दृष्टि भोग-वासनाओं का अन्त कर जड़-चिद्-ग्रन्थि को खोल देती है। जिसके खुलते ही अन्तर्दृष्टि उदय होती है, जो अपने ही में अपने प्रीतम को पाकर कृत-कृत्य हो जाती है, अर्थात् 'पर' और 'स्व' का भेद गल जाता है। अन्तर्दृष्टि श्रम-रहित स्वाभाविक है, गति और स्थिरता दोनों से विलक्षण है। वह सब प्रकार के अभिमान का अन्त कर देती है। विवेक-दृष्टि ने जिस चिन्मय राज्य में प्रवेश कराया था, अन्तर्दृष्टि उसी में सन्तुष्ट कर कृत-कृत्य कर देती है।

इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि शासन करती है और बुद्धि-दृष्टि को विवेक-दृष्टि प्रकाश देती है और अन्तर्दृष्टि विवेक-दृष्टि को पुष्ट करती है। जब बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि के उत्पन्न किये हुए राग का नाश कर देती है, तब अकर्त्तव्यकर्त्तव्य में बदल जाता है। अर्थात् स्वार्थ-भाव सेवा-भाव में विलीन हो जाता है, जो राग रहित प्रवृत्ति में हेतु हैं। राग-रहित प्रवृत्ति बाह्य जीवन में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है, जिससे परस्पर में कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता सुरक्षित रहती है, जिससे वैर-भाव की गन्ध भी नहीं रहती। वैर-भाव का अन्त होते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है।

इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव भले ही असाधनरूप हो, क्योंकि वह राग का पोषक है, परन्तु बुद्धि-दृष्टि के नेतृत्व में इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग साधन रूप है। कारण, कि बुद्धि-दृष्टि भाव में पवित्रता उत्पन्न कर कर्म को शुद्ध कर देती है। कर्म की शुद्धि में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है, जिससे पारस्परिक संघर्ष शेष नहीं रहता। क्योंकि कर्म की शुद्धि किसी के अधिकार का अपहरण नहीं करती, प्रत्युत रक्षा करती है। जो किसी के अधिकार का अपहरण नहीं करता, उसमें अधिकार-लोलुपता शेष नहीं रहती, क्योंकि अधिकार-लोलुपता उसी में निवास करती है, जो दूसरों के अधिकार का अपहरण करता है। जिसने दूसरों के अधिकार की रक्षा को ही अपना कर्त्तव्य स्वीकार किया है, उसकी दृष्टि दूसरों के कर्त्तव्य पर नहीं जाती। कारण, कि कर्त्तव्य-परायणता में जो विकास है, वह अधिकार माँगने में नहीं है।

अधिकार-लालसा तो उन्हीं प्राणियों में निवास करती है, जिन्होंने बुद्धि-दृष्टि का आदर नहीं किया। बुद्धि-दृष्टि प्राणी को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाकर विवेक-दृष्टि में प्रतिष्ठित कर जड़ता से विमुख कर देती है। जड़ता की विमुखता में विषमता नहीं है, अर्थात् समता है, जो वास्तव में योग है। योग में इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन की निर्विकल्पता में विलीन हो जाती है, जिसके होते ही निर्विकल्प-स्थिति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही अनेकता एकता से और विषमता समता से अभिन्न हो जाती है। अथवा यों कहो कि एकता अनेकता को और समता विषमता को खा लेती है और फिर विवेक का प्रकाश पूर्ण रूप से

उदय होता है, जो निर्विकल्प-स्थिति से असंग कर काम का अन्त कर देता है। काम का नाश होते ही भोक्ता, भोग्य-वस्तु और भोगने के साधन-ये तीनों ही गल कर जो सर्व का द्रष्टा है, उसमें विलीन हो जाते हैं और फिर अन्तर्दृष्टि स्वतः जाग्रत होती है जो त्रिपुटी का अत्यन्त अभाव कर देती है।

अन्तर्दृष्टि में पूर्ण स्वाधीनता है और अप्रयत्न ही प्रयत्न है, जिससे अखण्ड, एक रस, नित्य-जीवन से अभिन्नता होती है। नित्य-जीवन से ही सभी को सत्ता मिलती है, क्योंकि नित्यजीवन के अतिरिक्त और किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। नित्य-जीवन की प्राप्ति में प्रेम स्वतः-सिद्ध है। क्योंकि अनित्य जीवन में जो आसक्ति के रूप में प्रतीत होती थी, वही नित्य-जीवन में प्रीति के स्वरूप में बदल जाती है। नित्य-जीवन जिसका स्वरूप है, प्रीति उसी का स्वभाव है। स्वरूप से स्वभाव और स्वभाव से स्वरूप भिन्न नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य की किरणें और प्रकाश सूर्य से अभिन्न हैं, उसी प्रकार नित्य-जीवन के स्वरूप और स्वभाव में अभिन्नता है। प्रीति की दृष्टि अन्तर और बाह्य भेद की नाशक है और उसका प्रभाव समस्त दृष्टियों में ओत-प्रोत है। ज्यों-ज्यों प्रीति की दृष्टि सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सभी दृष्टियाँ गलकर प्रीति से अभिन्न होती जाती है और फिर प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती।

इन्द्रिय-दृष्टि की सत्यता मिटते ही बुद्धि-दृष्टि सबल हो जाती है। बुद्धि-दृष्टि का पूर्ण उपयोग होते ही विवेक-दृष्टि स्पष्ट प्रकाशित होती है, जो अन्तर्दृष्टि को जाग्रत कर चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है। और अन्तर्दृष्टि की पूर्णता में ही प्रीति की दृष्टि निहित है, जो सभी दृष्टियों के भेद को खाकर चित्त को सदा के लिए शुद्ध शांत तथा स्वस्थ कर देती है।

सर्व का द्रष्टा एक है। समस्त दृष्टियाँ उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं और उसी की सत्ता से सत्ता पाती हैं। किसी भी दृष्टि की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अथवा यों कहो कि सर्व दृष्टियाँ सर्व के द्रष्टा में ही विलीन होकर उससे अभिन्न हो जाती हैं और अन्त में प्रीति की दृष्टि ही सर्व के द्रष्टा को रस प्रदान कर उसे आहलादित करती है। प्रीति की दृष्टि में ही सभी दृष्टियों का समोवश है। वही दृष्टि विश्व-प्रेम तथा आत्म-रति के रूप में अभिव्यक्त होती है।

प्रीति ऐसी निर्मल धारा है कि वह किसी में आबद्ध नहीं रहती, अपितु सभी को पार करती हुई अनन्त में ही समाहित हो जाती है और सभी को रस प्रदान करती रहती हैं। प्रीति की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है। वह आदि और अन्त से रहित, देश-काल, वस्तु आदि की सीमा का अतिक्रमण करती हुई अनेक रूपों में अपने प्रेमास्पद को ही पाकर कृत-कृत्य होती है। अतः इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी दृष्टियों को प्रीति की दृष्टि में विलीन करना अनिवार्य है, जो चित्त की शुद्धि से ही सम्भव है। क्योंकि जब इन्द्रिय-दृष्टि बुद्धि-दृष्टि में और बुद्धि-दृष्टि विवेक-दृष्टि में विलीन हो जाती है, तब चित्त शुद्ध हो जाता है, और अन्तर्दृष्टि तथा प्रीति की दृष्टि उदय होती है। इस प्रकार चित्त की शुद्धि में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

१३.०५.१९५६

रूचि-अरूचि के द्वन्द्व का अन्त

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

रुचि-अरुचि के द्वन्द्व में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। रुचि राग को और अरुचि द्वेष को उत्पन्न करती है। राग से बन्धन और द्वेष से भेद की दृढ़ता होती है। बन्धन से जड़ता तथा पराधीनता और भेद से भय तथा संघर्ष का जन्म होता है। जड़ता से अपने में देह-भाव की दृढ़ता, पराधीनता से वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता, भय से प्राप्त शक्ति का हास अर्थात् हृदय-दौर्बल्य और संघर्ष से हिंसा आदि विकारों की उत्पत्ति होती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अपने को देह, अथवा देह को अपना मान लेने पर रुचि, अरुचि का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। रुचि-पूर्ति का प्रलोभन देह में अहम्बुद्धि दृढ़ करता है। उसका परिणम यह होता है कि प्राणी अपने को कर्म, चिन्तन और स्थिति में आबद्ध कर भोक्ता हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी भोग की सिद्धि प्रमाद तथा हिंसा के बिना सम्भव नहीं है। कारण, कि प्राप्त विवेक का अनादर किए बिना कोई भी प्राणी देह से तद्रूप नहीं हो सकता और उसके बिना अपने को कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व में आबद्ध नहीं कर सकता, अर्थात् ''मैं भोक्ता हूँ''- यह स्वीकृति दृढ़ नहीं हो सकती। ''मैं भोक्ता हूँ''- इस स्वीकृति के बिना भोग-वासनाओं की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती और भोग वासनाओं की उत्पत्ति हुए बिना भोग्य वस्तुओं से सम्बन्ध तथा उनमें आसक्ति सम्भव नहीं है। भोग-प्रवृत्ति से भोग्य वस्तुओं का विनाश तो स्वाभाविक ही है। अतः स्पष्टतः विदित होता है कि प्रमाद तथा हिंसा के बिना भोग की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अपने को भोक्ता स्वीकार करना प्रमाद है और भोग्य वस्तुओं के विनाश में हिंसा है। हिंसा और प्रमाद से चित्त अशुद्ध होता है।

देहाभिमान प्राणी को शुभाशुभ कर्म, सार्थक-निरर्थक चिन्तन एवं सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति में आबद्ध करता है। एह नियम है कि किसी भी अवस्था में आबद्ध होने से रुचि-अरुचि का द्वन्द्व चलता रहता है। शुभाशुभ कर्म प्राणी को स्थूल शरीर में, सार्थक-निरर्थक चिन्तन सूक्ष्म शरीर में और सविकल्प-निर्विकल्प स्थिति कारण शरीर में आबद्ध करती है। कर्म की अपेक्षा चिन्तन में और चिन्तन की अपेक्षा स्थिति में अधिक स्वाधीनता एवं व्यापकता है। तीनों अवस्थाओं का भोक्ता एक है। स्थूल शरीर में आबद्ध होते ही वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है। निरर्थक-चिन्तन प्राप्त वस्तु में ममता और अप्राप्त में आसक्ति उत्पन्न करता है और सार्थक चिन्तन निरर्थक चिन्तन को खाकर अचिन्तता प्रदान करता है। सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति सीमित अहम्-भाव को जीवित रखती है और शान्ति में रमण करती है।

सीमित अहम्-भाव के रहते हुए न तो भेद का ही नाश होता है, न प्रेम का ही उदय होता है और न शान्ति से अतीत के जीवन में ही प्रवेश होता है। भेद का नाश हुए बिना काम का नाश नहीं होता और काम का नाश हुए बिना भोक्तृत्व का अन्त नहीं होता, उसका अन्त हुए बिना बेचारा प्राणी कभी क्रिया, कभी चिन्तन और कभी स्थिति

के क्षेत्र में रमण करता है। क्रिया के क्षेत्र में पराधीनता तथा श्रम की अधिकता है। उससे श्रमित तथा क्षुभित होकर प्राणी चिन्तन के क्षेत्र में रमण करने लगता है। किन्तु स्थिति की अपेक्षा चिन्तन में भी अधिक श्रम है। अतः चिन्तन से श्रमित होकर स्थिति के क्षेत्र में विश्राम लेता है। परन्तु क्रिया और चिन्तन-जनित राग के बने रहने के कारण स्थिति के क्षेत्र से भी उपराम होता है और फिर क्रिया तथा चिन्तन के क्षेत्र में रमण करता हुआ स्थिति में विश्राम लेता है। यह क्रम उस समय तक चलता ही रहता है, जब तक सीमित अहम्-भाव गल न जाय, अथवा यों कहो कि काम का अन्त न हो जाय।

काम का अन्त हुए बिना कामनाओं का नाश नहीं हो सकता और कामनाओं का नाश हुए बिना जिज्ञासा की पूर्ति सम्भव नहीं है। जिज्ञासा की पूर्ति के बिना निस्सन्देहता की प्राप्ति नहीं हो सकती। सन्देह रहते हुए कभी-भी चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

सन्देह सदैव ''यह'' और ''मैं'' के सम्बन्ध में होता है, क्योंकि जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, उसके सम्बन्ध में सन्देह नहीं होता, विश्वास अथवा अविश्वास होता है। सन्देह और अविश्वास में भेद है। सन्देह में किसी-न-किसी प्रकार की जानकारी होती है। विश्वास और अविश्वास में केवल मान्यता होती है। अविश्वास अथवा विश्वास निर्णयात्मक होता है। पर सन्देह निर्णयात्मक नहीं होता। ''यह'' अर्थात् जो प्रतीत हो रहा है, ''मैं अथवा जिसकी स्वीकृति है अथवा जिसका भास होता है। प्रतीति में सन्देह का कारण है उसके सतत् परिवर्तन का ज्ञान। स्वीकृति भी परिस्थिति तथा अवस्था भेद से बदल जाती है। इस कारण ''मैं'' के सम्बन्ध में भी सन्देह होता है। सन्देह जिज्ञासा की भूमि है। जिज्ञासा की जागृति प्रतीति से सम्बन्ध-विच्छेद करती है और स्वीकृति को अस्वीकृति से मिटा देती है। प्रतीति से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही ममता नष्ट हो जाती है और स्वीकृति को अस्वीकार करते ही अहम् का नाश हो जाता है। अहम् और मम का नाश होते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होते ही क्रिया, चिन्तन और स्थिति से अनासक्ति स्वतः हो जाती है, जो चित्त को शुद्ध कर देती है।

क्रिया-जनित सुख से अरुचि होते ही सार्थक-चिन्तन स्वतः जाग्रत होता है। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों सार्थक-चिन्तन सबल तथा स्थायी होताजाता है, त्यों-त्यों सीमित अहम्-भाव निर्जीव होता जाता है। ज्यों-ज्यों सीमित अहम्-भाव निर्जीव होता जाता है, त्यों-त्यों निर्विकल्पता स्वतः आती जाती है। निर्विकल्पता के स्थायी होते ही शान्ति की अभिव्यक्ति अपने आप होती है, जो सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है।

क्रिया-जनित सुख-लोलुपता से ही निरर्थक-चिन्तन उत्पन्न होता है और स्थिति भंग हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध करती है, क्योंकि क्रिया-जनित सुख-लोलुपता चेतना से जड़ता की ओर गतिशील करती है, जिससे अहम् और मम पुष्ट होता है। अतः क्रिया-जनित सुख-लोलुपता का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि स्वार्थ-भाव को सेवा-भाव में परिवर्तित कर सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा सार्थक-चिन्तन और सार्थक-चिन्तन

द्वारा निर्विकल्प स्थिति प्राप्त की जाए, जो विकास का मूल है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति क्रिया को चिन्तन में और चिन्तन को स्थिति में विलीन करती है और स्वार्थ-भाव से उत्पन्न प्रवृत्ति स्थिति से चिन्तन की ओर और चिन्तन से क्रिया की ओर गतिशील करती है। क्रिया से स्थिति की ओर गतिशील होने में प्राणी जड़ता से चेतना की ओर जाता है और स्थिति से क्रिया की ओर गतिशील होने से चेतना से जड़ता की ओर गतिशील होता है। इस दृष्टि से क्रिया से स्थिति की ओर, अर्थात् जड़ता से चेतना की ओर जाना चित्त को शुद्ध करना है और स्थिति से क्रिया की ओर, अर्थात् चेतना से जड़ता की ओर जाना चित्त को अशुद्ध करना है। क्योंकि वस्तु, अथवा परिस्थिति आदि में आबद्ध होना जड़ता में आबद्ध होना है और अनन्त, नित्य, चिन्मय-जीवन से विमुख होना है। इस कारण किसी भी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आह्वान नहीं करना चाहिए। अपितु प्राप्त वस्तु अवस्था आदि से विमुख होकर चिन्मय-जीवन की ओर अग्रसर होने का प्रयास करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक प्रवृत्ति सार्थक-चिन्तन में और सार्थक-चिन्तन अचिन्तता, अर्थात् निर्विकल्पता में विलीन हो जाए अर्थात् श्रमरहित स्थिति स्वतः प्राप्त हो जाए, परन्तु उसमें भी रमण न हो। तभी चिन्मय जीवन में प्रवेश हो सकता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में प्राणी का हित है। पर कब? जब परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न हो, प्रत्युत् प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग कर्तव्यबुद्धि से अथवा उस अनन्त के नाते, उन्हीं की प्रसन्नतार्थ अभिनय-रूप में किया जाय। ऐसा करने से होने वाली प्रवृत्तियों का रागअंकित न होगा और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही अनुराग अथवा तीव्र जिज्ञासा तथा शान्ति का उदय होगा, जिससे बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्न हो सकता है।

समस्त परिस्थितियों से अतीत के जीवन को प्राप्त किए बिना रुचि-अरुचि का द्वन्द्व चलता रही रहता है, अर्थात् प्राणी का चित्त राग और द्वेषसे विक्षिप्त ही रहता है। अतः रुचि-अरुचि का द्वन्द्व समाप्त करने के लिए या तो ऐसी रुचि जाग्रत हो जाय जिसकी पूर्ति या अपूर्ति क्षोभ उत्पन्न न करें, अथवा यों कहो कि नवीन रुचि को जन्म न दे या सभी रुचियों का अन्त हो जाय। इन दोनों अवस्थाओं में बड़ी ही सुगमतापूर्वक रुचि-अरुचि का द्वन्द्व मिट सकता है। ऐसी रुचि जो कभी अरुचि में न बदले प्रीति ही हो सकती है, क्योंकि प्रीति पूर्ति-अपूर्ति से विलक्षण है, रसरूप है और रसरूप होने के कारण काम की नाशक है। जो काम की नाशक है, उसी से रुचि-अरुचि का द्वन्द्व मिट सकता है।

ऐसी अरुचि, जिससे किसी रुचि का जन्म न हो, असंगता ही हो सकती है। क्योंकि असंगता से भी निर्वासना आ जाती है, जो समस्त रुचियों का अन्त करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, निर्वासना से प्रीति सबल होती है और प्रीति से वासनाओं का अन्त होता है। इस दृष्टि से प्रीति-रूपी और असंगता-रूपी अरुचि से रुचि-अरूचि

का द्वन्द्व सदा के लिए मिट सकता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

असंगता तथा प्रीति-इन दोनों से ही कर्म, चिन्तन और स्थिति तीनों ही से सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है, क्योंकि प्रीति और असंगता दोनों ही से देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही अहम् और मम का नाश हो जाता है। अहम् के नाश से परिच्छिन्नता मिट जाती है और मम के नाश से असीम प्रीति उदय होती है। परिच्छिन्नता का नाश होते ही भेद मिट जाता है और असीम प्रीति के उदय होने से भिन्नता मिट जाती है। भेद और भिन्नता के मिटते ही योग, ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, अथवा यों कहो कि भोग, मोह एवं द्वेष का सदा के लिए अन्त हो जाता है। भोग-वासनाओं का अन्त होते ही स्वभाव से ही योग, मोह का अन्त होते ही स्वभाव से ही बोध और द्वेष का अन्त होते ही स्वभाव से ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। योग में शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता और बोध में अनन्त, नित्य जीवन तथा प्रेम में अगाध, अनन्त रस निहित है। रुचि तथा योग्यता भेद से इन तीनों में-से किसी भी एक की उपलब्धि हो जाने पर तीनों ही प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि योग की पूर्णता में बोध तथा प्रेम और बोध की पूर्णता में योग तथा प्रेम और प्रेम के प्राकट्य में योग तथा बोध स्वतः सिद्ध है।

जिन प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति से उदय होकर प्रीति में ही विलीन होती है, वे प्रेम प्राप्त कर ज्ञान तथा योग प्राप्त कर लेते हैं और जिन प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त राग-रहित होने में होता है, वे योग प्राप्त कर ज्ञान और प्रेम प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि राग-रहित भूमि में ही योगरूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है और योगरूपी वृक्ष में ही ज्ञान रूपी फल लगता है, जो प्रेमरूपी रस से परिपूर्ण हैं। जो प्राणी विवेकपूर्वक सभी अवस्थाओं से असंग हो जाते हैं, उन्हें ज्ञान, योग तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार साधननिष्ठ होकर रुचि-अरुचि के द्वन्द्व का अन्त कर चित्त शुद्ध कर सकता है।

१२.०६.१९५६

अहम् और वस्तु का विभाजन

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

वस्तु में अहम्-बुद्धि तथा अहम् में वस्तु-बुद्धि होने से मोह तथा काम की उत्पत्ति होती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। मोह की उत्पत्ति से भेद और काम से अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। वस्तु में अहम्-बुद्धि होने से प्राणी जड़ता में और अहम् में वस्तु-बुद्धि होने से परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है। जड़ता मोह को और परिच्छिन्नता काम को पोषित करती है। मोह संयोग की दासता और वियोग का भय उत्पन्न करता है। संयोग की दासता से बन्धन-वियोग के भय से अभाव का जन्म होता है। यद्यपि बन्धन तथा अभाव किसी भी प्राणी को अभीष्ट नहीं है, परन्तु बेचारा मोह वश उसी में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राप्त वस्तुओं से तो प्राणी की तद्रूपता हो जाती है, जिससे वह जड़ता में आबद्ध हो जाता है और अप्राप्त वस्तुओं का

आह्वन करता रहता है, जिससे अनेक प्रकार के अभावों से पीड़ित रहता है, अथवा यों कहो कि सुख की आशा तथा दुःख के भय में आबद्ध रहता है, जो चित्त की अशुद्धि है।

अहम् में वस्तु-बुद्धि स्वीकार करते ही परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है, जो काम को जन्म देती है। काम का जन्म होते ही परिवर्तनशील वस्तुओं में सत्यता तथा सुन्दरता भासित होने लगती है, जिससे बेचारा प्राणी अनन्त, नित्य सौन्दर्य से विमुख होकर सीमित, परिवर्तनशील सौन्दर्य में आबद्ध हो जाता है। उस सौन्दर्य की आसक्ति अनेक कामनाओं को जन्म देती है, जिससे बेचारा प्राणी कामना पूर्ति-अपूर्ति से सुखी-दुःखी होता रहता है, अथवा यों कहो कि दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलता रहता है, जिससे चित्त अशुद्ध होता है।

अब विचार यह करना है कि सर्व प्रथम अहम् का भास होता है, अथवा वस्तु की प्रतीति होती है। किसी भी वस्तु की प्रतीति उस समय तक नहीं होती, जिस समय तक अपने में परिच्छिन्नता का भास न हो और परिच्छिनता का भास उस समय तक नहीं होता, जिस समय तक अहम्-स्फूर्ति में किसी मान्यता विशेष की स्वीकृति हो नहीं जाती। अतः अहम्-स्फूर्ति में किसी मान्यता की स्वीकृति होने पर ही कामनाओं का जन्म होता है। और कामनाओं की उत्पत्ति से ही वस्तुओं की प्रतीति होती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सर्व प्रथम अहम्-स्फूर्ति में ही मान्यता की स्थापना हुई। यद्यपि उस काल का ज्ञान किसी भी व्यक्ति को नहीं है जिस काल में मान्यता की स्थापना की गई थी परन्तु मान्यता की निवृत्ति अथवा उसमें परिवर्तन होता है। इससे यह स्वीकार करना पड़ता है कि मान्यता स्थापना हुई थी। यह सभी की अनुभूति है कि घोर निद्रा से जग जाने पर प्राणी को सभी वस्तुओं से पूर्व अपने अहम् का भास होता है, अथवा यों कहो कि प्राणी की प्रथम स्मृति अहम् की होती है। उसके पश्चात् दूसरी स्मृतियाँ आती हैं, जिनके आते ही प्राणी अपने को कुछ-न-कुछ मान लेता है। यद्यपि उस मान्यता का चित्र कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य से भिन्न कुछ नहीं होता। परन्तु निष्क्रियता काल में भी प्राणी मान्यता की सत्यता को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करता है।

यदि मान्यता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो उसका अभाव तथा उसमें परिवर्तन न होता। प्राणी जो कुछ करता है, उससे मान्यता की सत्यता पुष्ट होती है तथा किसी परिस्थिति से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे वस्तुओं, प्रतीतियों व मान्यताओं में अहम्-बुद्धि दृढ़ हो जाती है, जो भेद की उत्पत्ति में हेतु है।

कर्त्तव्यरूप मान्यता से विद्यमान राग-द्वेष की निवृत्ति होती है और अकर्त्तव्यरूप मान्यताओं से नवीन राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर मान्यता की स्वीकृति में सत्यता नहीं रहती, जिसके मिटते ही भेद तथा भिन्नता शेष नहीं रहती और स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यरूप मान्यताएँ चित्त-शुद्धि का साधनमात्र है।

समस्त कर्त्तव्यों की परावधि राग-द्वेष की निवृत्ति तथा त्याग की पूर्णता एवं प्रेम की प्राप्ति में है। किन्तु कर्त्तव्यों की पूर्णता से पूर्व जब तक प्राणी

के जीवन में आंशिक कर्त्तव्य है तब तक निष्क्रियता काल में भी परिच्छिन्नता, अर्थात् सीमित अहम्भाव ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहता है। कर्त्तव्यपरायणता की दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त और दूसरी प्रवृत्ति की उत्पत्ति से पूर्वकाल में मान्यता अव्यक्तरूप से भले ही हो, पर व्यक्तरूप से प्रतीत नहीं होती। तब भी परिच्छिन्नता ज्यों-की-त्यों रहती है, क्योंकि एक ही अहम्-भाव में अनेक मान्यताओं की स्वीकृति है। मान्यताओं के अनुरूप प्रवृत्ति का जन्म होता है। साधनरूप प्रत्येक प्रवृत्ति का जन्म व्यक्ति में दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिए ही होता है। अर्थात् प्रवृत्ति द्वारा व्यक्ति दूसरों के अधिकारों की रक्षा करता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति में से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। यदि प्राणी दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार की आशा न करें, तो नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। समस्त कर्त्तव्यों में दो ही भाग होते हैं-एक, दूसरों के अधिकार की रक्षा और दूसरा, अपने अधिकार का त्याग। दोनों भागों की पूर्णता होने पर राग का अत्यन्त अभाव हो जाता है, जिसके होते ही द्वेष स्वतः मिट जाता है। राग-द्वेष रहित होते ही चित्त शुद्ध, स्वस्थ तथा शांत हो जाता है।

सर्व प्रथम भासित होने वाली अहम्-स्फूर्ति में परिच्छिन्नता भले ही हो, पर उसमें किसी गुण-दोष का आरोप नहीं होता। यद्यपि परिच्छिन्नता स्वयं एक बड़ा दोष है, परन्तु अव्यक्त होने के कारण वह दोष क्रियात्मक रूप धारण नहीं करता। उस अव्यक्त में ही जब किसी मान्यता की स्थापना हो जाती है, तब मान्यता के अनुरूप एक विधान का ज्ञान प्राणी को स्वतः होता है। यदि उस विधान के विपरीत कोई चेष्टा न की जाए, तो साधनरूप मान्यता से सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है और व्यक्ति में सदाचार की अभिव्यक्ति होती है। अथवा यों कहो कि विधान और व्यक्ति के चरित्र में एकता हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम्-भाव अपने आप गलने लगता है। सर्वांश में चरित्र और विधान की एकता होने पर समस्त दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही चित्त की अशुद्धि का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

वस्तु में अहम्-बुद्धि और अहम् में वस्तु-बुद्धि की स्वीकृति कब से हुई है, उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। परन्तु वस्तु में -से अहम्बुद्धि का और अहम् में-से वस्तु-बुद्धि का त्याग हो सकता है। उसके लिए वस्तु और अहम् में क्या भेद है, यह जानना अनिवार्य है। अर्थात् वस्तु और अहम् का क्या स्वरूप है? वस्तु-रहित अहम् क्या है? और अहम्-रहित वस्तु क्या है? जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, जिसमें सतत् परिवर्तन है और जो परप्रकाश्य है, उसे वस्तु कहते हैं। इस दृष्टि से समस्त दृश्य और समस्त परिवर्तनशील मान्यताएँ भी वस्तु ही हैं। वस्तुओं के सम्बन्ध से भेद और भिन्नता की उत्पत्ति होती है। जिस वस्तु में अहम् की स्थापना हो जाती है, उसमें सत्यता और प्रियता भासने लगती है। अर्थात् वस्तुओं से भेद की उत्पत्ति और अहम् से सत्यता और प्रियता का भास होता है। इसी कारण वस्तु और अहम् के सम्बन्ध से परिच्छिन्नता, जड़ता आदि दोषों की उत्पत्ति

होती है। और उन दोषों में सत्यता, प्रियता और सुखरूपता भासने लगती है, जिससे अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे चित्त अशुद्ध, अशांत और अस्वस्थ हो जाता है, चित्त के अशुद्ध होने से समस्त विकारों की, अशांत होने से असमर्थता की और अस्वस्थ होने से पराधीनता की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे बेचारा प्राणी मिथ्या अभिमान तथा घोर दीनता में आबद्ध हो जाता है।

यदि वस्तु में अहम्-बुद्धि न रहे, तो जड़ता की और अहम् में वस्तु-बुद्धि न हो, तो परिच्छिन्नता की उत्पत्ति ही नहीं होती। जड़ता और परिच्छिन्नता के बिना न तो काम की ही उत्पत्ति होती है और न भेद की। काम और भेद के बिना आसक्ति तथा मोह शेष नहीं रहता। मोह का अन्त होते ही जड़ता का अभाव, चिन्मय-नित्य जीवन से अभिन्नता और आसक्ति का अन्त होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रेम की अभिव्यक्ति तथा नित्य, चिन्मय जीवन की अभिन्नता में स्वरूप की एकता है। कारण, कि इन दोनों का विभाजन सम्भव नहीं है। वस्तु और अहम् के विभाजन से वस्तु और अहम् दोनों ही का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, जिसके न रहने से अलौकिक, दिव्य, चिन्मय, अनन्त, नित्य जीवन की ही सत्ता शेष रहती है, जो सभी का सब कुछ है। किसी ने उसे अपने में और किसी ने उसमें अपने को पाया है।

पर यह तभी सम्भव होगा, जब प्राणी या तो मूल दोष का अन्त कर सभी मान्यताओं से रहित हो वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाए, अथवा साधनरूप मान्यता के अनुरूप साधननिष्ठ होकर राग-द्वेष का अन्त कर चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर ले। चित्त के शुद्ध होने पर समस्त विकार अपने आप मिट जाते हैं। चित्त के शान्त होने पर आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वतः होता है, अर्थात् असमर्थता शेष नहीं रहती और चित्त के स्वस्थ होने पर पराधीनता का नाश, अर्थात् स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। निर्विकारता, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता प्राप्त होते ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति को साधनरूप मान्यता के अनुरूप साधननिष्ठ होने के लिए आवश्यक परिस्थिति, सामर्थ्य तथा योग्यता स्वतः प्राप्त होती है, क्योंकि वह अनन्त की देन है। अतः प्रत्येक साधक अपनी-अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार साधन-परायण हो सकता है। कर्त्तव्यपरायणता समस्त साधनों की भूमि है। अनेक दार्शनिक भेद होने पर भी परिस्थिति के सदुपयोग में कोई भेद नहीं है। अपने-अपने विश्वास, भाव तथा विवेक के अनुरूप प्रत्येक साधक का दृष्टिकोण भले ही भिन्न हो, परन्तु परिस्थिति के सदुपयोग का जो क्रियात्मक रूप है, उसमें प्रायः सभी की समानता है। यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के नहीं होते, परन्तु सभी की स्वाभाविक आवश्यकता, अर्थात् लक्ष्य एक होता है। लक्ष्य की एकता के नाते सभी साधकों में मान्यता और कर्म की भेद होने पर भी स्नेह की एकता रहती है। स्नेह की भिन्नता किसी भी साधन में नहीं है, क्योंकि स्नेह की भिन्नता होने पर सिद्धि सम्भव ही नहीं है। स्नेह की व्यापकता ही राग-द्वेष का अन्त कर सकती है। राग-द्वेष के अन्त में ही सिद्धि निहित है।

विवेकपूर्वक असंगता से भी राग-द्वेष का अन्त हो जाता है, क्योंकि असंगता समस्त वासनाओं का अन्त कर भेद तथा भिन्नता को खा लेती है, जिसके मिटते ही कर्त्तव्यपालन कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगता है।

विकल्परहित विश्वास के आधार पर समर्पित होते ही अनन्त की कृपा-शक्ति स्वतः राग-द्वेष को खा लेती है और त्याग तथा प्रेम को प्रदान करती है, जिससे स्वाधीनता, अमरत्व तथा अगाध-अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है।

कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और समर्पण-इन तीनों के द्वारा चित्त शुद्ध हो सकता है। इनमें-से किसी एक की पूर्णता होने पर तीनों की पूर्णता हो जाती है। कर्त्तव्यपरायणता से योग, असंगता से बोध एवं समर्पण से प्रेम की प्राप्ति होती है। योग, ज्ञान, प्रेम-इन तीनों में विभाजन सम्भव नहीं है। ये तीनों उस अनन्त की विभूति हैं। इस रहस्य को वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने वस्तुओं में-से अहम्-बुद्धि और अहम् में-से वस्तु-बुद्धि का त्याग कर काम और मोह से रहित होकर चित्त शुद्ध कर लिया है।

१५.०६.१९५६

आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का अन्त

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व में चित्त की अशुद्धि निहित है। कारण, कि वर्तमान जीवन के जिस स्तर में केवल आसक्ति ही आसक्ति है, उस स्तर में अशुद्धि होने पर भी चित्त की शुद्धि का प्रश्न वर्तमान की वस्तु नहीं बनता। पर जीवन के जिस स्तर में आसक्ति के साथ-साथ अनासक्ति का भी प्रकाश है, उसी स्तर में चित्त-शुद्धि की समस्या उत्पन्न होती है, अर्थात् अनासक्ति के प्रकाश ने ही आसक्ति को मिटाने की प्रेरणा दी है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि आसक्ति ही चित्त की वास्तविक अशुद्धि है। संकल्प-अपूर्ति के दुःख का भय तथा संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता ही भोगासक्तियों को पोषित करती है, जिससे चित्त अशुद्ध होता है।

आसक्ति की वास्तविकता जान लेने पर आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से आसक्ति के स्वरूप को जान लेना अनिवार्य है। आसक्ति सदैव उसके प्रति होती है, जिससे मानी हुई एकता और स्वरूप से भिन्नता हो। जिससे किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता नहीं होती, उसमें आसक्ति नहीं होती। जिससे भिन्नता है ही नहीं, उससे प्रेम होता है, आसक्ति नहीं। जिससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, उसका त्याग हो सकता हे, उसमें आसक्ति नहीं हो सकती। अर्थात् आसक्ति उसी में होती है, जिससे सम्बन्ध की स्वीकृति और वास्तविक भिन्नता है। देह तथा देही में ही सम्बन्ध की स्वीकृति और वास्तविक भिन्नता है,क्योंकि प्रत्येक प्राणी को देह के परिवर्तन और अपने अपरिवर्तन का ज्ञान है। परिवर्तन और अपरिवर्तन में वास्तविक एकता तथा अभिन्नता सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से देही तथा देह के प्रति सम्बन्ध जनित एकता ही हो सकती है, वास्तविक नहीं।

आसक्ति-जनित सम्बन्ध एकमात्र वस्तुओं के प्रति ही होता है। जो वस्तुओं से अतीत है, उससे योग, ज्ञान तथा प्रेमयुक्त सम्बन्ध हो सकता है, आसक्तियुक्त नहीं। योग ज्ञान तथा प्रेमयुक्त सम्बन्ध भेद तथा भिन्नता का अन्त कर देता है। इस कारण योग, ज्ञान तथा प्रेमपूर्वक जिससे सम्बन्ध होता है, उसमें आसक्ति नहीं होती, प्रत्युत् एकता तथा अभिन्नता होती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

यदि कोई यह कहे कि आसक्तिजनित सम्बन्ध दो व्यक्तियों में ही हो सकता है, अथवा विभिन्न विचार धाराओं, दलों तथा सम्प्रदायों के प्रति भी हो सकता है तो कहना होगा कि क्या कोई किसी व्यक्ति में उस समय तक आसक्त होता है, जब तक उसमें देहरूपी वस्तु की स्थापना न कर ले? दो आसक्त प्राणी अपने को देह से अलग अनुभव कर, क्या एक दूसरे में आसक्त हो सकते हैं? कदापि नहीं। इस दृष्टि से आसक्ति केवल वस्तु में ही सिद्ध होती है, चाहे वह अपनी देह में हो, अथवा किसी अन्य में। इतना ही नहीं, देह की आसक्ति के आधार पर ही समस्त वस्तुओं में आसक्ति होती है, क्योंकि देह के लिए ही वस्तुओं की अपेक्षा है। देहातीत के जीवन में किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। अर्थात् देह की आसक्ति को ही प्राणी अनेक वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों की आसक्ति के रूप में बनाए रखता है। यदि देह में आसक्ति न रहे, तो किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि में आसक्ति नहीं हो सकती। सूक्ष्म-देह की आसक्ति ही विचारधाराओं, सम्प्रदायों तथा मतों में आसक्ति उत्पन्न करती है। अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए ही प्राणी बड़े-बड़े दलों का आविष्कार करता है।

विचारों की आसक्ति ही दो दलों, दो सम्प्रदायों आदि में संघर्ष उत्पन्न करती है। यद्यपि दो व्यक्ति भी सर्वांश में एक नहीं होते, परन्तु फिर भी प्राणी आसक्ति-वश अपनी विचारधारा के आधार पर अनेक व्यक्तियों को संगठित कर व्यक्त-अव्यक्त रूप से अपने व्यक्तित्व की पूजा कराता है, जिससे बेचारा पराधीन होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। सर्वांश में अनासक्ति आ जाने पर प्रत्येक वस्तु, विचारधारा आदि का सदुपयोग हो सकता है, पर परस्पर में भेद तथा संघर्ष नहीं हो सकता। भेद तथा संघर्ष का अन्त होने पर क्या चित्त अशुद्ध हो सकता है? अतः आसक्ति-अनासक्ति का द्वन्द्व रखते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि जब अनासक्ति आसक्तियों को खा लेती है, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। अनासक्ति किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, विचारधारा आदि की नाशक नहीं है, अपितु उनकी दासता से मुक्त कर उनके सदुपयोग की प्रेरणा देती है। इस दृष्टि से अनासक्ति की भूमि में ही सभी का विकास निहित है।

वर्तमान वस्तुस्थिति में प्रत्येक प्राणी को संकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति का चित्र दिखाई देता है। संकल्प-उत्पत्ति का दुःख संकल्प-पूर्ति से क्षणमात्र के लिए दब जाता है। परन्तु जब ऐसे संकल्प उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं, तब बेचारा प्राणी संकल्प-पूर्ति के चिन्तन में आबद्ध होकर परिस्थितियों का दास बन जाता है।

परिस्थितियों की दासता प्राप्त परिस्थिति में ममता और अप्राप्त परिस्थितियों का आह्वान कराती रहती है। ज्यों-ज्यों प्राप्त की ममता और अप्राप्त का चिन्तन दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों बेचारा प्राणी पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध होता जाता है, जिससे चित्त की अशुद्धि दृढ़ होती जाती है।

यद्यपि संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है, परन्तु प्राणी उस पर दृष्टि नहीं रखता। उसका परिणाम यह होता है कि संकल्प-पूर्ति का महत्व बढ़ जाता है। प्रत्येक संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता नवीन संकल्प की जननी है। इस कारण संकल्प-पूर्ति को महत्व देने से संकल्पों का प्रवाह चलता ही रहता है और अन्त में संकल्प-अपूर्ति का दुःख ही शेष रहता है। इतना नहीं नहीं, बेचारा संकल्प-पूर्ति के सुख का भोक्ता पराधीन तथा असमर्थ होकर जड़ता में आबद्ध हो जाता है, क्योंकि भोग्य वस्तुओं का विनाश और भोगने की शक्ति का ह्रास तो हो ही जाता है, पर उस बेचारे के चित्त में केवल भोगासक्ति ही अंकित रह जाती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

संकल्प-अपूर्ति का दुःख जब संकल्प-पूर्ति की महत्ता को खा लेता है, तब संकल्प-निवृत्ति के जीवन में श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न होता है, जिसके होते ही अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प तो उत्पन्न ही नहीं होते। और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे हो-होकर अपने आप मिटते जाते हैं; जिनके मिटते ही संकल्प-निवृत्ति की, जो कि प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और पूर्ति के पश्चात् स्वाभाविक है, दृढ़ता स्वतः होने लगती है। संकल्प-निवृत्ति के स्तर पर दुःख नहीं है और अशान्ति, असमर्थता तथा पराधीनता भी नहीं है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों संकल्प-निवृत्ति की महत्ता और सुलभता चित्त में अंकित होती जाती है, त्यों-त्यों संकल्प-पूर्ति का सुख नीरस होता जाता है। संकल्प-पूर्ति के सुख की नीरसता संकल्प-निवृत्ति की शान्ति को सबल तथा स्थायी बनाती है। ज्यों-ज्यों संकल्प-निवृत्ति की शान्ति दृढ़ तथा अचल होती जाती है, त्यों-त्यों सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वतः होती जाती है। इस दृष्टि से संकल्प-निवृत्ति प्राणी को असमर्थता, पराधीनता एवं जड़ता से रहित कर देती है।

संकल्प-निवृत्ति की शान्ति के द्वारा संकल्प-पूर्ति के सुख की नीरसता ज्यों-ज्यों स्थायी होती है, त्यों-त्यों प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन स्वतः मिटता जाता है, जिसके मिटते ही बेचारा अहम्-भाव निर्जीव हो जाता है। कारण, कि प्राप्त की ममता और अप्राप्त का चिन्तन ही उसका जीवन था। समस्त ममताओं का जो केन्द्र है, वही सीमित अहम् का स्वरूप है। अतः समस्त ममताओं का अन्त होते ही बेचारा अहम् अपने आप गल जाता है। यह नियम है कि अहम् के गलने से सभी ममताएँ मिट जाती हैं और ममताओं के मिट जाने से अहम् गल जाता है। अहम् और मम का अंत होते ही सभी आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

संकल्प-निवृत्ति की सुलभता तथा महत्ता दृढ़ होने पर प्राणी असाधारण जीवन की ओर अग्रसर होने लगता है, क्योंकि समस्त विकास संकल्प-निवृत्ति में ही निहित है। संकल्प-निवृत्ति

के स्तर पर दृढ़ होने से ही प्राणी चित्त-विज्ञान, अर्थात् चित्त की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। चित्त कितनी गहरी खाई है, इसका पता संकल्प-निवृत्ति के बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि चित्त का निरोध, अथवा चित्त का बोध वही कर सकता है, जो संकल्प-निवृत्ति के स्तर पर ठहर सकता है। अथवा यों कहो कि चित्त का बोध तथा चित्त का अपने अभीष्ट लक्ष्य में पूर्णरूप से लग जाना, अर्थात् चित्त का लक्ष्याकार हो जाना तभी सम्भव है, जब प्राणी संकल्प-निवृत्ति की स्थिति को सुरक्षित कर सके। यहाँ तक कि उसकी शान्ति में भी रमण न करे। अर्थात् संकल्प-अपूर्ति के दुःख के भय, संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता एवं संकल्प-निवृत्ति की शान्ति से असंग हो जाय। चित्त के निरोध में योग, बोध में ज्ञान और लक्ष्याकार होने में प्रेम निहित है। इस दृष्टि से समस्त विकास का मूल चित्त की शुद्धि पर ही निर्भर है।

संकल्प-निवृत्ति से ही संकल्प-पूर्ति की सामर्थ्य आती है और संकल्प-निवृत्ति के महत्व से ही संकल्प-पूर्ति के सुख का राग मिट सकता है, अर्थात् अनासक्ति प्राप्त हो सकती है। अनासक्ति के बिना कोई भी प्राणी न तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर सकता है और न अप्राप्त परिस्थिति की कामना से रहित हो सकता है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग किए बिना परिस्थितियों से अतीत के जीवन में न तो विश्वास तथा श्रद्धा ही हो सकती है और न उसकी प्राप्ति की सम्भव है। अतः भौतिक विकास और आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि संकल्प-निवृत्ति में ही निहित है।

संकल्प-निवृत्ति के स्तर पर समर्थ और असमर्थ समान हो जाते हैं। कारण, कि संकल्प-निवृत्ति में दुःख की निवृत्ति है। दुःख की निवृत्ति होने पर सुख का महत्व अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही सुखी और दुःखी में जो विषमता थी, वह शेष नहीं रहती। जिस प्रकार गहरी नींद में सभी प्राणी समान होते हैं, उसी प्रकार संकल्प-निवृत्ति में समता आ जाती है। गहरी नींद और संकल्प-निवृत्ति की समता में एक बड़ा अन्तर यह है कि गहरी नींद की समता प्राणी को जड़ता में आबद्ध करती है, परन्तु संकल्प-निवृत्ति की समता चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर करती है। परन्तु कब? जब प्राणी संकल्प-निवृत्ति को ही जीवन नहीं मानता। यद्यपि संकल्प-निवृत्ति संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा बड़े ही महत्व की वस्तु है, परन्तु वही जीवन नहीं है। सकंल्प-पूर्ति और संकल्प-निवृत्ति में एक बड़ा अन्तर यह है कि संकल्प-पूर्ति जिन साधनों से होती है, प्राणी उनके अधीन हो जाता है, अर्थात् स्वाधीन नहीं रहता किन्तु संकल्प-निवृत्ति के स्तर पर वस्तु, व्यक्ति आदि की पराधीनता नहीं रहती। परन्तु अहं का महत्व सुरक्षित रहता है। संकल्प-पूर्ति वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन बनाती है और संकल्प-निवृत्ति अहम् का महत्व बढ़ाती है। अहम् का महत्व वस्तुओं की अपेक्षा भले ही अधिक हो, परन्तु वास्तविक जीवन में अहम् का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि अहम् भेद को उत्पन्न करता है जो अनर्थ का मूल है।

वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए सीमित अहम् का अन्त करना अनिवार्य है, जो योग, ज्ञान तथा प्रेम की पूर्णता से ही सम्भव है।

संकल्प-निवृत्ति में जीवन बुद्धि न रहने से अपने आप विचार का उदय होता है, जो काम का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान करने में समर्थ है। निस्सन्देहता सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है, क्योंकि किसी भी अवस्था में आबद्ध प्राणी सन्देह रहित नहीं हो सकता। निर्विकल्प स्थिति सभी अवस्थाओं में श्रेष्ठ है, परन्तु अवस्थातीत जीवन का तो द्वार ही है। इस प्रकार प्राणी को बड़ी ही सावधानीपूर्वक निर्विकल्प स्थिति से असंग होना है।

अवस्था की आसक्ति अहम् को जीवित रखती है और अवस्थाओं की असंगता अहम् को भस्मीभूत कर देती है। अहम् का अन्त होते ही नित्य-योग, निस्सन्देहता एवं प्रेम स्वतः प्राप्त होता है। संकल्प-निवृत्ति वस्तुओं की आसक्ति को खाकर अनासक्ति और संकल्प-निवृत्ति की असंगता अहम् को खाकर अभिन्नता प्रदान करती है। अनासक्ति और अभिन्नता से चित्त शुद्ध हो जाता है और फिर आसक्ति-अनासक्ति का द्वन्द्व शेष नहीं रहता, क्योंकि अहम्-भाव गल जाने से आसक्ति की उत्पत्ति नहीं होती और अनासक्ति का अभिमान नहीं रहता। अथवा यों कहो कि अनासक्ति का अभिमान भी एक आसक्ति ही है, जिसके रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। अतः चित्तशुद्धि के लिए अनासक्ति के अभिमान का अन्त करना भी अनिवार्य है।

१६.०६.१९५६

प्राप्त परिस्थिति द्वारा साधन-निर्माण

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

किसी अप्राप्त साधन के द्वारा किसी ऐसे साध्य की खोज करना जो सर्वत्र तथा सर्वदा नहीं है चित्त को अशुद्ध करना है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक साधक को साधन-सामग्री स्वतः प्राप्त है और उसी के सदुपयोग से साध्य की उपलब्धि अनिवार्य है। कारण, कि वह साधन साधन नहीं, जिसके करने में साधक असमर्थ हो और वह साध्य साध्य नहीं, जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो। साधन वही है, जिसके करने में साधक समर्थ तथा स्वाधीन है और साध्य वही है जिसकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है। साधक और साधन के मध्य में अगर कोई आवरण है, तो वह असाधन है। साधन और असाधन में केवल इतना ही भेद है कि प्राप्त वस्तु तथा सामर्थ्य का उपयोग निज विवेक के अनुरूप होना साधन और उसके विपरीत होना असाधन है। साधक साधन से अभिन्न होकर अपने साध्य का प्रेम तथा उसका ज्ञान एवं अभिन्नता प्राप्त करने की लालसा रखता है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव होगी, जब साधक में से असाधन का अन्त और साधन की अभिव्यक्ति हो जाए, अर्थात् साधनरूपी प्रकाश असाधनरूपी अन्धकार को खा जाय।

असाधन का ज्ञान साधक में स्वयं है यदि ऐसा न होता, तो साधन की लालसा ही जाग्रत न होती। ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसके जीवन में कर्त्तव्य का प्रश्न न हो और जिसका कोई लक्ष्य न हो। कर्त्तव्य का प्रश्न यह सिद्ध करता है कि वर्तमान वस्तुस्थिति में किसी-न-किसी अंश में अकर्त्तव्य है। जब प्राणी निज-विवेक के प्रकाश में अकर्त्तव्य

को जान लेता है, तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसका त्याग कर कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है कारण, कि अकर्त्तव्य के त्याग में कर्त्तव्यपालन की सामर्थ्य निहित है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही असाधन मिट जाता है और साधन से अभिन्नता हो जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन साध्य का स्वभाव है, और वही साधक का जीवन है। साधन के अतिरिक्त साधक का कोई अलग स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता। पर यह रहस्य तभी खुलता है, जब साधक अपने जाने हुए तथा बनाए हुए असाधन का अन्त कर साधन से अभिन्न हो जाए।

असावधानी के कारण बेचारा प्राणी असाधन को देखने की दृष्टि का उपयोग अपनी वस्तुस्थिति पर न करके दूसरों पर करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि साधक के जीवन में साधन और असाधन का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। असाधन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। साधक की असावधानी से ही असाधन की उत्पत्ति और उसका पोषण होता है, अथवा यों कहो कि असावधानी की भूमि में ही असाधन की उत्पत्ति होती है। जो जानते हैं, उसको न मानना और जो कर सकते हैं, उसको न करना ही असावधानी है। इस दृष्टि से आसावधानी किसी और की देन नहीं है और न प्राकृतिक है और न उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है। इतना ही नहीं, स्वाभाविकता में जो अस्वाभाविकता की स्थापना कर ली जाती है, वही असावधानी है। अस्वाभाविकता कितनी ही सबल क्यों न प्रतीत हो, पर वह स्वाभाविकता का नाश नहीं कर सकती। और स्वाभाविकता कितनी ही निर्बल क्यों न हो, पर वह अस्वाभाविकता को मिटाने में समर्थ होती है, क्योंकि स्वाभाविकता उस अनन्त का विधान है और अस्वाभाविकता व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। इस कारण स्वाभाविकता से अस्वाभाविकता मिट सकती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है। अतः जिसे जो परिस्थिति प्राप्त है वह उसी के सदुपयोग से साधननिष्ठ हो सकता है अब यदि कोई यह कहे कि मेरा तन, मन, बुद्धि, साथी, देश, काल, वस्तु आदि मेरे अनुकूल नहीं हैं, इस कारण साधननिष्ठ नहीं हो सकता। तो जो प्राणी प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के द्वारा साधननिष्ठ नहीं हो सकता, वह वर्तमान में साधक नहीं बन सकता, क्योंकि साधन वर्तमान जीवन की वस्तु हैं। उसको भविष्य पर नहीं छोड़ा जा सकता। प्रकृति के विधान में प्राणीमात्र के प्रति हित-कामना तथा स्नेह है। भला उससे किसी भी व्यक्ति को ऐसी परिस्थिति मिल सकती है, जो साधन-सामग्री न हो? कदापि नहीं।

समस्त साधन विवेकशक्ति, भावशक्ति और क्रियाशक्ति के सदुपयोग से सिद्ध होते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जिसमें किसी-न-किसी अंश में विवेकशक्ति भावशक्ति और क्रियाशक्ति न हो। न्यूनाधिक का भेद भले ही हो, पर इन शक्तियों से रहित कोई व्यक्ति नहीं है। अतः प्रत्येक व्यक्ति साधननिष्ठ हो सकता है। यह मानना कि मैं साधननिष्ठ नहीं हो सकता, अपने प्रति घोर अत्याचार करना है, अथवा यों कहो कि अपने द्वारा अपना विनाश करना है। प्रत्येक

व्यक्ति में यह विकल्परहित विश्वास होना चाहिए कि मैं जिस परिस्थिति में हूँ, उसी में साधन कर सकता हूँ क्योंकि इस विश्वास का विरोध न तो प्राकृतिक विधान में है और न व्यक्ति के विवेक में। असाधनजनित सुखलोलुपता के कारण बेचारा प्राणी यह मान बैठा है कि साधन करने में असमर्थ हूँ। यह मान्यता अस्वाभाविक है, इसका त्याग करना परम अनिवार्य है।

प्राप्त विवेक में कर्त्तव्य-विज्ञान तथा वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान विद्यमान है यदि विवेक में कर्त्तव्य का ज्ञान न होता, तो व्यक्ति अपने प्रति होने वाले अन्याय को कैसे जानता? और दूसरों से न्याय तथा प्रेम की आशा कैसे करता? अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति बुराई जानता है। यदि प्राणी अपनी जानी हुई बुराई का अन्त कर दे, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता। व्यक्ति के कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होने लगता है, क्योंकि समाज के अधिकार की रक्षा ही व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इतना ही नहीं, दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते ही उसमें जो विद्यमान राग था, उसकी निवृत्ति हो जाती -और यदि वह अपने अधिकार की चिन्ता न करे, अर्थात् उसका त्याग कर दे, तो नवीन राग की उत्पत्ति ही न हो। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाए और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, तो प्राणी बड़ी ही सुगमता पूर्वक राग-रहित हो जाता है। राग-रहित होते ही द्वेष अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही स्वतः प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है, जिसके होते ही समस्त भेद अपने आप मिट जाते हैं। क्योंकि प्रेम का स्वभाव ही है कि वह भेद तथा भिन्नता को खा लेता है। भेद तथा भिन्नता के मिटते ही प्राणी काम-रहित हो जाता है, जिसके होते ही चित्त-स्वतः शुद्ध हो जाता है।

कर्त्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से दूसरों के हित में ही अपना हित निहित है। क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है, वही कई गुना अधिक होकर अपने प्रति हो जाता है। इस विधान के अनुसार किसी भी प्राणी को किसी के प्रति वह करना ही नहीं है, जो अपने प्रति दूसरों के द्वारा अभीष्ट नहीं है। यदि निर्बलता आदि किसी कारण से दूसरों के द्वारा हमारे साथ वह न हो सके, जो हमने दूसरों के साथ किया है, तो यह नहीं समझना चाहिए कि हमारा किया हुआ हमारे प्रति नहीं होगा। प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः वह शक्ति उत्पन्न हो जाएगी, जिसके द्वारा हमारा किया हुआ हमारे प्रति स्वतः हो जायगा। क्योंकि किये हुए कार्य की प्रतिक्रिया स्वतः होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक सबल को निर्बल की रक्षा करनी चाहिए, तभी सबल का बल सुरक्षित रह सकता है।

जिस बल से निर्बलों की सेवा नहीं होती, अपितु ह्रास होता है, वह बल स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही बेचारा सबल निर्बल हो जाता है और उसका विरोधी पक्ष सबल हो जाता है। अतः प्राकृतिक विधान के अनुसार बल निर्बलों की ही वस्तु है। उसके द्वारा निर्बलों की सेवा करना अनिवार्य है, जिसके करने से सबल और निर्बल में अभिन्नता हो जाती है और फिर संघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। समस्त निर्बलताओं का कारण

एकमात्र बल का दुरुपयोग ही है और कुछ नहीं। बल का दुरुपयोग वही करता है, जो कर्त्तव्यविज्ञान का अनादर करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

कर्त्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से कर्त्तव्यपालन मात्र में ही प्राणी का अधिकार है उससे भिन्न कर्त्तव्यपरायण प्राणी अपना कोई अधिकार नहीं मानता है। अब यदि कोई यह कहे कि तो फिर कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों के अधिकारों की रक्षा कैसे होगी? यह नियम है कि प्राणियों के जीवन के अनुरूप ही समाज बनता है। अतः कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों के द्वारा समाज में स्वतः कर्त्तव्य-परायणता आ जाएगी, जिसके आते ही परस्पर में स्वतः एक दूसरे के अधिकार सुरक्षित हो जायेंगे। क्योंकि किसी के अधिकार में ही किसी का कर्त्तव्य निहित रहता है। अतः अपना अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है और दूसरे का अधिकार अपना कर्त्तव्य है। अपने अधिकारों के त्याग की सामर्थ्यकर्त्तव्यपरायण प्राणियों में स्वतः आ जाती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों के अधिकार स्वतः सुरक्षित होने लगते हैं। फिर भी कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी में अधिकार-लालसा उदय नहीं होती। परिणाम यह होता है कि अधिकार सुरक्षित होने पर राग की उत्पत्ति नहीं होती। और यदि किसी कारण अधिकार का अपहरण हो जाय, तो क्रोध की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् जो कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी अपने अधिकार का त्याग कर देता है, वह राग तथा क्रोध से रहित हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। और जो प्राणी कर्त्तव्यपालन के बदले में अधिकार माँगता है, यदि उसकी पूर्ति हो गयी, तो उसके चित्त में राग अंकित हो जाता है और यदि अपूर्ति हुई, तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः चित्तशुद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा की जाए, जो वास्तविक कर्त्तव्य-विज्ञान है।

प्राप्त विवेक अनन्त का विधान है। उसका आदर करना अनिवार्य है। वस्तुओं के परिवर्तन तथा उनके अदर्शन का ज्ञान भी विवेक में विद्यमान है। यदि उसका आदर किया जाय, तो प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि की दासता से रहित हो जाता है, जिसके होते ही निर्लोभता, निर्मोहता और अपरिच्छिन्नता आदि की अभिव्यक्ति की स्वतः होती है। निर्लोभता की अभिव्यक्ति दरिद्रता का, निर्मोहता की अभिव्यक्ति अविवेक का और अपरिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति भेद का अन्त करने में समर्थ है। दरिद्रता के अन्त में उदारता, अविवेक के अन्त में निस्सन्देहता और भेद के अन्त में निर्भयता स्वतः आ जाती है। उदारता, निस्सन्देहता आते ही प्रेम, वास्तविकता का ज्ञान और सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। प्रेम में अनन्त रस, वास्तविकता के ज्ञान में अमरत्व और सामर्थ्य में स्वाधीनता निहित है। अमरत्व, स्वाधीनता और अनन्त रस की स्वाभाविक आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है। अतः वही प्राणी का लक्ष्य है, जिसकी उपलब्धि प्राप्त विवेक प्रकाश में प्राप्त वस्तु और सामर्थ्य का उपयोग करने पर स्वतः सिद्ध है। इस

दृष्टि से प्राणी का जो लक्ष्य है, उसकी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है। अतः साधन करने में कोई भी साधक असमर्थ नहीं है। और साधननिष्ठ होने पर सफलता अनिवार्य है।

परिस्थिति के अनुरूप प्रत्येक प्रवृत्ति पवित्र-भाव से भावित और भाव निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित होना चाहिए। ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसमें प्रेम, आदर तथा रक्षा की आकांक्षा न हो, अर्थात् यह आकांक्षा सभी में स्वाभाविक है। रक्षा उसी की होती है, जिससे किसी का विनाश, अर्थात् अहित न हो। और आदर उसी को मिलता है, जो स्वयं अपनी दृष्टि में आदर के योग्य हो और किसी का अनादर न करता हो। अपनी दृष्टि में आदर के योग्य वही हो सकता है, जो अपने जाने हुए दोषों का अन्त करने में समर्थ है, अर्थात् जिसमें निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो गयी है। और उसी के द्वारा किसी का अनादर नहीं होता, जिसमें से पर-दोष-दर्शन की दृष्टि मिट जाती है। इस दृष्टि से जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सर्वहितकारीभाव, अथवा सर्वात्मभाव, अथवा प्रेमास्पद की पूजा के भाव से होती है, उसकी प्रवृत्ति पवित्र-भाव से भावित है। प्रेम उन्हीं को प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही स्वीकार न की हो और जो प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा अपने प्रेमास्पद की ही पूजा करते हैं। क्योंकि प्रेम के आदान-प्रदान में ही प्रेम की प्राप्ति है।

सर्वहितकारी-भाव, सर्वात्म-भाव अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेमास्पद की पूजा के भाव से होने पर ही प्रवृत्ति पवित्र-भाव से भावित हो सकती है। सर्वहितकारी-भाव से की हुई प्रवृत्ति विश्वप्रेम और सर्वात्मभाव से की हुई प्रवृत्ति आत्मरति और प्रेमास्पद की पूजा के भाव से की हुई प्रवृत्ति स्वतः प्रेम हो जाती है। इस दृष्टि से पवित्र-भाव से भावित प्रवृत्ति प्रेम प्रदान करती है, अर्थात् कर्त्ता प्रेमी हो जाता है। प्रेमी होने पर सर्वत्र-सर्वदा उसे प्रेमास्पद ही की अभिव्यक्ति प्रतीत होती है। अथवा यों कहो कि प्रेमी की दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न कुछ है ही नहीं। भेद तथा भिन्नता का अभाव होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। अतः प्राप्त परिस्थिति के द्वारा साधन-निर्माण कर साधननिष्ठ हो साध्य को प्राप्त करने में प्रत्येक साधक सर्वदा समर्थ है।

१७.०६.१९५६

प्रवृत्ति का विलय निवृत्ति में

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

परिस्थिति के अनुरूप अपने आप होने वाली प्रवृत्तियों का अन्त जब वास्तविक निवृत्ति में नहीं होता, तब प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अशान्ति, असमर्थता, पराधीनता, नीरसता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि उन दोषों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, परन्तु प्राणी उनमें आबद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त स्वभाव से ही वास्तविक निवृत्ति में होना चाहिए। परन्तु प्रवृत्तिकर्त्ता की असावधानी के कारण प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति में नहीं होता, अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति का अधूरापन उसका अन्त वास्तविक निवृत्ति में नहीं होने देता। यद्यपि ऐसी कोई प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, जिसका उद्गम निवृत्ति न हो और जो अन्त में स्वभाव से ही निवृत्ति

में विलीन न हो, अर्थात् समस्त प्रवृत्तियाँ निवृत्ति की भूमि से उत्पन्न होकर उसी में विलीन होती है। परन्तु प्राणी असावधानी के कारण प्रवृत्ति के आदि और अन्त की निवृत्ति को महत्व नहीं देता, उसका परिणाम यह होता है कि प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आने वाले निवृत्ति-काल में भी प्रवृत्ति-जनित स्मृतियाँ उत्पन्न होती रहती है। जिससे बेचारा प्राणी आगे-पीछे के व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही प्राणी विवेक का अनादर तथा प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि शान्ति भंग हो जाती है और असमर्थता तथा पराधीनता अपने आप आ जाती है, जो चित्त की अशुद्धि है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का मूल विद्यमान राग है। उसकी निवृत्ति के लिए प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी को परिस्थिति मिली है, जो सुख-दुःख से युक्त और परिवर्तनशील है। जब तक प्राणी सुख की आशा और दुःख के भय में आबद्ध रहता है, तब तक प्राप्त विवेक के अनुरूप परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि जो कार्य जितनी सुन्दरतापूर्वक होना चाहिए, नहीं होता। वर्तमान कार्य असुन्दर होने से कर्त्ता में कार्य करने का राग तो बना रहता है, पर उसकी सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है। इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त में वास्तविक निवृत्ति नहीं आती और भूतकाल की घटनाओं का प्रभाव चित्त में अंकित रहता है, जो निवृत्ति को भंग कर अनावश्यक प्रवृत्तियों की स्मृतियों को जन्म देता है। चित्त में अंकित स्मृतियाँ अनेक सम्बन्ध उत्पन्न करती है। इतना ही नहीं, वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर भी उनका सम्बन्ध और उनकी स्मृति सजीव रहती है, जो प्राणी को सीमित अहम्-भाव में आबद्ध करती है। अथवा यों कहो कि स्मृति और सम्बन्ध का समूह ही सीमित अहम् भाव है। सीमित अहम्-भाव के रहते हुए, जिन वस्तुओं का अस्तित्व है ही नहीं, उन वस्तुओं की सत्यता भासित होती है, जो बेचारे प्राणी को वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति की दासता से रहित नहीं होने देती। इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त में वास्तविक निवृत्ति सुरक्षित नहीं रहती ओर अनहोनी प्रवृत्तियों की स्मृति प्राणी को चैन से नहीं रहने देती, अर्थात् बेबस प्राणी मानसिक व्यथा में आबद्ध हो जाता है। कितने आश्चर्य की बात है कि अस्तित्वहीन वस्तुओं की स्मृतियों और माने हुए सम्बन्धों ने बेचारे प्राणी को वास्तविकता से विमुख कर दिया है। यदि प्राणी विवेकपूर्वक स्मृति और सम्बन्धों के समूह का अन्त कर डाले, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक दीर्घ काल की अशुद्धि वर्तमान में मिट सकती है।

प्रवृत्तिजनित सुख प्रवृत्ति के राग को दृढ़ करता है। यद्यपि प्रवृत्ति-जनित सुख में पराधीनता, जड़ता, शक्तिहीनता, अभाव आदि अनेक दोष हैं, परन्तु प्राणी सुखलोलुपता के कारण दोषों में ही जीवन-बुद्धि मानकर प्रवृत्ति का दास बन जाता है। प्रवृत्ति की दासता निवृत्ति का महत्व चित्त में अंकित नहीं होने देती। निवृत्ति का महत्व जाने बिना प्राणी निवृत्ति से भयभीत होता है और प्रवृत्ति-जनित पराधीनता में ही स्वाधीनता के समान सुख भोगने लगता है, अर्थात् पराधीनता को स्वाधीनता मान लेता है।

यदि प्राणी प्रवृत्ति के मूल को जान लेता, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक प्रवृत्ति की दासता से रहित हो जाता। समस्त प्रवृत्तियों का मूल देहाभिमान है, जो अविवेक सिद्ध है। किसी ने भी अपने को देह से अलग जानकर किसी भी प्रवृत्ति का आश्रय नहीं लिया। कोई भी व्यक्ति यह सिद्ध नहीं कर सकता कि मैंने अपने को देह से अलग जानकर अपने लिए अमुक कार्य किया है। समस्त कार्यों की उत्पत्ति अपने को देह मान लेने पर ही होती है, अर्थात् देह की तद्रूपता ही प्रवृत्ति की जननी है। देह की तद्रूपता से प्रवृत्ति का जन्म होता है और प्रवृत्तिजनित सुखासक्ति से देह की तदूपता दृढ़ होती है। यह चक्र उस समय तक चलता ही रहता है, जब तक प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति में न हो जाय।

प्रत्येक परिस्थिति सुख-दुःख से युक्त है। उसके अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। उत्पत्ति-विनाशयुक्त कोई भी परिस्थिति ऐसी हो ही नहीं सकती, जो सुख-दुःख से रहित हो। इतना ही नहीं, परिस्थिति में जो स्थिरता प्रतीत होती है, वह केवल उत्पत्ति-विनाश का क्रम है और कुछ नहीं। इस दृष्टि से जब परिस्थिति में ही स्थिरता नहीं है, अथवा यों कहो कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, तो फिर उस पर आधारित प्रवृत्ति में स्थिरता कब सम्भव है? प्रवृत्ति कितनी ही सुखद क्यों न हो, उसका अस्तित्व नित्य नहीं हो सकता। जिसका अस्तित्व नित्य नहीं है, उसका आश्रय लेकर प्राणी कब तक अपने को सुरक्षित रख सकता है?

यह जान लेने पर कि प्रवृत्ति का अस्तित्व नित्य नहीं है, फिर भी परिस्थिति के अनुसार प्रवृत्ति होती ही है। अतः प्राणी को बड़ी ही सावधानी पूर्वक यह देखना चाहिए कि होने वाली प्रवृत्ति के पीछे भाव और भाव के पीछे ज्ञान और ज्ञान के पीछे उद्देश्य क्या है? प्रवृत्ति का उद्देश्य प्रवृत्ति हो नहीं सकता। इस नियम के अनुसार प्रवृत्ति का अन्त प्रवृत्ति में होना उसके अधूरेपन को सिद्ध करता है। प्रवृत्ति का अधूरापन ही प्रवृत्ति के अन्त में वास्तविक निवृत्ति का अपहरण कर प्राणी को व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध कर देता है। जिससे वर्तमान कार्य सुन्दर नहीं हो पाता, जिसके न होने से व्यक्ति में करने का राग, देह को बनाए रखने की आशा, मरने का भय और अप्राप्त वस्तु आदि के पाने का प्रलोभन ज्यों-का-त्यों बना रहता है, जिससे चित्त अशुद्ध ही रहता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य वास्तविक विश्राम होना चाहिए, क्योंकि श्रम के अन्त में विश्राम सभी को अभीष्ट है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव है, जब प्रत्येक कार्य उत्साह तथा उत्कण्ठापूर्वक पवित्र-भाव से विवेक के अनुरूप किया जाए। अर्थात् जिन कार्यों में निज-विवेक का विरोध हो, उनको क्रियात्मकरूप न दिया जाए, अपितु उनका त्याग कर सहज निवृत्ति को अपना लिया जाए तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति में हो सकता है, जो चित्त की शुद्धि में हेतु है।

प्रवृत्ति के द्वारा जिस किसी को जो कुछ मिलता है, वह कालान्तर में स्वतः मिट जाता है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का परिणाम अभाव रूप है। कारण कि परिस्थिति से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति जिस वस्तु, अवस्था आदि को उत्पन्न करती है, वे सभी

क्षणभंगुर तथा परिवर्तनशील हैं। परन्तु वास्तविक निवृत्ति से जो कुछ मिलता है, वह सदैव रहता है। इतना ही नहीं वास्तविक निवृत्ति जिस प्रवृत्ति को जन्म देती है, वह सर्वहितकारी होती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तविक निवृत्ति को पुष्ट करती है। इस दृष्टि से सर्वहितकारी प्रवृत्ति और वास्तविक निवृत्ति एक दूसरे की पोषक हैं। वास्तविक निवृत्ति से उत्पन्न सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा प्राणी में कर्तृत्व का अभिमान नहीं होता और न की हुई प्रवृत्ति की ही अंकित होती है। इतना ही नहीं, सर्वहितकारी प्रवृत्ति सर्वात्मभाव प्रदान करती है, जिससे किसी से भेदजनित सम्बन्ध की स्थापना नहीं होती और प्रवृत्ति-जनित फल की आशा भी नहीं रहती।

वास्तविक निवृत्ति की भूमि से जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसका बाह्य रूप भले ही सीमित हो, परन्तु भाव असीम तथा विभु होता है। इस कारण सर्वहितकारी प्रवृत्ति समाज के लिए विधान बन जाती है। परिस्थिति के अनुसार प्राणी चाहे वास्तविक निवृत्ति को अपना कर सर्वहितकारी प्रवृत्ति उत्पन्न करे और चाहे सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा वास्तविक निवृत्ति प्राप्त करे। सुखमय परिस्थिति में सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा वास्तविक निवृत्ति प्राप्त की जा सकती है और दुःखमय परिस्थिति में वास्तविक निवृत्ति द्वारा सर्वहितकारी प्रवृत्ति सम्पादित की जा सकती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति और वास्तविक निवृत्ति की पूर्णता में समस्त परिस्थितियों से असंगता स्वतः प्राप्त होती है। परिस्थितियों से असंग होते ही अशान्ति चिर-शान्ति में, असमर्थता सामर्थ्य में, पराधीनता स्वाधीनता में , जड़ता चिन्मयता में और नीरसता सरसता में विलीन हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति सुख-भोग की आसक्ति को खा लेती है, जिसके मिटते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होते ही सीमित अहम्भाव अपने आप गल जाता है। परन्तु कब? जब सर्वहितकारी प्रवृत्ति का उद्देश्य वास्तविक निवृत्ति हो। वास्तविक निवृत्ति अपने आप आती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति, अथवा देहाभिमान का त्याग वास्तविक निवृत्ति का साधन है। देहाभिमान का त्याग विवेकसिद्ध है जो दुःखमय परिस्थिति में भी हो सकता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति करुणा तथा उदारता के द्वारा ही सम्भव है। जो व्यक्ति प्राणीमात्र के दुःख को अपना मानता है और प्राप्त सुख को प्राणीमात्र का मानता है, वही सुखमय परिस्थिति में सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना सकता है। अथवा यों कहो कि जिस अंश में प्राणी सुखी है, उस अंश में उसे सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना कर वास्तविक निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिए और जिस अंश में दुःखी हो, उस अंश में विवेकपूर्वक कामना-रहित वास्तविक निवृत्ति को अपनाना चाहिए। वास्तविक निवृत्ति स्वाभाविक हो जाने पर जिस जीवन से अभिन्नता होती है, उसका वर्णन सम्भव नहीं है, परन्तु उसकी प्राप्ति अनिवार्य है। उसके सम्बन्ध में संकेतमात्र यही कहा जा सकता है कि उस जीवन के बिना जीवन ही सिद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से उसकी प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को करनी है, जो वास्तविक निवृत्ति से ही सम्भव है। जब तक

वर्तमान कार्य इतना सुन्दर न किया जाय कि उस परिस्थिति में उससे सुन्दर न हो सके, तब तक करने की रुचि का नाश नहीं होता और उसके हुए बिना प्रवृत्ति-जनित सुख की दासता मिट नहीं सकती। करने की रुचि का अन्त होते ही चिर-विश्राम प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आ जाता है, जिसके आते ही सीमित अहम्भाव में अंकित स्मृति तथा सम्बन्ध अपनी आप मिट जाते हैं। अथवा यों कहो कि स्मृति तथा सम्बन्ध के मिटते ही सीमित अहम्भाव अपने आप गल जाता है। यह नियम है कि स्मृति तथा सम्बन्ध मिटने पर सीमित अहम्भाव नहीं रहता और सीमित अहम्भाव के गल जाने पर स्मृति और सम्बन्धों का समूह नष्ट हो जाता है, जिसके होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो रस रूप है, अर्थात् नीरसता का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

भूतकाल की प्रवृत्तियों के प्रभाव से उत्पन्न हुई स्मृतियाँ और उनसे उत्पन्न सम्बन्धों का समूह प्राणी का वर्तमान व्यक्तित्व है। उसका अभिमान ही प्राणी को प्रवृत्ति-जनित सुख-दुःख में आबद्ध करता है, जो वास्तव में निर्जीव है, अर्थात् उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसको महत्व देना प्राप्त विवेक का अनादर है। अतः विवेकपूर्वक व्यक्तित्व के अभिमान का अन्त करने के लिए भूतकाल की स्मृति और माने हुए सम्बन्धों का अन्त करना अनिवार्य है। सम्बन्ध कितना ही दृढ़ क्यों न हो, अस्वीकृति-मात्र से मिट सकता है और यदि भूतकाल में हुई घटनाओं के अर्थ को अपना लिया जाय, तो उनसे उत्पन्न हुई स्मृति स्वतः मिट जाती है।

प्रत्येक घटना अपने अभाव की समर्थक है और वास्तविक जीवन की जिज्ञासा जाग्रत करने में हेतु है। घटनाओं के इस अर्थ को अपना लेने पर भोग की रुचि का नाश हो जाता है और जिज्ञासा की जागृति हो जाती है। जिज्ञासा की जागृति स्वयं अपनी पूर्ति में आप समर्थ है, क्योंकि जिज्ञासा उसकी होती है, जिसका वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्व है और स्मृतियाँ उसी की अंकित होती है, जिसका स्वतंग अस्तित्व नहीं है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों चित्त में अंकित स्मृतियाँ स्वतः मिटती जाती हैं। जिज्ञासा की पूर्ण जागृति समस्त स्मृतियों को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है, अर्थात् निस्सन्देहता आ जाती है। सन्देहरहित होते ही व्यक्तित्व का अभिमान गल जाता है। कारण, कि सन्देह में निस्सन्देह बुद्धि होने से ही व्यक्तित्व का अभिमान जीवित रहता है, अर्थात अल्प रात को ज्ञान मान लेने पर ही व्यक्ति का अभिमान जीवित है। यद्यपि अल्प-ज्ञान सन्देह की वेदना तथा जिज्ञासा की जागृति में हेतु है। परन्तु कब? जब अल्प-ज्ञान को ज्ञान स्वीकार न किया। किन्तु प्रवृत्तिजनित सुखासक्ति अल्प-ज्ञान में ज्ञान का भ्रम उत्पन्न करती है, जो वास्तव में प्रमाद है। अतः परिस्थिति के अनुरूप जो कार्य उपस्थित है, उसे लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक इतना सुन्दर किया जाये कि कार्य के अन्त में वास्तविक निवृत्ति स्वतः आ जाय। जिसके आते ही चिरशान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता,

निस्सन्देहता, सरसता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति अपने आप हो जाती है, और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है।

१८.०६.१९५६

अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की अभिव्यक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

चित्त की अशुद्धि के ज्ञान में ही उसकी शुद्धि की साधना विद्यमान है, अथवा यों कहो कि अशुद्धि का स्पष्ट-ज्ञान होते ही शुद्धि की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। कारण, कि अशुद्धि का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह उसी समय तक भासित होती है, समय तक उसे स्पष्ट रूप से जान न लिया जाय। अशुद्धि के ज्ञान से शुद्धि की लालसा जाग्रत होती है, जो अशुद्धि जनित सुखासक्ति को खाकर शुद्धि से अभिन्न कर देती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद् है, उसी प्रकार शुद्धि की लालसा की जागृति और अशुद्धि-जनित सुखासक्ति की निवृत्ति युगपद है। इस दृष्टि से अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की साधना निहित है।

प्रत्येक प्राणी को अपने चित्त की गतिविधि को प्राप्त विवेक की दृष्टि से भय तथा प्रलोभन को त्याग कर भली-भाँति धीरजपूर्वक देखने पर स्पष्ट विदित होगा कि संग्रह, पराधीनता और परिश्रम द्वारा सुखभोग तथा सुख की आशा से ही चित्त में अशुद्धि आ गई।

भय तथा प्रलोभन के कारण जब प्राणी विवेक-दृष्टि से अपनी वस्तुस्थिति को देख नहीं पाता है, तब अनेक प्रकार के भेद तथा भिन्नता प्रतीत होने लगती है भेद की प्रतीति एकता को भंगकर संग्रह की रुचि उत्पन्न कर देती है। संग्रह की रुचि चित्त में वस्तुओं का महत्व अंकित कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जो वस्तुएँ व्यक्तियों की सेवा के लिए थी, वे ही लोभ उत्पन्न करने में हेतु बन गई, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया।

प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी वस्तु का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और न कोई भी वस्तु अपरिवर्तनशील है। तो फिर वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना तथा उनकी स्थिति को महत्व देना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं समस्त वस्तुएँ जिससे उत्पन्न हुई हैं, जिससे प्रकाशित हैं, उसके अतिरिक्त किसी की स्वतन्त्र सत्ता हो ही नहीं सकती। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उससे सम्बन्ध जोड़ना, अथवा उससे सुख की आशा करना निरर्थक प्रयास है। वस्तुओं के सम्बन्ध ने ही प्राणी में जड़ता उत्पन्न कर दी और उनके द्वारा सुख की आशा ने ही पराधीन बना दिया। पराधीनता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों प्राणी संग्रही होता जाता है। और ज्यों-ज्यों संग्रही होता जाता है, त्यों-त्यों पराधीन होता जाता है। अर्थात् संग्रह पराधीनता की ओर पराधीनता संग्रह को पुष्ट करती है। जड़ता, संग्रह और पराधीनता में आबद्ध प्राणी को विश्राम नहीं मिलता, जिसके बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता। यह नियम है कि प्राणी ज्यों-ज्यों असमर्थ होता जाता है, त्यों-त्यों

जड़ता से उत्पन्न हुए बल का आश्रय लेता जाता है। इतना ही नहीं, बेचारा असमर्थ प्राणी बल का सदुपयोग भी नहीं कर पाता, अपितु उनके दुरुपयोग से अपना और दूसरों का विनाश ही करता है। इसी प्रमाद से समस्त संघर्षों का जन्म होता है।

जिसे वास्तविक सामर्थ्य प्राप्त है, उसे संग्रह की अपेक्षा नहीं होती और जिसे संग्रह की अपेक्षा नहीं होती, उसे प्राकृतिक नियमानुसार समस्त आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होती हैं। अथवा यों कहो कि वस्तुएँ उससे मिलकर अपने को धन्य मानती है। वास्तविक सामर्थ्यशाली वही है, जिसे वस्तुओं की खोज नहीं है, अपितु वस्तुएँ जिसकी खोज में रहती हैं। कारण, कि आवश्यकता की पूर्ति अनन्त के विधान से स्वतः होती है। वस्तुओं की प्राप्ति को जो भौतिक-विज्ञानी अपना पुरुषार्थ मानता है, उससे यदि यह पूछा जाय कि जिस मस्तिष्क से उसने विज्ञान की खोज की है, वह मस्तिष्क किस प्रयोगशाला का आविष्कार है और किस यन्त्रालय में ढ़ाला गया है? तो उसे यह स्वीकार करना ही होगा कि वैज्ञानिक खोज करने की सामर्थ्य विज्ञानवेत्ता में खोज से पूर्व थी। जिस अनन्त ने उसे वैज्ञानिक खोज करने की सामर्थ्य प्रदान की है, उसी अनन्त ने उसे विवेक भी प्रदान किया है। इस दृष्टि से सभी विज्ञान-वेत्ताओं को विज्ञान का उपयोग विवेक के प्रकाश में ही करना उचित्त है। ऐसा करने से प्राप्त बल का उपयोग निर्बलों की सेवा में होगा। यह नियम है कि सेवा-भाव का उदय संग्रह की रुचि का नाश कर देता है, जिसके नाश होते ही वस्तुओं की ममता मिट जाती है और जड़ता से उत्पन्न हुए बल का अभिमान गल जाता है। अभिमान के गलते ही स्नेह की एकता का संचार होने लगता है, जो समस्त संघर्षों का अन्त करने में समर्थ है।

वस्तुओं की ममता का त्याग वस्तुओं के सदुपयोग की प्रेरणा देता है, जिससे प्राणी को निर्लोभता प्राप्त होती है। निर्लोभता की अभिव्यक्ति होते ही समष्टि शक्तियाँ स्वतः आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करने लगती हैं, क्योंकि अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है। अव्यक्त तत्त्व में असमर्थता तथा अभाव नहीं है, परन्तु संग्रह तथा लोभ के कारण अभाव-सा प्रतीत होने लगता है। पर यह रहस्य तभी खुलता है, जब निर्लोभता की अभिव्यक्ति हो जाए, जिसके लिए संग्रह की रुचि का अत्यन्त अभाव करना अनिवार्य है। संग्रह की रुचि का अत्यन्त अभाव होने पर वस्तुओं की दासता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही बाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे, देह से भी सम्बन्ध नहीं रहता। पर देह तो जब तक रहनी है, रहती है, किन्तु उसमें सत्यता एवं सुन्दरता की प्रतीति नहीं रहती, जिसके न रहने पर काम का नाश हो जाता है और ऐसा होते ही यथेष्ट विश्राम स्वतः प्राप्त होता है। अथवा यों कहो कि लोभ तथा मोह से युक्त जो परिश्रम था, वह शेष नहीं रहता। इसका अर्थ कोई यह न समझे कि प्राणी आलसी हो जाता है।

आलस्य और विश्राम में एक बड़ा भेद है। आलसी प्राणी सदैव वस्तु के चिन्तन में आबद्ध रहता है और जिसे चिर विश्राम प्राप्त है, वह वस्तुओं के चिन्तन से रहित हो जाता है। इतना ही नहीं, जिसे विश्राम प्राप्त है, उसके द्वारा प्राप्त

परिस्थिति का सदुपयोग कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगता है। अथवा यों कहो कि उसके चित्त में अशुद्धि की तो उत्पत्ति ही नहीं होती, और शुद्धि का अभिमान शेष नहीं रहता। यह नियम है कि निरभिमानता के आते ही भेद तथा भिन्नता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि-जनित सुख-लोलुपता प्राणी का वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़ देती है। यद्यपि किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति से नित्य सम्बन्ध नहीं है और न उनके द्वारा उत्पन्न हुए सुख का अस्तित्व ही शेष रहता है। परन्तु सुख-भोग काल की सुखद स्मृति तथा वस्तु, व्यक्ति आदि का सम्बन्ध चित्त में अंकित हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध होता है। देहरूपी वस्तु से तादात्म्य स्वीकार करने पर ही अन्य वस्तुव्यक्तियों की कामना उत्पन्न होती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी इच्छित वस्तुओं , व्यक्तियों से सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। परन्तु उन वस्तु और व्यक्तियों का वियोग-परिवर्तन अनिवार्य है। सम्बन्ध के कारण वस्तुओं का नाश तथा व्यक्तियों का वियोग हो जाने पर भी प्राणी वस्तु और व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता रहता है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति-विनाशयुक्त है। किसी भी वस्तु, व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इतना ही नहीं, उत्पत्ति के साथ-साथ ही विनाश आरम्भ हो जाता है और संयोग के साथ ही वियोग। फिर भी प्राणी की दृष्टि वस्तुओं के विनाश और व्यक्तियों के वियोग पर नहीं रहती। अथवा यों कहो कि प्राणी वस्तुओं और व्यक्तियों को देखता है, पर उनकी वास्तविकता को नहीं।

यह सभी की अनुभूति है कि गहरी नींद के लिए प्राणी प्रिय-से-प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग कर देता है। प्राणी का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति से नहीं, जिसके लिए वह निद्रा का त्याग कर सके। परन्तु निद्रा के लिए सभी वस्तुओं एवं व्यक्तियों का त्याग करता ही है। इस दृष्टि से समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध जाग्रत और स्वप्न अवस्था तक ही सीमित है। अर्थात् किसी भी वस्तु और व्यक्ति से नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिनसे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उनके सम्बन्ध तथा अस्तित्व को चित्त में अंकित रखना चित्त को अशुद्ध करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि प्राणी प्रत्येक आवश्यक प्रवृत्ति के अन्त में चित्त से वस्तु और व्यक्तियों के अस्तित्व का त्याग कर दे, तो सुषुप्ति के समान जाग्रत में ही वस्तु और व्यक्ति से रहित स्थिति प्राप्त हो सकती है । इतना ही नहीं, गहरी नींद में जो वस्तु और व्यक्ति से रहित स्थिति है उसमें, और जो चित्त की वस्तु और व्यक्ति के सम्बन्ध से रहित स्थिति है उसमें, एक बड़ा अन्तर यह है कि गहरी नींद की स्थिति में जड़ता का दोष है और जाग्रत की स्थिति उस दोष से रहित है। विषमता का अन्त दोनों ही में है। परन्तु जाग्रत की सुषुप्ति में जड़ता नहीं है, जिससे वस्तुओं से अतीत के जीवन में विश्वास तथा श्रद्धा हो जाती है, जिससे प्राणी वस्तुओं और व्यक्तियों के रहते हुए भी उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करने में समर्थ होता है।

वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा से चित्त अशुद्ध नहीं होता। चित्त अशुद्ध होता

है वस्तु और व्यक्तियों से नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने से, अथवा यों कहो कि वस्तु, व्यक्तियों के संयोग में ही जीवन है, इसको स्वीकार करने से। यद्यपि वास्तविक जीवन वस्तु और व्यक्तियों के वियोग में ही निहित है, परन्तु देहाभिमान के कारण बेचारा प्राणी इस रहस्य से अपरिचित्त रहता है। अतः वस्तु और व्यक्तियों की दासता से रहित होने के लिए देहाभिमान का त्याग परम अनिवार्य है।

देहाभिमान में आबद्ध प्राणी संग्रह पराधीनता और परिश्रम में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त अशुद्ध हो जाता है। वस्तुओं की वास्तविकता का ज्ञान संग्रह की रुचि का नाश करने में समर्थ है। संग्रह की रुचि का अन्त होते ही पराधीनता एवं जड़ता स्वतः मिटने लगती है और स्वाधीनता तथा चिन्मयता की लालसा जाग्रत होती है। स्वाधीनता की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों पराधीनता-जनित वेदना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जिस काल में पराधीनता सदा के लिए मिट जाती है, जिसके मिटते ही चिर-विश्राम स्वतः प्राप्त होता है।

पर श्रम की आसक्ति देहाभिमान से उत्पन्न होकर देहाभिमान को ही पुष्ट करती है । ऐसा कोई श्रम है ही नहीं जिसका अन्त न हो और जिससे प्राप्त शक्ति का ह्रास न हो। प्राप्त शक्ति के सदुपयोग में भले ही परिश्रम का स्थान हो, परन्तु आवश्यक शक्ति का विकास तो विश्राम में ही निहित है । इस दृष्टि से परिश्रम की सामर्थ्य विश्राम में है। परिश्रम के द्वारा आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन हो सकता है, परन्तु परिश्रम के द्वारा वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश नहीं हो सकता। वस्तुओं का उत्पादन व्यक्तियों की सेवा के लिए अभीष्ट है और व्यक्तियों की सेवा उनसे मोह-जनित सम्बन्ध का विच्छेद करने के लिए साधनरूप है। परन्तु व्यक्तियों की सेवा वही प्राणी कर सकेगा, जो स्वयं व्यक्तियों के द्वारा सुख की आशा न करे। सुख-लोलुपता में आबद्ध प्राणी कभी-भी सेवा करने में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से सुख- लोलुपता का अन्त करना अनिवार्य है।

सुख-लोलुपता का अन्त वही कर सकता है, जिसे विश्राम प्राप्त हो। विश्राम आलस्य तथा परिश्रम दोनों से रहित है। इसी कारण विश्राम उन्हीं को प्राप्त होता है, जिन्होंने विवेकपूर्वक काम का अन्त कर देहाभिमान का नाश कर दिया है। ऐसी कोई गति नहीं जिसका उद्गम विश्राम न हो, ऐसी कोई स्थिति नहीं जो विश्राम से सिद्ध न हो और ऐसा कोई विचार नहीं जिसका उदय विश्राम में निहित न हो। विश्राम से जिस गति, स्थिति तथा विचार का उदय होता है वह अखण्ड होता है, क्योंकि वह श्रम से रहित है। इसी कारण विश्राम से प्राप्त स्थिति योग, विचार, बोध, गति तथा प्रीति है। अथवा यों कहो कि विश्राम के द्वारा जो सहज स्थिति है, उसी में योगियों के योग की पराकाष्ठा है। और विश्राम से उदित जो अखण्ड ज्ञान है, उसी में तत्त्व-वेत्ताओं के तत्त्व की परावधि है। और विश्राम से जो स्वतः सिद्ध प्रगति है, वही प्रेम की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से योग, ज्ञान तथा प्रेम की प्राप्ति चिरविश्राम में ही निहित है। समस्त शान्ति तथा सामर्थ्य योग में, निस्सन्देहता तथा अमरत्व

ज्ञान में और अगाध-अनन्त रस प्रेम में परिपूर्ण होता है।

योग ज्ञान तथा प्रेम-इसकी भूमि एक है। इस दृष्टि से रस में भेद होने पर भी तीनों का स्वरूप एक है, अर्थात् योग, ज्ञान तथा प्रेम में विभाजन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से ये तीनों ही अनन्त की अभिव्यक्ति हैं, जो सभी का सब कुछ होने पर भी सभी से अतीत है। उस अनन्त से अभिन्न होने के लिए यह अनिवार्य है कि प्राणी संग्रह, पराधीनता और परिश्रम के राग से रहित होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर स्वाधीनता, अपरिग्रह और चिर-विश्राम द्वारा चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर ले। पर यह तभी सम्भव हो सकता है, जब प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में चित्त की वर्तमान वस्तुस्थिति को जानकर उसकी शुद्धि के साधननिर्माण में समर्थ होता है।

१७.०६.१९५६

अहम्-भाव की निवृत्ति एवंभय-प्रलोभन से मुक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव मान लेने पर ही प्राणी का चित्त अशुद्ध होता है। प्रलोभन के रहते हुए भय-रहित होना असम्भव है, क्योंकि प्रलोभन उस परिस्थिति से सम्बन्ध जोड़ देता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी नित्य प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसी कारण प्रलोभन अनेक प्रकार के भय उत्पन्न करता है। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों प्राणी भयभीत होता जाता है, त्यों-त्यों प्रलोभन और बढ़ता जाता है, अर्थात् प्रलोभन से भय और भय से प्रलोभन की दृढ़ता होती है। भय और प्रलोभन में आबद्ध हो जाना ही चित्त की अशुद्धि है।

यह नियम है कि प्रलोभन का नाश होते ही भय स्वतः मिट जाता है, क्योंकि प्रलोभन की उत्पत्ति अविवेक-सिद्ध है, जो निज विवेक द्वारा सुगमतापूर्वक मिटाई जा सकती है। विवेक प्रत्येक सत्य के जिज्ञासु को स्वतः प्राप्त है, क्योंकि विवेक के बिना सत्य की जिज्ञासा ही सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से प्रलोभन का अन्त करने में प्रत्येक जिज्ञासु सर्वदा स्वतन्त्र है। परन्तु कब? जब प्राणी प्रलोभन तथा भय के नाश को वर्तमान का कार्य मान ले अर्थात् किसी प्रकार भी भय तथा प्रलोभन का द्वन्द्व सहन न कर सके। प्राकृतिक नियम के अनुसार असह्य वेदना की जागृति सफलता की कुँजी है। अतः प्रलोभन तथा भयरहित होना सम्भव है, क्योंकि सत्य की लालसा असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करने में समर्थ है। लालसा कोई अभ्यास नहीं है, अपितु सत्य के जिज्ञासु की स्वाभाविक पुकार है, जिसे भय तथा प्रलोभन ने शिथिल कर दिया है।

भय और प्रलोभन की वास्तविकता का ज्ञान शिथिलता का अन्त कर लालसा को जाग्रत करने में समर्थ है। प्रलोभन में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से प्राणी प्रलोभन की वास्तविकता नहीं जान पाता, जिसके न जानने से प्रलोभन में सत्यता और प्रियता भासने लगती है, जो अनेक प्रकार के भय उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से प्रलोभन की वास्तविकता जानने के लिए उसमें

जीवन-बुद्धि को अस्वीकार करना अनिवार्य है, अथवा यों कहो कि प्रलोभन जीवन नहीं है, अपितु प्रमादवश जीवन जैसा भासित होता है। प्रलोभन को प्रलोभन जान लेने मात्र से ही प्रलोभन मिट सकता है, क्योंकि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वह उसी समय तक भासित होता है, जब तक उसको जानने का प्रयास न किया जाय। यह नियम है कि जो नहीं है, उस पर सन्देह होने मात्र से ही उसकी सजीवता नाश हो जाती है, क्योंकि सन्देह में सम्बन्ध-विच्छेद करने की सामर्थ्य है। यह नियम है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उससे यदि किसी प्रकार सम्बन्ध-विच्छेद हो जाए, अथवा यों कहो कि उसकी विस्मृति हो जाए तो वह स्वतः मिट जाता है।

जितने प्रलोभन होते हैं, उनके मूल में एकमात्र संकल्पपूर्ति के सुख का भोग और संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण करना है, अर्थात् सुख के भोग और शान्ति के रमण में ही समस्त प्रलोभन उत्पन्न होते हैं। संकल्प-पूर्ति के प्रलोभन ने ही प्राणी को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं में तथा परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में आबद्ध कर दिया है, जिसके होते ही अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो गए हैं, क्योंकि प्रत्येक संकल्प-पूर्ति का सुख नवीन संकल्प को जन्म देकर बेचारे प्राणी को सुख-दुःख में आबद्ध रखता है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों सुख का प्रलोभन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों दुःख की उत्पत्ति भी स्वतः होती जाती है। कारण, कि सुख के आदि और अन्त में दुःख ही शेष रहता है। सुख-भोग का आरम्भ होते ही सुख की क्षति होने लगती है और अन्त में सुख दुःख में बदल जाता है। सुख की उत्पत्ति भी दुःख से ही होती है और उसका अन्त भी दुःख में ही होता है। इस रहस्य को जान लेने पर प्राणी सुख में भी दुःख का दर्शन कर सुख की दासता से मुक्त होने के लिए प्रयास करता है और फिर संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा संकल्प-निवृत्ति को अधिक महत्व देता है। किन्तु संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में भी अहम्भाव ज्यों-का-त्यों पुष्ट होता रहता है, क्योंकि शान्ति में रमण करने से भी परिच्छिन्नता ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रहती है, जो अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर प्राणी को भयभीत कर देती है । इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति तथा संकल्प-निवृत्ति दोनों से ही प्राणी प्रलोभन में आबद्ध होता है।

संकल्प-पूर्ति के प्रलोभन से ही संकल्प-विकल्प का प्रवाह चलता रहता है। प्राणी प्रमाद-वश उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों के द्वारा अपने को सुखी-दुःखी, भला-बुरा बनाता रहता है, अर्थात् संकल्पों के आधार पर ही अपना मूल्य आँकता है, अथवा यों कहो कि उन संकल्प-विकल्पों के प्रवाह को ही अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति स्वीकार करता है। यद्यपि प्रत्येक संकल्प उत्पत्ति से पूर्व कुछ नहीं है और पूर्ति के पश्चात् भी कुछ नहीं है, परन्तु फिर भी बेचारा संकल्पों के अधीन हो जाता है। यहाँ तक कि एक-एक संकल्प-पूर्ति के लिए न जाने कितने काल तक बड़ी-बड़ी यातनाएँ भोगता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का प्रलोभन निरर्थक ही सिद्ध होता है। संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता का अन्त होते ही अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प उत्पन्न ही नहीं

होते है और परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक और शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो होकर मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही संकल्प-निवृत्ति स्वतः आ जाती है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के पश्चात् निर्विकल्प स्थिति अपने आप आती है।

निर्विकल्प स्थिति में वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता शेष नहीं रहती किन्तु बेचारा प्राणी असावधानी के कारण स्थिति-जनित शान्ति में आबद्ध हो जाता है। यदि संकल्प-निवृत्ति का प्रलोभन न रहे, तो प्राणी बड़ी सुगमतापूर्वक निर्विकल्प स्थिति से अतीत नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है और फिर संकल्प-पूर्ति तथा संकल्प-निवृत्ति की दासता से रहित हो जाता है। अर्थात् सुख-शान्ति से अतीत जो वास्तविक जीवन है उससे अभिन्न हो जाता है। यद्यपि निर्विकल्प स्थिति संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व की वस्तु है, क्योंकि उसके बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता, परन्तु उसी को जीवन मान लेना भूल है । निर्विकल्प स्थिति का प्रलोभन न रहने पर निर्विकल्प स्थिति स्वतः रहने लगती है, क्योंकि निर्विकल्प स्थिति संकल्प-पूर्ति की दासता और अपूर्ति के भय को खा लेती है। इस दृष्टि से संकल्प-निवृत्ति सभी अवस्थाओं से उत्कृष्ट अवस्था है।

भय तथा प्रलोभन के आधार पर ही सीमित अहम्भाव जीवित है। सुख की आशा और शान्ति की रुचि, भय तथा प्रलोभन को जीवित रखती है। सुख की आशा से किसी को यदि सुख मिलता, तो दुःख का कभी दर्शन ही नहीं होता। पर यह सम्भव नहीं है। प्राणी सुख की आशा करता है और परिणाम में दुःख भोगता है। इस दृष्टि से सुख की आशा का कोई स्थान ही नहीं है। सुख की आशा से रहित होते ही प्राणी दुःख से छूट जाता है, अर्थात् उसके भय का नाश हो जाता है।

शान्ति की रुचि शान्ति से विमुख कर देती है। कारण, कि रुचि का अन्त होने पर ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं, सुख की आशा तथा दुःख के भय के कारण ही शान्ति की रुचि उत्पन्न होती है। सुख की आशा तथा दुःख के भय का अन्त होते ही शान्ति की रुचि स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही चिरशान्ति अपने आप आ जाती है। सुख की आशा में दुःख का भय निहित है। यदि सुख की आशा न रहे तो दुःख का भय अपने आप मिट जाता है। निर्भयता आते ही प्रलोभन की दासता भी अपने आप मिट जाती है अथवा यों कहो कि भय के मिटते ही प्रलोभन भी मिट जाता है। भय और प्रलोभन का अन्त होते ही सीमित अहम्भाव गल जाता है अथवा यों कहो कि सीमित अहम्भाव के गल जाने पर भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाता है ।

सुख की आशा अविवेकसिद्ध है, जो विवेक द्वारा मिट सकती है, जिसके मिटते ही भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाते हैं। यदि कोई प्राणी विवेकपूर्वक सुख की आशा से रहित होने में अपने को असमर्थ पाता है, तो वह विकल्प रहित विश्वासपूर्वक अपने को समर्पण कर अहम् और मम से रहित हो सकता है, जिसके होते ही समस्त भय तथा प्रलोभन मिट जाते हैं अथवा यों कहो कि निर्भयता और निश्चिन्तता अपने आप आ जाती है, जो किसी प्रकार के भय तथा प्रलोभन को उत्पन्न

नहीं होने देती। प्रत्येक व्यक्ति में किसी-न-किसी अंश में विवेक तथा भाव-शक्ति विद्यमान है। यह दूसरी बात है कि किसी में भाव की न्यूनता और विवेक की अधिकता हो और किसी में भाव की अधिकता और विवेक की न्यूनता हो, अर्थात् कोई मस्तिष्क-प्रधान होता है और किसी में हृदयशीलता अधिक होती है। मस्तिष्क-प्रधान प्राणियों को निज विवेक के प्रकाश में भय तथा प्रलोभन की वास्तविकता को जान कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। ज्यों-ज्यों निश्चिन्तता तथा निर्भयता स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों भय तथा प्रलोभन का अभाव होता जाता है, अथवा यों कहो कि निश्चिन्तता तथा निर्भयता की दृढ़ स्थापना होते ही भय तथा प्रलोभन स्वतः मिट जाते हैं। भय तथा प्रलोभन की प्रतीति भले ही हो, पर उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। जब विचारशील प्राणी विवेक-दृष्टि से भय तथा प्रलोभन को देखता है, तब वे स्वतः सदा के लिए मिट जाते हैं, अथवा यों कहो कि विवेक-दृष्टि से किसी ने भय तथा प्रलोभन का दर्शन ही नहीं किया। वे उसी समय तक प्रतीत होते हैं, जब तक प्राणी विवेकपूर्वक उनका निरीक्षण नहीं करता। यह नियम है कि विवेकपूर्वक निरीक्षण करने पर भय तथा प्रलोभन मिट जाते हैं, क्योंकि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

हृदयशील प्राणियों को विकल्परहित विश्वासपूर्वक अपने को समर्पित कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। विकल्परहित विश्वास तभी सम्भव है, जब दो विश्वास न रहें, अर्थात् एक ही विश्वास जीवन हो जाए। यहाँ तक कि विश्वासी और विश्वास में विभाजन न हो सके, विश्वास ही विश्वासी का जीवन हो जाए। विश्वास उस पर नहीं करना चाहिए जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि, द्वारा जानते हो। विश्वास उस पर होना चाहिए जिसे कभी किसी इन्द्रिय द्वारा विषय नहीं किया। अब कोई कहे कि जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है, उस पर विश्वास कैसे हो सकता है? विश्वास उसी पर होता है जो इन्द्रिय आदि का नहीं है। कारण, कि इन्द्रिय, बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ जानने में आता है, उस पर तो सन्देह होता है। जिस पर सन्देह होता है उस पर विश्वास करना भूल है। इस दृष्टि से विश्वासपात्र वही है जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है।

जब प्राणी उस पर विश्वास कर सकता है जिस पर अनेक सन्देह होते हैं, तो क्या उस पर विश्वास नहीं कर सकता जिस पर सन्देह सम्भव ही नहीं है? क्योंकि सन्देह उस पर हो सकता है जिसमें दोष का दर्शन हो और दोष का दर्शन उसमें होता है जो द्वन्द्वात्मक हो, अर्थात् जिसके विषय में इन्द्रिय और बुद्धि के निर्णय में भिन्नता हो। जिससे सभी को सत्ता तथा प्रकाश मिलता है वह इन्द्रिय आदि का विषय नहीं हो सकता । अतः जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है वही विश्वास-पात्र है। अनेक विश्वास निकल जाने पर एक विश्वास स्वतः रह जाता है, यह नियम ही है। इस दृष्टि से एक विश्वास में कोई क्षति नहीं हो सकती। विश्वास सम्बन्ध को और सम्बन्ध आत्मीयता, अर्थात् प्रीति को उदय करता है। प्रीति का उदय होते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होने पर समस्त भय तथा प्रलोभन स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि काम की भूमि में ही प्रलोभन तथा भय

उत्पन्न होते है। एक विश्वास वस्तु आदि के विश्वास को खाकर पुष्ट होता है, जिसके पुष्ट होते ही स्वभाव से ही निर्भयता एवं निश्चिन्तता आ जाती है जिसके आते ही अनन्त की कृपाशक्ति स्वतः सब कुछ करने लगती है, और फिर प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक सब प्रकार के भय तथा प्रलोभन से रहित हो जाता है।

विवेक और विश्वास दोनों ही स्वतन्त्र साधन है। दोनों ही के द्वारा प्राणी काम-रहित होकर सब प्रकार के भय तथा प्रलोभन का अन्त कर सकता है। अन्तर केवल इतना है कि विचारशील प्रतीत होने वाले भय तथा प्रलोभन की वास्तविकता को जानकर, प्रलोभन से व्यथित होकर उस अनन्त को पुकारने लगता है जिसे कभी जाना नहीं था। दुःखी की पुकार में वही सामर्थ्य हैं जो विचारशील के विचार में है। दुःखी प्राणी में स्वभाव से ही निर्भरता आ जाती है, जिसके आते ही अहम् और मम् अपने आप गल जाता है, जिससे समस्त भय तथा प्रलोभन स्वतः मिट जाते हैं।

यदि किसी की विचार और विश्वास दोनों ही में श्रद्धा हो तो उसे विचार का उपयोग शरीर, इन्द्रिय आदि समस्त दृश्य पर अथवा अपने व्यक्तित्व पर करना चाहिए और विश्वास का उपयोग उस अनन्त पर करना चाहिए, जिसे बुद्धि आदि के द्वारा कभी नहीं जाना जाता, अथवा यों कहो कि विचार के द्वारा समस्त वस्तुओं की आसक्ति से रहित हो जाय और विश्वास के द्वारा अपने को समर्पित कर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय। इस प्रकार विश्वास और विचार का अपने-अपने क्षेत्र में उपयोग कर विचार द्वारा समस्त आसक्तियों का अन्त और विश्वास द्वारा प्रेम की प्राप्ति कर लेनी चाहिए।

समस्त आसक्तियों का अन्त होने पर भी प्राणी काम-रहित हो जाता है और प्रेम की प्राप्ति से भी काम-रहित हो जाता है। काम का नाश होते ही सीमित अहम्-भाव अपने आप गल जाता है, जिसके गलते ही समस्त भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाते हैं और चित्त-शुद्ध हो जाता है।

२०.०६.१९५६

अनन्त के विधान-विवेक का आदर

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

प्राणी-मात्र को विवेक, सामर्थ्य और वस्तु प्राप्त है। विवेक उस अनन्त का विधान है। जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य और वस्तु का उपयोग उस विधान के विपरीत करने लगता है, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि प्राणी का अपना ही बनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नहीं। अपने बनाए हुए दोषों का अन्त करने का दायित्व अपने ही पर है। अतः प्राप्त विधान के अनुरूप ही प्राप्त सामर्थ्य तथा वस्तु का उपयोग कर चित्त को शुद्ध करना अनिवार्य है। चित्त-शुद्धि वर्तमान की वस्तु है, उसे भविष्य पर छोड़ना असावधानी है। चित्त की अशुद्धि के रहते हुए प्राणी अपने साधन और साध्य दोनों से ही विमुख हो जाता है। साधन और साध्य की विमुखता में ही असाधन की उत्पत्ति होती है, जिससे बेचारा प्राणी उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम प्राणी को चित्त में अंकित

अशुद्धि का अन्त करना अनिवार्य है, क्योंकि असाधन, अर्थात् अकर्त्तव्य के अभाव में ही कर्त्तव्य-परायणता निहित है। ज्यों-ज्यों कर्त्तव्य-परायणता स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों प्राणी का चित्त स्वतः शुद्ध होता जाता है, क्योंकि कर्त्तव्य-परायणता राग-द्वेष का अन्त करने में समर्थ है, अथवा यों कहो कि कर्तव्य-परायणता आ जाने पर त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सामर्थ्य तथा वस्तु का समूह है। वस्तु और सामर्थ्य में इतना भेद है कि वस्तु व्यक्त है और सामर्थ्यअव्यक्त है । अव्यक्त सामर्थ्य का उपयोग व्यक्त वस्तु के आश्रय से ही हो सकता है। इस दृष्टि से वस्तु और सामर्थ्य में केवल गुणों का भेद और स्वरूप की एकता है। वे दोनों एक ही धातु से निर्मित हैं, गुणों की भिन्नता के कारण अलग-अलग भासित होते हैं। दोनों का अलग-अलग स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। विवेकरूपी विधान का प्रकाश बुद्धि को प्रकाशित करता है। बुद्धि के प्रकाश से मन में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। मन की क्रियाशीलता से ज्ञानेन्द्रियों में गति होती है और ज्ञानेन्द्रियों के आश्रय से कर्मेन्द्रियाँ कार्य में प्रवृत्त होती है।

विधान स्वयं कर्त्ता हो नहीं सकता और जो कार्य करने के साधन हैं, उनमें कर्त्तापन की स्थापना सम्भव नहीं, क्योंकि लेखनी लेखक नहीं हो सकती, अर्थात् करण कर्त्ता नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है कि कर्त्ता कौन है? कर्त्ता वही हो सकता है जो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अपने को तद्रूप कर लेता है, अथवा शरीर इन्द्रिय आदि को अपना मानता है। उस कर्त्ता में जब काम की उत्पत्ति हो जाती है, तब कामना-पूर्ति के प्रलोभन से प्रेरित होकर बेचारा वस्तु तथा सामर्थ्य का दास हो जाता है। यहाँ तक कि सामर्थ्य और वस्तु के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मानने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि मिथ्या व्यक्तित्व का अभिमान उत्पन्न हो जाता है, जिसके होते ही व्यक्ति और समाज में भेद की उत्पत्ति होती है। भेद की उत्पत्ति अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न करने में हेतु है।

वस्तु और सामर्थ्य के समूह को अपना अस्तित्व स्वीकार करना प्राप्त विवेक का अनादर है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सब कुछ अनन्त की अभिव्यक्ति ही है, अर्थात् व्यक्तिगत कुछ नहीं है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो समष्टि से सत्ता न पाती हो और ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं है जो समष्टि शक्तियों से अभिन्न न हो। केवल व्यक्तित्व का अभिमान ही एक ऐसी प्रतीति है, जो भासित तो होती है, परन्तु उसका कोई अस्तित्व नहीं है। अस्तित्वहीन अहम्भाव ने ही कर्त्ता को करण से तद्रूप कर दिया है। यदि करण का विभाजन करके कर्त्ता की खोज की जाए, तो उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मिलता। परन्तु करण और कर्त्ता के मध्य में काम ही एक ऐसी प्रतीति है, जो कर्त्ता और करण के सम्बन्ध को सुरक्षित रखती है, अर्थात् काम की भूमि में जो कामनाएँ उत्पन्न होती है, उनके द्वारा ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध दृढ़ होता हैं और फिर इन्द्रियों के विषयों

में प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति-जनित सुख-दुःख का प्रभाव चित्त में अंकित हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

बुद्धि तथा इन्द्रिय-ज्ञान से जो स्थूल वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, उस स्थूल भाग को ही वस्तु के नाम से कह सकते हैं और इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि को सामर्थ्य के नाम से कह सकते हैं। यद्यपि अपने स्तर पर इन्द्रियाँ दो भागों में विभाजित हो जाती है-कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय क्रियाशक्ति का भाग है और ज्ञानेन्द्रिय इच्छाशक्ति का भाग है। मन में ये दोनों भाग एकत्रित रहते हैं। क्रियाशक्ति प्राण का भाग है और इच्छाशक्ति ज्ञान का भाग है। मन इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति का समूह है इसी कारण प्राण के निरोध से मन में स्थिरता और मन के निरोध से प्राण का निरोध हो जाता है। प्राण और मन में बड़ी ही घनिष्ठ एकता है। बुद्धि केवल ज्ञान का प्रतीक है, इसी कारण बुद्धि का निर्णय मन को मान्य होता है। बुद्धि और विवेक के मध्य में जो अहंभाव है, उसी में काम का निवास है इसी कारण कामना और जिज्ञासा दोनों अहंभाव में निवास करती है। कामनापूर्ति के लिए अहम् बुद्धि के अधीन और बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन हो जाती है; जिससे बेचारा प्राणी जड़ता,पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है। परन्तु जड़ता, पराधीनता आदि की वेदना स्वभाव से जाग्रत होती है, तब कामनानिवृत्ति की लालसा उत्पन्न होती है, जो इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह उत्पन्न कर देती है। ज्यों-ज्यों सन्देह की वेदना दृढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों जिज्ञासा सबल होती जाती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल होती जाती है, त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः मिटती जाती है । कामनाओं का अन्त होते ही सन्देह की निवृत्ति और निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति उदय होती है, जिससे जिज्ञासा की पूर्ति और काम की निवृत्ति हो जाती है, जिसके होते ही समस्त आसक्तियाँ गल कर प्रीति में विलीन हो जाती हैं और फिर सीमित अहम्भाव का नाश हो जाता है, जिसके होते ही प्रीति अनन्त से अभिन्न हो जाती है, अथवा यों कहो कि प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती।

विवेकरूपी विधान से ही बुद्धि एवं इन्द्रिय आदि को सामर्थ्य मिलती है। यद्यपि बुद्धि और इन्द्रिय का ज्ञान भी ज्ञान जैसा ही प्रतीत होता है, परन्तु इन्द्रिय या बुद्धि का ज्ञान सन्देह रहित नहीं होता, अर्थात् बुद्धि या इन्द्रिय ज्ञान के आधार पर प्राणी निस्सन्देह नहीं हो सकता। जिससे निस्सन्देहता प्राप्त न हो सके, उसे ज्ञान मान लेना अज्ञान को ज्ञान का स्थान देना है, अथवा यों कहो कि इन्द्रिय या बुद्धि के अल्प ज्ञान को पूरा ज्ञान मानना है। ऐसी मान्यता का निज-विवेक में विरोध है। इस दृष्टि से विवेक बुद्धि और इन्द्रिय की अपेक्षा अलौकिक तत्त्व है, अथवा यों कहो कि उस अनन्त का विधान है। अनन्त के विधान का आदर और अनुसरण अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से विवेक को विधान, बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रिय आदि को सामर्थ्य और इन्द्रिय आदि जिसके आश्रय से सक्रिय होते है, उसे वस्तु मानना चाहिए। जब प्राणी प्रमादवश वस्तु को सामर्थ्य और सामर्थ्य को ज्ञान मान लेता है, तब विवेक का

अनादर होने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रीति आसक्ति में, जिज्ञासा कामनापूर्ति के साधन में और सेवा स्वार्थ-भाव में बदल जाती है, जिसके बदलते ही काम, कामना और भोगप्रवृत्ति में ही जीवन-बुद्धि भासने लगती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

विवेकरूपी विधान में कर्त्तव्यविज्ञान, योगविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान विद्यमान है। यदि प्राणी प्राप्त विवेक का अनादर न करें, तो अकर्त्तव्य, भोग और मिथ्या अहम्भाव की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। अहम्भाव की उत्पत्ति के बिना काम का जन्म ही नहीं हो सकता और काम की उत्पत्ति के बिना कामनाओं का जन्म सम्भव ही नहीं है। कामनाओं की पूर्ति के बिना भोग और भोगासक्ति उत्पन्न ही नहीं हो सकती। भोगासक्ति के बिना स्वार्थभाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और स्वार्थभाव के बिना पराधीनता, संकीर्णता, जड़ता आदि विकारों में प्राणी आबद्ध हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से विवेकरूपी विधान का अनादर ही समस्त दोषों का मूल है।

विवेक का अनादर ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अहम्भाव उत्पन्न करता है, जिससे कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व की उत्पत्ति होती है, अर्थात् प्राणी अपने को कर्त्ता और भोक्ता मान लेता है। कर्त्ताभाव में-से ही कर्म की रुचि और फल की आशा उत्पन्न होती है, जिसके होते ही कर्त्ता भोक्ता होकर अपने में भोग की रुचि और भोग्य वस्तुओं की आसक्ति उत्पन्न कर लेता है। भोगसक्ति भोक्ता में स्वार्थभाव उत्पन्न कर देती है, जिससे उसका व्यक्तित्व कामना, आसक्ति और स्वार्थभाव का समूह बन जाता है। भोक्ता, भोगवासना और भोग्य वस्तुओं में गुणों का भेद और स्वरूप की एकता है, अर्थात् ये तीनों एक ही धातु से निर्मित हैं। भोग्य वस्तुओं के विनाश का ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है और विवेक का आदर करने पर भोग वासनाओं का अन्त हो ही जाता है, जिसके होते ही 'मैं भोक्ता हूँ'- यह स्वीकृति स्वतः मिट जाती है। उसके मिटते ही भोक्ता, भोग-वासना और भोग्य वस्तुओं की भिन्नता शेष नहीं रहती। अथवा यों कहो कि वस्तु, सामर्थ्य और विवेक का एकता होते ही सीमित अहम्भाव गल जाता है, जिसके गलते ही काम का नाश हो जाता है और फिर कामना, आसक्ति और स्वार्थभाव तीनों ही दोष मिट जाते हैं, अर्थात् स्वार्थ सेवा-भाव में, कामना जिज्ञासा में और आसक्ति प्रीति में बदल जाती है, जिसके बदलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

विवेक का आदर करते ही प्रीति की अभिव्यक्ति, जिज्ञासा की जाग्रति और सेवा में प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। सेवा में समस्त कर्त्तव्य-विज्ञान, जिज्ञासा की जाग्रति में अध्यात्म-विज्ञान और प्रीति की अभिव्यक्ति में आसक्ति-विज्ञान निहित है। सेवा की पूर्णता रागरहित होने में है। रागरहित होते ही भोग योग में बदल जाता है। योग-विज्ञान शान्ति, सामर्थ्य एवं स्वाधीनता का प्रतीक है। इसी कारण ज्यों-ज्यों योग-विज्ञान का आदर होता जाता है त्यों-त्यों कर्त्तव्यपालन की सामर्थ्य और निष्कामता अपने आप उदित होती है। निष्कामता प्राणी को अधिकार-लालसा से रहित कर देती है। कर्त्तव्यपरायणता दूसरों के

अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ है। दूसरों के अधिकार की रक्षा से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति ही नहीं होती, अर्थात् प्राणी राग-रहित हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान और योग-विज्ञान में अत्यन्त घनिष्टता है। क्योंकि कर्त्तव्य-परायणता से प्राणी योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है और योग-विज्ञान कर्त्तव्य-परायणता की सामर्थ्य प्रदान करता है। इतना ही नहीं, योग-विज्ञान की पूर्णता निस्सन्देहता एवं स्वाधीनता की ओर अग्रसर कर अध्यात्म-विज्ञान का अधिकारी बना देती है। अध्यात्म-विज्ञान में पराधीनता, जड़ता एवं सन्देह का अभाव करने की सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। अतः अध्यात्म-विज्ञान द्वारा प्राणी निस्सन्देहता, स्वाधीनता, चिन्मयता से अभिन्न हो जाता है, जिसके होते ही आस्तिक-विज्ञान में स्वतः प्रवेश हो जाता है, जो प्रेम से परिपूर्ण है। अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यपरायणता की पूर्णता योग में, योग की पूर्णता बोध में और बोध की पूर्णता प्रेम की अभिव्यक्ति में निहित है।

विवेक जिस अनन्त का विधान है, सामर्थ्य और वस्तु भी उसी की अभिव्यक्ति है। अतः विवेक के प्रकाश में ही सामर्थ्य तथा वस्तुओं का सदुपयोग करना अनिवार्य है। विवेक के अनादर से ही काम, कामना और अकर्त्तव्य का जन्म होता है। अतः साधक के जीवन में अविवेक का, अर्थात् विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नहीं है। अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति ने ही अपने स्वभाव से विवश होकर प्राणी को विवेक, सामर्थ्य तथा वस्तु प्रदान की है और अपने को इतना छिपाया है कि प्राणी प्राप्त विवेक सामर्थ्य और वस्तु को अपनी ही मानता है। यह नहीं जानता कि अपनी कृपा से आप मोहित होकर उस अनन्त ने सभी को सब कुछ दिया है। भला, इस उदारता पर कौन ऐसा होगा, जो अपने को निछावर न कर सके, अर्थात् उसी की प्रीति होकर न रहे, जिसकी यह अनुपम, अलौकिक एवं अनिर्वचनीय उदारता है।

अब यदि कोई यह कहे कि तुम जिसे उदारता मानते हो, वह तो प्राकृतिक विधान है। तो भी यह स्पष्ट हो ही जाता है कि जिसका विधान इतना सुन्दर है, वह न जाने कितना सुन्दर होगा! भला, उसका प्रेमी होने में किसे आपत्ति तथा हिचक हो सकती है, अर्थात् किसी को भी नहीं। उसकी प्रीति बिना हुए आसक्तियों का अन्त सम्भव नहीं है। उसकी जिज्ञासा के बिना कामनाओं का अन्त हो ही नहीं सकता और प्रत्येक प्रवृत्ति के द्वारा उन्हीं के नाते सेवा करने पर ही स्वार्थ-भाव गल सकता है। इस दृष्टि से प्रीति, जिज्ञासा और सेवा ही चित्त-शुद्धि की मुख्य साधना है, जिसकी अभिव्यक्ति विवेक के आदर में निहित है। जब तक साधक में साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक साधन में स्वाभाविक अभिरुचि, अर्थात् नित-नव प्रियता नहीं होती, जिसके हुए बिना साधन में अस्वाभाविकता और असाधन में स्वाभाविकता प्रतीत होती है। अर्थात् कर्त्तव्य-परायणता में कठिनता और अकर्त्तव्य में सुगमता प्रतीत होती है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। अतः प्रीति, जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा चित्त-शुद्धि के

लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, जो विवेक-सिद्ध है। २१.०६.१९५६

वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने से, उनको अपना मानने से और उनका दुरुपयोग करने से चित्त अशुद्ध होता है। यदि अपने से भिन्न की स्वीकृति न होती, तो चित्त कभी अशुद्ध न होता। अब विचार यह करना है कि अपने से भिन्न की स्वीकृति का मूल कारण क्या है? जब प्राणी किसी प्रतीति तथा मान्यता को ही अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसमें अपने आप परिच्छिन्नता की सत्यता दृढ़ हो जाती है, जिसके होते ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद की उत्पत्ति से चित्त अशुद्ध हो जाता है, अथवा यों कहो कि 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने पर काम तथा मोह की उत्पत्ति होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। यद्यपि 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने में निज अनुभूति का विरोध है, परन्तु प्राणी प्रमादवश अपनी अनुभूति का आदर नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि देह में ही अहम्बुद्धि दृढ़ हो जाती है, जिसके होते ही अनेक दोष अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि प्राणी कभी तो अपने को देह मानता है और कभी देह को अपनी मानता है। अर्थात् अहम् और मम दोनों की स्थापना देह में कर लेता है।अहम् की स्थापना करके देह से भिन्न बाह्य वस्तु में ममता करता है और देह के प्रति ममता करके अपने को किसी मान्यता विशेष में आबद्ध करता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मान्यता में परिच्छिन्नता की स्वीकृति स्वतः सिद्ध प्रतीत होने लगती है। यद्यपि प्राणी में आवश्यकता स्वभाव से ही अनन्त होने की है, क्योंकि कोई भी अपने को सीमित होकर सदैव नहीं रखना चाहता। परन्तु मान्यता में अस्तित्व-बुद्धि स्वीकार करने से काम की उत्पत्ति होती है, जिससे स्वाभाविक आवश्यकता में शिथिलता आ जाती है और अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती है, जो वस्तुओं से सम्बन्ध दृढ़ कर देती हैं। इस दृष्टि से वस्तुओं के अस्तित्व की स्वीकृति तथा उनसे सम्बन्ध स्वाभाविक आवश्यकता के प्रमाद से, अथवा निज अनुभूति के विरोध को सहन करने से होता है।

यह नियम है कि स्वाभाविक आवश्यकता की विस्मृति भले ही हो जाए, पर उसका नाश नहीं होता। स्वीकृति में सत्यता तथा प्रियता भले ही प्रतीत होती हो, परन्तु उसका अस्तित्व नहीं होता, अर्थात् अस्तित्वहीन स्वीकृति प्राणी को न जाने कितना नाच नचाती है, अथवा यों कहो कि अनेक प्रकार के संघर्षों में आबद्ध कर देती है।

समस्त स्वीकृतियों के मूल में क्या है, इसका निर्णय उस समय तक सम्भव नहीं है, जब तक कि समस्त स्वीकृतियों का अन्त अस्वीकृति द्वारा न कर दिया जाय। ऐसी कोई स्वीकृति हो ही नहीं सकती, जिसमें परिवर्त्तन तथा अभाव न हो। समस्त स्वीकृतियाँ दो प्रकार से उत्पन्न होती हैं-

एक तो श्रवण के आधार पर और एक अपने को देह मान लेने पर। श्रवण से पूर्व प्राणी अपने को क्या मानता था, इसका उसे पता नहीं और देह की तद्रूपता से पूर्व किसके साथ तादात्म्य था, उसे बेचारा प्राणी जानता नहीं। परन्तु निज विवेक द्वारा वह यह अवश्य जानता है कि " देह मैं नहीं हूँ ", क्योंकि जो 'यह' है वह 'मैं' हो ही नहीं सकता। 'मैं' क्या हैं? यह प्रश्न उत्पन्न होकर "मैं देह नहीं हूँ", इस निर्णय तक प्राणी को पहुँचा देता है। परन्तु बेचारा प्राणी सन्देह की वेदना को न सहने के कारण जब अपने को किसी मान्यता से अभिन्न कर लेता है, तब देह को अपना मानकर देह के नाते देश, समाज, वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, दल आदि मान्यताओं से बँध जाता है और देह की भाँति ही सबको अपना मानने लगता है। परन्तु उसकी स्वाभाविक आवश्यकता विभु होने की है, इस कारण किसी भी सीमा में अपने को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। यहाँ तक कि समस्त सृष्टि को अपना मानने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता और फिर उसमें यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न हो जाता है कि 'वास्तव में मेंरा कौन है और मैं क्या हूँ?' यह मूल प्रश्न उस समय तक हल हो ही नहीं सकता, जब तक प्राणी किसी को भी अपना मानता है और अपने को कुछ मानता है। कारण, कि विकल्प-रहित मान्यता वास्तविकता की भाँति ही सत्य प्रतीत होती है। अतः मान्यता के रहते हुए वास्तविकता का बोध सम्भव ही नहीं है।

मैं और मेरा ज्यों-ज्यों विभु होता जाता है, त्यों-त्यों व्यक्तिगत सुख-दुःख निर्जीव होता जाता है, जिससे प्राणी के जीवन में करुणा, उदारता, क्षमा, समता, मुदिता आदि सदगुणों की अभिव्यक्ति होती जाती है। किन्तु वे गुण किसके हैं? कहाँ से आए हैं? यह समस्या ज्यों-की-त्यों रहती है। यद्यपि सद्गुणों के आधार पर व्यक्ति को आदर, प्यार और आवश्यक वस्तुएँ बड़ी ही सुगमतापूर्वक मिलने लगती है, पर अपने सम्बन्ध में व्यक्ति सन्देह-रहित नहीं हो पाता और किसी-न-किसी गुण-दोष और मान्यता के आधार पर अपने व्यक्तित्व की रक्षा करता रहता है अथवा यों कहो कि व्यक्तित्व के अभिमान में आबद्ध रहता है, जो चित्त की अशुद्धि है।

व्यक्तित्व का अभिमान समस्त दोषों का मूल है। कारण, कि उसके रहते हुए अनन्त से अभिन्नता अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान सम्भव ही नहीं है। अनन्त से अभिन्न हुए बिना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक कामनाओं की निवृत्ति हो ही नहीं सकती और स्वतन्त्र अस्तित्व के बोध के बिना अनन्त से अभिन्नता सम्भव नहीं है। यद्यपि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उससे देश-काल की दूरी हो नहीं सकती। परन्तु जो मान्यता तथा सम्बन्ध अस्तित्वहीन है, वह स्वतन्त्र अस्तित्व के बोध में आवरण बन गया है। उस आवरण का नाश तभी हो सकता है, जब अस्तित्वहीन मान्यता को विवेकपूर्वक अस्वीकार कर दिया जाय।

अब यदि कोई यह कहे कि अस्वीकार करने पर भी स्वीकृति ज्यों-की-त्यों प्रतीत होती है। ऐसी दशा में स्वीकृति के अनुसार अपने पर जो दूसरों का अधिकार है, उसकी यथाशक्ति रक्षा की जाए और दूसरों पर जो अपना अधिकार है,

उसका त्याग कर दिया जाए। यह नियम है कि जिसको जो देना है, वह देने पर और जिससे लेना है, उससे न लेने पर अपने आप सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही वह स्वीकृति अपने आप मिट जाती है, जिसके आधार पर सम्बन्ध की स्थापना हुई थी। सम्बन्ध कितना ही पुराना क्यों न हो, विच्छेद होते ही सदा के लिए मिट जाता है। यह नियम है कि सम्बन्ध न रहने पर जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका बोध हो जाता है और जो अस्तित्वहीन है उसका अभाव हो जाता है, जिसके होते ही अनन्त से अभिन्नता और जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका बोध हो जाता है। और फिर जो मूल प्रश्न है कि "मेरा कौन है और मैं क्या हूँ?" वह अपने आप हल हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

मान्यता में सत्यता और वस्तुओं की ममता एक-मात्र लेन-देन के आधार पर ही जीवित है। जिसे किसी से कुछ लेना नहीं है और जो प्राप्त है वह देकर देने की रुचि का अन्त कर देता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक उससे अभिन्न हो जाता है, जो समस्त मान्यताओं से पूर्व था और सदैव है, अर्थात् जो देश-काल की दूरी से रहित है। देने की रुचि का अन्त तभी हो सकता है, जब प्राणी देने के अभिमान से और लेने की आशा से रहित हो जाय, अर्थात् दी हुई वस्तु को उसी की जाने, जिसकी दी है। अपनी मानकर देने से लेने की आशा अवश्य उत्पन्न होती है। लेने की आशा रहते हुए देने की बात कहना ईमानदारी नहीं है, अथवा यों कहो कि देने के रूप में लेना ही है, देना नहीं। इतना ही नहीं, उस प्राणी का लेना भी देना हो जाता है, जो अपने में अपना कुछ नहीं पाता। जिसे अपने में अपना कुछ भी प्रतीत होता है, उसका देना भी लेना है, अर्थात् उसका त्याग भी राग है और प्रेम भी मोह है। उसके द्वारा की हुई सेवा भी स्वार्थ है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने विवेक-दृष्टि से अपने में अपना कुछ नहीं पाया, अपितु सभी में उसी को पाया जो सर्वदा सभी का सब कुछ है। जो सभी का सब कुछ है, प्रत्येक प्राणी को सर्वदा उसी का होकर रहना है।

यह नियम है कि जो जिसका होकर रहता है, उसमें उसी की सत्यता एवं प्रियता अंकित हो जाती है और उससे भिन्न की स्वीकृति ही शेष नहीं रहती। अस्वीकृति से उसी का नाश होता है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और सत्यता तथा प्रियता उसी की सुरक्षित रहती है जिससे स्वरूप की एकता है, उससे चित्त अशुद्ध नहीं होता, अपितु चित्त में उसी के प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है। यहाँ तक कि चित्त है या प्रेम है यह कहते नहीं बनता, अर्थात् प्रेम से भिन्न चित्त का कोई अस्तित्व ही नहीं भासता, क्योंकि यह प्रेम का स्वभाव ही है कि उसकी अभिव्यक्ति जिसमें होती है वह भी प्रेम ही हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य में न तो सुख की आशा ही रहती है और न जड़ता, जिसके न रहने से चित्त की अशुद्धि अपने आप मिट जाता है।

चित्त में अशुद्धि उसी समय तक रहती है, जिस समय तक प्राणी वस्तुओं के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता, अथवा उनकी ममता से रहित नहीं होता, अथवा प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन का

त्याग नहीं करता। वस्तुओं के चिन्तन का त्याग किये बिना वस्तुओं की आसक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। वस्तुओं की आसक्ति वस्तुओं का सदुपयोग नहीं करने देती। वस्तुओं के सदुपयोग किए बिना न तो व्यक्तियों की सेवा ही होती है और न वस्तुओं की ममता का ही नाश होता है। वस्तुओं की ममता से रहित हुए बिना व्यक्ति में निर्लोभता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, जिसके बिना हुए दरिद्रता अपने आप आ जाती है, जो बेचारे प्राणी को अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध कर देती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वस्तुओं के सदुपयोग द्वारा व्यक्तियों की सेवा बिना किये न तो निर्मोहता की ही अभिव्यक्ति होती है और न संग्रह की रुचि ही नष्ट हो पाती है। निर्मोहता के बिना प्राणी न तो मृत्यु के भय से ही रहित होता है ओर न अमरत्व से ही उसकी अभिन्नता होती है। संग्रह की रुचि प्राणी को जड़ता और संकीर्णता में आबद्ध कर देती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अब यदि कोई यह कहे कि व्यक्तियों की सेवा से तो मोह की वृद्धि होगी। पर बात ऐसी नहीं है। कारण, कि मोह की वृद्धि तो व्यक्तियों के द्वारा सुख की आशा करने पर होती है, सेवा से नहीं। व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियों के मोह से रहित कर देती है, क्योंकि सेवा वही कर सकता है, जो सुख की आशा से रहित है। सुख की आशा से रहित होने पर मोह की गन्ध भी नहीं रहती। इस दृष्टि से व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियों के मोह से रहित करने में समर्थ है।

व्यक्तियों के मोह से रहित होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, क्योंकि किसी भी दोष का अभाव होने पर सभी दोष मिट जाते हैं। कारण, कि एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक रूपों में प्रतीत होता है। वस्तुओं की ममता लोभ को और उनका दुरुपयोग मोह को उत्पन्न करता है। अतः न तो वस्तुओं से ममता ही करना है और न उनका दुरुपयोग ही। वस्तुओं के सदुपयोग से प्राकृतिक नियम के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ स्वतः मिलने लगती हैं। इस दृष्टि से वस्तुओं के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि निहित है और वस्तुओं के सदुपयोग में ही परस्पर में स्नेह की वृद्धि तथा मोह की निवृत्ति होती है। अतः प्रत्येक दृष्टि से वस्तुओं का सदुपयोग करना अनिवार्य है। निर्लोभता तथा निर्मोहता की अभिव्यक्ति होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके हो जाने पर वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति में समस्त दोषों का अन्त और वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन का त्याग प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करता है। प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग वस्तुओं की ममता से रहित करने में समर्थ है। वस्तुओं की ममता का अभाव निर्मोहता एवं निर्लोभता की अभिव्यक्ति में हेतु है। क्योंकि देहरूपी वस्तु की ममता का अभाव निर्मोहता और अन्य सभी वस्तुओं की ममता का अभाव निर्लोभता है, जो जड़ता और परिच्छिन्नता का अन्त करता है, जिसके होते ही निष्कामता, उदारता, चिन्मयता और अपरिच्छिन्नता आदि दिव्य-जीवन से साधक की अभिन्नता हो जाती है।

अथवा यों कहो कि समस्त वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति में ही स्वाधीनता तथा अपना महत्व निहित है।

स्वाधीनता तथा अपने महत्व में ही सन्तुष्ट न होने से अनन्त से अभिन्नता स्वतः हो जाती है, जो वास्तविक है, अथवा यों कहो कि जीवन अनन्त का प्रेम हो जाता है। प्रेम की अभिव्यक्ति में ही समस्त अभावों का अभाव है। कारण, कि प्रेम से भेद, भिन्नता, नीरसता आदि समस्त दोषों का अन्त हो जाता है। अतः वस्तुओं का सदुपयोग, उनकी ममता का त्याग एवं उनके अस्तित्व को अस्वीकार कर चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ करना अनिवार्य है।

२२.०६.१९५६

कर्त्तव्यनिष्ठ में ही उदारता की अभिव्यक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

जब तक प्राणी की दृष्टि दूसरों के कर्त्तव्य तथा उदारता पर लगी है, तब तक उसका चित्त अशुद्ध रहता है। कारण, कि पराधीन प्राणी का चित्त शुद्ध नहीं रह सकता, अर्थात् पराधीनता अशुद्धि की जननी है। 'पर' की प्रतीति ही प्राणी में अधिकार-लालसा तथा भोगाशक्ति को जन्म देती है। अधिकार-लालसा और भोग की आसक्ति में आबद्ध प्राणी के चित्त में सर्वदा किसी-न-किसी अंश में खिन्नता ही निवास करती है। खिन्नता काम की जननी है और काम पराधीनता का मूल है। इस दृष्टि से पराधीनता अशुद्धि की जननी है। अथवा यों कहो कि काम के साम्राज्य में कोई भी स्वाधीन नहीं रहा और स्वाधीनता के बिना किसी को चिर-शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता एवं नित-नूतन-रस की प्राप्ति नहीं हुई। शान्ति के बिना सामर्थ्य, प्रसन्नता के बिना सामर्थ्य का सदुपयोग और नित-नूतन-रस के बिना काम का नाश नहीं हो सकता, उसके बिना चित्त अशुद्ध ही रहता है।

निज-विवेक के अनादर से ही देहाभिमान पुष्ट होता है, जिसके होते ही इन्द्रियों के ज्ञान में सत्यता तथा प्रियता भासित होती है, जिसके 'पर' की प्रतीति स्वतः होने लगती है, जिसके होते ही प्राणी में अधिकार-लालसा उत्पन्न होती है, जो उसे दूसरों के कर्त्तव्य पर निर्भर कर देती है। क्योंकि किसी के अधिकार में ही किसी का कर्त्तव्य निहित है। इस कारण अधिकार की दासता रहते हुए कोई भी प्राणी स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। यद्यपि स्वाधीनता की माँग प्राणी में स्वाभाविक है, परन्तु अधिकार-कामना ने उसकी पूर्ति नहीं होने दी। इस दृष्टि से जो प्राणी अपने अधिकार का त्याग नहीं कर सकता, उसे किसी भी प्रकार स्वाधीनता नहीं मिल सकती। स्वाधीनता के बिना न तो कोई अमरत्व प्राप्त कर सकता है और न उनके जीवन में प्रेम की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। इतना ही नहीं, स्वाधीनता प्राप्त किए बिना प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग भी नहीं कर सकता। वस्तुओं के सदुपयोग के बिना वस्तुओं का अभाव नहीं मिट सकता। सामर्थ्य के सदुपयोग के बिना असमर्थता का अन्त नहीं हो सकता और योग्यता के सदुपयोग में ही आवश्यक ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति निहित है।

स्वाधीनता कर्त्तव्यपालन में है, अधिकार माँगने में नहीं। स्वाधीनता प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है, परिस्थिति-परिवर्तन में नहीं, प्राप्त सुख के वितरण में है, सुख की आशा में नहीं। इतना ही नहीं, राग-द्वेष की निवृत्ति तथा त्याग और प्रेम की प्राप्ति में भी सर्वदा स्वाधीन है। इसके अतिरिक्त और कहीं स्वाधीनता है नहीं।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है, अपितु सभी का हित है। इस दृष्टि से प्राणी का विकास प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही निहित है। पर परिस्थिति का सदुपयोग वे ही प्राणी कर सकते है, जो परिस्थिति में जीवन-बुद्धि नहीं रखते, अपितु परिस्थिति को साधन-सामग्री ही जानते हैं। परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील है। जो परिवर्तनशील है उसके परिवर्तन का प्रयास करना प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करना है। इतना ही नहीं, जो सामर्थ्य प्राणी को परिस्थिति के सदुपयोग के लिए मिली थी, उसका व्यय अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में, अथवा परिस्थिति के परिवर्तन में करना उसका दुरुपयोग है। सामर्थ्य के दुरुपयोग का बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है, अर्थात् प्राणी सामर्थ्य के दुरुपयोग से न तो प्रतिकूलता का ही अन्त कर सकता है और न उसे अनुकूलता ही प्राप्त होती है।

ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नहीं सकती, जो सर्वांश में अनुकूल हो,अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का समूह है। अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय प्राणी को परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करने देते, जिसके बिना किए न तो उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होती है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश ही होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए आवश्यक अंग है, क्योंकि प्रतिकूलता के बिना वस्तुओं के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान नहीं होता और अनुकूलता के बिना प्राप्त वस्तुओं का उदारतापूर्वक सदुपयोग नहीं होता।

वस्तुओं के स्वरूप का यथेष्ट ज्ञान हुए बिना वस्तुओं की दासता का अन्त नहीं हो सकता और वस्तुओं के सदुपयोग के बिना परस्पर में स्नेह की एकता सम्भव नहीं है। स्नेह की एकता के बिना संघर्ष मिट नहीं सकता। अथवा यों कहो कि स्नेह की एकता में ही भेद तथा भिन्नता का नाश और सुन्दर समाज का निर्माण एवं चिरशान्ति की स्थापना निहित है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही में प्राणी का हित है। अतः अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय चित्त से सदा के लिए निकाल देना अनिवार्य है, जिसके निकलते ही अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है और फिर पराधीनता शेष नहीं रहती, जिससे चित्त सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है।

अधिकार-लालसा से रहित प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही कर्त्तव्यपरायणता है और कर्त्तव्यपरायणता में ही विद्यमान राग की निवृत्ति है। अधिकार-लालसा में आबद्ध प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकता। कारण, कि अधिकार की अपूर्ति उसे क्षोभित तथा क्रोधित कर देगी और अधिकार की पूर्ति उसमें नवीन राग उत्पन्न कर

देगी। इस दृष्टि से अधिकार-लालसा के त्याग में ही कर्त्तव्यपरायणता निहित है। क्षोभित होने पर प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है और क्रोधित होने पर कर्त्तव्य की विस्मृति अर्थात् कर्त्तव्य के ज्ञान की स्मृति आच्छादित हो जाती है। सामर्थ्य के ह्रास और कर्त्तव्य के ज्ञान की विस्मृति में कर्त्तव्यपरायणता सम्भव नहीं है, क्योंकि कर्त्तव्य के ज्ञान तथा सामर्थ्य के द्वारा ही प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्तव्यपालन सम्भव है, परन्तु जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान का सदुपयोग नहीं करता,तब कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। राग-निवृत्ति के लिए ही कर्त्तव्य अपेक्षित है। अतः नवीन राग की उत्पति भी प्राणी को कर्तव्यनिष्ठ नहीं होने देती। इस दृष्टि से अपने अधिकार का त्याग किये बिना कोई भी प्राणी कर्त्तव्य-निष्ठ नहीं हो सकता। अधिकार के नाम पर कर्त्तव्य की बात कहना अकर्त्तव्य में कर्त्तव्यबुद्धि रखना है।

जो अकर्त्तव्य कर्त्तव्य के भेष में आता है वह बड़ा ही भयंकर होता है, क्योंकि उसका त्याग कठिन हो जाता है। अकर्त्तव्य के रूप में अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि सर्वांश में कोई भी दोष किसी प्रकार से नहीं रह सकता। गुण का आश्रय पाकर ही दोष अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख पाता है, अथवा यों कहो कि अकेला दोष रह ही नहीं सकता। इस दृष्टि से कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भेद जानना अनिवार्य है। अधिकार की माँग अकर्त्तव्य की जननी है, और दूसरों के अधिकार की रक्षा कर्त्तव्य की जननी है।

जिस प्राणी की दृष्टि सदैव दूसरे के अधिकार पर ही लगी रहती है, वही कर्त्तव्यनिष्ठ हो पाता है। और जो प्राणी अपने ही अधिकार को देखता रहता है वह कभी भी कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, वह बेचारा ऐसी भयंकर परिस्थिति में आबद्ध हो जाता है कि एक दोष की निवृत्ति के लिए दूसरे दोष को अपनाता रहता है। जैसे, किसी की रक्षा के लिए किसी की हिंसा किसी के विकास के लिए किसी का ह्रास, किसी के लाभ के लिए, किसी की हानि करता रहता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिस रक्षा, विकास और लाभ के मूल में हिंसा, ह्रास और हानि है, उससे अन्त में हिंसा, ह्रास और हानि ही सिद्ध होती है। क्योंकि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसका अन्त उसी में होता है। अतः अकर्त्तव्य के त्याग से जिस कर्त्तव्य का उदय होता है वही कर्त्तव्य वास्तव में विकास का मूल है। अकर्त्तव्य का त्याग किए बिना कर्त्तव्यनिष्ठ होना किसी भी प्रकार सम्भव ही नहीं है, अथवा यों कहो कि अकर्त्तव्य का त्याग भी निषेधात्मक दृष्टि से कर्त्तव्य ही है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त सुख दुखियों की वस्तु है। उसे अपना मानना और उसका भोग करना पराई वस्तु को अपना मानना है। पराई वस्तु को अपना मानने से प्राणी का सर्वनाश हो जाता है। इस कारण जो सुख प्राप्त है उसका वितरण कर उसकी आसक्ति से रहित होना अनिवार्य है। सुख बाँट देने पर दुःख सदा के लिए मिट जाता है और सुख-दुःख से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्नता हो जाती है। जो प्राणी सुख-भोग तथा सुख की आशा में आबद्ध हो

जाता है वह कभी भी स्वाधीन नहीं हो सकता और स्वाधीनता के बिना चित्त की शुद्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि पराधीन प्राणी सर्वदा सुख की आशा में आबद्ध रहता है।

सुख की आशा चित्त में राग-द्वेष उत्पन्न करती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। सुख की आशा से रहित होने पर राग-द्वेष, त्याग तथा प्रेम में बदल जाता है और फिर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। चित्त उसी प्राणी का शुद्ध हो सकता है, जो दूसरों के कर्तव्य पर दृष्टि नहीं रखता और जिसकी प्रसन्नता किसी की उदारता पर निर्भर नहीं है, परन्तु जो स्वयं दूसरों के लिए उदार भी है और कर्त्तव्यनिष्ठ होकर दूसरों के अधिकार की रक्षा भी करता है, अर्थात् उदारता तथा कर्त्तव्य-परायणता ही जिसे अभीष्ट है, उसी का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि चित्त को प्राणी के अधीन नहीं रहने देती। अर्थात् प्राणी अशुद्ध चित्त का न तो निरोध ही कर सकता है, और न उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है, न उसे जब जिसमें लगाना चाहे उसमें लगा सकता है और न जिससे हटाना चाहे उससे हटा सकता है। अर्थात् चित्त के हटाने, लगाने में प्राणी स्वाधीन नहीं रहता, जिसके बिना, जो करना चाहिए उसे कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए उससे बच नहीं पाता। जो करना चाहिए उसके न करने से,जो मिलना चाहिए वह नहीं मिलता। उसका परिणाम यह होता है कि बेचारा प्राणी उससे विमुख हो जाता है जिससे उसकी वास्तविक एकता है। जो नहीं करना चाहिए उसमें प्रवृत्ति होने से उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता रहता है। इस दृष्टि से चित्त को अपने अधीन बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा जब चित्त स्वस्थ हो जाय। उसके लिए चित्त को शान्त तथा शुद्ध करना अनिवार्य है।

चित्त का निरोध हुए बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता और उसके बिना स्वाधीनता की ओर प्रगति नहीं होती। चित्त के निरोध के लिए किसी वस्तु-व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है। अपितु सभी वस्तु-व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद की आवश्यकता है, क्योंकि वस्तु-व्यक्ति आदि के सम्बन्ध से ही चित्त की गति विपरीत हो गई है, जिससे चित्त का निरोध नहीं होता। जब चित्त में वस्तु या व्यक्ति का राग अंकित हो जाता है, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। कोई वस्तु चित्त को अशुद्ध नहीं करती। वस्तु का महत्व उसका राग, उसका दुरुपयोग और उसकी कामना चित्त को अशुद्ध करती है। वस्तु के सदुपयोग से, उसकी कामना न करने से चित्त शुद्ध हो जाता है। व्यक्तियों से सुख की आशा तथा उनकी ममता चित्त को अशुद्ध करती है। यदि व्यक्तियों की सेवा की जाय और उनसे ममता न की जाय तो चित्त अशुद्ध नहीं होता, अपितु शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से वस्तु और व्यक्ति का होना चित्त की अशुद्धि में हेतु नहीं है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं का सदुपयोग व्यक्तियों की सेवा में है और व्यक्तियों की सेवा उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कराने में समर्थ है। इस दृष्टि से न्यायपूर्वक सम्पादित वस्तुओं के द्वारा व्यक्तियों की सेवा करना और किसी भी व्यक्ति से

सुख की आशा न करना चित्त की शुद्धि का साधन है। जो प्राणी व्यक्तियों से सुख की आशा करता है वह व्यक्तियों की सेवा नहीं कर सकता और न उनकी ममता से ही रहित हो सकता है। इस कारण किसी भी व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति से सुख की आशा नहीं करनी चाहिए, अपितु सुख देने के लिए प्रयास करते रहना चाहिए। सुख देने की भावना में ही सुख की आशा का त्याग निहित है। सुख की आशा का त्याग सुख की दासता से रहित करने में समर्थ है। सुख की दासता से रहित होते ही चित्त स्वतः शान्त हो जाता है।

चित्त की शान्ति चित्त को स्वयं शुद्ध कर देती है और चित्त की शुद्धि से चित्त स्वस्थ हो जाता है, जिसके होते ही बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त का निरोध, अथवा चित्त से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, अथवा चित्त स्वतः अपने अधीन हो जाता है।

जो चित्त को अपने अधीन कर लेता है, वह पराधीन नहीं रहता, अथवा यों कहो कि उसकी प्रसन्नता किसी परिस्थिति विशेष पर निर्भर नहीं रहती। ऐसा होने पर समस्त विश्व उसके अधीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि विश्वनाथ से अभिन्न हो जाता है, अर्थात् अनाथ नहीं रहता, अपितु सनाथ हो जाता है। चित्त के निरोध में समस्त भौतिक विकास निहित है और चित्त के बाधित होने में, अर्थात् उससे सम्बन्ध न रहने पर अध्यात्म-जीवन से अभिन्नता होती है। जब तक प्राणी को चित्त जैसी कोई वस्तु भासित होती है, तब तक चित्त में कोई-न-कोई अशुद्धि है। जब चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है, तब उसका भास नहीं होता, क्योंकि खिन्नता तथा नीरसता के रहते हुए ही चित्त का भास होता है और खिन्नता तथा नीरसता उसी समय तक रहती है, जिस समय तक चित्त में किसी-न-किसी प्रकार की अशुद्धि है।

चित्त स्वभाव से अशुद्ध नहीं है, क्योंकि चित्त तो एक अलौकिक सामर्थ्य है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सामर्थ्य के दुरुपयोग से सामर्थ्य दूषित होती है। यद्यपि सामर्थ्य में स्वभाव से कर्त्तृत्व नहीं है, परन्तु उसके दुरुपयोग का प्रभाव उसमें कर्त्तृत्व के आरोप को भासित करता है। सामर्थ्य का सदुपयोग, अथवा दुरुपयोग उसी के अधीन है, जिसे वह प्राप्त है। सामर्थ्य जिसकी देन है विवेक भी उसी की देन है। जब प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में चित्त रूपी सामर्थ्य का सदुपयोग करता है, तब चित्त में किसी प्रकार की अशुद्धि का भास नहीं होता। इस दृष्टि से चित्त में अशुद्धि केवल अविवेक सिद्ध है, जो प्राणी का अपना दोष है, चित्त का नहीं। अविवेक विवेक के अनादर से उत्पन्न होता है। अतः अविवेक का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी उत्पत्ति प्राप्त के दुरुपयोग से होती है। प्राप्त का दुरुपयोग ही समस्त दोषों का मूल है। प्राप्त का दुरुपयोग किसी की देन नहीं है, अपितु अपना ही बनाया हुआ दोष है, जिसका अन्त प्राणी जब चाहे कर सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता तथा उदारतापूर्वक प्राणी बड़ी ही सुगमता से चित्त शुद्ध कर सकता है। कर्त्तव्यपरायणता अपने अधिकार के त्याग में निहित है और उदारता किसी से घृणा न करने पर ही सुरक्षित रह सकती है। जो किसी से भी घृणा करता है, वह उस अनन्त से घृणा करता है, क्योंकि

समस्त विश्व उसी की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य और घृणा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अधिकार-लालसा अकर्त्तव्य को और पर-दोष-दर्शन घृणा को जन्म देता है। पर-दोष-दर्शन की दृष्टि निर्दोष नहीं होने देती, क्योंकि पर-दोषदर्शी निज दोष दर्शन ही नहीं कर पाता, जिसके बिना निर्दोषता की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अपने दोष के ज्ञान में ही निर्दोषता निहित है।

कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग करता है, जिससे खिन्नता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही उदारता की अभिव्यक्ति अपने-आप हो जाती है। उदारता का क्रियात्मक रूप सेवा, तात्विक रूप एकता और वास्तविक रूप प्रीति है। सेवा से नीरसता निर्जीव हो जाती है और प्रीति से उसका अत्यन्त अभाव हो जाता है। नीरसता का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है, जो समस्त विकास का मूल है।

संकल्प उत्पत्ति-पूर्त्ति से अतीत का जीवन

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है, उसमें अस्वाभाविकता नहीं है और न उस स्थिति में किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध दृढ़ होता है। यह नियम है कि जब तक किसी वस्तु,व्यक्ति आदि से सम्बन्ध की स्थापना नहीं होती तब तक राग-द्वेष की प्रतीति नहीं होती और राग-द्वेष रहित स्थिति में चित्त अशुद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि का कारण चित्त में राग-द्वेष का अंकित होना है और कुछ नहीं। अतः राग-द्वेष रहित होने पर ही चित्त शुद्ध हो सकता है। संकल्प उत्पति से पूर्व की स्थिति का भास यदि स्पष्ट हो जाए, तो संकल्प-पूर्त्ति-अपूर्त्ति के सुख-दुःख का प्रभाव चित्त में अंकित न हो, जिसके हुए बिना चित्त में अशुद्धि आ ही नहीं सकती। इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन और दुःख का भय ही चित्त को अशुद्ध करता है। सुख-दुःख के भास होने से कोई चित्त अशुद्ध नहीं होता, चित्त अशुद्ध होता है सुख के महत्व और दुःख के भय से।

सुख का भास होने पर भी यदि उसका महत्व नहीं है, तो राग की उत्पत्ति नहीं होगी और दुःख का भास होने पर भी यदि उसका भय न हो, तो द्वेष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, सुख के महत्व से ही दुःख का भय उत्पन्न होता है।

जब तक प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक संकल्प की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति आदि की सत्यता की स्वीकृति और उनका सम्बन्ध ही संकल्प का स्वरूप है। संकल्प की उत्पत्ति वस्तु,व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ देती है। संकल्प-पूर्ति-काल में जिन वस्तुओं की प्राप्ति होती है, उन वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि संकल्प-अपूर्ति काल में वस्तुएँ अप्राप्त है, पर उनका सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों सुरक्षित है और संकल्प-पूर्ति-काल में वस्तुएँ प्राप्त हैं, पर उनसे सम्बन्ध नहीं रहता चाहे वह काल कितना ही अल्प क्यों न हो।

पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते हैं। एक संकल्प की पूर्ति और दूसरे संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है उसमें किसी वस्तु आदि से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह वही स्थिति है, जो संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व थी।

यह नियम है कि देश,काल, वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध किसी-न-किसी क्रिया की उत्पत्ति में ही निहित है। संकल्प उत्पत्ति की क्रिया किसी-न-किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ती है। इच्छित वस्तु के प्राप्ति-काल में संकल्प-उत्पत्ति की क्रिया शेष नहीं रहती, जिसके न रहने पर उस स्थिति से अभिन्नता हो जाती है, जो क्रिया-उत्पत्ति से पूर्व थी और उसी काल में सुख का भास होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख का भास किसी वस्तु-व्यक्ति आदि पर निर्भर नहीं है, अपितु उस पर निर्भर है, जो संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व है।

यदि सुख का भास इच्छित वस्तु की प्राप्ति पर निर्भर होता, तो वह सुख जो संकल्प-पूर्ति-काल में था, इच्छित वस्तु के रहने पर भी रहता। परन्तु उस सुख का भास उसी समय तक रहता है, जिस समय तक दूसरे संकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् संकल्प-उत्पत्ति सुख से विमुख करती है। परन्तु प्राणी असावधानी के कारण उस सुख का आरोप इच्छित वस्तु, व्यक्ति आदि में कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि इच्छित वस्तुओं का महत्व बढ़ जाता है, उनकी सत्यता दृढ़ हो जाती है, जिसके होते ही प्राप्त वस्तुओं में ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन अपने आप होने लगता है। अथवा यों कहो कि संकल्प-विकल्प का प्रवाह स्वतः बहने लगता है, व्यक्ति, देश, काल आदि की सत्यता भासने लगती है और जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि का प्रकाशक है, अर्थात् जो अनन्त, नित्य, चिन्मय है, उससे विमुखता हो जाती है, जिससे संकल्प-उत्पत्ति और पूर्ति में ही जीवन भासने लगता है। और जो वास्तविक-जीवन है, उसका अभाव सा प्रतीत होता है। यद्यपि संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के मूल में वास्तविक जीवन की जिज्ञासा विद्यमान रहती है, अथवा यों कहो कि जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जाना नहीं, जो कभी मिला नहीं, उसकी प्यास प्राणी में स्वभाव से है जिसे कोई भी वस्तु बुझा न सकी। परन्तु कामना-पूर्ति के प्रलोभन ने न तो जिज्ञासा की पूर्ति होने दी और न उसके प्रेम की अभिव्यक्ति होने दी, जिसकी प्यास प्राणी में स्वाभाविक है।

जब प्राणी संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति से अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता, तब विद्यमान जिज्ञासा अपने आप जाग्रत होती है, जो कामनाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। परन्तु जब तक प्राणी को संकल्प-उत्पत्तिमात्र का श्रम सहन होता है, अर्थात् असह्य नहीं होता, तब तक जिज्ञासा की पूर्ण जागृति सम्भव नहीं है। यद्यपि चिर-विश्राम की आवश्यकता प्राणी में स्वाभाविक है, परन्तु क्रियाजनित सुखासक्ति उस आवश्यकता को आच्छादित करती रहती है, किन्तु मिटा नहीं पाती। इतना ही नहीं, प्रत्येक श्रम का उद्गम और अन्त विश्राम में निहित है।

ऐसा कोई श्रम है ही नहीं, जो आदि और अन्त से रहित हो। इसी कारण श्रम के द्वारा जिन

वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, वे वस्तएँ भी आदि अन्त से रहित नहीं है। परन्तु चिर विश्राम से जिसकी प्राप्ति होती है, वह आदि और अन्त से रहित है, अर्थात् अनन्त है। प्रत्येक श्रम के मूल में कोई-न-कोई कामना रहती है। उसकी पूर्ति के लिए ही श्रम की अपेक्षा है। कामनाएँ जिस भूमि में उपजती है, वह भूमि अविवेक-सिद्ध हैं, अर्थात् निज विवेक के अनादर में ही काम की उत्पत्ति होती है और काम से ही कामनाएँ जन्म पाती है। परिवर्तनशील, सीमित सौन्दर्य ही काम का स्वरूप है, अथवा यों कहो कि उत्पत्ति-विनाश-युक्त वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं प्रियता का भास ही काम है।

इतना ही नहीं, रस तथा जीवन की रुचि भी काम ही है। यद्यपि कामनाओं की पूर्ति में न तो जीवन ही है और न वह रस जो नीरसता में न बदल जाय। परन्तु प्राणी रस के भास को रस तथा शरीर के अस्तित्वमात्र को जीवन मान लेता है। किन्तु इस मान्यता से वह अपने को पूर्ण सन्तुष्ट नहीं कर पाता, क्योंकि शरीर का अस्तित्व नित्य नहीं है और कामना-पूर्ति का रस अपने-आप नीरसता में बदल जाता है। वह अस्तित्व जिसका नाश न हो, अर्थात् नित्य हो और वह रस जो नीरसता में न बदले, अर्थात् अनन्त हो, कामना-पूर्ति के द्वारा सम्भव नहीं है। यद्यपि नित्य-जीवन और अनन्त-रस की लालसा प्राणी में स्वाभाविक है, परन्तु परिवर्तनशील, सीमित सौन्दर्य की आसक्ति उस लालसा को शिथिल कर देती है, जिससे बेचारा प्राणी कामना-पूर्ति के श्रम में आबद्ध रहता है।

कामना-पूर्ति के क्षेत्र में श्रम की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु काम की निवृत्ति के लिए श्रम लेशमात्र भी अपेक्षित नहीं है।, क्योंकि अनन्त, नित्य सौन्दर्य की लालसा की जागृति मात्र से काम का नाश हो जाता है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या उस लालसा की जागृति श्रम नहीं है? कदापि नहीं। क्योंकि श्रम शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा होता है और अनन्त, नित्य सौन्दर्य की लालसा शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद कर देती है। शरीर-रहित जीवन में श्रम की गन्ध भी नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि शरीर-रहित भी कोई जीवन है? तो कहना होगा कि शरीर युक्त ही यदि जीवन है, तो फिर मृत्यु क्या है? अतः निर्विवाद सत्य है कि शरीर से अतीत ही जीवन है, शरीर में जीवन नहीं है। अपितु शरीर में जीवन का मिथ्याभास है। हाँ, यह अवश्य कह सकते हैं कि उस मिथ्या जीवन के भास में वास्तविक जीवन की लालसा निहित है। जिस प्रकार निर्बलता बल की लालसा से भिन्न और कुछ नहीं है, उसी प्रकार जीवन का भास वास्तविक जीवन की लालसा से भिन्न कुछ नहीं है। यदि निर्बलता का भास न हो तो बल की आवश्यकता ही जाग्रत नहीं हो सकती, अर्थात् निर्बलता का भास बल की आवश्यकता की जागृति में हेतु है और बल की आवश्यकता बल की प्राप्ति में समर्थ है। वर्तमान की आवश्यकता में ही भविष्य की उपलब्धि निहित है। अतः जीवन के भास में ही जीवन की आवश्यकता की जागृति और जीवन की आवश्यकता की जागृति में ही जीवन की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। प्राकृतिक नियम

के अनुसार प्राप्ति किसी अन्य की नहीं होती, प्रत्युत् उसी की होती है जो नित्य प्राप्त है।

कामना उसी की होती है जिसका भास हो, पर अस्तित्व नित्य न हो। और आवश्यकता उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, पर भास नहीं। यदि ऐसा न होता तो कामनाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति ही सिद्ध न होती। कामनायुक्त-अनित्य जीवन में कामना-पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द्व रहता है। परन्तु कामनाओं की निवृत्ति से जिस स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति होती है उस वास्तविक जीवन में पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द्व नहीं है, अर्थात् वह द्वन्द्वातीत, अनन्त, नित्य चिन्मय जीवन है। इस दृष्टि से श्रम का सम्बन्ध केवल उसी समय तक है जिस समय तक काम का नाश नहीं हुआ, अर्थात् जिसे काम में ही जीवन प्रतीत होता है वह श्रम को ही महत्व देता है। किन्तु श्रम के लिये भी विश्राम अपेक्षित है, क्योंकि प्रत्येक गति के लिए स्थिरता अनिवार्य है। कारण, कि स्थिरता के बिना गति हो ही नहीं सकती और वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए भी विश्राम पर आवश्यकता है। तात्पर्य यह है कि विश्राम की आवश्यकता सभी को सर्वत्र,सर्वदा है। जिसके बिना किसी समस्या का हल न हो सके, अथवा किसी प्रकार भी त्याग न किया जा सके उसके महत्व को भूल जाना और उसे न अपनाना- इससे बढ़कर प्राणी की और कोई असावधानी हो ही नहीं सकती। अतः काम के नाश तथा वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए चिर-विश्राम, जो स्वतः प्राप्त है, उसे अपना लेना अनिवार्य है। उसको अपनाये बिना किसी प्रकार का विकास सम्भव ही नहीं है।

यदि किसी कारण उसकी अप्राप्ति प्रतीत हो जो स्वाभाविक प्राप्त है, तो उसकी प्राप्ति के लिए उससे भिन्न जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास निज विवेक पूर्वक करना अनिवार्य है। विश्राम से भिन्न श्रम और नित्य जीवन से भिन्न अनित्य जीवन की जो प्रतीति है उसका विवेक दृष्टि से क्या स्वरूप है? अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-दृष्टि से जिन वस्तुओं में सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होती है, बुद्धि-दृष्टि से उन्हीं वस्तुओं में मलिनता और क्षणभंगुरता का दर्शन होता है और विवेक दृष्टि से किसी ने उन प्रतीत होने वाली वस्तुओं के अस्तित्व का ही दर्शन नहीं किया, क्योंकि विवेक दृष्टि जड़ता से विमुख कर चिन्मयता से अभिन्न कर देती है।

चिन्मय-साम्राज्य में किसी ने न तो काम को पाया और न श्रम को। अतः काम और श्रम का अस्तित्व उसी समय तक प्रतीत होता है जब तक प्राणी इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि से विजय नहीं होता, और बुद्धि-दृष्टि के परिणाम को अपनाकर उससे विवेक पूर्वक असंग नहीं हो जाता। इन्द्रिय-दृष्टि प्राणी के चित्त में वस्तुओं के राग को अंकित करती है और बुद्धि-दृष्टि उस अंकित राग का नाश करती है, जिसके होते ही भोग योग में बदल जाता है, अथवा यों कहो कि प्राणी संकल्प-पूर्ति की दासता से संकल्पनिवृत्ति की शान्ति में विश्राम पाता है। किन्तु विवेकदृष्टि प्राणी को संकल्पनिवृत्ति की शान्ति से भी असंग कर देती है, जिसके होते

ही सभी अवस्थाओं से अतीत चिन्मय साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है।

चिन्मय साम्राज्य में किसी प्रकार का वैषम्य तथा अभाव नहीं है। विषमता और अभाव के अन्त होने पर राग-द्वेष की निवृत्ति अपने आप हो जाती है, जिसके होते ही त्याग तथा प्रेम अपने आप आ जाता है। अथवा यों कहो कि स्वाधीनता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है, क्योंकि त्याग पराधीनता को खा लेता है। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति में अमरत्व और प्रेम की अभिव्यक्ति में अगाध-अनन्त रस निहित है।

संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति से अतीत के जीवन की सत्ता स्वीकार करने पर समस्त वस्तु, अवस्था आदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, क्योंकि संकल्प के द्वारा ही वस्तु, अवस्था आदि से सम्बन्ध दृढ़ होता है। अब यदि कोई यह कहे कि संकल्प से अतीत के जीवन की स्वीकृति सम्भव नहीं है। तो क्या संकल्प जिस परिस्थिति से सम्बन्ध दृढ़ करता है उसकी स्वीकृति सम्भव है? कदापि नहीं। कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति परिवर्तनशील तथा अभावरूप है। अभाव की सत्ता स्वीकार करना और जिस चिन्मय-जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं है उसकी सत्ता अस्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? वस्तु, अवस्था आदि से अतीत की सत्ता को स्वीकार न करना ही चित्त को अशुद्ध करना है। वस्तुओं की स्वीकृति भले ही चित्त में अंकित रहे, पर वस्तुओं की प्राप्ति तो सम्भव ही नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुओं की स्वीकृति कुछ अर्थ नहीं रखती। उस पर भी यदि किसी को वस्तुओं से अतीत के जीवन की स्वीकृति अभीष्ट नहीं है, अथवा उसकी स्वीकृति में असमर्थता है तो वस्तुओं की स्वीकृति भी नहीं करनी चाहिए। वस्तुओं की अस्वीकृति से वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। जिसकी प्राप्ति हो जाती है, उसकी स्वीकृति की अपेक्षा ही नहीं रहती और जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसकी स्वीकृति कुछ अर्थ नहीं रखती। वस्तुओं से अतीत के जीवन की स्वीकृति वस्तुओं की दासता से रहित करने में साधनरूप है और कुछ नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन असाधन का नाश कर साध्य से साधक को अभिन्न कर स्वयं मिट जाता है। जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है और परिणाम में आरोग्यता ही शेष रहती है, उसी प्रकार साधनरूप स्वीकृति असाधनरूप स्वीकृति को खाकर स्वयं मिट जाती है। और साध्य ही अपनी महिमा में आप स्थित हो ज्यों-का-त्यों अपने आपको प्रकाशित करता है, अर्थात् जो अपने आप में स्वतः सिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती।

इस दृष्टि से साधन के निर्माण में ही साध्य की उपलब्धि निहित है। और चित्त की शुद्धि से ही साधक में साधन की अभिव्यक्ति होती है। अतः सर्वात्मभाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर, राग-द्वेष से रहित होकर चित्त को शुद्ध करना अनिवार्य है। सर्वात्मभाव के बिना राग-द्वेष का अन्त सम्भव नहीं है। कारण, कि जो भिन्नता तथा भेद को स्वीकार कर लेता है, उसका चित्त राग-

द्वेष-रहित नहीं हो सकता, जिसके हुए बिना न तो स्वाधीनता की प्राप्ति हो सकती है और न प्रेम की अभिव्यक्ति।

सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब प्राणी प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग से ममतारहित होकर व्यक्तियों की सेवा कर, उनसे सुख की आशा से रहित हो जाय। कारण, कि सुख की आशा ने ही प्राणी को वस्तु-व्यक्ति आदि की दासता में आबद्ध कर दिया है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः चित्त की शुद्धि के लिए वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति के द्वारा सुख की आशा से रहित होना अनिवार्य है।

करने में सावधान और होने में प्रसन्न

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय!

जब प्राणी करने में सावधान और होने में प्रसन्न नहीं रहता, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में करने की रुचि विद्यमान है। उस रुचि की पूर्ति तथा निवृत्ति की सामर्थ्य भी प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राप्त के सदुपयोग में ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। परन्तु जब प्राणी असावधानी से प्राप्त का सदुपयोग नहीं करता, तब न तो करने की रुचि का नाश होता है और न उत्कृष्टता की ओर उसकी प्रगति ही होती है। करने की रुचि का नाश हुए बिना किसी को भी विश्राम नहीं मिलता, जिसके बिना आवश्यक विकास नहीं होता। इतना ही नहीं, करने की रुचि के कारण जो नहीं करना चाहिए वह करने लगता है, अर्थात् कर्त्तव्य के अभाव में ही अकर्त्तव्य का जन्म होता है, जिससे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है।

अब विचार यह करना है कि जो करने योग्य नहीं है, अर्थात् अकर्त्तव्य है, उसमें प्राणी की प्रवृत्ति ही क्यों होती है? जो कर्त्ता अपने लक्ष्य को जाने बिना कर्म में प्रवृत्त होता है, उसकी प्रवृत्ति सावधानी-पूर्वक नहीं होती, जिसके न होने से बेचारा कर्त्ता न तो कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित हो पाता है और-न फल की आशा से। कर्त्तृत्व के अभिमान के कारण प्राणी अपनी प्रवृत्ति में आप बंध जाता है। अर्थात् उसके चित्त में किए हुए कर्मों का संस्कार अंकित हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति के दो रूप होते हैं, एक तो वह जो दृश्य रूप से प्रतीत होता है और दूसरा वह जो अदृश्य रूप से उसके अहम्-भाव में अंकित हो जाता है। प्रवृत्ति का जो रूप दृश्य रूप से प्रतीत होता है, उसका सुख-दुःख प्रवृत्तिकाल में ही कर्त्ता को प्रत्यक्ष हो जाता है। परन्तु प्रवृत्ति का दूसरा रूप जो अदृश्य के रूप में उसके अहम्-भाव में अंकित हो जाता है, उसका फल प्राकृतिक विधान के अनुसार कालान्तर में किसी-न-किसी परिस्थिति के रूप में प्रकट होता है। जो प्राणी प्रवृत्ति के उस रूप पर दृष्टि नहीं रखते जो अदृश्य के रूप में अंकित होता है, वे भविष्य को उज्ज्वल बनाने में समर्थ नहीं होते। कारण, कि वर्तमान के सुख-दुःख पर ही उनकी दृष्टि रहती है, जो दूरदर्शिता नहीं है। दूरदर्शिता के बिना कोई भी अपने भविष्य को सुन्दर नहीं बना सकता। अतः प्रवृत्ति के बाह्य रूप पर ही दृष्टि नहीं रखना चाहिए, अपितु प्रवृत्ति के उस रूप पर भी पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए, जो कर्त्ता में अदृश्य रूप से अंकित होता है। कर्त्ता, कर्म और फल देखने में भले ही अलग-अलग मालूम होते हों, पर वास्तव में प्रत्येक

कर्म और फल कर्त्ता का ही रूपान्तर है। अतः जो कर्त्ता जैसा होता है, वैसा ही उसका कर्म होता है और जैसा कर्म होता है, वैसा उसका भविष्य होता है। सुन्दर कर्त्ता का कर्म और भविष्य सुन्दर होता है और असुन्दर कर्त्ता का कर्म और भविष्य असुन्दर होता है।

अब विचार यह करना है कि कर्त्ता असुन्दर क्यों होता है? जो कर्त्ता क्रियाजनित सुख में ही अपने को आबद्ध रखता है, वही असुन्दर हो जाता है, क्योंकि क्रियाजनित सुख प्राणी को जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध कर देता है। जड़ता और पराधीनता में आबद्ध होने पर कर्त्ता की प्रवृत्ति निरुद्देश्य होने लगता है। जिस प्रवृत्ति के मूल में वास्तविक उद्देश्य नहीं है, केवल प्रवृत्तिजनित सुख ही जिसका उद्देश्य है वह प्रवृत्ति कभी भी कर्त्तव्यरूप नहीं हो सकती।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य होना चाहिए, क्योंकि प्रवृत्ति ही जीवन नहीं है। यदि प्रवृत्ति ही जीवन होती, तो उसकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु कोई प्रवृत्ति ऐसी है ही नहीं, जो अपने आप निवृत्ति में विलीन न हो जाय। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति के द्वारा जो परिस्थिति उत्पन्न होती है वह अपने आप बदल जाती है, अर्थात् उसमें भी स्थिरता नहीं है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से परिवर्तनशील, अपूर्ण तथा अभावरूप ही है। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रवृत्तिमात्र में ही जीवन नहीं है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति का कोई उद्देश्य होना चाहिए, तभी प्रवृत्ति की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। जिसमें प्रवृत्ति की रुचि है, उसमें उद्देश्य का ज्ञान भी निहित है। यदि ऐसा न होता, तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न न होता, अथवा अपने प्रति होने वाले अकर्त्तव्य का ज्ञान ही व्यक्ति को न होता। पर ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जो अपने प्रति होने वाली बुराई को बुराई न जानता हो।

जिसे बुराई का ज्ञान है, उसके द्वारा बुराई क्यों होती है? इसका एक मात्र कारण यही है कि वह लक्ष्य का निर्णय बिना किए ही प्रवृत्ति का आरम्भ कर देता है। अतः कर्त्ता वही सुन्दर हो सकता है, जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति उद्देश्य पूर्ण हो।

प्राकृतिक नियम के अनुसार व्यक्ति का लक्ष्य वही हो सकता है, जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है और जिसमें किसी भी प्रकार से परिवर्तन सम्भव नहीं है। अर्थात् लक्ष्य सदैव नित्य होता है और परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, उसमें सतत् परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से कोई भी परिस्थिति किसी का भी लक्ष्य नहीं हो सकती। व्यक्ति इस बात को भले ही न जाने, अथवा न माने, पर यह ध्रुव सत्य है कि परिस्थिति लक्ष्य नहीं है। परिस्थिति लक्ष्य न होने पर भी प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप अवश्य है। इस नाते सभी परिस्थितियाँ आदरणीय हैं।

जो उद्देश्य नित्य है, उसका ज्ञान भी व्यक्ति में स्वतः सिद्ध है। पर प्रवृत्ति मात्र को ही उद्देश्य मान लेने से स्वतः-सिद्धि ज्ञान की विस्मृति हो जाती है। विस्मृति उसकी नहीं होती, जिसे प्राणी जानता नहीं। जाने हुए की विस्मृति को ही विस्मृति कहते हैं। उद्देश्य का ज्ञान तो है, पर उस पर दृष्टि नहीं है। जब प्रवृत्ति का परिणाम व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, तब उसमें उद्देश्य की जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है। यह नियम है कि जिसकी

विस्मृति हो गई हो, उसकी जिज्ञासा यदि जाग्रत हो जाए, तो उसका ज्ञान स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य को स्वतः जान सकता है।

जिसका जो लक्ष्य है, उसे वह सिखाया नहीं जा सकता, क्योंकि जो बात स्वयं जानने की है उसको सीखना-सिखाना उससे विमुख होना तथा करना है। हाँ, यह अवश्य है कि व्यक्ति अपने उद्देश्य को दूसरों के सामने प्रकट कर सकता है और यह भी सम्भव है कि लक्ष्य में भिन्नता न हो। पर भिन्नता न होने पर भी व्यक्ति जब तक अपने लक्ष्य को आप नहीं जानता है, तब तक वह उसके लिए अपना सर्वस्व निछावर नहीं कर सकता। जिसके लिए सर्वस्व निछावर नहीं किया जा सकता, वह वर्तमान की वस्तु नहीं हो सकती, और जो वर्तमान की वस्तु नहीं हो सकती और जिसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वह लक्ष्य नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने लक्ष्य को जानना अनिवार्य है।

ऐसा कौन व्यक्ति है, जो यह नहीं जानता कि मुझे उत्कृष्टता, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता, जीवन और प्रेम की आवश्यकता है। पर इस जाने हुए उद्देश्य पर दृष्टि नहीं रहती। उसका एकमात्र कारण यह है कि अपने उद्देश्य को व्यक्ति दूसरों के द्वारा सीखना चाहता है। जिसका उद्देश्य उत्कृष्टता की और गतिशील होना है, उसे स्वार्थ को सेवा में बदलना होगा, क्योंकि सेवा के बिना किसी को भी आदर,कीर्ति, यश तथा उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार का उद्देश्य प्राणी का तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह अपने को देह मानता है, अथवा यों कहो कि देह से भिन्न नहीं जानता। अपने को देह मानने में प्राप्त विवेक का विरोध है। अतः जिस निर्णय में विवेक का विरोध है वह निर्णय निर्विवाद नहीं हो सकता, अर्थात् नित्य नहीं हो सकता। परन्तु फिर भी उत्कृष्टता की ओर गतिशील होना अवनति नहीं है। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिस्थिति-जनित सत्यता और सुन्दरता उसी समय तक प्रतीत होती है, जिस समय तक वह प्राप्त न हो जाय, अथवा उसे विवेकपूर्वक जानने का प्रयास न किया जाय। परिस्थिति की प्राप्ति परिस्थिति से अरुचि उत्पन्न करने में स्वतः समर्थ है। परन्तु कब? जब दृष्टि सदैव उत्तरोत्तर उत्कृष्टता की ओर ही लगी रहे, अथवा यों कहो कि भौतिक विकास की पराकाष्ठा में वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जाग्रत होती है। इस दृष्टि से क्रमशः भौतिक विकास भी व्यक्ति को वास्तविक उद्देश्य की अग्रसर करता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आज जो वस्तुओं में ही जीवन-बुद्धि रखता है, वह कल वस्तुओं से अतीत जो जीवन है, उस पर विश्वास करने का, अथवा उसको प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। इस दूरदर्शिता की दृष्टि से समस्त व्यक्तियों का उद्देश्य एक हो सकता है। परन्तु जो व्यक्ति अदूरदर्शी है, वह कुछ काल के लिए उत्कृष्ट परिस्थितियों को ही जीवन मान लेता है। पर उसकी यह मान्यता स्थायी नहीं रह सकती, क्योंकि सारी सृष्टि का मूल आधार एक है। अतः समस्त प्राणियों का वास्तविक उद्देश्य भी एक ही है। उस उद्देश्य का वर्णन व्यक्तियों ने योग्यता और रुचिभेद से अनेक प्रकार से किया है। पर जिसका

वह वर्णन है, वह एक और अनन्त है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति उसको अपने-अपने दृष्टिकोण से देखता है, उसके सम्बन्ध में सोचता है और उसको प्राप्त करने के लिए परिस्थिति के अनुसार प्रयत्नशील रहता है। इतना ही नहीं,ज्यों-ज्यों वह उद्देश्य की ओर अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों उसका व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है और ज्यों-ज्यों व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों वह अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न होता जाता है। जिस काल में व्यक्ति अपने सीमित स्वभाव का अन्त कर देता है। उसी काल में वह वास्तविक लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है।

जब व्यक्ति अपने उस वास्तविक उद्देश्य पर विश्वास कर लेता है, जो समस्त कामनाओं के मूल में विद्यमान है, तब उसे प्रत्येक परिस्थिति समान प्रतीत होने लगती है, क्योंकि परिस्थिति का बाह्य रूप काम का ही परिणाम है और कुछ नहीं। यह रहस्य ज्यों-ज्यों स्पष्ट होता जाता है, त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः निवृत्त होती जाती हैं। जिस काल में समस्त कामनाएँ मिट जाती है, उस काल में प्राणी वास्तविक उद्देश्य के लिए आकुल तथा व्याकुल होने लगता है। यह नियम है कि व्याकुलता की जाग्रति प्राणी के उस अहम्भाव को खा लेती है, जिसमें काम का निवास था। काम का अन्त होते ही व्याकुलता प्रीति में बदल जाती है और निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति हो जाती हैं। समस्त कामनाओं की भूमि काम है। इस कारण कामनाओं की निवृत्ति होने पर भी काम निर्जीव दशा में रहता है, जिसे व्याकुलता की अग्नि भस्मीभूत कर देती है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ कामनाएँ ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति अनिवार्य है और कुछ ऐसी भी उत्पन्न होने लगती हैं जिनकी पूर्ति सम्भव ही नहीं है। जिन कामनाओं की पूर्ति के बिना विद्यमान राग की निवृत्ति नहीं हो सकती, उनकी पूर्ति के लिए परिस्थिति प्राकृतिक न्याय से स्वतः प्राप्त होती है। जिन कामनाओं की निवृत्ति अनिवार्य है उनके लिए उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राणी को विवेक प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राणी को एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवेकपूर्वक कामनाओं की निवृत्ति भी करना है और सेवाभाव अथवा कर्त्तव्य-बुद्धि से उन्हें पूरा भी करना है परन्तु कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति का ही साधन है, नवीन कामनाओं को जन्म देने के लिए नहीं।

जिस विवेक में कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य है, उसी विवेक से प्राणी को कामना-पूर्ति का विधान भी प्राप्त है। अर्थात् विधान-विरोधी प्रवृत्ति द्वारा किसी भी कामना को पूरा नहीं करना है, क्योंकि जो विधान का अनादर करता है, वह करने में सावधान नहीं रह सकता, वह कामनापूर्ति द्वारा कामना-निवृत्ति की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता।

जिस विधान से सारी सृष्टि अपने-अपने कार्य में नियुक्त है, उसी विधान से व्यक्ति को परिस्थिति मिली है और उसी विधान का प्रकाश विवेक है। इतना ही नहीं, समस्त सृष्टि में जो सामर्थ्य कार्य कर रही है, उसी से व्यक्ति को भी सामर्थ्य मिली है। और इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्ति में जो विवेक, सामर्थ्य और वस्तु है वह अनन्त की ही देन है। इस दृष्टि से प्राणी समस्त

सृष्टि से अभिन्न है। अतः जिस व्यक्ति को जो परिस्थिति प्राप्त है उसका हित उसी के सदुपयोग में निहित है। परन्तु व्यक्ति असावधानी के कारण प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो विवेक और सामर्थ्य उसे प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा परिस्थितियों से अतीत की ओर अग्रसर होने के लिए मिली थी, वह नष्ट हो जाती है और विवेक का अनादर हो जाता है। इतना ही नहीं, उत्कृष्ट परिस्थिति भी प्राप्त नहीं होती, अपितु प्राप्त परिस्थिति में भी अनेकों प्रतिकूलताएँ अपने आप आ जाती है, जिनसे भयभीत होकर प्राणी कर्त्तव्यच्युत हो जाता है जो विनाश का मूल है।

प्रत्येक व्यक्ति को सावधानीपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। वह तभी सम्भव होगा, जब वह जिस परिस्थिति में जो कर सकता है उसके अतिरिक्त कुछ भी करने की बात न सोचे और जो कर सकता है उससे अपने को न बचाए। प्रत्येक व्यक्ति पराये दुःख से करुणित हो सकता है, और प्राप्त सुख को वितरित कर सकता है और विवेक-पूर्वक दूसरों से सुख की आशा का त्याग कर सकता है। अतः सुख की आशा से रहित प्राप्त सुख का स्वाध्याय और पर-दुःख से दुखी होने पर ही व्यक्ति परिस्थिति का सुन्दरता-पूर्वक सदुपयोग कर सकता है।

जो व्यक्ति दूसरों से सुख की आशा करता हो और पराये दुःख से अपने को बचाता हो और प्राप्त सुख को दुखियों की धरोहर न मानता हो, वह कितना ही सामर्थ्यशाली क्यों न हो परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकता। जो परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकता वह परिस्थिति की दासता से मुक्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग करना है और प्राप्त परिस्थिति की दासता से भी रहित होना है। यह नियम है कि परिस्थितियों की दासता से रहित होने की सामर्थ्य उसी को प्राप्त होती है, जो प्राप्त परिस्थिति में ही अपना हित जानता है और उसका सदुपयोग आदरपूर्वक उद्देश्य पर दृष्टि रखते हुए विधिवत् कर्त्तव्य-बुद्धि से, अथवा सेवा-भाव से राग रहित होने के लिए करता है।

प्राप्त परिस्थिति में हित है, इस बात को वही जान सकता है, जो अनन्त के मंगलमय विधान पर विश्वास करता है। जिसे प्राकृतिक विधान में श्रद्धा नहीं रहती, वह प्राप्त परिस्थिति में अपने हित का अनुभव नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक परिस्थिति किसी विधान से निर्मित है, इस पर अविचल श्रद्धा तथा विकल्परहित विश्वास करना अनिवार्य है। परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग वही कर सकता है, जो परिस्थिति को भोग-सामग्री, अर्थात् अपना जीवन नहीं मानता, अपितु साधन-सामग्री जानता है। परिस्थिति के सदुपयोग-काल में अपने उद्देश्य पर दृष्टि वही रख सकता है, जो उद्देश्य की पूर्ति को वर्तमान की वस्तु मानता है उसके लिए भविष्य की आशा नहीं करता और न उससे निराश होता है, प्रत्युत् उद्देश्य-पूर्ति के लिए जिसमें नित नव उत्कण्ठा तथा उत्साह जाग्रत रहता है।

परिस्थिति का सदुपयोग विधिवत् वही कर सकता है, जो विवेक-विरोधी-चेष्टाओं को सहन ही नहीं कर सकता, अर्थात् जो किसी भी

भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर विवेक का अनादर करने के लिए बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को अपना लेता है और विवेक के अनादर से प्राप्त होने वाली सुख-सुविधाओं का हर्षपूर्वक त्याग कर देता है। कर्त्तव्य-बुद्धि से परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है, जो अपने को अधिकार-लोलुपता से रहित कर दूसरों के अधिकार की रक्षा में अपना अधिकार मानता है। अर्थात् जो अपने अधिकार का त्याग कर सकता है, वही कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। सेवाभाव से परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता, जो सुख-लोलुपता से रहित होकर पर-दुःख को अपना दुःख मान लेता है, अर्थात् जिसका हृदय करुणा से भरपूर रहता है। जो किसी भी दुःखी को अपना सुख देने में संकोच नहीं करता और दुखियों के दुःख को अपना लेने में जिसे अपने दुःख की निवृत्ति भासती है, अथवा जो सभी में अपने सेव्य का दर्शन कर सकता है। राग-रहित होने के लिए परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है, जिसकी दृष्टि परिस्थिति के परिवर्तन में लगी रहती है, जो समस्त परिस्थितियों को अपूर्ण तथा अभावरूप जानता है।

कोई भी व्यक्ति परिस्थितियों का सदुपयोग किए बिना परिस्थितियों के बन्धन से रहित नहीं हो सकता, क्योंकि विद्यमान राग की निवृत्ति परिस्थितियों के सदुपयोग में निहित है। और राग-रहित होने में ही योगी में योग, जिज्ञासु में तत्त्व-ज्ञान और प्रेमी में प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है। अथवा यों कहो कि समस्त विकास राग-रहित होने में ही निहित है, क्योंकि राग-रहित हुए बिना न तो चित्त का विरोध ही हो सकता है, न देहाभिमान ही गल सकता है और न समर्पित होने की सामर्थ्य ही आती है। अर्थात् राग-रहित हुए बिना प्रेमी प्रेमास्पद को रस प्रदान कर ही नहीं सकता। इस दृष्टि से प्राणी मात्र को राग-रहित होना अनिवार्य है और राग रहित होने के लिए उस मंगलमय विधान से मिली हुई परिस्थिति का सदुपयोग सावधानीपूर्वक करना है। अतः जो करने में सावधान नहीं रह सकता, वह भी वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता, इस दृष्टि से करने में सावधान रहना अनिवार्य है।

जो व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति में उस अनन्त का मंगलमय विधान स्वीकार कर लेता है, वह न तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है, न प्राप्त परिस्थिति से अरुचि करता है, न उसमें ममता रखता है और न परिस्थिति के विपरीत कुछ भी करने को सोचता है जो परिस्थिति प्राप्त है उसके अनुरूप जो कर सकता है, करता है जो नहीं कर सकता है, उसके लिए लेश-मात्र भी चिन्तित नहीं होता है। इस कारण उसके जीवन में असमर्थता तथा पराधीनता शेष नहीं रहती। वह जो कर सकता है, उसके करने में असावधानी नहीं करता। इस कारण उसके जीवन में अकर्मण्यता तथा आलस्य की उत्पत्ति ही नहीं होती। अकर्मण्यता तथा आलस्य का अन्त होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः विश्राम प्राप्त होता है, जो आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता के विकास में हेतु है। ज्यों-ज्यों प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का स्वाध्याय करता है, त्यों-त्यों वह उत्तरोत्तर अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। उसकी वह प्रगति उस समय तक

स्वतः होती है, जिस समय तक वह अपने अभीष्ट लक्ष्य से अभिन्न नहीं हो जाता।

विवेक विरोधी चेष्टाओं का अन्त किए बिना कोई भी व्यक्ति करने में सावधान नहीं रह सकता, क्योंकि विवेक का विरोध सहन करने पर अकर्त्तव्य में कर्त्तव्य-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। यदि ऐसा न होता तो प्राणी अपने विकास के लिए दूसरे का ह्रास, अपने आदर के लिए दूसरे का अनादर, अपने लाभ के लिए दूसरों की हानि और अपनी रक्षा के लिए दूसरों का विनाश कदापि नहीं करता, अर्थात् उसमें हिंसा आदि दोषों की उत्पत्ति ही न होती। अथवा यों कहो कि विवेक का विरोध सहन करने में ही दो व्यक्तियों, दो वर्गो, दो देशों, दो मतों तथा दो दलों में संघर्ष की उत्पत्ति होती है। समस्त संघर्षों का मूल एकमात्र निज विवेक का अनादर करना है और समस्त आसक्तियों की उत्पत्ति भी एकमात्र विवेक विरोधी चेष्टाओं में ही है। इस दृष्टि से करने में सावधान वही रह सकता है, जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेक के प्रकाश से प्रकाशित है। विवेक के प्रकाश से प्रकाशित प्रवृत्तियों में सर्वात्मभाव एवं सर्व-हितकारी सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है।

करने में सावधान रहने के लिए वास्तविक उद्देश्य का ज्ञान, प्राप्त परिस्थिति का आदर और उसका सदुपयोग तथा परिस्थिति के अनुरूप ही कर्त्तव्यनिष्ठा और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग तथा विवेक के प्रकाश से प्रकाशित प्रवृत्तियों का होना अनिवार्य है। जो व्यक्ति करने सावधान रहता है, उसका चित्त अशुद्ध नहीं होता, उसे जो कुछ हो रहा है उसमें अपने मंगल का ही दर्शन होता है, क्योंकि उसमें अनन्त का मंगलमय विधान ओत-प्रोत है।

यह नियम है कि मंगलमय विधान से जो कुछ होता है उसमें किसी का अहित नहीं होता। तो फिर जो हो रहा है उसमें प्रसन्न न होना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। प्रमादवश ही प्राणी घटनाओं के अर्थ को नहीं अपनाता, अपितु अपने को घटनाओं के चिन्तन में आबद्ध कर खिन्न होता रहता है, जो उसे, जो हो रहा है उसमें प्रसन्न नहीं होने देता। इतना ही नहीं, प्रतिकूलताओं का भय और अनुकूलताओं की दासता भी उसे, जो हो रहा है उसमें प्रसन्न नहीं होने देती, क्योंकि अनुकूलता का वियोग और प्रतिकूलता का आना उसे सहन नहीं होता, जिसका एकमात्र कारण मंगलमय विधान पर दृष्टि न रखना है।

यद्यपि समस्त घटनाओं का अर्थ एक है, क्योंकि ऐसी कोई घटना हो ही नहीं सकती, जो प्राणी को संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं देती, अथवा विरक्ति तथा उदारता का पाठ नहीं पढ़ाती। विरक्ति तथा उदारता को अपना लेने पर जो कुछ हो रहा है उसमें मंगल ही मंगल है, क्योंकि प्रतिकूलता के बिना विरक्ति और अनुकूलता के बिना उदारता सुरक्षित ही नहीं रह सकती। यदि प्राणी प्रतिकूलताओं से विरक्ति को सुदृढ़ और अनुकुलता से उदारता को सजीव बनाए रखे, तो अनुकूला और प्रतिकूलता दोनों ही उसके लिए सजीव बनाए रखे, तो अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही उसके लिए मंगलमय सिद्ध होती है,

क्योंकि विरक्ति से स्वाधीनता तथा उदारता से प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि प्राप्त वस्तुओं के परिवर्तन में, संयोग के वियोग में, सुख के अभाव में और दुःख के प्रादुर्भाव में भला व्यक्ति कैसे प्रसन्न रह सकता है? यदि संयोग का वियोग न होता, तो नित्य योग की प्राप्ति सम्भव ही न होती। इस दृष्टि से संयोग के वियोग में भी व्यक्ति का अपना मंगल ही है। यदि वस्तुओं में सतत् परिवर्तन न होता, तो प्राणी न तो वस्तुओं की दासता से मुक्त होता और न वस्तुओं से अतीत के जीवन में उसकी श्रद्धा ही होती, जिसके बिना हुए स्वाधीनता तथा चिन्मयता सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वस्तुओं की दासता जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध करती है। इस दृष्टि से वस्तुओं के परिवर्तन में भी प्राणी का मंगल ही है। यदि सुख अभावरूप न होता और दुःख अपने आप न आता, तो प्राणी के जीवन में न तो सुख की दासता से मुक्त होने का प्रश्न उत्पन्न होता और न वह दुःखहारी को पुकारता ही और न वास्तविक आनन्द की खोज ही करता। इस दृष्टि से सुख के अभाव और दुःख के प्रादुर्भाव में भी प्राणी का मंगल ही है। अतः प्रत्येक दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो कुछ हो रहा है, उसमें किसी का अमंगल नहीं है। तो फिर होने में प्रसन्न न रहना भूल के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है।

यद्यपि जो कुछ हो रहा है, उसमें प्राणी का मंगल ही है। परन्तु प्राणी अविवेक के कारण उसे देख नहीं पाता, उसका परिणाम यह होता है कि वह भोग में ही जीवन मान बैठता है। जीवन में भले ही भोग का कोई स्थान हो, पर भोग में जीवन नहीं ही है। इस रहस्य को जान लेने पर भोग से अरुचि स्वतः जाग्रत होती है, जो भोग-वासनाओं का अन्त करने में समर्थ है। उसका अन्त होते ही प्राणी का प्रवेश सहज योग में, अर्थात् नित्य योग में स्वतः हो जाता है, जो होने में प्रसन्न रहने की सामर्थ्य प्रदान करता है। जो होने में प्रसन्न नहीं रह सकता, वह क्षोभ तथा क्रोध से रहित नहीं हो सकता। जो क्रोध से रहित नहीं हो सकता उसे वास्तविक स्मृति प्राप्त नहीं हो सकती, अर्थात् उसे न तो कर्त्तव्य का ही ज्ञान हो सकता है और न अपने स्वरूप, अथवा अनन्त की स्मृति ही रह सकती है।

कर्त्तव्य की विस्मृति अकर्त्तव्य के रूप में, स्वरूप की विस्मृति देहाभिमान में और अनन्त की विस्मृति प्राणी को आसक्तियों में आबद्ध कर देती है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होता है। क्षोभरहित हुए बिना प्राणी न तो सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग ही कर पाता है और न उसे आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता ही प्राप्त होती है, क्योंकि क्षोभ शान्ति को भंग कर देता है। शान्ति के भंग होते ही प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होने लगता है और अप्राप्त सामर्थ्य का विकास नहीं होता। इस कारण क्षुभित होने में प्राणी का अहित ही है। अतः न तो क्षुभित होना है और न क्रोधित। पर यह तभी सम्भव होगा, जब प्राणी जो हो रहा है, उसमें प्रसन्न रहे।

अकर्त्तव्य में आबद्ध प्राणी न तो करने की रुचि का ही अन्त कर सकता है, न जीने की आशा तथा मृत्यु के भय का ही और न पाने के प्रलोभन से ही रहित हो सकता है। अर्थात् उसमें करने का राग ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है,

जिससे उसे यथेष्ट विश्राम प्राप्त नहीं होता और न वह वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की दासता से ही रहित होता है। इतना ही नहीं, बेचारा जड़ता में ही आबद्ध रहता है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता, चिन्मयता एवं चिर-विश्राम से वंचित्त रह जाता है। अकर्त्तव्य के कारण ही बेचारा प्राणी देह में अहम् बुद्धि स्वीकार करता है, जिससे जीने की आशा और मृत्यु के भय से आक्रान्त रहता है। जीने की आशा और मृत्यु का भय किसी-न-किसी अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति के प्रलोभन में आबद्ध रखता है। इस दृष्टि से स्पष्ट विदित होता है कि अकर्त्तव्य में आबद्ध प्राणी का विकास नहीं होता, अपितु ह्रास ही होता है, जिसका एकमात्र कारण कर्त्तव्य की विस्मृति ही है और कुछ नहीं।

देहाभिमान में आबद्ध प्राणी न तो मोह-रहित ही हो सकता है और न कामरहित। मोहरहित एवं कामरहित हुए बिना किसी को भी वास्तविक जीवन की प्राप्ति नहीं होती, जिसका एकमात्र कारण स्वरूप की विस्मृति ही है।

आसक्तियों में आबद्ध प्राणी में न तो अखण्ड स्मृति ही उदय होती है और न दिव्य चिन्मय प्रीति की ही अभिव्यक्ति होती है, जिसका एकमात्र कारण अनन्त की विस्मृति ही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो स्वतः हो रहा है, उसमें प्रसन्न रहने में ही सभी का हित निहित है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जो करने में सावधान है, वही होने में प्रसन्न रह सकता है, और जो होने में प्रसन्न रहता है, वही करने में सावधान हो सकता है। कारण, कि सावधानीपूर्वक की हुई प्रवृत्ति वही हो सकती है, जो निज विवेक के अनुरूप है। प्राणी को जिस विधान से विवेक मिला है, उसी विधान के अधीन समस्त सृष्टि में कार्य हो रहा है। अथवा यों कहो कि व्यष्टि और समष्टि का विधान एक है। इतना ही नहीं, समष्टि शक्तियाँ सर्वदा विधान के अधीन रहती है। यदि व्यक्ति विधान का अनादर न करे, तो प्रवृत्तियों में अकर्त्तव्य जैसी वस्तु की उत्पत्ति न हो, अर्थात् उसका जीवन कर्त्तव्य का प्रतीक बन जाय। यह नियम है कि कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही समष्टि शक्तियाँ स्वतः व्यक्ति के अनुकूल हो जाती है, जिससे उसका विकास अपने आप होने लगता है। इस दृष्टि से जो कर्त्तव्यनिष्ठ है, वही होने में प्रसन्न रह सकता है। यदि किसी को जो हो रहा है उसमें प्रसन्नता नहीं होती, तो समझना चाहिए कि उसके कर्त्तव्य में कोई दोष है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार समस्त सृष्टि व्यक्ति को सर्वदा सुन्दर बनाने के लिए स्वभाव से ही गतिशील रहती है, क्योंकि सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है, जिसमें अनन्त नित्य सौन्दर्य है। परन्तु जब व्यक्ति प्राप्त विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग नहीं करता, तब प्राकृतिक न्याय से उसके बल का ह्रास होने लगता है और विवेक आच्छादित हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी चिन्मयता से जड़ता, असीम से ससीम और स्वाधीनता से पराधीनता की ओर स्वतः जाने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि यह अपनी असावधानी का परिणाम है। इस दशा में प्राणी जो हो रहा है, उसमें प्रसन्न नहीं रह पाता।

बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में समस्त विकास निहित है। इस दृष्टि से अवनति का होना प्राणी की अपनी असावधानी है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को

सर्वथा उत्तरोत्तर उन्नति की ओर गतिशील होना है। किन्तु जब व्यक्ति मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग करने लगता है, तभी उसकी अवनति होती है। अथवा यों कहो कि जब व्यक्ति उस अनन्त उदारता का दुरुपयोग करता है, तभी उसका अहित होता है। व्यक्ति को सामर्थ्य के सदुपयोग तथा दुरुपयोग की, विवेक के आदर तथा अनादर की स्वाधीनता इसलिए नहीं मिली है कि वह अपने द्वारा ही अपना सर्वनाश कर डाले और उसका कारण यह मान बैठे कि प्राकृतिक विधान में कोई नियम नहीं है, चाहे जो कुछ, चाहे जब हो जाए।

पर बात ऐसी नहीं है। वृक्षों में भी जो गति हो रही है, वह भी एक नियम के अधीन ही है। जिन वृक्षों से दूसरे वृक्ष पोषित होते हैं, उनकी आयु और स्वाधीनता उन वृक्षों की अपेक्षा अधिक होती है, जिनसे दूसरे वृक्षों की क्षति होती है। जब वृक्ष में गति भी अवैधानिक नहीं है, तो फिर यह मान लेना कि जो कुछ हो रहा है, वह किसी विधान के अनुरूप नहीं है, क्या युक्ति-युक्त है? कदापि नहीं। जब व्यक्ति यह स्वीकार कर लेता है कि जो कुछ हो रहा है वह मंगलमय विधान से हो रहा है, तब प्रत्येक परिस्थिति में वह निश्चिन्त तथा निर्भय रहता है। निर्भय और निश्चिन्त प्राणी बल का सदुपयोग और विवेक का आदर स्वतः करने लगता है। करने में सावधान वही रहता है, जो होने में प्रसन्न है।

कर्त्तव्य-विज्ञान, और अध्यात्म-विज्ञान उसी विधान की अभिव्यक्ति है, जिसके अधीन समष्टि शक्तियाँ क्रियाशील हैं। व्यक्ति और समष्टि शक्तियों में अन्तर केवल इतना है कि व्यक्ति को जो स्वाधीनता है, वह समष्टि शक्तियों को नहीं है। कारण, कि व्यक्ति कर्त्तव्य-विज्ञान के विपरीत अकर्त्तव्य, योग विज्ञान के विपरीत भोग और अध्यात्म-विज्ञान के विपरीत भौतिक विकास में ही जीवन की पूर्णता मान बैठता है। यह मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग है, सदुपयोग नहीं। स्वाधीनता दुरुपयोग के लिए नहीं, अपितु सदुपयोग के लिए ही मिली थी।

यदि व्यक्ति उस मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करता, तो वह जड़ता, पराधीनता एवं शक्तिहीनता में आबद्ध न होता। स्वाधीनता जिस अनन्त की देन है, समष्टि शक्तियाँ उसी के अधीन क्रियाशील हैं। इसी कारण जो व्यक्ति मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है, उसके लिए परिस्थिति प्रतिकूल हो जाती है। परन्तु उस प्रतिकूलता में व्यक्ति का अहित नहीं है, अपितु उसके सुधार की ही एक व्यवस्था है। परन्तु भोगजनित सुखासक्ति के कारण प्राणी को प्राकृतिक व्यवस्था दुःखद प्रतीत होती है। अथवा यों कहो कि दुःख से भयभीत प्राणी प्राकृतिक विधान का आदर नहीं करता। यद्यपि दुःख विकास का मूल है। पर यह रहस्य वही जानता है जिसे प्राकृतिक विधान में अविरल श्रद्धा होती है और जो प्राप्त स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करता। स्वाधीनता के सदुपयोग में ही स्वाधीनता की सुरक्षा निहित है।

उस अनन्त का कैसा अद्‌भुत विधान है कि पराधीनता की वेदना में स्वाधीनता की साधना और स्वाधीनता की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। ऐसे अनुपम विधान से मिले हुए विवेक का आदर तथा

बल का सदुपयोग क्या प्राणी को नहीं करना चाहिए? अर्थात् अवश्य करना चाहिए।

समष्टि शक्तियों की क्रियाशीलता में कर्त्तृत्व का अभिमान नहीं है। यह नियम है कि जिसमें कर्त्तृत्व का अभिमान नहीं होता, उसके द्वारा होने वाली क्रियाएँ अहितकर नहीं होती। कत्तृत्व का अभिमान उसी में नहीं होता, जो अहम्भाव-शून्य है। अहम्भाव-शून्य वही होता है, जो काम रहित है और कामरहित वही है, जिसमें भेद तथा भिन्नता की गन्ध नहीं है। इस दृष्टि से समष्टि शक्तियों में किसी से भेद तथा भिन्नता नहीं है। इसी कारण उनके द्वारा जो कुछ हो रहा है, उससे किसी का अमंगल नहीं हो सकता।

अतः किसी भी व्यक्ति को समष्टि शक्तियों से भयभीत नहीं होना चाहिए, अपितु मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग द्वारा निर्भय हो जाना चाहिए। परन्तु विवेक के अनादर से प्राणी प्राप्त बल का दुरुपयोग करने लगता है, जो वास्तव में करने में सावधान न रहना है। कर्त्तव्यविज्ञान योगविज्ञान का साधन है, क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी ही रागरहित होकर भोग-वासनाओं का अन्त कर योग में प्रवेश करता है। योगविज्ञान अध्यात्मविज्ञान का साधन है, क्योंकि योग की पूर्णता में ही सामर्थ्य, स्वाधीनता तथा चिन्मयता निहित है। इस दृष्टि से व्यक्ति को जो विवेक प्राप्त है उसके द्वारा कर्त्तव्य-विज्ञान से योग-विज्ञान में और योग-विज्ञान से अध्यात्म-विज्ञान में प्रवेश करना अनिवार्य है। अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यपरायणता की पूर्णता में भोगवासनाओं का अन्त तथा वस्तुओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है।

यद्यपि समस्त प्राणियों का वास्तविक उद्देश्य एक है, परन्तु योग्यता तथा रुचि एवं परिस्थिति-भेद से प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक उद्देश्य तक पहुँचने के लिए अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कर्त्तव्य-पालन की पद्धति को स्वीकार करता है। पद्धति चाहे जो हो, पर उसमें अकर्त्तव्य की गन्ध न हो, तो प्रत्येक पद्धति के द्वारा व्यक्ति क्रमशः उत्तरोत्तर वास्तविक उद्देश्य तक पहुँचने के लिए समर्थ हो जाता है, क्योंकि साधन-पद्धतियाँ उस अनन्त की ही विभूति है।

अब अब विचार यह करना है कि व्यक्ति किस मान्यता को स्वीकार कर, किस स्तर से उद्देश्य-पूर्ति के लिए कर्त्तव्य में प्रवृत्त हो रहा है? कर्त्तव्य वही है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो और प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप हो। इस कारण कर्त्तव्यपालन में असमर्थता और असफलता की गन्ध भी नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति में क्रियाशक्ति, भाव-शक्ति और विवेकशक्ति तीनों ही किसी-न-किसी अंश में विद्यमान हैं। अथवा यों कहो कि इन तीनों में से किसी एक काल में किसी एक की प्रधानता और अन्य की गौणता रहती है। जिस व्यक्ति में क्रियाशीलता अधिक हो और भाव तथा विवेक की गौणता हो, वह भौतिक विकास में ही उत्कृष्टता मानता है और विवेकपूर्वक पवित्र भाव से वर्तमान कार्य को सुन्दर-से-सुन्दर करने का प्रयास करता है। ज्यों-ज्यों भाव की पवित्रता तथा कार्य कुशलता पूर्वक वर्त्तमान कार्य को सुन्दर करता जाता है, त्यों-त्यों स्वभाव से स्वार्थभाव गलता जाता है और करने के राग की भी निवृत्ति होती जाती है। ज्यों-ज्यों स्वार्थभाव गलता जाता है और क्रियाजन्य सुख

का राग मिटता जाता है, त्यों-त्यों क्रियाशक्ति भावशक्ति में विलीन होती जाती है। ज्यों-ज्यों क्रियाशक्ति भावशक्ति में विलीन होती जाती है, त्यों-त्यों विवेक का प्रकाश स्पष्ट होता जाता है, जिसके होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही क्रिया, भाव और विवेक में अभिन्नता हो जाती है।

जिस व्यक्ति में क्रियाशीलता की प्रधानता है, वह अपने को यदि सेवक मान लेता है और समस्त विश्व के साथ एकता स्वीकार कर लेता है, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक करने में सावधान हो सकता है। उसके द्वारा सेवा स्वतः होती है और उसका परिणाम सुन्दर समाज का निर्माण होता है। अथवा यों कहो कि वह करता है सेवा और होता है सुन्दर समाज का निर्माण, क्योंकि सेवा व्यक्ति और समाज के भेद का नाश कर देती है, जिसके होते ही व्यक्ति अपने में और विश्व में भेद नहीं कर पाता। अथवा यों कहो कि विश्वरूप हो जाता है, जिसके होते ही वह स्वतः उस अनन्त की, जिसके किसी अंश में समस्त सृष्टि है, प्रीति होकर उससे अभिमान हो जाता है।

जिस व्यक्ति में विवेक की प्रधानता है, वह स्वभाव से ही इन्द्रियों के ज्ञान पर सन्देह करता है। ज्यों-ज्यों सन्देह की वेदना सबल तथा स्थायी होती है, त्यों-त्यों इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हुई कामनाएँ स्वतः मिटती जाती है। जिस काल में सन्देह की वेदना असह्य हो जाती है, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति और समस्त, कामनाओं की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति में निस्सन्देहता, स्वाधीनता, अमरत्व और चिन्मयता स्वतः सिद्ध है। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति वस्तुओं की दासता से रहित कर देती है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान सदा के लिए गल जाता है, जिसके गलते ही भेद नष्ट हो जाता है। उसके द्वारा प्रत्येक प्रवृत्ति सर्वात्मभाव से, कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगती है। उसके चित्त में राग-द्वेष की गन्ध तक नहीं रहती, अथवा यों कहो कि असंगता और अभिन्नता उसका स्वभाव हो जाता है। विवेक के स्तर से व्यक्ति जो कुछ करता है, वह राग-निवृत्ति का साधन है और जो है, वह स्वरूप है। असंगता में स्वाधीनता और अभिन्नता में प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है।

भाव प्रधान व्यक्ति में सृष्टि के प्रकाशक के प्रति अविचल श्रद्धा तथा विश्वास स्वतः होता है। अथवा यों कहो कि वह उस पर विश्वास करता है, जो देश-काल की दूरी से रहित है, अर्थात् जो सर्वत्र-सर्वदा सर्वरूप से अपनी महिमा में आप स्थित है। भावप्रधान व्यक्ति उस अनन्त के विश्वास, सम्बन्ध तथा प्रीति को ही अपना अस्तित्व जानता है, क्योंकि विश्वास और विश्वासी में तथा प्रेम और प्रेमी में विभाजन सम्भव नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि व्यक्ति में तो अनेक विश्वास होते है; तो फिर विश्वासी और विश्वास में भेद क्यों नहीं हो सकता? जिसमें अनेक विश्वास होते हैं, जिसका अनेक से सम्बन्ध होता है, वह वास्तव में विश्वासी नहीं है। विश्वासी वही है, जिसमें दो विश्वास नहीं है। अथवा यों कहो कि विश्वास विकल्प-रहित तभी होता है, जब उस पर किया जाय जिसे जानते नहीं, पर फिर भी मानते हैं, अर्थात् विश्वासी जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-ज्ञान से नहीं जानते। उसके द्वारा जो जो कुछ होता है, वह पूजा है और कुछ नहीं, क्योंकि जब उसका अस्तित्व प्रेमास्पद के प्रेम से भिन्न

कुछ है ही नहीं, तब उसके द्वारा प्रेमास्पद की पूजा के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? इतना ही नहीं, प्रीति निर्मित दृष्टि से किसी ने प्रीतम से भिन्न को देखा ही नहीं। अतः वह जो कुछ करता है, वह पूजा है और जो कुछ हो रहा है वह उसके प्रेमास्पद की लीला है।

क्रिया-प्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ सेवा, विवेकप्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ राग-रहित होने का साधन और भाव-प्रधान व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा होती है। कर्त्तव्य का आरम्भ चाहे, जिस मान्यता तथा स्तर से क्यों न हो, पर अन्त में सभी की एकता अपने आप हो जाती है। कारण, कि क्रिया, भाव तथा विवेक तीनों ही शक्तियाँ किसी एक में ही हैं, अथवा यों कहो कि इन तीनों के सदुपयोग से जिस उद्देश्य की पूर्ति होती है वह भी एक ही है। इतना ही नहीं, उस अनन्त की सामर्थ्य ही व्यक्ति में क्रियारूप से, उस अनन्त का प्रेम ही व्यक्ति में भावरूप से और उस अनन्त का नित्यज्ञान ही व्यक्ति में विवेक रूप से भासित होता है। इस दृष्टि से समस्त साधन-पद्धतियाँ उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति हैं।

अतः साधन का आरम्भ किसी भी पद्धति से क्यों न हो, परिणाम में भेद नहीं है। यदि किसी को भेद की प्रतीति होती है, तो उसे समझना चाहिए कि उसके करने में कोई असावधानी है। प्रत्येक कर्त्तव्य की पूर्णता में दूसरे कर्त्तव्य की उत्पत्ति स्वतः सिद्ध है। इस क्रम से प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता, रुचि व सामर्थ्य के अनुरूप कर्त्तव्य-पालन द्वारा चित्त शुद्ध कर सकता है।

चित्त की शुद्धि में ही समस्त विकास निहित है। कारण, कि चित्त शुद्ध हुए बिना असमर्थता का नाश नहीं होता और न अभाव का ही अभाव होता है और न अगाध, अनन्त रस की ही उपलब्धि होती है। इतना ही नहीं, चित्त की शुद्धि में ही उत्कृष्ट परिस्थिति एवं आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति भी निहित है, क्योंकि चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी वस्तुओं के अभाव में आबद्ध हो जाता है, जिससे उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता रहता है। करुणा, उदारता, आत्मीयता में ही समस्त विकास निहित है। करुणा की अभिव्यक्ति उन्हीं प्राणियों में होती है, जो पराये दुःख को अपने दुःख से भी अधिक महत्व देते हैं, अर्थात् जो दुःखियों को देखकर अपना दुःख भूल जाते हैं।

यह नियम है कि ज्यों-ज्यों प्राणी अपने दुःख को भूलता जाता है और दूसरों के दुःख को अपनाता जाता है, त्यों-त्यों उसका चित्त उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाता है और ज्यों-ज्यों चित्त शुद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों करुणा की अभिव्यक्ति होती जाती है। ज्यों-ज्यों करुणा की अभिव्यक्ति होती जाती है, त्यों-त्यों प्राकृतिक विधान के अनुसार सेवा-सामग्री स्वतः प्राप्त होती जाती है। करुण प्राणी ज्यों-ज्यों प्राप्त सेवा-सामग्री का सदुपयोग करता जाता है, त्यों-त्यों सेवा-सामग्री की स्वतः वृद्धि होती जाती है, अर्थात् वस्तुओं का अभाव शेष नहीं रहता और न करुण प्राणी में वस्तुओं की दासता ही शेष रहती है और न जिसकी सेवा करता है, उनके मोह में ही आबद्ध होता है, अपितु उसमें उत्तरोत्तर निर्मोहता तथा स्नेह की एकता का प्रादुभार्व होता जाता है। निर्मोहता से अविवेक का अन्त हो जाता है और स्नेह की एकता पारस्परिक संघर्षों को खा लेती है। इस दृष्टि से व्यक्ति का

कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण भी चित्त की शुद्धि में ही निहित है।

चित्त की शुद्धि के बिना उदारता की अभिव्यक्ति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उदारता उन्हीं प्राणियों को प्राप्त होती है, जो पतित-से-पतित प्राणी को भी अपनाने में हिचकते नहीं है, अर्थात् प्रीति ही जिनका स्वभाव बन गया है। घृणा तथा तिरस्कार की जिनके चित्त में गन्ध भी नहीं है, जो सभी रूपों में अपने प्रीतम का ही दर्शन करते हैं, अथवा यों कहो कि जिन्होंने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया है। जब प्राणी प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता, तब अनेक विश्वास एक विश्वास में और अनेक चिन्तन एक चिन्तन में स्वतः विलीन हो जाते है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है और उसी काल में उदारता की अभिव्यक्ति हो जाती है। उदारता की अभिव्यक्ति भेद तथा भिन्नता की नाशक है। जब तक चित्त सर्वांश में शुद्ध नहीं होता, तब तक उदारता साधनरूप है और जब चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है, तब उदारता प्राणी का स्वरूप हो जाती है, जिसके होते ही सभी के प्रति आत्मीयता का भाव स्वतः जाग्रत होता है। आत्मीयता से भी भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। भेद का नाश पराधीनता तथा संग्रह की भावना को खा लेता है और भिन्नता मिटते ही प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है।

इस दृष्टि से करुणा, उदारता तथा आत्मीयता की अभिव्यक्ति चित्त की शुद्धि में ही निहित है। करुणा की अभिव्यक्ति के बिना असर्मथता का अन्त नहीं होता, क्योंकि करुणा से ही प्राप्त सामर्थ्य का स्वाध्याय और प्राप्त सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। जिन प्राणियों में करुणा उदित नहीं होती, वे प्राप्त सामर्थ्य के स्वाध्याय की तो कौन कहे, दुर्व्यय कर बैठते हैं, जिससे समष्टि शक्तियों के द्वारा उनकी विरोधी शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है, जिसके होते ही वे प्राणी भयभीत हो जाते हैं। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों प्राणी भयभीत होता जाता है, त्यों-त्यों संग्रही होता जाता है। ज्यों-ज्यों संग्रही होता जाता है, त्यों-त्यों जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध होता जाता है और ज्यों-ज्यों जड़ता आदि में आबद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों असमर्थ होता जाता है। अर्थात् जो करना चाहिए उसे कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए उसे करने लगता है, जिससे उसका और दूसरों का ह्रास ही होता है। इस दृष्टि से असमर्थता का अन्त करने के लिए चित्त-शुद्धि अनिवार्य है।

उदारता की अभिव्यक्ति में ही अभाव का अभाव निहित है क्योंकि उदारता के बिना न तो सर्वात्मभाव की ही उत्पत्ति होती है, न स्नेह की ही एकता उदित होती है और न प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का स्वाध्याय ही हो पाता है। उदारचरित्र प्राणी की सेवा के लिए प्राकृतिक विधान लालायित रहता है। इस कारण आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। इच्छाओं की निवृत्ति से नित्य-योग, चिर-शान्ति, सामर्थ्य और स्वाधीनता, तथा आवश्यकता की पूर्ति से दिव्यचिन्मय प्रीति की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, क्योंकि प्रीति ही प्राणी की वास्तविक आवश्यकता है और उसकी प्राप्ति में ही अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि निहित है।

इस दृष्टि से समस्त विकास का मूल चित्त की शुद्धि ही है।

करुणा भौतिक विकास का मूल है और उदारता तथा आत्मीयता में ही स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति है, अथवा यों कहो कि करुणा सामर्थ्य की, उदारता स्वाधीनता की और आत्मीयता प्रेम की प्रतीक है। सामर्थ्य, स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

ज्यों-ज्यों प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ, अर्थात् करने में सावधान होता जाता है, त्यों-त्यों उसके चित्त की अशुद्धि स्वतः मिटती जाती है। ज्यों-ज्यों उसके चित्त की अशुद्धि मिटती जाती है, त्यों-त्यों चित्त उसके अधीन होता जाता है। यदि चित्त अपने अधीन न प्रतीत हो, तो समझना चाहिए कि कर्त्तव्यपालन में कोई दोष है। कारण कि कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग का अन्त कर देती है, जिसके होते ही चित्त स्वाधीन हो जाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में चित्त का निरोध अपने आप होने लगता है। चित्त के निरोध में ज्यों-ज्यों गाढ़ता होती जाती है, त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वतः होता जाता है।

आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव जड़ता को चिन्मयता में, पराधीनता को स्वाधीनता में और मृत्यु को अमरत्व में विलीन कर देता है, जिसके होते ही चित्त से असंगता स्वतः प्राप्त होती है, जिससे अध्यात्म-जीवन से अभिन्नता हो जाती है। अर्थात् वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत का जो जीवन है, उससे एकता हो जाती है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता प्राप्त होती है।

स्वाधीनता में ही सन्तुष्ट न होने पर अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही चित्त जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती अथवा यों कहो कि चित्त का निरोध, चित्त से असंगता और चित्त का अभाव हो जाने में ही चित्त-शुद्धि की परावधि है। यह नियम है कि जब तक चित्त सर्वांश में शुद्ध नहीं होता, तभी तक वह अपने अधीन नहीं होता, न उससे सम्बन्ध ही विच्छेद होता है और न उसका अभाव, अर्थात् चित्त चिन्मय नहीं हो पाता है।

सावधानीपूर्वक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही प्राणी में चित्त के निरोध की सामर्थ्य आती है। चित्त के निरोध से ही चित्त से सम्बन्ध-विच्छेद और सम्बन्ध से ही चित्त का अभाव हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही जानते हैं, जो करने में सावधान और होने में प्रसन्न हैं।

चित्त-शुद्धि वर्तमान की वस्तु है। जो भविष्य पर नहीं छोड़ना चाहिए और न उससे कभी निराश होना चाहिए, प्रत्युत् चित्त-शुद्धि के लिए नित-नव आशा तथा उत्कण्ठा जाग्रत रहनी चाहिए। तभी चित्त शुद्ध हो सकता है और चित्त-शुद्ध होने पर समस्त समस्याएँ हल हो सकती हैं। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि अनिवार्य है।

चित्त स्वरूप से अशुद्ध नहीं है। कारण, कि चित्त स्वयं कर्त्ता नहीं है। वह तो अलौकिक शक्ति है, अथवा यों कहो कि भौतिक विकास की पराकाष्ठा है। चित्त इतनी गहरी खाई है कि जिसकी थाह उस समय तक लग नहीं सकती, जिस समय तक उसमें से उस अशुद्धि का अन्त न कर दिया, जो प्राणी ने अपने प्रमाद से उसमें अंकित कर दी है।

विवेक का अनादर, सामर्थ्य का दुरुपयोग,परिस्थिति में जीवन-बुद्धि आदि कारणों से प्राणी चित्त को अशुद्ध करता है। विवेक का अनादर, सामर्थ्य का दुरुपयोग और परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्राकृतिक दोष नहीं है। जाने हुए को न मानना उसी का दोष है, जो नहीं मानता है। जाने हुए के विपरीत सामर्थ्य का व्यय भी उसी का दोष है, जो कर्त्ता है। सतत् परिवर्तनशील परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना भी उसी का दोष है, जिसने स्वीकार किया है। वह कौन सा देवता है जो ज्ञान का आदर, सामर्थ्य का स्वाध्याय तथा परिस्थितियों से विमुखता स्वीकार नहीं करने देता? उस देवता ने ही चित्त को अशुद्ध किया है। जब प्राणी उसकी खोज करने लगता है, तो वह देवता उसके प्रमाद से भिन्न नहीं है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि प्राणी की अपनी भूल है। भूल को भूल जान लेने पर वह स्वतः मिट जाती है। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि में प्राणी सर्वदा स्वाधीन है।

यदि प्राणी चित्त-शुद्धि में स्वाधीन न होता, तो उसका प्रश्न ही उत्पन्न न होता। प्राकृतिक नियम के अनुसार वही समस्या उत्पन्न होती है, जिसका हल अनिवार्य है। परन्तु प्राणी जब असावधानी से उत्पन्न हुई समस्याओं से भयभीत हो जाता है, तब समस्या हल करने की सामर्थ्य होते हुए भी समस्या हल नहीं कर पाता। चित्त की अशुद्धि चाहे जितनी पुरानी क्यों न हो, पर वर्तमान में मिट सकती है। जिस प्रकार अनन्त काल के अन्धकार को वर्तमान का प्रकाश खा लेता है, उसी प्रकार दीर्घ काल की अशुद्धि वर्तमान में मिट सकती है। परन्तु कब? जब प्राणी को असह्य हो जाय। अशुद्धि उन्हीं व्यक्तियों को असह्य होती है, जो शुद्धि को वर्तमान की वस्तु मानते हैं। अशुद्धि का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उसी में शुद्धि का उपाय विद्यमान है। इस दृष्टि से जिसे चित्त में अशुद्धि भासती है, उसमें शुद्धि की सामर्थ्य विद्यमान है। अतः विद्यमान सामर्थ्य के सदुपयोग द्वारा प्राणी का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिसको है, क्या वह स्वयं चित्त है, अथवा चित्त से अतीत? यदि वह अपने को चित्त से अलग जानता है, तो उसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान ही कैसे हुआ? यदि चित्त से अलग नहीं मानता, तो उसने अपनी अशुद्धि का चित्त में आरोप क्यों किया? प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे किसी-न-किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता न हो, उसे उसका न तो भास ही हो सकता है और न उससे सम्बन्ध ही हो सकता है। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान है, अथवा जिसे चित्त का भास होता है, अथवा जो चित्त से सम्बन्ध स्वीकार करता है, वह भी उसी धातु से निर्मित है, जिससे चित्त। परन्तु एक धातु से निर्मित होने पर भी गुणों की भिन्नता है। गुणों की भिन्नता के कारण ही उसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान,चित्त से सम्बन्ध और चित्त की प्रतीति होती है। जिसे चित्त शुद्ध करना है, उसे चित्त से स्वरूप की एकता और गुणों की भिन्नता स्वीकार करना अनिवार्य है।

जब उसमें चित्त के अशुद्ध होने की वेदना जाग्रत हो जाती है, तब वह चित्त की अशुद्धि से होने वाले सुख का त्याग करने में समर्थ होता है। ज्यों-ज्यों वह उस सुख का त्याग करता जाता है, त्यों-त्यों चित्त स्वतः शुद्ध होता जाता है। प्राणी

जिस काल में अशुद्धि जनित सुख का सर्वांश में त्याग कर देता है, उसी काल में चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही चित्त की अशुद्धि का ज्ञान और शुद्धि का उपाय तथा चित्त की शुद्धि-इन तीनों में अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम्-भाव सदा के लिए गल जाता है और फिर भेद तथा भिन्नता जैसी कोई वस्तु ही शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से अहम्-भाव की भूमि में ही समस्त अशुद्धि अंकित है, जिसकी निवृत्ति तभी सम्भव है, जब व्यक्ति सावधानीपूर्वक जो कर सकता है, उसे कर डाले और जो नहीं कर सकता है उसके लिए लेशमात्र भी चिन्ता न करे। अर्थात् निश्चिन्त हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। अथवा यों कहो कि जो कर सकता है उसे कर डालने पर, कर्त्तृत्व का अभिमान शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, जिसके न होने से अकर्त्तव्य की गन्ध तक नहीं रहती और कर्त्तव्यपरायणता स्वाभाविक हो जाती है, जिसके होते ही जो कुछ हो रहा है, उसमें अनन्त का मंगलमय विधान ही प्रतीत होता है।

अब विचार यह करना है कि चित्त की अशुद्धि से होने वाला सुख क्या है? पराधीनता में स्वाधीनता के समान सुखी होना तथा जड़ता में चिन्मयता, अभाव में भाव और मृत्यु में जीवन को स्वीकार करना ही अशुद्धिजनित सुख है। अशुद्धि-जनित सुखलोलुपता की भूमि कामना-अपूर्ति के दुःख से भयभीत होना और कामनापूर्ति के सुख में आबद्ध होना ही है। जब प्राणी कामनापूर्ति के सुख की दासता में जड़ता, अभाव, पराधीनता एवं मृत्यु का अनुभव कर लेता है, तब वह अशुद्धि-जनित सुखलोलुपता का त्याग करने में समर्थ होता है, अर्थात् वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता से रहित हो जाता है। जिसके होते ही करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहने की सामर्थ्य आ जाती है, जो चित्त को शुद्ध करने में समर्थ है।

२५-०६-१९५६

जीवन दर्शन

अचाह पद

सभी साधनों का पर्यवसान अचाह पद में है; कारण, कि अचाह होने पर ही अप्रयत्न और अप्रयत्न होने पर ही साध्य से अभिन्नता प्राप्त होती है, जो जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

अब विचार यह करना है कि चाह की उत्पत्ति का हेतु क्या है? रुचि और अरुचिरूपी भूमि में में चाहरूपी दूर्वा उत्पन्न होती है। यदि रुचि-अरुचि का समूह न रहे, तो चाह की उत्पत्ति के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता जाता; कारण, कि रुचि-अरुचि के आधार पर ही सीमित अहंभाव सुरक्षित रहता है। उसी से चाह की उत्पत्ति होती है। अतः सीमित अहंभाव के रहते हुए अचाह पद की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

सीमित अहंभाव का अन्त कैसे हो? इसके लिए रुचि-अरुचि के स्वरूप को जानना होगा। रुचि और अरुचि का सम्बन्ध 'स्व' और 'पर' से हैं। 'स्व' की विमुखता 'पर' की रुचि पर जाग्रत करती है और 'पर' की अरुचि 'स्व' की रुचि को सबल बनाती ह। 'पर' की अरुचि निषेधात्मकरूप से 'स्व' में प्रतिष्ठित करती है और 'स्व' की रुचि विध्यात्मक रूप से 'पर' में अरुचि उत्पन्न करने में समर्थ है।

अरुचि का अर्थ द्वेष नहीं है और रुचि का अर्थ राग नहीं है। 'पर' की अरुचि संयोग को संयोग-काल में ही वियोग में बदलती है और 'स्व' की रुचि वर्तमान में ही नित्योग प्रदान करती है। अतः वियोग अथवा नित्य-योग रुचि-अरुचि के समूह को मिटाने में समर्थ है।

रुचि-अरुचि के मिटते ही अचाह पद स्वतः प्राप्त हो जाता है। हमसे बड़ी भूल यही होती है कि जो वास्तव में अपना है, उसमें अरुचि और जिससे केवल मानी हुई एकता है, उसमें रुचि उत्पन्न कर लेते हैं। फिर चाह के जाल में फँसकर जो करना चाहिए, वह नहीं कर पाते; अपितु जो नहीं करना चाहिए, उसको करने लगते हैं। उसके करने से ही हम कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं।

कर्त्तव्य से च्यतु होते ही राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं। राग-द्वेष उत्पन्न होने से जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे विमुखता और जिससे केवल मानी हुई एकता है, उसमें आसक्ति हो जाती है, जो चाह को सजीव बनाने में हेतु है।

अब विचार यह करना है कि हम किसे अपना कह सकते हैं? अपना उसी को कह सकते हैं, जिससे देश-काल की दूरी न हो, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त न हो और जो अपने को अपने-आप प्रकाशित करने में समर्थ हो; क्योंकि अपने से अपना वियोग सम्भव नहीं है और जो अपना नहीं है, उससे वियोग होना अनिवार्य है।

इस दृष्टिकोण से बाह्य वस्तु की तो कौन कहे, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन आदि को भी अपना नहीं कह सकते; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसे हम अपना नहीं कह सकते, वह हमारी सेवा का पात्र नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि उससे प्रेम नहीं किया जा सकता।

'सेवा' माने हुए सम्बन्ध को तोड़ने में और 'प्रेम' जिससे जातीय एकता है, उससे अभिन्न करने

में समर्थ है। इस दृष्टि से शरीर आदि सभी की सेवा की जा सकती है; पर उनसे न तो ममता की जा सकती है और न प्रेम ही। प्रेम उसी से किया जा सकता है, जो उत्पत्ति-विनाशरहित है।

प्रेम करने के लिए हमें अपने-आपका समर्पण करना पड़ता है और सेवा करने के लिए सग्रंह की हुई वस्तु एवं योग्यता आदि को देना पड़ता है। प्रेम हमें अंतर्मुख जीवन से अभिन्न करता है और सेवा क्रिया-शीलता प्रदान करती है।

जिस प्रकार अचल हिमालय से अनेक नदियाँ निकलती हैं और भूमि को हरा-भरा बनाने में समर्थ होती हैं, उसी प्रकार अन्तर्मुख प्रेमयुक्त जीवन से सेवारूपी अनेक नदियाँ निकलती हैं, जो विश्व को हरा-भरा बनाने में समर्थ होती है। अथवा यौं कहे कि प्रेम से अपना कल्याण और सेवा से सुन्दर समाज का निर्माण होता है।

सेवा-भाव से उत्पन्न हुई क्रियाशीलता प्रेम को पुष्ट करती है और प्रेम सेवा को सजीव बनाता है। सेवा तथा प्रेमयुक्त जीवन से ही रुचि-अरुचि का अन्त होता है। रुचि-अरुचि का अन्त होते ही अहंभाव गल जाता है। अहंभाव के गलते ही सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। फिर लक्ष्य से अभिन्नता स्वतः प्राप्त हो जाती है, जो निःसन्देहता और प्रेम की प्राप्ति में समर्थ है। यही जीवन का लक्ष्य है।

विवेक एवं अविवेयुक्त विश्वास

विश्वास दो भागों में विभाजित हो सकताहै-विवेकसिद्ध और अविवेकसिद्ध। अविवेकसिद्ध विश्वास साधनरूप नहीं है; पर विवेकसिद्ध विश्वास साधनरूप है। अपने को देह मान लेना अविवेकसिद्ध विश्वास है और अपने में से देहभाव का त्याग करना विवेकसिद्ध विश्वास है।

अविवेकसिद्ध विश्वास काम और मोह उत्पन्न करता है, जिससे प्रवृत्ति और आसक्ति ही सिद्ध होती है। आसक्ति से परतन्तत्रता और प्रवृत्ति से शक्तिहीनता प्राप्त होती है, जो अपने को अभीष्ट नहीं है। परतन्त्रता और शक्तिहीनता की व्यथा विवेकयुक्त विश्वास को जन्म देती है।

अपने को देह स्वीकार न करना विवेकसिद्ध विश्वास है। इस विश्वास में यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि देह और देह का अभिमानी क्या है? यह प्रश्न ज्यों-त्यों सबल तथा स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों सन्देह की वेदना तीव्र होती जाती है, जो भोगइच्छाओं को खाकर जिज्ञासा जाग्रत कर देती है।

भोगेच्छाओं के मिटते ही प्रवृत्ति सहज निवृत्ति में और आसक्ति अनासक्ति में परिवर्तित हो जाती है। फिर जिज्ञासा-पूर्ति का प्रश्न वर्तमान की समस्या बन जाता है।

सहज निवृत्ति भोग को योग में, आसक्ति को अनासक्ति में और राग को अनुराग में परिवर्तित करती है। ज्यों-ज्यों योग दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य स्वतः आती जाती है; क्योंकि योग जड़ता से असंगकरने में समर्थ है।

जड़ता से असंगहोते ही चिन्मय जीवन में प्रवेश हो जाता है; फिर जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति होते ही जीवन अनुराग

से युक्त हो जाता है। इस दृष्टि से योग अविवेकसिद्ध विश्वास को खाकर जीवन की सभी समस्याओं को हल करने में समर्थ है।

भोग-इच्छाओं की निवृत्

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन की अस्वाभाविक इच्छाओं का कुछ भाग अनेक बार पूरा हो चुका है, फिर भी उन इच्छाओं की पूर्ति का राग निवृत्त नहीं होता; क्योंकि उनकी पूर्ति के सुख की स्मृति विद्यमान है। इसलिए स्वाभाविक लालसा की पूर्ति नहीं होती और निर्विवकल्पता नहीं आती।

इच्छाओं की निवृत्ति तथा स्वाभाविक लालसा की पूर्ति न होने का एक कारण यह भी मालूम हेताहै कि हम जब इच्छा की पूर्ति करने चलते हैं, तब उसका भोक्ता अपने को मान लेते हैं। भोग की इच्छा में भोक्ता निवास करता हुआ मालूम होता है, पर वास्तव में भोग की इच्छाएँ ही भोक्ता में निवास करती हैं।

जिस प्रकार सभी बीज भूमि में ही निवास करते हैं, उसी प्रकार सभी इच्छाएँ भोक्ता में निवास करती हैं। जिस प्रकार भूमि का नाश होने पर सभी बीजों का नाश हो जाता है, उसी प्रकार भोक्ता का नाश होने पर सभी इच्छाओं का नाश स्वतः हो जाता है।

भोक्ता की रुचि से ही भोगेच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, भोक्ता के आश्रय से ही पुष्ट होती हैं और भोक्ता ही में इच्छापूर्ति का सुख अंकित होता है, जो पुनः इच्छाओं की उत्पत्ति का हेतु बन जाता है। भोगेच्छाओं का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि यह भाव अस्वीकार कर दिया जाए कि 'मैं भोक्ता हूँ'।

अब यह विचार करना है कि हम अपने को भोक्ता न मानें, तो क्या मानें? तो कहना होगा कि हम अपने को साधक मानें। यदि हम अपने को साधक स्वीकार करें, तो यह प्रश्न स्वतः ही उत्पन्न होता है कि हमारा साधन क्या है और हमारा साध्य क्या है; कार कि साधक उसे ही कह सकते हैं, जिसका कोई साध्य हो और जिसमें कोई साधन हो।

यह नियम है कि साधक, साधन और साध्य में जातीय तथा स्वरूप की एकता और गुणों की भिन्नता होती है, इसी कारण साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से समस्त जीवन साधन होने पर ही सिद्धि सम्भव है।

अपने को साधक स्वीकार कर लेने पर समस्त जीवन साधक बन सकता है; क्योंकि स्वीकृति का विकसित रूप ही जीवन है। असफलता का कारण एकमात्र यही है कि हम साधन को जीवन का एक अंगमानते हैं। इस प्रमाद के मिटते ही साधक साधन से अभिन्न होकर साध्य में विलीन हो जाता है।

यह प्राकृतिक नियम है कि जिस मान्यता से जो इच्छा उत्पन्न होती है, उसकी पूर्ति होने पर उसी मान्यता की सिद्धि होती है, जिस मान्यता से इच्छा उत्पन्न हुई थी। साधन रूप मान्यता के बिना

कभी भी अहंता साध्य में विलीन नहीं हो सकती। इस दृष्टि से साधन रूप मान्यता से भिन्न जो मान्यताएँ हैं, वे सब त्याज्य हैं।

भोगेच्छाओं की निवृत्ति न होने का एकमात्र कारण यही है कि हम अपने को भोक्ता मानते हैं, जो वास्तव में प्रमाद है, जब हम भोक्ता नहीं हैं, तब भोग हमारी वास्तविक चाह नहीं है।

अब विचार यह करना है कि हम अपने को भोक्ता कब से मानते हैं और क्यों मानते हैं? इस सम्बन्ध में यह कहना होगा कि उस काल का निर्णय कोई नहीं कर सका कि किस काल में अपने को भोक्ता स्वीकार किया था और अपने को भोक्ता क्यों मानते हैं? इस विषय में केवल यह संकेत किया जा सकता है कि देहाभिमान के कारण मानते हैं।

भोग के परिणाम में भोग से अरुचि होती है और भोग से अतीत के जीवन की रुचि जाग्रत होती है। इस आधार पर ही हमें यह मान लेना पड़ताहै कि भोक्ता होकर रहना हमारा नित्य-जीवन नहीं है। अतः भोग से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत होना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान परिस्थिति से हमें ममता करनी है अथवा उसके द्वारा साधन निर्माण करके साध्य से अभिन्न होना है। शरीर आदि प्रत्येक वस्तु साधन-सामग्री है। उसके प्रति ममता न करके उसके द्वारा अपने साध्य को प्राप्त करना है।

साध्य वही हो सकता है, जिससे देश-काल की दूरी न हो और साधन वही हो सकता है, जो विद्यमान राग की निवृत्ति में समर्थ हो। राग-रहित होते ही अनुराग का उदय स्वाभाविक है और राग-रहित होते ही अविवेक की निवृत्ति भी अनिवार्य है।

अविवेक निवृत्त होते ही अहंभावरूपी अणु स्वतः गल जाता है। उसके गलते ही सब प्रकार के भेद तथा भिन्नताएँ मिट जाती हैं और अपने साध्य से अभिन्नता हो जाती है।

परतन्त्रता केवल अस्वभाविक इच्छाओं की पूर्ति में है, स्वाभाविक लालसा की पूर्ति में नहीं। अस्वभाविक इच्छाओं की निवृत्ति स्वाभाविक लालसा की पूर्ति की सामर्थ्य प्रदान करती है। अस्वभाविक इच्छाओं की निवृत्ति वर्तमान परिस्थिति के सुदपयोग में निहित है।

हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकती है, उसके लिए भविष्य की आशा करते हैं और जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है, उसके लिए गतिशील रहते हैं।

परिवर्तनशील परिस्थिति किसी भी प्रकार से नित्य नहीं रह सकती। हाँ, यह अवश्य है कि उसके उपयोग-मात्र से परिस्थितियों से असंगता हो सकती है। परिस्थितियों की असंगता हमें उस जीवन की ओर ले जाती है; जो अनन्त, नित्य तथा चिन्मय है और जिसकी प्राप्ति वर्तमान में ही सम्भव है, भविष्य की आशा पर नहीं।

जो कर सकते हैं, उसके कर डालने पर, जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है और फिर जो प्राप्य है, उसकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निर्माण तथा साध्य की प्राप्ति में सर्वदा स्वतन्त्र है।

व्यक्तित्व की दासता

संकल्प-उत्पत्ति का क्षोभ जब तक सहन होता है और संकल्पों की पूर्ति का श्रम जब तक सुखद प्रतीत होता है, तब तक निर्विवकल्पता नहीं आती; क्योंकि निर्विवकल्प होने का अधिकार उसी को प्राप्त होता है, जिसे संकल्प की उत्पत्ति भी सहन न हो और उसकी पूर्ति के श्रम में केवल कर्त्तव्य-बुद्धि भले ही रहे, पर सुख तथा सन्तोष न हो; कारण, कि प्रत्येक संकल्पपूर्ति के अन्त में प्राणी उसी स्थिति में आता है, जिससे संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व था। तो फिर संकल्प-पूर्ति के श्रम से क्या लाभ?

हाँ, यह अवश्यक है कि संकल्प-पूर्ति जिस परिस्थिति को उत्पन्न करती है, वह परिस्थिति भले ही पूर्ति से पूर्व की परिस्थिति से भिन्न हो, पर कोई ऐसी परिस्थिति हो ही नहीं सकती, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का अभाव तथा अपूर्णता न हो।

परिस्थिति का बाह्य रूप भले ही ऊँचा-नीचा प्रती हो, किन्तु वस्तुतः उसके अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता, जैसे 3/4 को 75/100 कर दिया जाये, तो मूल्य कुछ नहीं बढ़ता है।

इसे दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का प्रयास अपने को बहलाने के अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं रखता।

दूसरी बात यह है कि जिन संकल्पों को पूरा होना है, वे होकर ही रहेंगे। संकल्प-पूर्ति की आशा लेकर तो केवल हम अपने ही को किसी अप्राप्त परिस्थिति में आबद्ध करते हैं, अर्थात् परतन्त्रता का आह्वान करते हैं और कुछ नहीं।

यह सभी को मान्यत होगा कि संकल्प की उत्पत्ति मात्र में किसी-न-किसी प्रकार के अभाव का अनुभव और पूर्ति काल में उससे अरुचि तथा शक्तिहीनता आती है, जो किसी भी अभीष्ट नहीं है।

केवल संकल्प-पूर्ति के क्षणिम सुख की आसक्ति और प्रवृत्ति-जन्य क्रिया की सुख-लोलुपता ही हमें निर्विकल्प नहीं होने देती। उसका मूल कारण एकमात्र यह है कि संकल्प-निवृत्ति से जो शान्ति मिलती है, उसके महत्व को हम जानते तथा मानते नहीं हैं। इसी प्रमाद से संकल्प-पूर्ति की दासता में आबद्ध रहते हैं।

अब विचार यह करना है कि संकल्प-निवृत्ति में जो शान्ति है, उसका महत्व तथा महिमा क्या है? तो कहना होगा कि संकल्प-निवृत्ति की शान्ति भोग को योग में, पराधीनता को स्वाधीनता में और जड़ता को चिन्मयता में परिवर्तित करने में समर्थ है। पर व्यक्तित्व का मोह हमें उस शान्ति का आदर नहीं करने देता। यद्यपि हमारे लक्ष्य की पूर्तिनिर्विवकल्पता से होने वाली चिर-शान्ति में ही निहित है; परन्तु व्यक्तित्व के मोह ने हमें अपने लक्ष्य से विमुख कर दिया है।

अपने सीमित अस्तित्व को सुरक्षित रखने का प्रयास ही व्यक्तित्व का मोह है। यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि मोह सदैव उसी के प्रति होता है, जो परिवर्तनशील हो।

हमसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि जो निरन्तर मिट रहा है, उसके पीछे दौड़ते है। और जो नित्य प्राप्त है, उससे विमुख रहते हैं।

इतना ही नहीं, व्यक्तिभाव को सुरक्षित रखने के लिए पराधीनता को स्वाधीनता के समान ही आदर देते हैं और नित्य प्राप्त स्वाधीनता का निरादर करते हैं। यह व्यक्तित्व के मोह की ही महिमा है कि जड़ता, परतन्त्रता तथा अनेक प्रकार के अभावों में ही हम जीवन मान लेते हैं, यद्यपि इनमें जीवन है नहीं, केवल जीवन का भासपात्र है; अथवा यों कहे कि जड़ता चिन्मयता की, परतन्त्रता, स्वतन्त्रता की एवं व्यक्ति-भाव अनन्त की लालसामात्र है।

यह नियम है कि लालसा में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह लालसा है। इस दृष्टि से बड़े से बड़े व्यक्तित्व की अस्तित्व केवल उसी अनन्त के किसी अंशमात्र में हैं। यद्यपि व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता सत्ता नहीं है, परन्तु मोहवश सत्ता-जैसी प्रतीति होती है। व्यक्तित्व के मोह ने ही हमें संकल्पों में आबद्ध कर दिया है और निर्विवकल्प नहीं होने दिया। निर्विवकल्पता के बिना सामर्थ्य की उपलब्धि सम्भव नहीं हैं और सामर्थ्य के बिना लक्ष्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

अतः जड़ता से अतीत चिन्मय राज्य में प्रवेश करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि व्यक्तित्व के मोह को त्याग, निर्विवकल्तपा प्राप्त कर अपने को उस चिन्मय धाम का अधिकारी बना लिया जाए, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है; परन्तु व्यक्तित्व के मोह को सुरक्षित रखने के लिए हम क्या-क्या नहीं करते हैं! बाल्यकाल में माँ की गोद की ममता के आधार पर व्यक्तिभाव को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया और ज्यों -ज्यों शारीरिक तथा बौद्धिक विकास होता गया, सखाओं, सखियों एवं कुटुम्बीजनों के आधार पर व्यक्तित्व के मोह का पालन-पोषण किया तथा शिक्षित हो जाने के पश्चात् समाज के विभिन्न विभागों के आधार पर व्यक्ति-भाव को सुदृढ़ बनाया।

इतना ही नहीं, समाज में स्थान पाने के लिए और समाज पर शासन करने के लिए अपनी अहंता को अनेक मान्यताओं में आबद्ध किया। कभी रक्षक, कभी सेवक, कभी न्यायाधीश, कभी कलाकार, कभी विज्ञान-वेता बनकर बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को सहन करने का प्रयास किया और अपने व्यक्तित्व को सदाचारी, तपस्वी के रूप में जीवित रखा और बड़े-बड़े मान-पत्र तथा पद प्राप्त किए; किन्तु दीनता और अभिमान की अग्नि ज्यों की त्यों प्रज्जवलित होती रही। यह सब व्यक्तित्व के मोह की महिमा है।

व्यक्तित्व का मोह रहते हुए संकल्प-विकल्प का प्रवाह निरन्तर चलता ही रहेगा, जिससे हम दीन तथा अनाथ ही रहेंगे। दूसरों की दृष्टि में भले ही महान् प्रतीत होते हों, पर अपनी दृष्टि में तो अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध ही रहेंगे, जो किसी को भी स्वाभावतः प्रियत नहीं है।

अब विचार यह करना है कि क्या हम व्यक्तित्व के मोह को सुरक्षित रखना चाहते हैं या उसको छोड़कर निर्विवकल्पता प्राप्त कर नित्य-योग, नित्य-जीवन एवं अनन्त से अभिन्न होना चाहते हैं। निर्विवकल्पता वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे प्रत्येक परिस्थिति में प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि उसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है।

इसी कारण निर्विवकल्पता हमें अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है और व्यक्तित्व का मोह केवल परतन्त्रता, जड़ता, उद्विग्नता आदि विकारों को ही उत्पन्न करता है। उस पर भी व्यक्तित्व सर्वदा सुरक्षित रह नही सकता।

हम भले ही अपनी जयन्तियाँ मनवाएँ और स्मारक बनवाएँ, पर व्यक्तित्व का विरोध तो होता ही रहेगा; क्योंकि व्यक्तित्व का मोह भेद उत्पन्न करता है तथा अहं का पुष्ट करता है।

यदि वर्तमानन परिवर्तनशील जीवन को सार्थक करना है, तो व्यक्तित्व के मोह को त्याग, निर्विवकल्पता प्राप्त करने के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए।

परिस्थितियों का सदुपयोग

'हम क्या चाहते हैं?' इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि कोई भी परिस्थिति हमारी वास्तविक चाह नहीं है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही हमारा अधिकार है।

पर जब हम प्रमादवश परिस्थिति का सदुपयोग न करके उसका भोग करने लगते हैं, तब हमें विवश होकर परिस्थितियों का दास होना पड़ता है, जो वास्तव में अभीष्ट नहीं है; क्योंकि परिस्थितियों की दासता हमें जड़ता, परतन्त्रता आदि में आबद्ध कर देती है।

स्वरूप से प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसमें किसी का अहित नहीं है अपितु सभी का हित है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति आदर के योग्य है। हम मोह तथा आसक्तिवश भले ही परिस्थिति की स्तुति तथा निन्दा करें, वास्तव में तो परिस्थितियों की निन्दा तथा स्तुति के लिए कोई स्थान ही नहीं है; कारण, कि स्तुति उसकी अपेक्षित है, जिससे नित्य सम्बन्ध हो और निन्दनीय वह है, जिससे किसी का अहित हो।

परस्थितियों में जीवन-बुद्धि प्रमाद है और साधन-बुद्धि वास्तविकता है। साधन-बुद्धि से प्रत्येक परिस्थिति हितकर है और जीवन-बुद्धि से तो प्रत्येक परिस्थिति हमें दीनता तथा अभिमान में ही आबद्ध करती है। दीनता और अभिमान की अग्नि प्रज्वलित रहते हुए हमें चिर-शान्ति तथा स्थाई प्रसन्नता मिल ही नहीं सकती। शान्ति के बिना सामर्थ्य की प्राप्ति और प्रसन्नता के बिना प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग सम्भव ही नहीं है।

अतः आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए शान्ति और प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग के लिए प्रसन्नता का सुरक्षित रखना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब हम परिस्थितियों मे जीवन-बुद्धि उत्पन्न न होने दें और प्रत्येक परिस्थिति का साधन-बुद्धि से सदुपयोग करने के लिए प्रयत्नशील बने रहें। परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थिति से असंग करने में और अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या परिस्थिति नित्य-चिन्मय नहीं हो सकती? तो कहना होगा कि यह प्रश्न वर्तमान जीवन से

सम्बन्ध नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है हमारी आन्तरिक माँग नित्य-चिन्मय जीवन की ही है। उसकी पूर्ति के लिए चाहे हमें उस जीवन से अभिन्न होना हो अथवा वह जीवन हमारे से अवतरित हो; पर इन दोनों बातों के लिए परिस्थिति से तो असंग होना ही होगा; क्योंकि परिस्थिति से असंग बिना हुए जड़ता से जो हमारा तादात्म्य हो गया है, वह निवृत्त नहीं हो सकता और न काम का ही नाश हो सकता है।

काम का नाश बिना हुए न तो राम से अभिन्नता हो सकती है, न राम से योग ही हो सकता है और न राम का प्रेम ही मिल सकता है। अब विचार यह करना है कि यदि कोई राम की सत्ता ही स्वीकार न करें, तो भी यह तो मानना ही होगा कि काम की अपूर्णता किसी को अभीष्ट नहीं है।

काम से रहित जीवन की माँग स्वाभाविक माँग है। उसी माँग को राम की लालसा के नाम से आस्तिकों ने; नित्य-जीवन के नाम से तत्त्वज्ञों ने और चिर-शान्ति तथा दुःख की निवृत्ति के नाम से भौतिकवादियों ने कहा।

हमें तो सभी वादों का आदर करते हुए अपनी समस्या हल करनी है। समस्या सभी वादों में एक है और मान्यताएँ अनेक हैं। हमें मान्यता में जीवन-बुद्धि नहीं रखनी है, अपितु साधन-बुद्धि रखनी है। साधन-बुद्धि से सभी मान्यताएँ आदरणीय हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि सभी साधन-पद्धतियाँ मान्यताएँ हैं, तो फिर सिद्धान्त क्या है? तो कहना होगा कि सिद्धान्त एक है, अनेक नहीं और उसका वर्णन नहीं हो सकता, प्रत्युत् उसकी प्राप्ति हेा सकती है; कारण, कि वर्णन करने की सामर्थ्य सीमित है और सिद्धान्त असीम है।

मान्यता का जन्म व्यक्ति की रुचि तथा योग्यता के आधार पर निर्भर है। सर्वांश में दो व्यक्तियों की भी योग्यता तथा रुचि समान नहीं होती है। इस दृष्टि से साधन-पद्धति में भेद होने पर भी सिद्धान्त में कोई भेद नहीं है; क्योंकि सभी की वास्तविक माँग एक है, अनेक नहीं। उस वास्तविक माँग का पता लगाने के लिए ही हमें प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है, भोग नहीं।

परिस्थितिया का भोग तो हमें काम के जाल में ही आबद्ध करता है, जिससे मुक्त होना परम आवश्यक है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त के प्रकाश से ही प्रकाशित है, अथवा यों कहो कि उसी की अभिव्यक्ति है; परन्तु परिवर्तनशील तथा सीमित होने के कारण उससे अतीत की ओर गतिशील होना आवश्यक है। उसके लिए हमें उस अनन्त ही के नाते ऊपर से क्रियाशील तथा भीतर से चिर-शान्त रहना है।

क्रियाशीलता हमें विद्यमान राग से रहित बनाएगी और शान्ति नवीन राग उत्पन्न न होने देगी। राग-रहित होते ही हम बड़ी ही सुगमता पूर्वक अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाएँगे, यह निर्विववाद सिद्ध है।

अब यह विचार करना है कि राग-रहित होने के लिए हमें परिस्थिति का सदुपयोग किस भाव से, किस प्रकार से और किस उद्देश्य की

पूर्ति के लिए करना चाहिए, तो कहना होगा कि सर्वहितकारी तथा सर्वातमभाव ही वास्तविक भाव है, विरक्ति तथा उदारतापूर्वक कार्य करने का ढंग ही वास्तविक ढंग है और उस अनन्त से अभिन्न होने का उद्देश्य ही वास्तविक उद्देश्य है।

यदि परिस्थिति का सदुपयोग करने में उदारता तथा विरक्ति नहीं अपनाई गई, तो सर्वहितकारी भाव स्वार्थभाव में, सर्वात्मभाव देहभाव में और अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन का उद्देश्य भोग-प्राप्ति में बदल जाएगा, जो वास्तविक उद्देश्य नहीं है।

इस प्रकार परिस्थिति का सदुपयोग न हो सकेगा, अपितु परिस्थिति का भोग होने लगेगा, जो राग का हेतु हैं। अतः परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिए विरक्ति तथा उदारता को अपना लेना अनिवार्य होगा; तभी अनन्त से अभिन्न होने के उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी।

परिस्थिति का भोग हमें कर्त्तव्य के अभिमान में आबद्ध कर कर्म में प्रवृत्त करता है और सुख-दुःखरूपी फल को प्राप्त कराता है। जिस प्रकार बीज, वृक्ष और फल में जातीय एकता तथा गुणों की भिन्नता है, उसी प्रकार कर्ता, कर्म तथा फल में जातीय एकता और गुणों की भिन्नता है।

परिस्थिति का सदुपयोग कर्ता को साधक, कर्म को साधन तथा फल को साध्य के रूप में अथवा प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद के रूप में अथवा जिज्ञासु, जिज्ञासा तथा तत्त्व ज्ञान के रूप में अथवा सेवक, सेवा और सेव्य के रूप में बदल देता है।

जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फल में जातीय एकता है, उसी प्रकार साधक, साधन और साध्य में; प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद में; जिज्ञासु, जिज्ञासा और तत्त्व-ज्ञान में; तथा सेवक, सेवा और सेव्य में भी जातीय एकता है।

अतएव हमें अपने साधक, प्रेमी, जिज्ञासु और सेवक मानकर ही परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए। साधक 'साधन' होकर, प्रेमी 'प्रेम' होकर, सेवक 'सेवा' होकर और जिज्ञासु 'जिज्ञासा' होकर अपने-अपने लक्ष्य से अभिन्न होते हैं।

साध्य, प्रेमास्पद, तत्त्वज्ञान और सेव्य किसी एक ही के नाम हैं; क्योंकि सत् में कल्पना भेद भले ही हो, पर जातीय तथा स्वरूप का भेद नहीं होता।

जब हमारी वास्तविक चाह परिस्थितियों से अतीत के जीवन की है, तब हमें परिस्थितियों का भोग न करके, उनका सदुपयोग करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तभी हम अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो सकेंगे। परिस्थितियों के सदुपयोग में किसी प्रकार की भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है। प्राप्त का सदुपयोग ही परिस्थिति का सदुपयोग है।

व्यक्तित्व के मोह की निवृत्ति

जीवन के अध्ययन से हमें यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्तित्व के मोह ने ही हमें

अपने वास्तविक लक्ष्य से अभिन्न नहीं होने दिया; कारण कि व्यक्तित्व का मोह हमें सीमित और परिवर्तनशील जीवन में आबद्ध करता है।

यद्यपि विवेक-दृष्टि से किसी भी व्यक्तित्व का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, परन्तु प्रमादवश व्यक्तित्व का अस्तित्व प्रतीत होता है। उस प्रतीति में सद्भाव होने से ही मोह की उत्पत्ति होती है, जो अनेक विकार उत्पन करने में समर्थ है।

यह नियम है कि जिसका स्वतन्त्रत अस्तित्व नहीं होता, उसी से संयोग और मोह होता है एवं जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उससे नित्य-योग तथा प्रेम होता है।

संयोग और मोह कामनाओं में आबद्ध कर, भेद उत्पन्न करते हैं एवं नित्य-योग तथा प्रेम कामनाओं का अन्त कर, अभिन्नता प्रदान करते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि व्यक्तित्व के मोह ने ही हमें अनन्त से विमुखता तथा भिन्नता प्रदान की है।

यह सभी को मान्य होगा कि भिन्नता से भेद की उत्पत्ति होती है और भेद से हिंसा, भय आदि से दोष उत्पन्न होते हैं। भयभीत होकर ही प्राणी दूसरों को भय देने में प्रवृत्त होता है और हिंसक बन जाता है; जब कि स्वभावतः सभी को अपनी रक्षा अभीष्ट है। अर्थात् अपने प्रति कोई भी हिंसा नहीं चाहा, तब फिर हिंसा का जीवन में स्थान ही कहाँ है?

व्यक्तित्व की दासता हमें हिंसक बना देती है, जिससे हम परम प्रेम से वंचित्त हो जाते हैं। वास्तव में परम प्रेम ही जीवन है। अतः यह निर्विववाद सिद्ध है कि व्यक्तित्व का मोह ही जीवन से मृत्यु की ओर ले जाता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

यद्यपि स्वरूप से भेद जेसी कोई वस्तु है ही नहीं, पर व्यक्तित्व के मोह के कारण अनेक भेद प्रतीत होते हैं। भेद से सीमित प्यार और सीमित प्यार के अनेक प्रकार के संघर्ष होने लगते हैं, जो विनाश के मूल हैं। इसके अतिरिक्त यदि हम विचार करें, तो यह जान पड़ता है कि प्राप्त वस्तु आदि से ममता और अप्राप्त वस्तुओं की इच्छा उत्पन्न करने में भी व्यक्तित्व का मोह ही कारण है।

प्राप्त वस्तुओं की ममता हमें हानि से तथा प्राप्त व्यक्तियों की ममता हमें वियोग के भय से मुक्त नहीं होन देती और अप्राप्त वस्तुओं और व्यक्तियों की इच्छा हमें व्यर्थ चिन्तन से रहित नहीं होने देती। वियोग तथा हानि का भय लोभ तथा मोह में आबद्ध करता है और व्यर्थ-चिन्तन हमें अचिन्त नहीं होने देता एवं न सार्थक-चिन्तन ही उत्पन्न होने देता है।

अचिन्त हुए बिना निर्विवकल्पता नहीं आ सकती और निर्विवकल्पता के बिना चिर-शान्ति तथा नित्य-योग की उपलब्धि नहीं हो सकती। चिन-शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता। सामर्थ्य के बिना जो करना चाहिए, उसे कर नहीं पाते। कर्त्तव्यपरायणता के बिना जो मिलना चाहिए, वह मिल नहीं पाता, अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती।

कर्त्तव्यपरायणता वर्तमान जीवन की वस्तु है, परन्तु प्राप्त वस्तु आदि की ममता तथा

अप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन हमें कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होने देते। प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा अभीष्ट है, उनके साथ ममता नहीं।

प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग से निर्लोभता का जन्म होता है और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन के त्याग से निर्लोभ्ता पुष्ट होती है। निर्लोभता आ जाने पर दरिद्रता स्वतः मिट जाती है और फिर वस्तुओं की दासता शेष नहीं रहती। वस्तुओं की दासता से मुक्त होते ही व्यक्तियों की सेवा करने का भाव स्वतः जाग्रत होता है।

व्यक्तियों की सेवा हमें मोह-रहित बनाने में समर्थ है। निर्मोहता आ जाने पर प्रेमरूपी सूर्य स्वतः उदय होता है, जो भेदरूपी अन्धकार को खाकर अभिन्नता प्रदान करता है, जो वास्तविक जीवन है।

वास्तविक जीवन वर्तमान की वस्तु है, भविष्य की नहीं। अतः हमें जीवन के अध्ययन के द्वारा व्यक्तित्व के मोह से रहित होने के लिए वर्तमान में ही सतत् प्रयत्नशील होना चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब विवेकपूर्वक व्यक्तित्व के मोह को त्यागकर निर्लोभता, निर्मोहता प्राप्त करें अथवा निर्लोभता-निर्मोहतापूर्वक व्यक्तित्व के मोह का अन्त करें।

अपनी-अपनी योग्यतानुसार जिसे जैसा सुगम प्रतीत हो, उसे उसी के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। साधन-परायणता प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता तथा रुचि के अनुरूप ही सम्भव है।

मान्यता का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना ही व्यक्तित्व के मोह को जन्म देता है। यद्यपि साधनरूप मान्यता कर्त्तव्यपरायणता प्रदान करती है और कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग को खाकर, राग-रहित करने में समर्थ होती है। परन्तु वह तब सम्भव है, जब हम मान्यता का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न करें। केवल साधन-बुद्धि से जब जिस मान्यता की आवश्यकता हो, उसे अपनाएँ और उससे अतीत होकर व्यक्तित्व के मोह से रहित हो जाएँ।

व्यक्तित्व के मोह से रहित होते ही निर्वासना आ जाएगी। वासनाओं का अन्त होते ही मन में निर्विवकल्पता, बुद्धि में समता, हृदय में निर्भयता और चित्त में प्रसन्नता स्वतः आ जाती है। मन की निर्विवकल्पता तथा बुद्धि की समता सब प्रकार के द्वन्द्वों का अन्त करने में समर्थ है। द्वन्द्वों का अन्त होते ही निःसन्देहता तथ परम प्रेम की प्राप्ति होती है, जो सभी को अभीष्ट है।

हमारी वास्तविकता आवश्यकता

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन में प्रथम यही है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है? जिस प्रकार पथिक अपने निर्दिष्ट स्थान को बिना माने अथवा बिना जाने मार्ग का निर्णय नहीं कर सकता और न निश्चिन्ततापूर्वक चल ही सकता है, उसी प्रकार हम अपनी आवश्यकता को बिना जाने अथवा बिना माने उसकी पूर्ति के लिए न तो निःसन्देहतापूर्वक साधन का निर्माण ही कर सकते हैं और न निर्णीत साधन का अनुसरण ही कर सकते हैं।

अतः साधनपरायणता होने के लिए अपने साध्य को जानना अथवा मानना अनिवार्य हो जाता है।

यह नियम है कि जो जिस स्थिति में आबद्ध होता है, वह उसी के अनुरूप अपनी चाह को जानता अथवा मानता है। परिवर्तनशील स्थिति से उत्पन्न होने वाली चाह वास्तविक आवश्यकता नही हो सकती; क्योंकि स्थिति बदलने से चाह बदल जाएगी और चाह बदने से उसकी पूर्ति का साधन भी बदल जाएगा।

आवश्यकता का निर्णय होने पर ही साधन का निर्णय हो सकेगा। साधन का निर्माण होने पर ही साधनपरायणता सम्भव होगी। अतः वास्तव में हमारी आवश्यकता है क्या, इसका निर्णय वर्तमान में ही करना होगा। उसके लिए अपनी वर्तमान दशा का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

रुचि, योग्यता और आवश्यकता का ज्ञान ही वर्तमान दशा का अध्ययन है। व्यक्तित्व के अभिमान में आबद्ध प्राणी अप्राप्त परिस्थितियों का ही आह्वान करता रहता है और उसी को अपनी आवश्यकता मान लेता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति सतत् परिवर्तनशील है; परन्तु व्यक्तित्व का मोह हमें परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं होने देता। परिस्थितियों की दासता वियोग, हानि तथा अपमान आदि का भय उत्पन्न करती है यह सभी को मान्य होगा कि भय किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता सभी परिस्थितियों से अतीत की है। परिस्थितियों से अतीत का जीवन ही हमारा जीवन है। उसी में प्रवेश करने के लिए योग्यता, सामर्थ्य तथा रुचि के अनुरूप साधन-निर्माण करना है। आवश्यकता के ज्ञान की दृढ़ता साधन-निर्माण में समर्थ है और साधनपरायणता आवश्यकता-पूर्ति का हेतु है।

इस दृष्टि से साधन-निर्माण और साधनपरायणता वर्तमान जीवन की वस्तु है। इस समस्या को भविष्य पर छोड़ना प्रमाद के सिवा और कुछ नहीं हैं प्रमाद का साधन-युक्त जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

प्रमाद के रहते हुए व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहता है और व्यक्तित्व का महत्व बढ़ाने तथा उसको विभु बनाने के लिए हम अपने को स्वावलम्बन, सदाचार तथा परोपकार आदि सद्गुणों के अभिमनों में बाँध लेते हैं। यद्यपि समाज में इन गुणों का बड़ा आदर है, परन्तु गुणों का अभिमान व्यक्तित्व के मोह को ही पुष्ट करता है।

स्वावलम्बी होने के लिए सदाचार तथा शिक्षा अपेक्षित है और व्यक्तित्व को विभु बनाने के लिए परोपकारी होना आवश्यक है। व्यक्तित्व का मोह रहते हुए हमारा स्वावलम्बन भी परावलम्बन ही है। जैसे, हम विद्वत्ता का उपयोग करने के लिए विद्यार्थियें का और सामर्थ्य का उपयोग करने के लिए असमर्थों का आश्रय लेते हैं तथा उसके परिणाम में जो आदर, प्यार और वस्तुएँ मिलती हैं, उन्हें ही अपना जीवन मान लेते हैं। इस प्रकार हम ऊपर से स्वावलम्बी और भीतर से परतन्त्र ही बने रहते हैं।

उस परतन्त्रता की सुदृढ़ श्रृंखला को तोड़ने के लिए हमें सद्गुणों के रहते हुए भी उनके अभिमान से मुक्त होना ही पड़ेगा, तभी हम निर्दोषतापूर्वक वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त कर सकेंगे, जो हमारी आवश्यकता है।

आवश्यकता-पूर्ति के लिए अनिवार्य हो जाताहै कि जिन इच्छाओं ने उसे ढक लिया है, उनका अन्त कर दिया जाए। कोई भी इच्छा आवश्यकता को मिटा नहीं पाती; क्योंकि आवश्यकता उसकी है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है और इच्छा उसकी है, जिससे केवल मानी हुई एकता है। जिस प्रकार बादलों का समूह सूर्य को मिटा नहीं पात, अपितु नेत्र और सूर्य के बीच एक प्रतिबन्ध मात्र ही सिद्ध होता है, उसी प्रकार इच्छाओं का समूह आवश्यकता को मिटा नहीं पाता, केवल उसकी पूर्ति में प्रतिबन्ध-मात्र ही सिद्ध होता है।

जिस प्रकार सूर्य बादलों के समूह को छिन्न-भिन्न कर अपने को प्रकाशित करने में समर्थ है, उसी प्रकार आवश्यकता की जागृति इच्छाओं के समूह को निवृत्त करने में समर्थ है। अतः आवश्यकता की जागृति ही इच्छाओं के अन्त करने में मुख्य साधन है।

आवश्यकता के ज्ञान को सबल तथा स्थाई बनाने के लिए हमें वर्तमान का सदुपयोग और जिनसे हमारी जातीय एवं स्वरूप की एकता है, उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा, जो नित्य-योग तथा नित-नव प्यार प्राप्त कराने में समर्थ है। नित्य-योग से चिर-शान्ति और शान्ति से आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है।

नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने के लिए हमें माने हुए सम्बन्ध का त्याग करना होगा। अब विचार यह करना है कि हमारा माना हुआ सम्बन्ध किससे है? अपने को देह मान लेने पर हमारा सम्बन्ध वस्तु, अवस्था, व्यक्ति आदि से हो जाता है। वस्तुओं की दासता लोभ और व्यक्तियों की दासता मोह एवं अवस्था की तद्रूपता जड़ता उत्पन्न करती है। लोभ, मोह तथा जड़ता में आबद्ध प्राणी परिस्थितियों का दास बन जाता है।

अपने को देह मान लेने अथवा देह को अपना मान लेने से परिस्थितियों की दासता उत्पन्न होती है। परिस्थितियों की दासता देहभाव को पुष्ट करती है।

यदि विवेकपूर्वक देहभाव का त्याग कर दिया जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक माना हुआ 'मैं' और माना हुआ 'मेरा' मिट जाता है, जिसके मिटते ही असंगतापूर्वक नित्य-योग स्वतः प्राप्त हेाता है; उससे माना हुआ सम्बन्ध सदा के लिए मिट जाता है। फिर शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी से अपनी भिन्नता का अनुभव हो जाता है। तब वस्तु, व्यक्ति आदि की कामनाएँ मिट जाती हैं। उनके मिटते ही वास्तविक आवश्यकता जाग्रत होती है, जो अपनी पूर्ति में आप समर्थ है।

वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति से पूर्व हम संसार को चाहते हैं, पर संसार हमें नहीं चाहता और आवश्यकता की पूर्ति होने पर संसार हमें चाहता है, किन्तु हम संसार को नहीं चाहते। यह बात भी तभी तक कही जा सकती है, जब तक सर्वांश में व्यक्तित्व का मोह गल नहीं जाता।

व्यक्तित्व का मोह गल जाने पर तो यह पता ही नहीं चलता कि संसार हमें चाहता है कि या हम संसार को नहीं चाहते हैं अथवा यों कहो कि हमारा और संसार का भेद मिट जाता है। फिर अपने पास मन, बुद्धि आदि भी नहीं रहते; वे सब उस अनन्त से अभिन्न हो जाते हैं, जिसके किसी अंशमात्र में समस्त विश्व है।

वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें सर्वप्रथम प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि का स्वाध्याय करना होगा और उसके बदले में मन, बड़ाई आदि को स्वीकार नहीं करना होगा; कारण, कि संग्रह का स्वाध्याय विद्यमान राग की निवृत्ति का हेतु है और उसके बदले में कुछ न लेने से नवीन राग की उत्पत्ति न होगी।

वर्तमान राग की निवृत्ति तथा नवीन राग की उत्पत्ति न होने पर बड़ी ही सुगमतापूर्वक हमारा उस जीवन में प्रवेश हो जाएगा, जो दिव्य, चिनमय एवं नित्य है।

प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि को अपना मान लेना ईमानदारी नहीं है; क्योंकि जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह उस अनन्त ही की देन है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें जो कुछ मिला है, वह तो हमारे ही कर्मों का फल है । तो यह कहना होगा कि आरम्भ में कर्म आपने किस सामर्थ्य के द्वारा किया? तब विवश होकर यह मानना ही पड़ेगा कि जो कुछ मिला है, वह किसी की देन है; कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है।

हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्त का उपयोग करने में व्यक्तिगत अधिकार है और उसमें ममता करना भूल है। मिले हुए अधिकार का उपयोग साधन | है और उस पर स्वत्व स्थापित करना असाधन है।

अब विचार यह करना है कि उस अनन्त की ओर से जो कुछ मिला है, उसका सदुपयोग क्या है? तो कहना होगा कि प्राप्त बल से निर्बलों के अधिकार की रक्षा और प्राप्त विवेक से अविवेक की निवृत्ति करना अथवा अपने कर्त्तव्य और दूसरों के अधिकार का ज्ञान ही मिले हुए बल और विवेक का सदुपयोग है।

बल का दुरुपयोग और विवेक का अनादर सभी दोषों का मूल है, जिसका साधनयुक्त जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। बल के सदुपयोग से बल का अभिमान गल जाता है और निर्बलों की सेवा हो जाती है। अभिमान गलते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं।

विवेक के आदर से दीनता मिट जाती है और कर्त्तव्यनिष्ठता की सामर्थ्य प्राप्त होती है। दीनता और अभिमान मिट जाने पर अहंरूपी अणु टूट जाता है और फिर अनन्त से अभिन्तना प्राप्त होती है, जो वास्तविक आवश्यकता है।

विवेक और प्रीति से ही वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। विवेक और प्रीति श्रम नहीं है, अपितु स्वाभाविक विभूतियाँ हैं, जो उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से मिली हैं। हम उनकी दी हुई विभूति से ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

'वे' हमसे देश-काल की दूरी पर नहीं हैं। उन्होंने हमारा त्याग नहीं किया; हमीं उनसे विमुख हुए हैं। उस विमुखता को मिटाने के लिए ही

उन्होंने हमें प्रीति और विवेक प्रदान किया है। विवेक से अस्वाभाविक चाह की निवृत्ति और प्रीति से स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति स्वतः हो जाती है। अतः जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

हमारे जीवन में जो श्रम दिखाई देता है, वह तो केवल अस्वाभाविक चाह की प्रवृत्तियों में है, स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में नहीं। यह नियम है कि प्रवृत्ति, निवृत्ति में विलीन होती है, पूर्ति में नहीं। इस दृष्टि से अस्वाभाविक चाह की पूर्ति सम्भव नहीं है; उसे तो निवृत्त ही करना होगा। अस्वाभाविक चाह की निवृत्ति में ही स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति की सामर्थ्य निहित है।

अस्वाभाविक चाह की निवृत्ति में विवेक अपेक्षित है, श्रम नहीं; कारण, कि अस्वाभाविक चाह की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है। जब विवेकरूपी सूर्य अविवेकरूपी अन्धकार को खा लेता है, तब अस्वाभाविक चाह मिट जाती है; जिसके मिटते ही प्रीति स्वतः उदय होती है, जो प्रियतम से अभिन्न कर देती है।

हमारा प्रियतम हमसे दूर नहीं है, हमीं में छिपा है। उसे उत्पन्न नहीं करना है, अपितु उसी खोज करनी है। खोज वर्तमान जीवन की वस्तु है, भविष्य की नहीं। अपने खोए हुए प्रियतम को कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना है, प्रत्युत् अपने ही में अपने द्वारा उन्हें पाना है; कारण, कि वे अपने ही में अन्तर्निहित हैं। अतः अस्वाभाविक चाह के मिटाने में और स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है।

मान्यता, विधान और जीवन की एकता

हमारे सभी प्रश्नों के मूल में एक ही बात है कि हम अपने अस्तित्व को किस रूप में स्वीकार करते हैं। अपने अस्तित्व को स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति हीं नही है; पर उसका वास्तविक अर्थ क्या है, इसे तो कोई विरले ही जान पाते हैं।

हमारी सभी मान्यताएँ हमें अस्तित्व के स्वरूप में भासती हैं। यद्यपि हम एक हैं और मान्यताएँ अनेक; परन्तु एक काल में एक ही मान्यता का प्रभाव तथा सद्भाव प्रतीत होता है। हाँ, यह अवश्य है कि मान्यता का परिवर्तन बड़ी ही तीव्र गति से होता है। जैसे-जो व्यक्ति अपने माता-पिता के सामने पुत्र है, वही पुत्र के सामने पिता है और वही पत्नी के लिए पति है और बहिन के लिए भाई है। इतना ही नहीं, पड़ौसियों के लिए पड़ौसी, नगर के लिए नागरिक, देश के लिए देशवासी और समाज के लिए एक सदस्य भी है।

पर ये सभी मान्यताएँ केवल अपने को देह मान लेने पर ही निर्भर हैं। इतने ही में मान्यताएँ समाप्त नहीं हो जातीं; मत, सम्प्रदाय, दल, विचारधारा आदि के अनुरूप भी मान्यताएँ प्रकाशित होती हैं।

जो मान्यताएँ साधनरूप है, वे कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाती हैं और जो मान्यताएँ असाधनरूप हैं, वे हमें दोषी बनाती हैं। साधनरूप मान्यताएँ वे हैं, जो विद्यमान राग की निवृत्ति में और दूसरों के अधिकार की पूर्ति में समर्थ हैं और असाधनरूप

मान्यताएँ वे हैं, जो राग की वृद्धि में और दूसरों के अहित में हेतु हैं।

असाधनरूप मान्यताओं का तयाग अनिवार्य है और साधनरूप मान्यताओं के अनुरूप साधनपरायण होकर, राग-रहित होना आवश्यकत है। रागरहित होकर वास्तविक अस्तित्व से अभिन्न होना है अर्थात् मान्यताओं से अतीत के जीवन में प्रवेश करना है।

यह सभी को मान्य होगा कि व्यक्ति में किसी न किसी प्रकार का राग विद्यमान है ही, जिसकी निवृत्ति अनिवार्य है। यह हम भले ही न जाने कि राग का आरम्भ कब से हुआ, पर राग-रहित होने की रुचि अवश्य है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि राग से हमारी जातीय एवं स्वरूप की एकता नहीं है; क्योंकि राग रहते हुए हम जड़ता एवं परतन्त्रता आदि दोषों में आबद्ध रहते हैं, जो स्वभाव से ही प्रिय नहीं है। विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए ही हमें वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति मिली है।

अतः राग-निवृत्ति के लिए ही प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। परिस्थिति को जीवन मानकर उससे तद्रूप नहीं रहना है। परिस्थति के सदुपयोग के लिए ही हमें उन स्वीकृतियों को अपनाना है, जो साधनरूप हैं।

साधनरूप स्वीकृति में बीजरूप से कर्त्तव्य का विधान निहित है। उसकी जानकारी के लिए हमें अपने जाने हुए असत् तथा दोष का त्याग करना है, जिसके करते ही साधन-रूप मान्यता के अनुसार कर्त्तव्यपरायणता स्वतः प्राप्त हो जाएगी, जिससे जगत् और जगत्-पति के अधिकार की रक्षा होगी तथा राग 'अनुराग' में और भोग 'योग' में स्वतः बदल जाएगा।

अब यह विचार करना है कि जगत् और जगत्-पति का क्या अधिकार है? यह नियम है कि जो किसी एक का अधिकार होता है, वही किसी दूसरे का कर्त्तव्य होता है। अतः जगत् और जगत्-पति का अधिकार ही अपना कर्त्तव्य है। जगत् से प्राप्त संग्रह का स्वाध्याय ही जगत् का अधिकार है। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं द्वारा हमें जगत् की सेवा करनी है। ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं के रूप में जो भी सौन्दर्य प्राप्त है, उसके द्वारा भी जगत् के अधिकार की रक्षा करनी है; पर उसके बदले में जगत् से कुछ लेना नहीं है।

इतना ही नहीं, यदि बिना ही माँगे जगत् से कुछ मिले, तो उसे भी जगत् ही को वापस कर देना है, नहीं तो नवीन राग उत्पन्न हो जाएगा, जो अवनति का मूल है।

अब यह विचार करना है जगत्पति हमसे क्या आशा करते हैं, उनका हम पर क्या अधिकार है? जिनके अंशमात्र में समस्त जगत् विद्यमान है, उन्हें किसी वस्तु आदि की तो अपेक्षा हो ही नहीं सकती। जिनके अनन्त सौन्दर्य से सभी को सौन्दर्य मिला हो, उन्हें किसी परिवर्तनशील सौन्दर्य की आवश्यकता हो ही नहीं सकती। जिनकी सत्ता से ही सभी को सत्ता मिली हो, उन्हें किसी अस्तित्व की तो अपेक्षा है ही नहीं। फिर हम 'उन्हें' क्या दे सकते हैं? केवल यही दे सकते हैं, कि 'हम सदैव तेरे हैं और तुम सदैव मेरे हो।'

अर्थात् उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना ही उनके अधिकार की रक्षा है।

जगत् के अधिकार जगत् को दे डालने पर, हम जगत् से मुक्त हो जाते हैं और जगत्पति के अधिकार की रक्षा करते ही हम उनसे अभिन हो जाते हैं; अथवा यों कहो कि उनका प्रेम प्राप्त हो जाता है।

साधनरूप मान्यता और उसके विधान के अनुरूप जीवन हमें मान्यता से अतीत करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, मान्यता के अनुरूप जीवन होने पर जीवन मान्यता का चित्र बन जाता है; जैसे, क्षमाशीलता का जीवन क्षमा का प्रतीक बन कर क्षमा के प्रकाशन में समर्थ होता है।

अब कोई यदि यह कहे कि ऐसा तो सम्भव नहीं है तो कहना होगा कि क्रोध आने पर, क्या क्रोध का परिचय क्रोधी के जीवनरूप चित्र से नहीं होता? हमने अपने जीवन में क्षमा, करुणा, प्रेम, त्याग आदि का चित्र न देखा हो; पर क्रोध, कठोरता, मोह आदि का चित्र तो अनेक बार देखा ही है। जब दोषों का प्रकाश हमारे जीवनरूपी चित्रों से हो सकता है, जब क्या दिव्य गुणों का प्रकाशन जीवनरूपी चित्रों से नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है।

अतः साधनरूप मान्यता, उसके विधान और जीवन की अनुरूपता का प्रकाशन हमारे जीवनरूप चित्र से अवश्य होना चाहिए। सच तो यह है कि जीवनरूपी चित्र की तो कौन कहे, काष्ठ, पत्थर आदि की प्रतिमाएँ देखकर भी दिव्य गुणों का प्रकाशन होने लगता है। इतना ही नहीं, जिन-जिन स्थानों पर महापुरुषों ने निवास किया है अथवा विचरे हैं, उन स्थानों का प्रभाव भी उनके जीवन का दर्शन कराता है।

आज तो हमारी साधनरूप मान्यता हमारे जीवन से प्रदर्शित नहीं होती, उसका एकमात्र कारण मान्यता, विधान और जीवन में भिन्नता ही है, और कुछ नहीं। यह नियम है कि साधनरूप जीवन से साधन का और असाधनरूप जीवन से असाधन का प्रचार स्वतः होता है। यद्यपि असाधनरूप मान्यताओं को कोई भी अपनी ओर से घोषित नहीं करता है, 'मैं चोर हूँ', 'धोखा देना जानता हूँ', 'मिथ्यावादी हूँ', इत्यादि, परन्तु जीवन के द्वारा उन दोषों का प्रचार स्वतः होने लगता अर्थात् बुराइयों की कहीं पाठशाला नहीं खोली जाती। प्रचार तो सदाचार आदि दिव्य गुणों का ही किया जाता है, परन्तु दोषों का प्रचार स्वतः होने लगता है; इसका एकमात्र कारण हमारा साधन-रहित जीवन ही है।

हमारे मत, सम्प्रदाय, विचारधारा आदि का विरोध सिद्धान्त रूप से नहीं होता, अपितु हमारा दोषयुक्त जीवन ही हमारी सिद्धान्तों का विरोध कराने में हेतु हैं। हम अपने सिद्धान्तों की महिमा का वर्णन करके उनका प्रचार चाहते हैं; पर वास्तविक प्रचार तो उन सिद्धान्तों का होगा, जिनका चित्र हमारी जीवन में दिखाई देता है। अर्थात् दोषयुक्त जीवन से दोष और निर्दोष जीवन से निर्दोषता स्वतः फैलेगी, यह निर्विववाद सिद्ध है।

साधनरूप सभी मान्यताएँ हमें निर्दोष बनाने में समर्थ हैं और निर्दोषता आ जाने पर तत्त्व-जिज्ञासा तथा प्रिय की लालसा स्वतः जाग्रत होगी,

यह नियम है। तत्त्व-जिज्ञासा तत्त्व से और प्रिय-लालला प्रिय से अभिन्न करने में समर्थ है। हम अशुभ संकल्पों के त्याग एवं शुभ संकल्पों की पूर्ति निर्विवकल्पता, जिज्ञासा तथा प्रियलालसा को जाग्रत करने में समर्थ हैं।

प्रियलालसा और जिज्ञसा की पूर्ति का सम्बन्ध हमारे वर्तमान जीवन से हैं। शुभ संकल्पों की पूर्ति के लिए भले ही काल अपेक्षित हो, पर अशुद्ध संकल्पों का त्याग और जिज्ञासा तथा लालसा की पूर्ति का सम्बन्ध तो हमारी वर्तमान जीवन से ही है। अतः यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अशुद्ध संकल्पों के त्याग में और तत्त्व-जिज्ञासा के पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन है।

आशा और निराशा किसकी?

वर्तमान जीवन का अध्ययन करने का यह विदित होता है कि जिस परिवर्तनशील जीवन से हमें निराश होना चाहिए, उसकी हम आशा करते हैं। अर्थात् व्यक्तित्व के मोह को सुरक्षित रखना चाहते हैं और अनन्त नित्य जीवन से निराश होकर, उससे विमुख रहते हैं।

अतः जिससे निराश होना चाहिए, उसकी आशा करना और जिसकी नित-नव आशा करनी चाहिए, उससे निराश होना हमारा अपना ही बनाया हुआ दोष है। इस दोष के कारण जो वर्तमान में प्राप्त हो सकता है, उसके लिए हम भविष्य की आशा करत हैं, अथवा उससे निराश होते हैं और जो निरन्तर हमसे दूर हो रहा है, उसको बनाए रखने के लिए हम वर्तमान में ही सतत् प्रयत्नशील रहते हैं, अथवा उसकी नित-नव आशा रखते हैं।

परिवर्तनशील जीवन की आशा केवल मोह तथा आसक्ति ही प्रदान करती है और कुछ नहीं। क्या आसक्ति तथा मोह से हम चिर-शान्ति एवं स्थाई प्रसन्नता पा सकते हैं? कदापि नहीं। इस दृष्टि से मोह तथा आसक्ति का जीवन में कोई स्थान हीं नहीं है।

अब विचार यह करना है कि मोह तथा आसक्ति की निवृत्ति कैसे हो? उसके लिए हमें सर्वप्रथम जिसकी आशा नहीं करनी चाहिए, उससे निराश होना होगा। परिवर्तनशील अनत्यि जीवन की निराशा अनन्त नित्य जीवन की आशा जाग्रत करती है। ज्यों-ज्यों हम वर्तमान अनित्य जीवन से निराश होते जाते हैं; त्यों-त्यों हमें जीवन ही में मृत्यु का अनुभव होता जाता है, ज्यों-ज्यों जीवन ही में मृत्यु का अनुभव होता जाता है, त्यों-त्यों अनन्त नित्य-जीवन की नित-नव आशा सबल तथा स्थाई होती जाती है।

जिस काल में अनित्य जीवन से पूर्णतया निराश हो जाते हैं, उसी काल में हम सब ओर से विमुख होकर अपने ही में अनन्त नित्य जीवन का अनुभव कर अमर हो जाते हैं। इस दृष्टि से हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर गतिशील करने में अनित्य जीवन से निराशा और नित्य-जीवन की नित-नव आशा ही समर्थ हैं।

हमें वर्तमान जीवन का निरीक्षण करते हुए इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि जो अवस्था भूतकाल में थी, वह अब नहीं है और जो दशा वर्तमान में हैं, वह भविष्य में न रहेगी; यह

जानते हुए भी प्राप्त परिस्थिति को बनाए रखने का प्रयास और अप्राप्त परिस्थति की चाह करना, क्या निरर्थक नहीं है? यह सभी को मान्य होगा कि निरर्थक प्रयास में केवल प्राप्त सामर्थ्य का अपव्यय ही होगा।

यह नियम है कि सामर्थ्य का अपव्यय ही असमर्थता का हेतु है। अतः सामर्थ्य का सदुपयोग करने के लिए हमें निरर्थक प्रयास से सर्वदा बचना चाहिए और सार्थक प्रयास के लिए तत्पर रहना चाहिए।

सार्थक प्रयास क्या है? अनित्य जीवन से निराश होकर अनन्त नित्य जीवन का वर्तमान में प्राप्त करने का प्रयत्न ही सार्थक प्रयास है। यद्यपि अनित्य जीवन की आशा में कोई लाभ नहीं और उससे निराश होने में कोई हानि नहीं, परन्तु हम प्रमादवश निराश होने से भयभीत हो जाते हैं और आश करने में सुख का स्वप्न देखने लगते हैं, जिसकी पूर्ति कभी सम्भव ही नहीं है।

यह प्रश्न हमें वर्तमान में हल करना है कि अनित्य से निराश क्यों नहीं हो पाते और नित्य को प्राप्त क्यों नहीं कर पाते? इसका एकमात्र कारण है, प्राप्त विवेक का अनादर; क्योंकि अनित्य की आशा और अनन्त नित्य से निराश अविवेकसिद्ध है। यद्यपि अनित्य सर्वदा उस अनन्त नित्य में ही निवास करता है, फिर भी उसकी आशा साधक को नित्य से विमुख रखती है। अथवा यों कहो कि अनित्य जीवन नित्य जीवन की ही लालसा है और कुछ नहीं।

यह नियम है कि लालसा में सत्ता उसकी होती है, जिसक वह होती है। इस दृष्टि से नित्य जीवन की लालसा अनित्य को खाकर अनन्त नित्य से अभिन्न करने में समर्थ है। नित्य, अनित्य का प्रकाशक है, नाशक नहीं और नित्य की जिज्ञासा अनित्य को खाकर नित्य से अभिन्न कर सकती है।

इस दृष्टि से नित्य की जिज्ञासा नित्य से भी अधिक महत्व की वस्तु है। पर उसकी जागृत्ति तभी सम्भव होगी, जब हमें जिससे निराश होना चाहिए, उसकी आश न करें और जिसकी आशा करनी चाहिए, उससे निराश न हों। ऐसा करते ही हम वर्तमान में ही सुगमतापूर्वक अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो सकते हैं औ परिवर्तनशील जीवन का भी सदुपयोग कर सकते हैं।

'करने' का 'होने' में परिवर्तन

जीवन के निरीक्षण से हमहें यह प्रकाश मिलता है कि करने की रुचि में ही जीने की आशा तथा पाने का लालच निहित है और जीने की आशा में ही मृत्यु का भय विद्यमान है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। मृत्यु के भय से रहित होने के लिए जीने की आशा का त्याग और जीने की आशा के त्याग के लिए अप्राप्त के लालच का त्याग और अप्राप्त के लालच के त्याग के लिए प्राप्त का सदुपयोग अनिवार्य है।

प्राप्त के सदुपयोग से ही करने की रुचि का अन्त होगा। करने की रुचि का अन्त होने पर ही कर्ता, कर्म के फल से मुक्त होकर अपने अभीष्ट लक्ष्य-अमरत्व को प्राप्त कर सकता है, जो वर्तमान जीवन की वस्तु है।

अब विचार यह करना है कि करने की रुचि का कारण क्याहै? तो कहना होगा कि देहाभिमान ही एकमात्र करने की रुचि का हेतु है, जो अविवेकसिद्ध है। प्राप्त विवेक के अनादर का ही दूसरा नाम अविवेक है। इसके अतिरिक्त अविवेक की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

अतः विवेक का आदर करते ही अविवेक तथा उसका कार्य 'देहाभिमान' स्वतः गल जाएगा। देहाभिमान के गलते ही करने की रुचि सदा के लिए मिट जाएगी। करने की रुचि का अन्त होते ही, जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगेगा, जो वास्तव में साधन-तत्त्व है।

'करने' और 'होने' में अन्तर केवल यही है कि 'करना' श्रमसाध्य है, सीमित है और उसका परिवर्तन अनिवार्य है, 'होना' स्वाभाविक है, असीम है और नित्य है। 'करने' का परिणाम भोग, रोग तथा मृत्यु है और 'होने' का परिणाम योग तथा शाश्वत् जीवन है। 'करने' के अन्त में अरुचि तथा नीरसता स्वाभाविक है और 'होन' में नित-नव उत्कण्ठा तथा सरसता है। करने में अभिमान की वृद्धि और होने में निरभिमानता स्वतः सिद्ध है। करना मृत्यु की ओर और होना अमरत्व की ओर ले जाता है। करना जड़ता में आबद्ध करता है और होना चिन्मय जीवन में प्रवेश कराता है। करने में स्वार्थभाव की वृद्धि होती है और होने में सेवाभाव सहज ही आ जाता है।

'करने' में मोह तथा क्रोध और 'होने' में प्रेम और क्षमा स्वतः सिद्ध है; कारण; कि समस्त दिव्य गुणों का विकास 'होने' में है, 'करने' में नहीं। 'करने' की रुचि का अन्त होते ही 'होने' के साम्राज्य में प्रवेश होता है।

अब विचार यह करना है कि करने की रुचि का अन्त कैसे हो? करने की रुचि का अन्त करने के लिए हमें यह जानना होगा कि करने का उपयोग क्या है?

'करने' का उपयोग है, विद्यमान राग कि निवृत्ति तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा में। अथवा यों कहो कि करने की रुचि का अन्त दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग में निहित है; कारण, कि दूसरों के अधिकार की रक्षा में विद्यमान राग की निवृत्ति होगी और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति न होगी। राग-रहित होते ही 'करना', 'होने' में बदल जाएगा, जो वास्तविक साधन है।

अब इस समस्या को हल करना है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा एवं अपने अधिकार का त्याग किस विचार से, किस भाव से और किस प्रकार से होना चाहिए? हमें किसी से कुछ भी लेना नहीं है, इस विचार से तो अपने अधिकार का त्याग हो सकता है; कारण, कि लेने की भावना नवीन राग तथा अधिकार-लालसा में आबद्ध करती है, जो असाधन है। अधिकार-लालसा का त्याग होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मोहता एवं निर्लोभतापूर्वक प्रभु के नाते, विश्व के नाते अथवा सर्वात्मभाव के नाते स्वतः होने लगती है; जिसके होने से कर्त्ता अपने अभीष्ट भाव में विलीन हो जाता है। क्योंकि प्रवृत्ति जिस भाव से आरम्भ होती है, कर्त्ता, प्रवृत्ति के अन्त में उसी भाव में विलीन होता है। यह तीनों

भाव रसरूप है और लक्ष्य से अभिन्न करने में समर्थ हैं।

अतः हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति कार्य-कुशलता, भाव की पवित्रता तथा लक्ष्य पर दृष्टि रखकर ही होनी चाहिए, तभी सहज-निवृत्ति एवं रागरहित जीवन प्राप्त होगा। रागरहित होते ही कामनाओं का अन्त एवं निःसन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति होगी, जो वास्तविक जीवन है।

वे सभी प्रवृत्तियाँ त्याज्य हैं, जिनमें सभी का हित, प्रभु की प्रसन्नता एवं सर्वात्मभाव निहित न हो। सभी के हित में अपना हित और प्रभु की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता स्वतः सिद्ध है। अतः अपने हित और अपनी प्रसन्नता के लिए सभी का हित और प्रभु की प्रसन्नता ही मुख्य साधन है।

भौतिकवाद की पराकाष्ठा सर्वहितकारी सद्भाव में, अध्यात्मवाद की पराकाष्ठा सर्वात्मभाव में और विश्वास की पराकाष्ठा प्रभु की प्रसन्नता मे निहित है। इन सभी की एकता में ही वास्तविक जीवन है। उसकी प्राप्ति होने पर ही करने की रुचि, पाने का लालच, जीने की आशा और मृत्यु का भय नहीं रहता।

गुणों के अभिमान का त्याग

वर्तमान जीवन का निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि अनित्य जीवन से निराशा ही हमें नित्य-जीवन से अभिनन कर सकती है। दो प्रकार के प्राणी ही अनित्य जीवन से निराश होते हैं-एक तो वे, जिन्होंने कर्त्तव्यनिष्ठ होकर सभी के अधिकारों की रक्षा की है और अपने अधिकारों का त्याग किया है। ऐसे महापुरुषों को अनित्य जीवन अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता। दूसरे वे निर्बल प्राणी, अनित्य जीवन से निराश होते हैं, जिन्हें संसार ने ठुकरा दिया है अर्थात् जिनमें कोई ऐसा गुण नहीं रह गया, जिनकी आवश्यकता संसार को हो। इन दोनों प्राणियों में अन्तर केवल इतना होता है कि बेचारा निर्बल प्राणी संसार की आशा करता है, पर संसार उसे स्थान नहीं देता और कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी की संसार आशा करता है, पर वह संसार को अपनी पूर्ति का हेतु नहीं मानता।

जिस प्रकार छाया के पीछे दौड़ने वाला छाया को नही पकड़ पाता और जो छाया से विमुख हो जाता है, उसे ही छाया नहीं पकड़ पाती; उसी प्रकार संसार को चाहने वाला भी संसार को नहीं पकड़ पाता और जो संसार के विमुख हो जाता है, उसे संसार भी नहीं पकड़ पाता। स्वरूप से दोनों ही संसार से अलग हैं, पर एक ही चाह में संसार है और दूसरे की संसार को चाह है।

यदि बेचारा पतित प्राणी भी यह जानकर कि संसार तो मुझे अपना ही नहीं सकता, संसार से निराश हो जाए और जीवन ही में मृत्यु का अनुभव कर डाले, तो वह भी उस अनन्त पर निर्भर होकर संसार से विमुख हो सकता है। संसार से विमुख होते ही वह भी उसी स्थिति में आ जाता है, जिस स्थिति में बड़े से बड़ा महापुरुष आता है अथवा यों कहो कि उसे भी संसार की चाह नहीं रहती। संसार की चाह से रहित होते ही पतित और

पवित्र, तुच्छ और महान्, निर्बल और सबल सब समान हो जाते हैं।

जो गुणों का अभिमानी है, परदोषदर्शी है, वह कभी भी अनित्य जीवन से निराश नहीं हो सकता; कारण, कि गुणों का अभिमान देहाभिमान को गलने नहीं देता और परदोषदर्शन गुणों के अभिमान को पुष्ट करता रहता है। इस दृष्टि से यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि पश्चाताप करने वाला पतित अनित्य जीवन से निराश हो सकता है, पर गुणों का अभिमानी और परदोषदर्शी कभी भी अनित्य जीवन से निराश नहीं हो सकता।

यह नियम है कि अनित्य जीवन से निराश होते ही नित्य-जीवन की उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जो नित्य-जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है; कारण, कि अनन्त नित्य-जीवन की उत्कट लालसा अनित्य जीवन की इच्छाओं को खा लेती है।

जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वयं आरोग्य से अभिन्न हो जाती है, उसी प्रकार अनन्त नित्य-जीवन की उत्कट लालसा भोगेच्छाओं को खाकर अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाती है।

अनित्य जीवन से निराश हो जाना तथा अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है, जिसके करने में कोई भी परतन्त्र नहीं है; क्योंकि सम्बन्ध तोड़ने और जोड़ने की स्वाधीनता सभी को प्राप्त है। किसी वस्तु के प्राप्त होने पर भी उससे सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है और किसी की अप्राप्ति में भी सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। सम्बन्ध तोड़ने में विमुखता और सम्बन्ध जोड़ने में सम्मुखता अपेक्षित है।

यह नियम है कि किसी की विमुखता किसी की सम्मुखता में स्वतः बदल जाती है। अतः सम्बन्ध तोड़ने में ही सम्बन्ध जोड़ने की सामर्थ्य निहित है। अनित्य जीवन से निराश होते ही किसी प्रकार का राग-द्वेष शेष नहीं रहता। राग-द्वेष-रहित होते ही त्याग और प्रेम स्वतः आ जाता है। त्याग से चिर-शान्ति तथा अमर जीवन और प्रेम से अगाध अनन्त रस स्वतः प्राप्त होता है।

निर्दोषता दो ही अवस्थाओं में प्राप्त हो सकती है-प्राप्त बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने पर अथवा निर्बल होकर निर्भर होने पर। निर्बल वही है, जो कछु नहीं कर सकता। जो कुछ नहीं कर सकता, उससे कोई बुराई भी नहीं हो सकती; क्योंकि बुराई करने के लिए भी बल अपेक्षित है।

इस दृष्टि से बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर करना ही दोष का हेतु है, निर्बलता नहीं। इतना ही नही, अपनी निर्बलता का परिचय ही अनन्त की महिमा पर विश्वास कराने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से अपनी निर्बलता का ज्ञान ही विकास का हेतु है।

गुणों का अभिमान उन्हीं प्राणियों में निवास करता है, जो निर्बल होने पर भी अपने को निर्बल नहीं मानते तथा किसी आंशिक गुण एवं परदोष-दर्शन के आधार पर अपने को गुणों के अभिमान में आबद्ध रखते हैं। यद्यपि गुणों का अभिमान सभी दोषों की भूमि है, परन्तु गुणों का अभिमानी इस रहस्य को जान नहीं पाता।

पर-दोषदर्शन करते हुए गुणों का अभिमान गल नहीं सकता। अब यदि कोई यह कहे कि दोषी को दोषी क्यों न माना जाये? तो कहना होगा कि बेचारा दोषी दोष-काल में ही तो दोषी है, उसके पश्चात् वह दोषी कैसे हो सकता है! प्राकृतिक नियम के अनुसार यदि किए हुए दोष को न दोहराए, तो बड़े से बड़ा दोषी भी निर्दोष है; क्योंकि वर्तमान की निर्दोषता ही वास्तविक निर्दोषता है। भूतकाल के आधार पर तो कोई भी निर्दोष सिद्ध नहीं हो सकता। मानव कोटि का कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो जन्मसिद्ध निर्दोष है। सभी दोषों का मूल एकमात्र राग है और जन्म का हेतु भी राग है।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि किसी को जन्मसिद्ध निर्दोष मानना सम्भव नहीं है। निर्दोषता तो साधनयुक्त जीवन का फल है। साधन का सम्बन्ध वर्तमान से है, भूतकाल से नहीं। जिसे हमने दोषी माना है, वह यदि साधन द्वारा निर्दोष हो गया है, तो क्या उस निर्दोषी को दोषी मानना हमारा महान् दोष नहीं है?

अपने दोष के सम्बन्ध में तो स्पष्ट ज्ञान सभी को है, पर दूसरों के दोष के सम्बन्ध में किसी भी व्यक्ति को पूरा ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि दोष प्रायः किसी के सामने तो किए नहीं जाते, दूसरों से सुनकर तथा अनुमान से ही किसी को दोषी मान लिया जाता है। सुनी हुई, देखी हुई और अनुमान की हुई बात में तथा वास्तविकता में बड़ा अन्तर होता है।

जैसा सुनते है, वैसा ही सत्य है, इनमें तो सन्देह है ही; पर कभी-कभी तो जैसा देखते में आता है, वह भी यथार्थ नहीं होता। तो फिर किसी की कोई बात सुनकर उसे वास्तव में दोषी मान लेना, कहाँ तक न्याय-संगत है?

सच तो यह है कि परदोष-दर्शन का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इतना ही नहीं, बड़े से बड़ा दोषी निर्दोष हो सकता है, परन्तु परदोषदर्शी का निर्दोष होना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है; कारण, कि बेचारे दोषी के जीवन मे तो अनेक प्रकार के भय, अनादर तथा कठिनाइयाँ आती हैं, जिनसे दुखी होकर दोषी दोष का त्याग कर सकता है; किन्तु परदोषदर्शी के जीवन में तो कोई कठिनाई नहीं आती, केवल मिथ्याभिमान की ही वृद्धि होती रहती है, जो सभी दोषों का हेतु है। इस दृष्टि से परदोषदर्शन दोष की अपेक्षा महान् दोष है।

परदोषदर्शन की भाँति अपने किए हुए दोषों का चिन्तन करते रहना और उनका त्याग न करना भी महान् दोष ही है। निर्दोष होने के लिए वर्तमान में ही प्रयत्नशील होना है। वह तभी सम्भव है, जब हम भूतकाल के दोषों का चिन्तन न करें, अपितु उनका त्याग करके जीवन में निर्दोषता की स्थापना करें।

अब यदि कोई यह कहे कि हम किए हुए दोषों के त्याग में और निर्दोषता की स्थापना में अपने को असमर्थ पाते हैं। तो कहना होगा कि असमर्थता की वेदना किसी समर्थ पर निर्भर होने की सामर्थ्य प्रदान करती है, अथवा स्वतः आवश्यक शक्ति का विकास करती है; क्योंकि वर्तमान की वेदना ही भविष्य की सफलता होती है।

इस दृष्टि से हमें निर्दोष होने से निराश नहीं होना चाहिए; कारण, कि निर्दोषता से हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है और दोषो से केवल मानी हुई एकता है; क्योंकि दोष आते-जाते रहते हैं, स्थाई रूप से नहीं रहते। दोष के न दोहराने पर सभी निर्दोष होते हैं। दोषों की वृद्धि दोषों के दोहराने पर निर्भर है। यदि दोषों को न दोहराया जाए, तो सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। अनित्य जीवन से निराश होने पर दोषों को न दोहराने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। अतः हमें वर्तमान में ही अनित्य जीवन से निराश हो जाना चाहिए।

अनित्य जीवन से निराशा

अनित्य जीवन की निराशा के समान न तो कोई विवेक है, न कोई त्याग है, न कोई प्रायश्चित है और न कोई तप है; कारण, कि अनित्य जीवन से निराश होते ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों से स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है जिसके होते ही जीवन ही में मृत्यु का अनुभव और अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है।

जिस प्रकार मृत्यु का दण्ड पाने वाले व्यक्ति को किसी अन्य अपराण का फल नहीं भोगना पड़ता, उसी प्रकार अनित्य जीवन से निराश होने वाले साधक को किसी भी कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता, कारण, कि कर्म के संस्कार जिस भूमि में विद्यमान रहते हैं, वह भूमि ही सदा के लिए मिट जाती है। जिस प्रकार भूतिरहित बीज उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अहं-भावरूपी भूमि के बिना कर्म-संस्कार फलित नहीं होते।

अतः यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि अनित्य जीवन से निराश होना ही महान् साधन है, जो सभी निर्बलताओं को खाकर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

सभी साधनों का समावेश अनित्य जीवन की निराशा में निहित है; क्योंकि किसी भी साधन का जो फल हो सकता है, वह तो होता ही है; पर अनित्य जीवन की निराशा से जो फल होता है वह किसी अन्य साधन से नहीं हो सकता।

जैसे, तप से शक्ति और पुण्य से उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति हो सकती है, पर न तो अमरत्व मिल सकता है, न परम प्रेम प्राप्त हो सकता है और न चिर-शान्ति तथा स्थाई प्रसन्नता ही मिल सकती है, जो अनित्य जीवन से निराश होने पर स्वतः प्राप्त होती है।

अब यदि यह कहे कि अनित्य जीवन से निराश होने पर हमारा भौतिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाएगा। तो कहना होगा कि ऐसी बात नहीं है। अनित्य-जीवन से निराश होने पर नित्य जीवन की प्राप्ति तो हो ही जाती है, पर अनित्य जीवन में भी सौन्दर्य आ जाता है; कारण, कि नित्य जीवन का प्रकाश अनित्य जीवन को स्वतः सुन्दर बना देता है, अर्थात् उसमें दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव होने लगता है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनित्य जीवन से निराश होने के लिए हमें क्या करना चाहिए? इसका समाधान यही हो सकता है कि जब हम निज-विवेक के द्वारा क्षण-भंगुर शरीर से निराश हो जाते हैं, तब समस्त अनित्य जीवन से

निराश होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है; कारण, कि शरीर का अविश्वास शरीर से अतीत के जीवन पर विश्वास कराने में समर्थ है।

अनित्य-जीवन की निराशा स्वार्थभाव को खाकर विश्व-प्रेम, देहाभिमान को खाकर अपने में ही सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य तथा अहं और मम को मिटाकर प्रभु-प्रेम प्रदान करती है। इस दृष्टि से अनित्य-जीवन की निराशा में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

अनित्य-जीवन की निराशा का अर्थ अनित्य-जीवन से घृणा करना नहीं है, अपितु त्यागे हुए मल की भाँति उससे विमुख होना है। जिस प्रकार त्यागा हुआ मल खाद बनकर खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ है, उसी प्रकार अनित्य-जीवन की निराशा समस्त विश्व की सेवा बनकर उसे हरा-भरा बनाने में समर्थ है और वह साधक को अमर भी कर देती है।

अनित्य-जीवन की निराशा वर्तमान से सम्बन्ध रखती है; उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है। निज-विवेक का आदर करने पर अनित्य-जीवन से निराशा होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। अतः हमें अनित्य-जीवन से निराश होकर वर्तमान में ही जीवन की पूर्णता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

कामना-निवृत्ति

जीवन का निरीक्षण करने पर जीवन के दो भाग दिखाई देते हैं-एक तो वह, जिसे हम कामना-पूर्ति के नाम से कहते हैं, जिसके लिए शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि तथा अनेकों बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा होती है दूसरा वह, जिसे हम जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्ति के नाम से कहते हैं। उनकी पूर्ति के लिए बाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे; शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि की भी अपेक्षा नहीं होती है क्योंकि सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से विमुख होने पर ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति हो सकती है।

अब विचार यह करना है कि क्या हम कामना-पूर्ति के जीवन को चाहते हैं अथवा जिज्ञासा-पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति के जीवन को अथवा दोनों को चाहते हैं? इसका निर्णय करने के लिए हमें दोनों प्रकार के जीवन के स्वरूप का अध्यय करना होगा। कामना-पूर्ति के जीवन में प्रवृत्ति है, परन्तु प्राप्ति कुछ नहीं; कारण, कि अनेक बार कामनाओं की पूर्ति होने पर भी अभाव का अभाव नहीं होता, अपितु जड़ता, परतन्त्रता एवं शक्तिहीनता में ही आबद्ध होना पड़ता है, जो स्वभाव से प्रिय नहीं है। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति का जीवन ही हमें जन्म और मृत्यु की ओर गतिशील करता है।

कामना-पूर्ति के जीवन में श्रम है, विश्राम नहीं; गति है, स्थिरता नहीं; भोग है, योग नहीं; अशान्ति है, चिर-शान्ति नहीं और जिज्ञासा-पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति के जीवन में नित्य-योगब है, चिरशान्ति है, अमरत्व है और अगाध अनन्त रस है, जो सभी को स्वभाव से ही प्रिय है।

अब यदि कोई कहे कि हम दोनों प्रकार का जीवन चाहते हैं। तो कहना होगा कि यदि कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति के लिए ही अपेक्षित है, कामना-पूर्ति के सुख-भोग के लिए

नहीं, तो जीवन के दोनों भागों का समावेश एक ही जीवन में हो जाता है; परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कामना-पूर्ति की सुख-लोलुपता का त्याग कर दिया जाए और कामना-निवृत्ति के लिए ही कामना-पूर्ति का उपयोग किया जाए।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्ति का जीवन हम साधारण व्यक्तियों को सुलभ है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसकी लालसा किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती, उसकी पूर्ति अनिवार्य है।

कामनाओं की निवृत्ति हो सकती है, पर निस्सन्देहता तथा प्रेम-प्राप्ति की लालसा मिटाई नहीं जा सकती अर्थात् निवृत्त नहीं हो सकती; अत: उसकी पूर्ति अनिवार्य है। इसलिए ऐसे जीवन से हमें निराश नहीं होना चाहिए अर्थात् हम सभी को प्रेम की प्राप्ति तथा हमारी जिज्ञासा की पूर्ति हो सकती है; कारण, कि कामनाओं की निवृत्ति में जिज्ञासा की पूर्ति और जिज्ञासा की पूर्ति में प्रेम की प्राप्ति निहित है।

कामनाओं की उत्पत्ति अविवेसिद्ध है, इसलिए वह विवेकपूर्वक मिटाई जा सकती है। परतन्त्रता तो केवल कामना-पूर्ति में है, निवृत्ति में नहीं; क्योंकि कामना-पूर्ति के लिए परिस्थिति विशेष की अपेक्षा होती है, जो सबके लिए सर्वदा सम्भव नहीं है। इसी कारण कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि हमारी सभी कामनाएँ पूरी हो गई। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी भी कामना की पूर्ति नहीं होती।

हाँ, यह अवश्य है कि कामना-पूर्ति का सुख कामना-उत्पत्ति का हेतु बन जाता है। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति भी कामना-उत्पत्ति के ही समान है। अतः कामना-पूर्ति का प्रयास अन्त में निरर्थक ही सिद्ध होता है।

अब विचार यह करना है कि कामना-पूर्ति का जीवन में क्या स्थान है? तो कहना होगा कि जिस राग को साधक विचार से न मिटा सके, उसकी वास्तविकता को जानने के लिए उसे विधान के अनुरूप कामना-पूर्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कामना-पूर्ति का जीवन में और कोई स्थान नहीं है।

सारांश यह निकला कि कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति के लिए ही अपेक्षित है। इस दृष्टि से यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति ही वास्तविक जीवन है।

जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उससे निराश होना भूल है। यह विश्वास ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेम प्राप्ति की सामर्थ्य स्वतः आने लगती है।

शरीर, मन, इन्द्रिय आदि का व्यापार जब निज-ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होने लगता है, तब राग, वैराग्य में और भोग, योग में बदल जाता है, जो कामना-निवृत्ति का हेतु है। कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है और जिज्ञासा-पूर्ति में ही प्रेम की प्राप्ति विद्यमान है। यही वास्तविक जीवन है।

नित्य-जीवन का अनित्य-जीवन पर प्रभाव

वर्तमान दशा का अध्ययन करने पर यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि अनित्य-जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर जिस दिव्य-जीवन की प्राप्ति होती है, क्या उसका प्रभाव अनित्य-जीवन पर नहीं होता?

विचार करने पर मालूम होता है कि अनित्य-जीवन की ओर गतिशील होने पर विवेक भाव में, भाव कर्म में और कर्म परिस्थित में बदल जाता है एवं नित्य-जीवन की ओर गतिशील होने पर कर्म भाव में, भाव विवेक में और विवेक नित्य-जीवन में विलीन हो जाता है।

अनित्य-जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर नित्य-जीवन से अभिन्नता तो हो ही जाती है, साथ-साथ अनित्य-जीवन में भी दिव्य-जीवन का प्रभाव स्वतः होने लगता है अर्थात् भाव और विवेक-ये दोनों जीवन में मूर्तिमान होकर प्रदर्शित होने लगते हैं।

जिस प्रकार चित्रकार अपने भाव को चित्र द्वारा प्रकाशित करता है, उसी प्रकार दिव्य-जीवन की दिव्यता बाह्य जीवन से स्वतः प्रकाशित होने लगती है।

अनित्य-जीवन में आकृति से भाव की उत्पत्ति होती है और दिव्य-जीवन में भाव से आकृति की उत्पत्ति होती है अर्थात् आन्तरिक जीवन ही मूर्तिमान हो जाता है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों दिव्यता, जीवन बनती जाती है, त्यों-त्यों जड़ता, चिन्मयता में परिवर्तित होती जाती है। पर इस रहस्य को कोई विरले ही जानते हैं।

अनित्य और नित्य-जीवन के मध्य में अहंभाव-रूपी अणु ही एक ऐसा आवरण है, जो दिव्य-जीवन की दिव्यता को इस भौतिक जीवन में अवतरित नहीं होने देता। यदि विवेकपूर्वक आत्मसमर्पण द्वारा अहंभावरूपी अणु का अन्त कर दिया जाए, तो उस अनन्त की कृपा-शक्ति स्वतः बाह्य जीवन को दिव्य बनाने लगती है, अर्थात् आन्तरिक जीवन का दर्शन बाह्य जीवन में होने लगता है।

अहंभारूपी अणु के टूटते ही निर्वासना आ जाती है। वासनओं का अन्त होते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः उत्पन्न होते हैं और उनका प्रभाव समस्त विश्व पर होने लगता है। पर उसकी अनुभूति उन्हीं साधकों को होती है, जिन्होंने नित्य-जीवन से सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है।

आज जिन दिव्य गुणों का प्रचार हम व्याख्यान, लेख आदि बाह्य उपचारों के द्वारा करना चाहते हैं; अथवा वैधानिक रूप से दोषों को बलपूर्वक मिटाना चाहते हैं, तथापि सफलता का दर्शन नहीं होता, उसका एकमात्र कारण यही है कि हम अपने अन्तर्मुख जीवन द्वारा दिव्यता को विभु नहीं बनाते।

बाह्य उपचारों को द्वारा प्रचारी करना वैसा ही है, जिस प्रकार कुएँ से जल खींचकर भूमि को सींचने का प्रयास और अन्तर्मुख दिव्य-जीवन द्वारा प्रचार उसी प्रकार है, जिस प्रकार बादल बनकर वर्षा द्वारा भूमि को हरा-भरा बना देना।

यह नियम है कि जो वस्तु जितनी स्थूल होती है उतनी ही सीमित होती है और जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, उतनी ही विभु होती है। इस दृष्टि से कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा प्राण एवं मन, मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि की अपेक्षा जो बुद्धि से परे है, वह विभु है।

अनित्य-जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है। तदनन्तर बुद्धि सम होकर साधक का उस चिन्मय जीवन में प्रवेश हो जाता है, जो अनन्त है अथवा यों कहो कि विवेक का प्रकाश बुद्धि को और बुद्धि का प्रकाश मन को दिव्य बनाता है। मन की दिव्यता इन्द्रियों को दिव्य बनाती है और इन्द्रियों की दिव्यता परिस्थिति में सौन्दर्य उत्पन्न करती है, क्योंकि जहाँ कहीं जो सौन्दर्य है, वह अनन्त की ही अभिव्यक्ति है।

अतः हमें दिव्य-जीवन से अभिन्न होकर ही बाह्य जीवन में दिव्यता की अभिव्यक्ति करनी चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब हम देहाभिमान से त्यागपूर्वक अन्तर्मुख होकर मूक सेवा को अपनाएँ। जिस प्रकार स्थिर भूमि में ही अनेक पौधे उपजते हैं और अचल हिमालय से ही अनेक नदियाँ निकलती हैं, जो भूमि को हरा-भरा बनाने में समर्थ हैं, उसी प्रकार मूक सेवा से ही विश्व में दिव्यता का प्रसार होता है।

यद्यपि 'मूक-सेवा' इन्द्रियजन्य ज्ञान से देखी नहीं जा सकती, परन्तु विभु होकर सभी को सब कुछ प्रदान करती है, अर्थात् उसी के द्वारा बाह्य सेवा भी सजीव तथा सार्थक होती है। पर इस रहस्य को तत्त्वदर्शी महापुरुष ही जानते हैं। इस दृष्टि से मूक-सेवा बाह्य सेवा की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। पर वह सेवा उन्हीं साधकों के द्वारा हो सकती है, जो उत्तरोत्तर शान्ति की ओर गतिशील होते जाते हैं।

शान्ति की ओर गतिशील होने के लिए हमें अचाह, अप्रयत्न एवं अभिन्नता को ही अपनाना होगा। अचाह से दोषों की निवृत्ति हो जाएगी, अप्रयत्न से 'अहम्' टूट जाएगा और अभिन्नता से दिव्य चिन्मय प्रेम की प्राप्ति होगी, जो सब प्रकार के भेद का अन्त करने में समर्थ है। भेद का अन्त होते ही सब प्रकार के संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं और उस अनन्त नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जिसकी कृपाशक्ति समस्त विश्व को दिव्य बनाने में समर्थ है।

माने हुए सम्बन्ध की निवृत्ति और नित्य सम्बन्ध की प्राप्ति

जीवन के निरीक्षण ये यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर आदि जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनसे हमारी जातयी तथा स्वरूप की एकता नहीं है। जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना अस्वाभाविकता है।

जब वह अस्वाभाविकता, स्वाभाविकता का स्थान पा जाती है, तब अनेक अस्वाभाविक इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो देखने में स्वाभाविक-सी प्रतीत होती है प्रतीत हैं, पर स्वाभाविक लालसा की पूर्ति में सर्वदा असमर्थ ही रहती है। जैसे, मृत्यु के भय से मुक्त होने की

लालसा, सन्देह-रहित होने की रुचि एवं अगाध अनन्त रस पाने की माँग को अस्वाभाविक इच्छाएँ न तो मिटा ही पाती हैं और न पूरा ही कर पाती हैं।

अब विचार यह करना है कि स्वाभाविक इच्छाओं का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि संयोग-जनित सुख-भोग और अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि की रुचि को ही अस्वाभाविक इच्छाएँ कहते हैं।

संयोगजनित सुख का भोग वियोग का भय उत्पन्न करता है और अप्राप्त परिस्थिति की रुचि दीनता, परतन्त्रता तथा व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध करती है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

स्वाभाविक लालसा और अस्वाभाविक इच्छाओं के स्वरूप को जानकर स्वाभाविक लालसा की पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति हमें वर्तमान में ही कर लेनी चाहिए; और इसके लिए जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उससे वर्तमान में ही सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिए। यद्यपि सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर भी सम्बन्धजनित जो कार्य उत्पन्न हो गया है, वह कुछ काल तो रहेगा ही; परन्तु वह अपने आप मिट जाएगा, उसके लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है।

यह नियम है कि कारण का नाश होने पर भी उसका कार्य कुछ काल रहता ही है, जो समय पाकर अपने-आप मिट जाता है। जिस प्रकार हरे-भरे वृक्ष का मूल काट देने पर भी वह ऊपर से कुछ काल हरा-भरा ही दिखाई देता है, पर कुछ काल में स्वयं ही सूख जाता है; उसी प्रकार माने हुए सम्बन्ध का त्याग हो जाने पर भी कुछ काल तक शरीर आदि का व्यापार स्वतः ही होता रहता है; पर उसके करने का अभिमान नहीं होता और न किसी प्रकार का राग ही अंकित होता है।

राग-रहित होते ही नित्य-योग, अनुराग एवं बोधरूपी सूर्य उदय होता है, जो स्वाभाविक लालसा की पूर्ति में समर्थ है। नित्य-योग से चिर-शान्ति, बोध से अमरत्व और अनुराग से अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि होती है, जो सभी को अभीष्ट है।

जिससे केवल मानी हुई एकता है जातीय नहीं, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने में जो भय प्रतीत होता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि हमें विश्वास नहीं रहा है कि वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत भी जीवन है। यद्यपि निज-विवेक का प्रकाश यह स्पष्ट कर देता है कि वस्तु, अवस्था आदि के परिवर्तन होने पर भी उनका प्रकाशक ज्यों-का-त्यों है; परन्तु अवस्था आदि की आसक्ति एवं तद्रूपता भय उत्पन्न कर देती है, जो वास्तव में प्राप्त विवेक का अनादर ही है। साधक के जीवन में विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि विवेकयुक्त जीवन का नाम ही साधनयुक्त जीवन है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्राप्त परिस्थिति सतत् बदल रही है और अप्राप्त परिस्थिति वर्तमान में विद्यमान नहीं है। अतः किसी भी परिस्थिति से नित्य-सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

जो सम्भव नहीं है, उसकी आशा करना, उस पर विश्वास करना भूल ही है और कुछ नहीं। इसे वर्तमान में ही मिटा देना है। तभी हम प्राप्त

परिस्थिति की आसक्ति से और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित हो सकते हैं।

हमारा नित्य-योग उसी से हो सकता है, जो सर्वत्र और सर्वकाल में हो और जिसमें किसी प्रकार का अभाव न हो, अपितु जो सभी अभावों का अभाव करने में समर्थ हो। जो सर्वकाल में है, वह वर्तमान में भी है।

अतः नित्य-योग की प्राप्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसे भविष्य की आशा पर छोड़ना असावधानी है और कुछ नहीं। परिस्थितियों के वियोग में ही नित्य-योग की सामर्थ्य निहित है और परिस्थितियों सदुपयोग में ही परिस्थितियों से असंगहोने की योग्यता विद्यमान है।

शरीर की वास्तविकता को जान लेने में समस्त विश्व का ज्ञान निहित है, क्योंकि शरीर और विश्व में जातीय एकता है। शरीर के आदि, मध्य और अन्त का ज्ञान हमें शरीर से अरुचि तथा असंगता प्रदान करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, शरीर का राग मिटते ही सभी भोगों का राग स्वतः मिट जाता है। शरीर के राग के कारण ही हम उन वस्तुओं के पीछे दौड़ते हैं, जो हमारी बिना रह सकती हैं अथवा जिनके बिना हम रह सकते हैं।

हाँ, यह अवश्य है कि शरीर आदि प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग में कर्त्तव्य-बुद्धि से हमारा कुछ अधिकार है; पर उन्हें अपना मानने का लेशमात्र भी अधिकार नहीं है, क्योंकि शरीर आदि सभी वस्तुएँ उसी अनन्त की हैं, जिसके किसी एक अंश में समस्त विश्व विद्यमान है।

शरीर की ममता से रहित होकर शरीर की सेवा करने में शरीर का हित और अपना कल्याण है। शरीर की सेवा करते हुए इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि वहीं स्थूल शरीर के हित के लिए सूक्ष्म शरीर को दोषयुक्त न बना लिया जाए; अर्थात् स्थूल शरीर को पुष्ट करने के लिए सूक्ष्म शरीर को हिंसक न बनाया जाए तथा स्थूल शरीर को आराम देने के लिए सूक्ष्म शरीर को बेईमान तथा संग्रही न बना दिया जाए; क्योंकि स्थूल शरीर की सेवा की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर की सेवा अधिक महत्व की वस्तु हैं; कारण, कि स्थूल शरीर का सम्बन्ध तो वर्तमान जीवन तक ही है परन्तु सूक्ष्म शरीर तो प्राणान्त के बाद भी साथ रहता है। इतना ही नहीं सूक्ष्म शरीर के अनुरूप ही दूसरा जन्म होता है।

जन्म और मृत्यु एक ही जीवन के दो पहलू हैं; कारण, कि उत्पत्ति में ही विनाश और विनाश में है उत्पत्ति निहित है। जब तक कारण शरीर का अन्त न हो जाए, तब तक जन्म और मृत्यु का प्रवाह सतत् चलता ही रहता है।

कारण शरीर का अन्त करने के लिए सूक्ष्म शरीर को शुद्ध रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि राग-द्वेष रहित होने पर ही त्याग और प्रेम प्राप्त होता है। त्याग से अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति और प्रेम से स्वाभाविक लालसा की पूर्ति स्वतः हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है।

सहज निवृत्ति का सदुपयोग

वर्तमान दशा का अध्ययन करने पर हमें किसी न किसी प्रकार की चाह, प्रतीति, प्रवृत्ति और आसक्ति का ही दर्शन होता है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज निवृत्ति भी स्वभाव से ही आती है, तथापि प्रवृत्तिजन्य सुख का भोग निवृत्ति-काल में भी किसी न किसी प्रकार की चाह और

आसक्ति में ही आबद्ध रखता है। चाह और आसक्ति के रहते हुए हम सदैव प्रतीति की ओर ही गतिशील रहते हैं।

जिस प्रकार सूर्य से विमुख होकर छाया की ओर दौड़ने पर कोई भी अपनी छाया को पकड़ नहीं पाता, अर्थात् प्राप्त नहीं कर पाता, उसी प्रकार की प्रतीति की ओर प्रवृत्ति होने पर प्रवृत्ति के अन्त में कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाता। प्रवृत्ति का अन्त किसी न किसी प्रकार के अभाव को ही सिद्ध करता है।

जब प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप अभाव की वेदना सबल तथा स्थाई हो जाती है, तब प्रवृत्ति के अन्त में आने वाले सहज निवृत्तिकाल में किसी की मधुर स्मृति उत्पन्न होती है, चाहे उसका स्वरूप जिज्ञासा हो अथवा प्रिय की लालसा।

स्मृति उसी की होती है जिसकी जिज्ञासा हो और जिज्ञासा उसी की होती है जिसकी स्मृति हो; कारण, कि जिसको जानना चाहते हैं, उसको प्राप्त भी करना चाहते हैं और जिसको प्राप्त करना चाहते हैं, उसको जानना भी चाहते हैं।

मधुर स्मृति और जिज्ञासा उसी की हो सकती है, जो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हो, अर्थात् जिससे देश-काल की दूरी न हो और जो उत्पत्ति-विनाश आदि दोषों से रहित हो। जिसकी स्मृति होती है, उसी से प्रीति होती है और जिससे प्रीति होती है, उसी की प्राप्ति होती है। यह निर्विववाद सत्य है।

प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में आने वाली सहज निवृत्ति का सदुपयोग स्मृति, प्रीति और प्राप्ति कराने में समर्थ है और उसका दुरुपयोग चाह, आसक्ति तथा अभाव में आबद्ध करता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है।

अतः स्वभाव से आने वाली सहज निवृत्ति बड़े ही महत्व की वस्तु है। उसका सदुपयोग करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा जब प्रवृत्ति की रुचि मधुर स्मृति के स्वरूप में बदल जाए; कारण, कि मधुर स्मृति प्रवृत्ति की चाह और आसक्ति को खाकर प्रीति जाग्रत करने में समर्थ है।

मधुर स्मृति कर्म तथा अभ्यास नहीं है, अपितु श्रम-रहित तथा स्वाभाविक है; इसी कारण अखण्ड और अनन्त भी है एवं सबके लिए साध्य भी है। अतः स्मृति से निराश होना भूल है।

प्रवृत्ति का राग तथा उसकी आसक्ति और चाह, स्मृति को ढक भले ही ले, पर उसे मिटा नहीं सकती; क्योंकि उनका नित्य सम्बन्ध अनन्त से है, किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति से नहीं। अनन्त की स्मृति भी अनन्त के समान ही दिव्य, चिन्मय तथा नित्य है; क्योंकि स्मृति में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह है। जिस काल में स्मृति प्रिय से भिन्न की विस्मृति करा देती है, उसी काल में प्रिय से अभिन्न हो जाती है, अथवा यों कहो कि स्मृति अनन्त की प्रीति होकर अनन्त ही में निवास करती है।

इस दृष्टि से प्रिय की स्मृति ही जीवन और विस्मृति ही मृत्यु है। ज्यों-ज्यों प्रवृत्ति का राग मिटता जाता है, त्यों-त्यों स्मृति स्वतः सबल तथा स्थाई होती जाती है और राग का अन्त होते ही वह अनुराग का उद्दीप्त कर, उस अगाध अनन्त रस को प्रदान करती है, जो जीवन है। इतना ही नहीं

वह जन्म-मृत्यु, संयोग-वियोग, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों को विध्वंस करने में भी समर्थ है। अतः प्रियतम की स्मृति को जाग्रत करने के लिए हमें वर्तमान में ही अथक प्रयत्न करना चाहिए।

वर्तमान का सदुपयोग

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान कर्त्तव्यपालन ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है; क्योंकि वर्तमान का सदुपयोग ही भविष्य को उज्जवल बनाता है और कार्य से असंग होने की सामर्थ्य भी प्रदान करता है।

सिद्धान्त रूप से प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म के दो परिणाम होते हैं-एक तो कर्ता के विद्यमान राग की निवृत्ति और दूसरा उस कार्य से जिनका सम्बन्ध है, उनके अधिकार की रक्षा। कर्ता का राग निवृत्त होते ही कर्ता जिज्ञासु तथा प्रेमी होने में समर्थ होता है और जिनके अधिकार की रक्षा होती है, उनका भी हित होता है; अथवा यों कहो कि इससे बाह्य परिस्थिति भी सुन्दर हो जाती है। इस दृष्टि से यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान कर्त्तव्य ही उत्कृष्ट कार्य है। अतः बड़ी ही सावधानीपूर्वक उसका सदुपयोग करना चाहिए।

वर्तमान का सदुपयोग तभी सम्भव होगा, जब कर्ता प्राप्त कार्य को सर्वोत्कृष्ट कार्य माने, विधान के अनुरूप कार्य का सम्पादन करे और अपने को उस कार्य में पूरा लगा दे । पर इस बात का सदैव ध्यान रहे कि यह नियम उन्हीं कार्यों के लिए है, जो करने के योग्य हैं। जिन कार्यों से दूसरों का अहित हो, वे किसी भी अवस्था में करने योग्य नहीं हैं। जो करने योग्य नहीं हैं, उन कार्यों का तो त्याग ही करना होगा।

यह नियम है कि अकरणीय कार्य के त्याग में ही करणीय कार्य को करने की सामर्थ्य निहित है। अतः जो करना चाहिए, उसके करने में लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है।

जो करना चाहिए, उसके करने पर व्यर्थ-चेष्टाओं का अन्त हो जाएगा और कार्य के अन्त में निर्विवकल्पता स्वतः आने लगेगी। निर्विवकल्पता कल्पतरु के समान है। यह जिज्ञासु में जिज्ञासा और प्रेमी में प्रियलालसा जाग्रत करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, चिर-शान्ति तथा नित्य-योग भी निर्विवकल्पता से ही प्राप्त होता है। जिज्ञासा की पूर्णता उस तत्त्व ज्ञान में और प्रियलालसा उस प्रेम में बदल जाती है, जो वास्तव में जीवन है।

व्यर्थ-चेष्टाओं से ही व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है और व्यर्थ-चिन्तन से ही परिस्थिति का दुरुपयोग होता है तथा निर्विवकल्पता भंग होती है। निर्विवकल्पताप भंग होने से विकास रुक जाता है और परिस्थिति के दुरुपयोग के कारण कर्ता के राग की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में व्यर्थ-चिन्तन तथा व्यर्थ-चेष्टाओं के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

परिस्थितियों के चिन्तन से रहित होने पर प्रिय की स्मृति तथा विचार का उदय स्वतः हो जाता है। प्रिय की स्मृति से भिन्न की विस्मृति कराने में समर्थ है और विचार का उदय अविचार को नष्ट करता है। अविचार के नष्ट होते ही अविचार-सिद्ध स्वतः विलीन हो जाती है। प्रिय से भिन्न की विस्मृति प्रिय के अभिन्न करने में समर्थ है और प्रिय की

अभिन्नता दिव्य चिन्मय प्रेम प्रदान करने में समर्थ है; कारण, कि प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव और प्रेमी का जीवन है।

कर्म-विज्ञान की दृष्टि से कर्म से भिन्नता अनिवार्य है, पर प्रत्येक कार्य के प्रति प्रियता समान होनी चाहिए। ऐसा करने से प्रत्येक कर्म एक ही भाव में विलीन हो जाएगा और कर्मजन्य आसक्ति उत्पन्न न होगी; कारण, कि आसक्ति का हेतु रस है, जिसकी पूर्ति प्रियता से स्वतः हो जाती है।

कार्य में प्रधानता विधान के अनुरूप कार्यकुशलता की होती है और प्रियता कर्ता में विद्यमान रहती है। समान प्रियता कर्ता को कर्म से असंग करने में समर्थ है, क्योंकि प्रियता का भेद ही कर्ता को कर्म में आबद्ध करता है। अतः प्रियता के भेद का अन्त करना अनिवार्य है। कर्म का भेद प्राकृतिक है और प्रियता का भेद कर्ता का अपना बनाया हुआ दोष है, जिसे मिटाने का दायित्व कर्ता पर ही है। कर्ता के सभी दोष उस समय स्वतः मिट जाते हैं, जब वह जिज्ञासु और प्रेमी हो जाता है।

प्रेमी तथा जिज्ञासु होने के लिए प्रत्येक कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना चाहिए, क्योंकि कार्य की सुन्दरता कर्ता को स्वयं कार्य के चिन्तन से मुक्त कर देती है। कार्य के चिन्तन से मुक्त होते ही प्रिय लालसा अथवा तत्त्व जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है, जो प्रेमी तथा जिज्ञासु बनाने में समर्थ है। इस दृष्टि से सुन्दरतापूर्वक कार्य करना ही कार्य के चिन्तन से मुक्त होने का सुगम उपाय है।

अब विचार यह करना है कि कार्य के चिन्तन का हेतु क्या है। तो कहना होगा कि परिस्थिति के अनुसार किए हुए कार्य का राग ही कार्य के चिन्तन का हेतु है। किये हुए कार्य का राग तभी अंकि होता है, जब कर्ता कार्य में ही जीवन-बुद्धि कर लेता है अथवा किए हुए कार्य का फल भोगना चाहता है अर्थात् सुख-भोग की आसक्ति की कर्ता को परिस्थितियों में आबद्ध करती है।

परिस्थितियों में आबद्ध प्राणी अपने को कर्ता मान लेता है, जिज्ञासु तथा प्रेमी नहीं। कर्ता, कर्म और फल-यद्यपि इन तीनों में जातीय एकता है, परन्तु कर्ता फल की आशा के कारण कर्मजाल में आबद्ध होकर अपने को भोग के अधीन कर लेता है अर्थात् दीन हो जाता है।

यह नियम है कि दीनत्व के रहते हुए प्राणी कभी भी अभिमान से रहित नहीं हो पाता; कारण, कि दीनता किसी न किसी वस्तु, अवस्था आदि में आबद्ध कर देती है, जो अभिमान का हेतु है। दीनता और अभिमान का अन्त करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कर्ता सुख-भोग की आशा को त्याग करके प्रत्येक कार्य राग-निवृत्ति के भाव से अथवा अपने प्रियत की प्रसन्नता के भाव से सम्पादित करने का स्वभाव बना ले।

यह नियम है कि जिस भाव से कार्य किया जाता है, कर्ता अन्त में उसी भव में विलीन होता है, अर्थात् या तो वीतराग हो जाता है अथवा प्रेमी। वीतराग होते ही निरभिमानता आ जाती है और किसी प्रकार का दीनत्व शेष नहीं रहता है। दीनता और अभिमान के गलते ही समस्त जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है अथवा यों कहो कि प्रेमी, प्रेमी और प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती। जिस प्रकार कर्त्ता, कर्म और फल में

जातीय एकता है, उसी प्रकार प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद में भी जातीय एकता है।

देहाभिमान के कारण ही प्रेमी अपने को कर्ता मान लेता है। फिर प्रेम और प्रेमास्पद से वंचित्त होकर कर्म और कर्मफल में आबद्ध हो जाता है। यदि निर्मोहतापूर्वक देहाभिमान का त्याग कर दिया जाए, तो कर्ता स्वयं प्रेमी हो जाता है; उसके बाद प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न होने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, प्रेमी होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति में अपने प्रियतम का ही दर्शन होने लगता है और प्रवृत्ति के अन्त में प्रेमी प्रीति होकर प्रियतम से अभिन्न हो जाता है अर्थात् समस्त जीवन प्रीति की ही अभिव्यक्ति हो जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रियतम प्रीति में ही विद्यमान है और प्रीति से ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः प्रीति की प्राप्ति के लिए हमें प्रत्येक कार्य सुन्दरतापूर्वक करना चाहिए।

आसक्ति और प्रीति

जीवन का निरीक्षण करने पर यह सभी को मान्य होगा कि आसक्ति ओर प्रीति में केवल इतना भेद है कि आसक्ति 'पर' से और प्रीति 'स्व' से होती है अथवा यों कहो कि प्रीति उसी से होती है, जो नित्य प्राप्त है और आसक्ति उसी से होती है, जिसका सतत् वियोग है। नित्य प्राप्त से दूरी और जिसका सतत् वियोग है, उसकी समीपता का दर्शन कराने में एकमात्र आसक्ति ही हेतु है। इतना ही नहीं, प्राप्त का अभाव और अप्राप्त का भाव, यह विपरीत ज्ञान भी आसक्ति से होता है।

अब यदि कोई यह कहे कि आसक्ति का आरम्भ कब से हुआ। तो कहना होगा कि उसके निश्चित काल का तो पता नहीं, पर आसक्ति मिटाई जा सकती है। इस आधार पर ही यह कह सकते हैं कि आसक्ति हो गई है, नित्य नहीं है। सब प्रकार की आसक्तियों का अन्त वर्तमान में हो सकता है।

आसक्तियों का अन्त होते ही नित्य-प्राप्त से नित्य-योग तथा प्रीति स्वतः हो जाएगी और फिर किसी प्रकार का बन्धन शेष नहीं रहेगा अर्थात् नित्य-योग में ही नित्य-जीवन की प्राप्ति और मृत्यु है।

अब विचार यह करना है कि आसक्तियों का अन्त कैसे हो? वह तभी होगा, जब हम उन सबकी सेव करें, जिनका वियोग हो रहा है। वियोग उन्हीं का हो रहा है, जिनसे संयोग है। संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव करने से भी आसक्तियों का अन्त हो सकता है। संयोग-काल में वियेग का अनुभव करने के लिए हमें अपने में से उन सभी को पृथक करना होगा, जिसको 'यह' के नाम से कहते हैं। 'यह' और 'मैं' का विभाजन होने पर निर्वासना आ जाती है, जिसके आते ही सभी आसक्तियों की जड़ स्वतः कट जाती है। 'यह' और 'मैं' का विभाजन होने पर 'मैं', 'है' की प्रीति अथवा 'है' का योग बन जाता है; कारण, कि बिना किसी आश्रम के 'मैं' का अस्तित्व स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसको 'है' कहते हैं, उसको ही 'मैं' क्यों न कहा जाए? तो कहना होगा कि 'मैं' अनेक मान्यताओं के रूप में

स्वीकार किया गया है और 'मैं' का अर्थ सीमित रूप में अनेक बार किया गया है, इस कारण 'है' को 'मैं' कहने में प्रमाद हो सकता है। हाँ, यह और बात है कि यदि किसी को 'मैं' के प्रति इतनी ममता हो जाए कि उसको किसी न किसी रूप से जीवित ही रखना है, तो भले ही 'है' को 'मैं' के नाम से कह दिया जाए।

वास्तव में तो 'मैं', 'है' की प्रीति है, और कुछ नहीं। यद्यपि प्रीति में सत्ता उसी की होती है, जिसक वह है। इस दृष्टि 'मैं', 'है' की ही अभिव्यक्ति है।

नित्य-प्राप्त की प्राप्ति में ही जीवन है और उसकी विमुखता में ही मृत्यु है। नित्य-प्राप्त से विमुखता ही दृश्य से संयोग कराती है। संयोग का ही वियोग होता है, प्राप्त का नहीं। इतना ही नहीं, प्रतीति भी संयोग की ही होती है, प्राप्त की नहीं। प्राप्त से तो अभिन्नता हो सकती है, उसकी प्रतीति नहीं। पर इस रहस्य को वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने जीवन का अध्ययन किया है; क्योंकि जीवन के अध्ययन में ही जानकारी विद्यमान है।

शरीर आदि प्राप्त वस्तुओं की ममता का त्याग और अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन का त्याग वर्तमान जीवन की वस्तु है; क्योंकि प्राप्त की ममता का और अप्राप्त के चिन्तन का त्याग विवेकसिद्ध है, अभ्याससाध्य नहीं। जो विवेकसिद्ध है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकती है।

अतः सभी आसक्तियों का त्याग वर्तमान जीवन की वस्तु है। जो वर्तमान में ही सम्भव है, उसके लिए भविष्य की आशा करना असावधानी है। यद्यपि असावधानी का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, परन्तु प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन ने ही असावधानी को जन्म दिया है। ममता करने मात्र से ही कोई वस्तु सुरक्षित नहीं रह सकती और चिन्तन मात्र से ही कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती, तो फिर ममता और चिन्तन का जीवन में अर्थ ही क्या है?

हाँ, प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग का और प्राप्त व्यक्तियों की सेवा का तो जीवन में स्थान है; क्योंकि प्राप्त व्यक्तियों की सेवा से मोह का और प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग से लोभ का अन्त हो जाता है।

यह नियम है कि निर्लोभता तथा निर्मोहता आ जाने पर सभी आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती है। आसक्तियों के मिटते ही सभी बन्धन अपने-आप टूट जाते हैं और प्राप्त नित-नव प्रीति जाग्रत होती है, जो वास्तव में जीवन है।

जो स्वभाव से ही जा रहा है, उसे आप रोक नहीं सकते। उसकी तो यथाशक्ति सेवा कर दो अथवा उससे क्षमा माँग लो या उसे प्रीतिपूर्वक विदाई दे दो। ऐसा करते ही हम उससे अभिन्न हो जाएँगे, जिससे हमारा नित्य-सम्बन्ध एवं स्वरूप की एकता है।

यद्यपि साधन में न तो पराधीनता है, न असमर्थता है और न असफलता। परन्तु जो कर सकते हैं, उसके न करने से; जो जानते हैं, उसके न मानने से; और जो नहीं कर सकते, असमर्थता एवं परतन्त्रता आ जाती है। समस्त सामर्थ्य शान्ति में निहित है, संग्रह में नहीं। शान्ति त्याग में निहित है, राग में नहीं।

यह सभी को मान्य होगा कि त्याग में स्वाधीनता और संग्रह में पराधीनता है। पराधीनता का अन्त करने के लिए हमें संग्रह-रहित जीवन का अनुभव करना होगा, जिसके करने में साधक सर्वदा स्वाधीन है। संग्रह-रहित जीवन में ही प्रीति का प्रादुर्भाव होता है। प्रीति में ही नित-नव रस विद्यमान है।

यह सभी विचारशीलों को मान्य होगा कि रस के अभाव में ही विकारों का जन्म होता है और प्रीति के अभाव से ही रस का अभाव होता है। अतः निर्विवकार होने के लिए प्रीति-युक्त जीवन अनिवार्य है। प्रीति नित्य-प्राप्त से ही सम्भव है, किसी अन्य से नहीं; क्योंकि नित्य-प्राप्त से ही नित्य-योग हो सकता है, उससे नहीं, जिससे संयोग स्वीकार कर लिया है।

अतः जिससे संयोग है, उसकी सेवा करना है जो नित्य-प्राप्त है उससे प्रेम करना है। जिसकी सेवा करना, उससे ममता-रहित होना है और जिससे प्रेम करना है, उससे अभिन्न होना है। यही वास्तव में साधन-तत्त्व है। यह नियम है कि साधक-तत्त्व से अभिन्न होकर ही साध्य को पाता है।

व्याकुलता और प्रेम

वर्तमान दशा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि भोगों की ओर गतिशील होने पर क्षणि सुख का भास अथवा निराशा का ही दर्शन होता है और भोगों से अतीत की ओर गतिशील होने पर व्याकुलता, जीवन तथा प्रेम की उपलब्धि होती है।

व्याकुलता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों सभी दोष निर्दोषता में और सभी अभिमान निरभिमानता में तथा भेद और दूरी अभिन्नता एवं अत्यन्त निकटता में स्वतः बदलती जाती है अथवा योंकहो कि आवश्यक शक्ति का विकास अपने आप होने लगता है। इस दृष्टि से व्याकुलता बड़े ही महत्व की वस्तु है।

व्याकुलता की जागृति और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम अपने लक्ष्य को वर्तमान जीवन की ही वस्तु मानें और उससे कभी भी निराश न हों; अपितु उसके लिए नित-नव आशा का संचार होता रहे।

यह नियम है कि लक्ष्य वही हो सकता है, जिससे जातीय एकता, आत्मीयता एवं नित्य-सम्बन्ध हो। तभी हमारा लक्ष्य हमारे वर्तमान जीवन की वस्तु बन सकता है और उसी के लिए नित-नव आशा का संचार तथा व्याकुलता जाग्रत हो सकती है। अतः लक्ष्य से निराश होने के लिए जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

लक्ष्य का निर्माण व्याकुलता की जागृति में हेतु है और व्याकुलता की जागृति निर्दोष बनाकर जीवन प्रदान करने में समर्थ है तथा निर्दोष जीवन में ही प्रेम निहित है; कारण, कि नित्य-जीवन तथा प्रेम का विभाजन नहीं हो सकता और अनित्य-जीवन में प्रेम की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि लक्ष्य का निर्णय कैसे हो? यह सभी को मान्य होगा कि भो का आरम्भ-काल भले ही सुखद प्रतीत हो, पर अन्त में तो भयंकर दुःख ही प्राप्त होता है। इस

अनुभूति का आदर ज्यों-ज्यों स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों लक्ष्य के निर्णय की सामर्थ्य साधक में स्वतः आने लगती है और लक्ष्य का निर्णय होते ही साधन का निर्माण होने लगता है अथवा यों कहो कि साधक का समस्त जीवन अपने आप साधन बन जाता है। भोग के आरम्भ-काल के सुख का भास और परिणाम का भयंकर दुःख, भोग की वास्तविकता का ज्ञान तथा भोग से निराश करने में हेतु है, भोग को जीवन बनाने में नहीं।

अतः यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि भोग से योग की ओर गतिशील होने के लिए ही साधन-निर्माण की अपेक्षा है। विभिन्न साधकों के साध्य में एकता हो सकती है, साधन में नहीं; कारण, कि साधन का जन्म साधकों में से होता है, साध्य में से नहीं। सह सभी को मान्य होगा कि सर्वांश में दो साधक भी समान योग्यता के नहीं होते। इस कारण साधन का भेद स्वाभाविक है, पर साध्य का नहीं।

साधन-निर्माण करने के लिए हमें यह भली-भाँती जानना होगा कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने से, जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है।

अब विचार यह करना है कि क्या नहीं करना चाहिए? तो कहना होगा कि राग-द्वेष तथा स्वार्थ-भाव का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं नहीं है; क्योंकि ये तीनों अविवेकसिद्ध हैं। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए, उसे न करना सभी के लिए सहज, सुगम और अनायास है। यही नहीं, उसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा भी नहीं होती।

अतः जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने में सभी स्वाधीन हैं। इस दृष्टि से सभी साधक राग-द्वेष तथा स्वार्थ-भाव से रहित हो सकते हैं।

स्वार्थ-भाव का अन्त होते ही सर्वहितकारी भावनाएँ स्वतः उत्पन्न होती हैं, जो वास्तविक सेवा है। सेवा स्वार्थ को खाकर सेवक के हृदय को करुणा से भर देती है।

जो हृदय करुण-रस से भर जाता है, उससे राग-द्वेष स्वतः मिट जाते हैं। राग-द्वेष के मिटते ही त्याग और प्रेम अपने-आप आ जाते है। त्याग से चिर-शान्ति तथा नित्य-जीवन की उपलब्धि होती है और प्रेम अगाध अनन्त रस प्रदान करने में समर्थ है।

प्रेम एक ऐसा अलौकिक, दिव्य, चिन्मय तत्त्व है कि जो कभी घटता नहीं, मिटता नहीं और न कभी उसकी पूर्ति ही होती है, अपितु नित-नूतन ही रहता है। इसी कारण उसकी आवश्यकता सर्वदा समस्त विश्व को रहती है।

इतना ही नहीं, समस्त विश्व जिसके किसी एक अंश में है, उस अनन्त से भी अभिन्न करने में प्रेम ही समर्थ है; क्योंकि प्रेम किसी प्रकार की दूरी तथा भेद रहने नहीं देता। इस दृष्टि से केवल प्रेम ही प्राप्त करने योग्य तत्त्व है।

विवेक और प्रीति

जीवन का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि जो स्वतः हमसे दूर हो रहा है, उस पर से हमें अपना स्वत्व हटा लेना चाहिए। ऐसा करते ही लोभ, मोह, जड़ता आदि सभी विकार मिट जाते

हैं और निर्विवकारता एवं प्रीति उदय होती है, जो अपने में ही अपने प्रियतम से अभिन्न करने में समर्थ है। जाने वाली वस्तु, अवस्था एवं व्यक्तियों की ममता ही हमें लोभ, मोह, जड़ता आदि विकारों में आबद्ध करती है।

अब विचार यह करना है कि ममता से क्या प्राप्त वस्तुएँ सुरक्षित रह सकती हैं? अथवा अप्राप्त वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं? कदापि नहीं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि ममता का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है और ममता के त्याग से कोई क्षति भी नहीं है। वस्तुओं के सदुपयोग का और व्यक्तियों की सेवा का जीवन में स्थान है, पर उनको अपना मानने का नहीं।

यह नियम है कि जिन्हें हम अपना मान लेते हैं, उनका राग अंकित हो जाता है। जिसका राग अंकित हो जाता है, उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है और वह स्मृति व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न करती है, जो सार्थक-चिन्तन में विघ्न है। सार्थक-चिन्तन के बिना प्रीति जाग्रत नहीं होती और प्रीति के बिना नित्य-प्राप्त प्रियतम से अभिन्नता नहीं होती।

अतः प्रीति की जागृति के लिए निरर्थक-चिन्तन का त्याग अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने ममता सब ओर से हटाकर अपने नित्य-प्राप्त प्रियतम में कर लें।

हम से सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिनसे निराश नहीं होना चाहिए, उनसे निराश होते हैं और जिनकी आशा नहीं करनी चाहिए, उनकी आशा करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि जो प्रीति करने योग्य है, उससे प्रीति नहीं हो पाती और जो चिन्तन करने योग्य नहीं है, उसका चिन्तन करने लगते हैं।

यद्यपि प्रीति बीजरूप से सभी में विद्यमान है, परन्तु जब हम उसे वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि में आबद्ध कर देते हैं, तब वह आसक्ति तथा लोभ, मोह, जड़ता आदि विकारों में बदल जाती हैं। जैसे, नदी का निर्मल जल किसी गड्ढे में आबद्ध होने से विकृत होकर अनेक विषैले कीटाणु उत्पन्न करता है।

अतः प्रीति जैसे निर्मल चिन्मय तत्त्व को किसी वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध नहीं करना चाहिए। प्रीति तो प्रियतम का स्वभाव है। उसे सब ओर से हटाकर अपने प्रियतम की ओर ही स्वतः प्रवाहित होने देना चाहिए। अनन्त की प्रीति भी अनन्त है। उसका कभी अन्त नहीं होता। इसी कारण वह नित-नूतन रस प्रदान करने में समर्थ है।

हम वस्तु आदि की प्राप्ति में भले ही असमर्थ हों; परन्तु प्रीति की प्राप्ति में असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि प्रीति से हमारी जातीय एकता है। प्रीति का कभी नाश नहीं होता, अपितु स्थान-भेद से रूपान्तन-सा प्रतीत होता है।

यदि प्रीति समस्त दृश्य की ओर प्रवाहित हो, तो उसका नाम विश्व-प्रेम हो जाता है; यदि 'स्व' की ओर प्रवाहित हो, तो उसे आत्मरति कहते हैं और वही यदि अनन्त की ओर प्रवाहित हो, तो उसी का नाम प्रभु-प्रेम हो जाता है।

सभी के प्रति होने वाली प्रीति अथवा देह से अतीत अपने प्रति होने वाली प्रीति साधना है और अनन्त के प्रति होने वाली प्रीति साध्य है। इस

दृष्टि से प्रीति साधन भी है और साध्य भी, नित्य भी है और अनन्त भी।

यह सबको मान्य होगा कि प्रीति सभी में विद्यमान है। पर जो उसका सदुपयोग करते हैं, वे दिव्य तथा चिन्मय जीवन की ओर गतिशील होते हैं और जो दुरुपयोग करते हैं, वे जड़ता आदि विकारों में आबद्ध हो जाते हैं। प्रीति का सदुपयोग वे ही कर सकते हैं, जो सब प्रकार की चाह से रहित हैं। चाह से युक्त प्राणी तो प्रीति का दुरुपयोग करता है। प्रीति के दुरुपयोग में अपना विनाश है और प्रीति के सदुपयोग में जीवन है।

किसी मान्यता-विशेष में आबद्ध प्रीति ही सीमित होकर संघर्ष उत्पन्न करती है, जो विनाश का मूल है। सभी मान्यताओं से अतीत सत्ता में होने वाली प्रीति विभु होकर शान्ति तथा अभिन्नता प्रदान करती है। प्रीति का दुरुपयोग अविवेकसिद्ध है और सदुपयोग विवेक के प्रकाश में निहित है; कारण, कि विवेक सभी मान्यताओं से अतीत अनन्त तत्त्व से नित्य-योग कराने में समर्थ है। नित्य-योग में ही प्रीति की प्राप्ति है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि विवेकयुक्त जीवन में ही प्रीति का प्रादुर्भाव होता है। प्रीति जिसका जीवन है, उसकी दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती; कारण, कि प्रीति प्रियतम से अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है।

साधन-निर्माण

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधन में असफलता का कारण एकमात्र अपनी रुचि और योग्यता के अनुरूप साधन का निर्माण न करना है। यद्यपि साधन-दृष्टि से सभी सिद्धान्त आदरणीय तथा माननीय हैं और सभी से सफलता हो सकती है, पर अपनी सिद्धि उसी साधन से होगी, जिसका निर्माण अपने निरीक्षण द्वारा किया गया हो। इतना हीं नहीं, साधक वही अनुसरणीय है, जिसके प्रति निस्सन्देहता तथा विश्वास हो और जो स्वभाव से ही रुचिकर हो। ये तीनों बातें जिस साधन के प्रति होती हैं, वह साधन, साधक का जीवन हो जाता है।

यह नियम है कि जो साधन जीवन बन जाता है, उससे सिद्धि अवश्यक होती है। जिस प्रकार नेत्र से देखने की क्रिया का विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार साधक के जीवन से साधन का विभाजन नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से साधन और साधक में अभिन्नता है एवं साधन और साध्य में जातीय एकता है। जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकती है; क्योंकि जातीय तथा स्वरूप की एकता उससे नहीं हो सकती, जिससे देश-काल की दूरी हो। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसके लिए भविष्य की आशा करना साधक का अपना ही बनाया हुआ दोष है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक प्राणी किसी न किसी का होकर ही रहता है, जो जिसका होकर रहता है, उसके जीवन में उसकी प्रीति तथा उसका विश्वास स्वतः उत्पन्न होता है।

यह नियम है कि जिसके प्रति विकल्प-रहित विश्वास तथा अविचल प्रीति होती है, उसकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

अब हमें अपना निरीक्षण करना चाहिए कि हम किसके होकर रहते हैं अथवा किसके होकर रहना चाहते हैं? इन दोनों बातों का निर्णय अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति तथा स्वाभाविक लालसा के आधार पर ही हो सकता है। यदि स्वाभाविक लालसा और वर्तमान वस्तुस्थिति में कोई भेद नहीं है, तब तो साधन-निर्माण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि साधन की आवश्यकता एकमात्र स्वाभाविक लालसा की पूर्ति तथा वस्तुस्थिति से ऊपर उठने के लिए ही होती है।

वर्तमान का अभाव ही साधन की प्रेरणा देता है। इस दृष्टि से सबसे प्रथम साधक को अपने वर्तमान अभाव का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए और उसकी पूर्ति के लिए उत्साहपूर्वक उत्कट लालसा जाग्रत रहनी चाहिए। उत्कट लालसा उससे सम्बन्ध तोड़ने में समर्थ होती है, जो अपने अभीष्ट लक्ष्य से भिन्न है अथवा यों कहो कि अपने लक्ष्य से सम्बन्ध जोड़ देती है। उसके बाद साधक उसी का होकर रहने लगता है। विभु होने की रुचि हमें सभी का होकर रहने की, स्वाधीनता की रुचि हमें अकेले रहने की और प्रेम-प्राप्ति की अभिलाषा हमें किसी एक का ही होकर रहने की प्रेरणा देती है।

जो अकेला नहीं रह सकता, वह कभी स्वाधीन नहीं हो सकता; क्योंकि अपने से भिन्न की आवश्यकता का नाम ही पराधीनता है। जो सभी का होकर नहीं रह सकता, वह राग-द्वेष रहित नहीं हो सकता; क्योंकि विभाजन से ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और जो किसी एक का ही नहीं हो सकता, वह प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि प्रेम अनेक सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में विलीन करने पर ही हो सकता है।

इस दृष्टि से हमें सभी का होकर अथवा किसी एक का होकर ही रहने का निर्णय करना होगा। यद्यपि स्वाधीनता; व्यापकता एवं प्रेम-ये तीनों एक ही जीवन की वस्तुएँ हैं, इनमें से किसी का भी त्याग नहीं किया जा सकता; परन्तु साधन-दृष्टि से साधक को आरम्भ में इन तीनों में से किसी एक को ही अपनाना होगा। हाँ, यह दूसरी बात है कि किसी एक के अपना लेने पर शेष दो भी स्वतः आ जाएँ।

सभी को होकर रहने में स्वार्थ भाव गल जाएगा, जिसके चलते ही सुख-दुःख का द्वन्द्व मिट जाएगा और व्यापकता आ जाएगी। उसके आते ही वीतरागता उदय होगी, जो सभी से असंगकर अपने ही में सन्तुष्ट करने में समर्थ है और यही वास्तविक स्वाधीनता है।

प्रेम-प्राप्ति के लिए हमें व्यापकता और स्वाधीनता के रस से ऊपर उठना होगा, तभी अलौकिक चिन्मय प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होगा। यद्यपि स्वाधीनता एवं व्यापकता तथा प्रेम उस अनन्त की ही विभूतियाँ हैं, परन्तु साधक की रुचि के अनुसार उन विभूतियों का अलग-अलग वर्णन किया जाता है। स्वाधीनता में ही जीवन और जीवन में ही प्रेम निहित है।

जब स्वार्थभाव गल जाता है, तब साधक किसी का बुरा नहीं चाहता। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, वह दुखियों को देखकर करुणित और सुखियों को देखकर प्रसन्न होने लगता है। करुणा सुख-भोग की आसक्ति की और प्रसन्नता भोग-वासनाओं को खा लेती है; कारण, कि खिन्नता से ही भोग-वासना की उत्पत्ति होती है। सुख-भोग की आसक्ति और भोग-वासनाओं का अन्त होते ही नित्य-योग स्वतः प्राप्त् होती है, जो स्वाधीनता, जीवन तथा प्रेम-प्राप्ति में समर्थ है।

इस दृष्टि से किसी का बुरा न चाहने मात्र से ही सुगमतापूर्वक साधन का निर्माण हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब हम सभी के होकर रहना सीखें। सभी के होकर रहने के लिए हमें अपना निर्माण करना होगा अर्थात् जो अपने को इतना सुन्दर बना लेता है कि उसे अपनी प्रसन्नता के लिए किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं रहती, वही सभी का होकर रह सकता है।

वस्तु और व्यक्ति आदि की अपेक्षा अविवेक-सिद्ध है। यदि उस प्राप्त विवेक से, जो अनन्त की ओर से स्वतः मिला है, अविवेक को मिटा दिया जाए, तो हमें अपने लिए वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा शेष नहीं रहेगी। विवेक के अनादर का ही दूसरा नाम अविवेक है। यदि विवेक का अनादर न किया जाए, तो अविवेक स्वतः मिट जाता है।

यद्यपि मानव-जीवन प्रसन्नता तथा आनन्द का प्रतीक है; परन्तु विवेक के अनादर द्वारा हमने उसे राग-द्वेष, क्षोभ, क्रोध आदि विकारों का केन्द्र बना लिया है। विकार किसी के भाग्य में नहीं लिखे हैं और न किसी ने हमें प्रदान किए हैं; वे तो हमने स्वयं ही अपनी भूल से उत्पन्न कर लिए हैं।

अभिन्नता में भिन्नता को स्वीकार करना ही भूल है। यद्यपि स्वरूप से भिन्नता का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, परन्तु बाह्य गुणों, आकृतियों, कर्म तथा काल्पनिक भेदों के कारण हमने अनेक प्रकार की भिन्नता स्वीकार कर ली है, जिसने अनेक दोष उत्पन्न कर दिए हैं।

समस्त सृष्टि एक है और उसका प्रकाशक भी एक है, तो फिर भिन्नता के लिए स्थान ही कहाँ है? अतः जो भी भिन्नता प्रतीत होती है, वह हमारे प्रमाद में है, वास्तव में नहीं।

यदि हम सभी के होकर अथवा उस प्रकाशक के होकर रहने लग जाएँ, जो सभी का सब कुछ है और सभी से अतीत है, तो बड़ी ही सुगमापूर्वक वर्तमान में ही प्रमाद का अन्त हो सकता है। प्रमाद का अन्त होते ही दिव्य चिन्मय जीवन में प्रवेश हो जाता है, वही वास्तविक जीवन है। उसी की प्राप्ति के लिए ही साधन-निर्माण करना है और यह वर्तमान में ही हो सकता है।

प्रीति ही जीवन है।

समस्त जीवन में तत्त्वरूप से प्रीति ही विद्यमान है। इस रहस्य को कोई विरले ही जान पाते हैं। प्रीति की अभिव्यक्ति में ही प्राणी का पुरुषार्थ, प्रीति के सदुपयोग में ही नित-नव रस

और प्रीति की अपनन्तता में ही जीवन की पूर्णता विद्यमान है।

किसी-न-किसी की प्रीति का समूह ही व्यक्ति का अस्तित्व है। पर जब उस प्रीति का उपयोग प्राणी अपने सुख के लिए करने लगता है, तब उसका नाम लोभ, मोह आदि हो जाता है। वस्तुओं की प्रियता और वस्तुओं की आस्था जिसमें है, उसी को लोभी और देह की प्रियता और देह की आस्था जिसमें है, उसी को मोही कहते हैं। अथवा यों कहो कि लोभी तथा मोही का स्वभाव ही लोभ तथा मोह है। लोभ और मोह का ही दूसरा नाम प्रमादयुक्त सीमित प्रीति है।

यह नियम है कि जिसमें जिसकी प्रीति होती है, वह उसी में उसको आबद्ध कर देती है। जैसे, वस्तुओं की प्रीति वस्तुओं में और देह की प्रीति देह में व्यक्ति को आबद्ध कर देती है, जो वास्तव में जड़ता है। जड़ता में भी जो रस का भास है वह प्रीति का ही है, पर उसे आसक्ति कहते हैं, प्रीति नहीं। इतना ही नहीं, जितने बन्धन हैं उनमें सत्तारूप से प्रीति ही विद्यमान है।

जिस प्रकार इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव बुद्धि के ज्ञान का आदर नहीं होने देता और बुद्धि के ज्ञान की आसक्ति नित्य-ज्ञान से अभिन्न नहीं होने देती, उसी प्रकार वस्तु, अवस्था एवं व्यक्तियों की प्रियता हमें अनन्त की प्रीति होकर अनन्त से अभिन्न नहीं होने देती। जिस प्रकार सूर्य के ताप से उत्पन्न हुए बादल सूर्य को ही ढक-सा लेते हैं, उसी प्रकार नित्य-ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित बुद्धि के ज्ञान की आसक्ति और इन्द्रिय-ज्ञान का सद्भाव व्यक्ति को नित्य-ज्ञान से विमुख-सा कर देते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि इन्द्रियों का ज्ञान बुद्धि के ज्ञान का अनादर करने में कैसे समर्थ होता है? तो कहना होगा कि देह की प्रियता ने ही देह में नित्यता का भास करा दिया है। यद्यपि देह स्वभाव से ही परिवर्तनशील है, परन्तु देह की तद्रूपता उस देह के परिवर्तन का प्रभाव व्यक्ति पर नहीं होने देती। बस, यही बुद्धि के ज्ञान के अनादर का हेतु है।

बुद्धि के ज्ञान के अनादर में ही इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव निहित है, और कुछ नहीं। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव ही व्यक्ति में अनेक प्रकार का राग अंकित कर देता है। राग-रूपी बादल ही अनुरागरूपी सूर्य को ढकने का प्रयास करते हैं।

यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि यद्यपि सूर्य के ताप से उत्पन्न हुए बादल सूर्य को ढकने का प्रयास करते हैं, परन्तु उन बादलों को छिन्न-भिन्न करने की सामर्थ्य भी सूर्य में ही है। उसी प्रकार रागरूपी बादलों का विनाश करने की सामर्थ्य अनुरागरूपी सूर्य में ही है।

ज्ञान की न्यूनता प्रीति को राग तथा मोह आदि में परिवर्तित करती है और ज्ञान की पूर्णता राग, मोह आदि को प्रीति में बदल देती है। इस दृष्टि से यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि अल्प-ज्ञान का प्रभाव ही चिन्मय प्रीति का 'राग' के रूप में भास कराता है।

तत्त्वरूप से विद्यमान प्रीति को प्रकाशित करने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए कि प्रीति को आच्छादित करने में हेतु क्या है? तो कहना होगा कि प्रीति को आच्छादित करने में

एकमात्र हेतु वस्तु और व्यक्ति आदि के सुख-भोग की रुचि है, जो वास्तव में अविवेकसिद्ध है। अतः ज्यों-ज्यों सुख-लोलुपता मिटती जाती है, त्यों-त्यों प्रीति स्वतः उद्भासित होने लगती है। अतः प्रीति को जाग्रत करने के लिए हमें सुख-लोलुपता का अन्त करना परम आवश्यक है, जो विवेक से ही हो सकता है।

यह नियम है कि सुख-लोलुपता का अन्त होते ही भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है, भोग-वासनाओं के अन्त में ही नित्य-योग निहित है और वही अचाहपद प्राप्त कराने में समर्थ है। चाह-रहित होते ही भिन्नता मिट जाती है और अभिन्नता आ जाती है, जो दिव्य चिन्मय प्रीति प्रदान करने में समर्थ है। अभिन्नता भेद तथा दूरी को खा लेती है, जिससे प्रीति की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है।

प्रीति को अभिव्यक्ति अचाह होने में निहित है और सर्वस्व दे डालने में ही प्रीति का उपयोग है, अन्य किसी में नहीं। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रीति के उपयोग से प्रीति की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, क्षति नहीं; क्योंकि प्रीति स्वरूप से चिन्मय तथा अनन्त है। इसी कारण प्रीति के उपयोग में नित-नूतन रस है।

प्रीतिजनित नित-नव रस का पात्र वही हो सकता है जिसे प्रीति से भिन्न अन्य किसी वस्तु आदि की अपेक्षा न हो, अर्थात् जो कामरहित हो; कारण, कि कामनायुक्त प्राणी को तो अपनी इच्छित वस्तु की हो अपेक्षा होती है, प्रीति की नहीं।

अतः यह निर्विववाद सिद्ध है कि प्रीति उस अनन्त में ही विलीन होती है, जो काम से अतीत है। प्रीति का आरम्भ होता है, पर अन्त नहीं; क्योंकि न उसकी निवृत्ति होती है और न पूर्ति। निवृत्ति उसकी होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और पूर्ति उसकी होती है, जिसका लक्ष्य केवल नित्य तत्त्व हो; परन्तु प्रीति तो नित्य भी है और अनन्त भी। इसी कारण प्रीति की प्राप्ति होती है, पूर्ति औ निवृत्ति नहीं।

विकारों की निवृत्ति का परिणाम स्वाधीनता है, नित्य-तत्त्व की जिज्ञासा की पूर्ति का परिणाम जीवन है और प्रीति की प्राप्ति में है, अगाध, अनन्त रस। अतः 'प्रीति' निवृत्ति और पूर्ति से विलक्षण तत्त्व है। उसकी अनन्तता में ही जीवन की पूर्णता है।

कर्त्तव्यपरायणता से लक्ष्य की प्राप्त

वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करने पर हमें अपने कर्त्तव्य और लक्ष्य का बोध हो जाता है। कर्त्तव्य का ज्ञान कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने में और कर्त्तव्यपरायणता लक्ष्य-प्राप्ति कराने में समर्थ है। जिस बीज में उगने की शक्ति विद्यमान है, उसके उगाने में ही पृथ्वी, जल, वायु आदि सहयोग देते हैं, उसका विरोध नहीं करते। उसी प्रकार कर्ता में विद्यमान कर्त्तव्यनिष्ठा को सफल बनाने में ही प्राप्त परिस्थितियाँ सहयोग देती हैं, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है।

यह नियम है कि न्याय में हित निहित रहता है, अहित नहीं। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायण साधक के जीवन में असफलता का कोई स्थान हीं नहीं।

परिस्थितियों के द्वारा अहित होने का भय हमारी असावधानी से प्रतीत होता है, वास्तव में नहीं; क्योंकि साधक के जीवन में अहित की ओर गतिशील होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है, केवल हमारी असावधानी ही हमें अहित की ओर ले जाती है।

अब यदि कोई यह कहे कि असावधानी क्या परिस्थिति का परिणाम नहीं है? तो कहना होगा कि असावधानी परिस्थिति-जन् नहीं है, अपितु जो कर सकते हैं, उसके न करने से अथवा प्राप्त योग्यता के दुरुपयोग से ही असावधानी उत्पन्न होती है, जो साधक का अपना बनाया हुआ दोषहै, प्राकृतिक नहीं।

हाँ, यह अवश्य है कि जब साधक अपने बनाए हुए दोष को सहन नहीं कर सकता, तब निर्दोष होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है, अर्थात् असावधानी अपने आप मिट जाती है। यह नियम है कि वही दोष सुरक्षित रहता है जिसे हम सहन करते रहते हैं। अतः असावधानी तभी तक रहती है, जब तक हम उसे रखना चाहते हैं, असह्य होते ही असावधानी स्वतः मिट जाती है।

असावधानी रूपी भूमि में ही दोषरूपी पौधे उगते हैं और असावधानी के मिटते ही सभी दोष अपने आप मिट जाते हैं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि असावधनी ही सभी दोषों का मूल है।

कर्त्तव्यपरायणता में अपना हित तो है ही, परन्तु उसके द्वारा किसी का अहित भी नहीं होता; कारण, कि कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों के द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित रहते हैं, किसी के अधिकार का अपहरण नहीं किया जाता।

यह नियम है कि जिसके द्वारा किसी के अधिकार का अपहरण नहीं किया जाता, उससे किसी को भय नहीं होता, अपितु सभी को प्रसन्नता होती है। इस कारण उसे स्वाभाविक ही सबकी सद्भावना मिलती है। अथवा यों कहो कि सभी उसके हित-चिन्तक हो जाते हैं; कारण, कि उसके विकास में सभी का विकास है।

जिसके द्वारा सभी का विकास होने लगता है, उसका न तो कोई विरोधी होता है और न कोई उसका अहित चिन्तन ही करता है। इतना ही नहीं, सभी जड़-चेतन प्राणी उसकी महिमा गाने लगते हैं और उसे सहयोग देकर अपने को धन्य मानते हैं।

अनुकूलता का लालच और प्रतिकूलता का भय तभी तक जीवित है, जब तक हम कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होते; कारण, कि कर्त्तव्यनिष्ठा सब प्रकार के राग का अन्त करने में समर्थ है। राग-रहित होते ही अनुकूलता का लालच तथा प्रतिकूलता का भय जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती। सभी दोषों का मूल एकमात्र अनुकूलता का लालच तथा प्रतिकूलता का भय है; क्योंकि लालच तथा भय में आबद्ध प्राणी का जीवन सीमित हो जाता है, जिससे अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न होते हैं, जो संघर्ष के मूल हैं।

यह नियम है कि लालच का अन्त होते ही भय स्वतः मिट जाता है। भय के मिटते ही भिन्नता मिट जाती है। भिन्नता का अन्त होते ही सब प्रकार के संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं और जीवन में

चिर-शान्ति की स्थापना हो जाती है। यह सभी को मान्य होगा कि सभी प्रकार की सामर्थ्य का उद्गम स्थान शान्ति में ही है। इस दृष्टि से असमर्थता का अन्त करने के लिए शान्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब हम कर्त्तव्यनिष्ठ हों।

कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हमारा मन सभी का मन बन जाए। यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने मन से उन सभी बातों को निकाल दें, जिनमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित नहीं है। ऐसा करते ही हमारा मन हमारा न रहेगा, अपितु सभी का हो जाएगा। अथवा यों कहो कि उस अनन्त से अभिन्न हो जाएगा, जो सभी का सब कुछ है।

जब तक हम अपना मन अपने ही पास रखना चाहते हैं, तब तक राग का क्रोध आदि दोषों से नहीं बच सकते; कारण, कि जिनके द्वारा हमारे मन की बात पूरी होगी, उनसे राग हो जाएगा और जो मन की बात पूरी होने में बाधक होंगे, उन पर क्रोध आ जाएगा।

राग एक ऐसा मधुर विष है, जो सदैव मृत्यु की ओर ही गतिशील करता रहता है। अर्थात् राग के रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते और न बन्धन-रहित ही हो सकते हैं; क्योंकि राग त्याग की सामर्थ्य का अपहरण कर लेता है और त्याग के बिना कर्त्तव्य-पालन सम्भव ही नहीं है। क्रोध एक ऐसी विलक्षण अग्नि है, जो प्रथम उसी को जलाती है, जिसमें क्रोध उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, क्रोध के आते ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। अथवा यों कहो कि क्रोधावेश में आकर हमें जो नहीं करना चाहिए, वह हम करने लगते हैं। अर्थात् क्रोध हमें कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होने देता।

अतः यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि जब तक हम केवल अपने ही मन की बात पूरी करते रहें, तब तक कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकेंगे। कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए हमें दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग करना होगा। दूसरों के अधिकार की रक्षा से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी और अपने अधिकार का त्याग नवीन राग उत्पन्न नहीं होने देगा। विद्यमान राग की निवृत्ति और नवीन राग की उत्पत्ति न होने पर मन जैसी कोई वस्तु शेष ही न रहेगी।

मन के शेष न रहने का वास्तविक अर्थ यह है कि मन अमन हो जाए। जिस प्रकार भुना हुआ दाना भूख मिटाने में भले ही समर्थ हो, पर उग नहीं सकता; उसी प्रकार मन अमन हो जाने पर वह जो स्वतः होना चाहिए, उसके होने में भले ही उपयोगी सिद्ध हो, परन्तु बन्धन को हेतु नहीं हो सकता। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्तिपूर्वक मन में निर्विवकल्पता का आ जाना ही मन का अमन होना है।

आवश्यक संकल्पों की पूर्ति से बाह्य जगत् के सभी अधिकार सुरक्षित होने लगते है; अर्थात् दूसरों के हित तथा प्रसन्नता में ही प्रवृत्ति होती है, सुखभोग में नहीं। मन की निर्विवकल्पता से उस अन्तर्ज्योति के साथ अभिन्नता हो जाती है, जो स्वरूप से दिव्य और चिन्मय है। अथवा यों

कहो कि मन चिनमय होकर उस अनन्त की प्रीति बन जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होताहै कि मन अमन कैसे हो? इस समस्या को हल करने के लिए हमें यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि उत्पन्न हुए संकल्प की आपूर्ति और पूर्ति में जो दुःख तथा सुख होता है, वही हमारे मन को अमन नहीं होने देता। यदि संकल्प-पूर्ति के सुख का राग अप्रित न हो और संकल्प-अपूर्ति के दुःख को भय, चिन्ता तथा क्षोभ-रहित होकर सहन कर लिया जाए, तो बड़ी ही सुगमता से मन अमन हो सकता है। दुःख का भय और सुख की लोलुपता ही मन को दिव्य तथा चिन्तय नहीं होने देती।

अतः दुःख के भय तथा सुख की लोलुपता का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। दुःख केवल जागृति प्रदान करने के लिए और सुख उदारतापूर्वक सेवा करने के लिए मिला है। सुख-दुःख के सदुपयोग से मन स्वतः शुद्ध, शान्त और दिव्य हो जाता है। मन की शुद्धता निर्दोष बनाती है, शान्ति आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है और दिव्यता प्रीति प्रदान करती है। निर्दोषता, सामर्थ्य और प्रीति, इन तीनों का एक ही जीवन है में प्रादुर्भाव होता है। 'निर्दोषता' गुणों के अभिमान को खा लेती है, 'सामर्थ्य' अमरत्व प्रदान करती है और 'प्रीति' अनन्त से अभिन्न कर देती है।

संकल्प की अपूर्ति को सहर्ष सहन कर लेना ही तप है और संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध न होना ही त्याग है। तप से भौतिक विकास स्वतः हो जाता है और त्याग से चिर-शान्ति प्राप्त होती है। भौतिक विकास विद्यमान राग को मिटाने में हेतु है और शान्ति चिन्मय-जीवन प्रदान करने में समर्थ है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर भौतिक विकास तथा चिन्मय-जीवन की उपलब्धि होती है।

निर्मोहता में दिव्य-जीवन

वस्तुस्थिति पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि निर्मोहता के बिना जीवन की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मोह का हेतु क्याहै? तो कहना होगा कि देह को सदैव बनाये रखने की आशा तथा विश्वास अथवा अपने को देह मान लेना ही मोह का हेतु है, जो अविवेकसिद्ध है। यद्यपि अविवेक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, परन्तु अपने जाने हुए का आदर न करना ही हमें वर्तमान में मोह-रहित नहीं होने देता। निज ज्ञान के अनादर का ही दूसरा नाम अविवेक है, जो वर्तमान जीवन में मिटाया जा सकता है। इस प्रकार निर्मोहता वर्तमान जीवन की वस्तु है।

अब विचार यह करना है कि जो हम जानते हैं, उसके मानने में कठिनाई क्या होती है? तो कहना होगा कि हमें जानने के साधन तीन प्रकार से प्राप्त है-इन्द्रियों के द्वारा, बुद्धि के द्वारा और जो बुद्धि से परे है, उसके द्वारा। इन्द्रियों के ज्ञान से जो वस्तु हमें जैसी प्रतीत होती है, वही वस्तु उसी काल में बुद्धि के ज्ञान के द्वारा वैसी प्रतीत नहीं होती। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव हमें देह आदि वस्तुओं में नित्यता तथा सुन्दरता का भास कराता है, पर बुद्धि का ज्ञान उन्हीं वस्तुओं में सतत्

परिवर्तन तथा मलिनता का दर्शन कराता है। यद्यपि वस्तु एक है, परन्तु इन्द्रिय और बुद्धि के ज्ञान-भेद से उसकी प्रतीति में भेद हो जाता है।

यह नियम है कि जब इन्द्रियों के ज्ञान को ही, जो अल्प है, हम पूरा ज्ञान मान लेते हैं, तब राग की उत्पत्ति होती है, जो मोह को बनाए रखने में हेतु है। परन्तु जब हम बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान पर विजयी हो जाते हैं, तब स्वतः राग 'वैराग्य' में और भोग 'योग' में बदल जाता है। भोग परिवर्तनशील वस्तुओं की ओर गतिशील करता है और योग नित्य-जीवन की ओर। जब सहज योग, भोग की रुचि का अन्त कर देताहै, तब विचाररूपी सूर्य स्वतः उदय होता है, जो मोहरूपी अन्धकार को खा लेता है।

इस दृष्टि से मोह का अन्त करने के लिए हमें सहज योग प्राप्त करना होगा। वह तभी हो सकता है, जब हम इन्द्रिय-दृष्टि की अपेक्षा बुद्धि-दृष्टि का अधिक आदर करें। इन्द्रिय-दृष्टि की दृढ़ता मिटते ही बुद्धि-दृष्टि की दृढ़ता सिद्ध हो जाएगी, जो सहज-योग प्राप्त कराने में समर्थ है। इन्द्रिय-ज्ञान पर बुद्धि द्वारा विवेचन करते रहना इन्द्रिय-ज्ञान को शिथिल बनाता है। परन्तु जब तक बुद्धि-ज्ञान का प्रकाश स्थिर नहीं हो जाता, तब तक वस्तुओं की अनित्यता और मलिनता का चिन्तन होता रहता है, जो बुद्धि का व्यापार है, और कुछ नहीं है।

बुद्धि का व्यापार तब तक चलता ही रहता है, जब तक उसके ज्ञान का आदर दृढ़ नहीं होता। जिस प्रकार किसी की विस्मृति ही अन्य की स्मृति का व्यापार चालू रखती है, उसी प्रकार इन्द्रियों के व्यापार का प्रभाव ही बुद्धि के व्यापार को चलाता रहता है। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-व्यापार होने पर भी इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों-त्यों बुद्धि-जन्य होने पर भी इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव दृढ़ होता जाता है। ज्यों-ज्यों बुद्धि-जन्य ज्ञान का प्रभाव दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों बुद्धि का व्यापार स्वयं सम होता जाता है, अर्थात् बुद्धि के ज्ञान की दृढ़ता बुद्धि में समता प्रदान करती है।

बुद्धि में समता आते ही इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, मन निर्विवकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है। फिर बुद्धि से अतीत जो नित्य-ज्ञान है, उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही अमरत्व प्राप्त होता है। उसके बाद मोह सदा के लिए मिट जाता है।

निर्मोहता हमें वर्तमान में ही प्राप्त करनी चाहिए। उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है; कारण, कि निर्मोहता किसी कर्म तथा अभ्यास का फल नहीं है, अपितु विवेक-सिद्ध है और विवेक हमें प्राप्त ही है। प्राप्त विवेक का आदर वर्तमान की वस्तु है, भविष्य की नहीं। क्योंकि विवेक के आदर, कर्म और अभ्यास में बड़ा भेद है। कर्म और अभ्यास के लिए देह आदि वस्तुओं की अपेक्षा होती है, पर विवेक के आदर के लिए तो हमें केवल देह आदि वस्तुओं से विमुख होना है, जिसे वर्तमान में ही किया जा सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि जिससे विमुख होना हो, उसकी ममता का त्याग करना अनिवार्य है।

किसी वस्तु को अपना न मानना अथवा मानना, इन बातों के लिए भी किसी कर्म तथा अभ्यास की अपेक्षा नहीं है। अतः ममता का त्याग भी वर्तमान की ही वस्तु है। इस दृष्टि से साधक जब चाहे तब देह की ममता का त्याग करके निर्मोहता प्राप्त कर सकता है।

अब यदि कोई यह कहे कि देह की ममता का त्याग तो सम्भव ही नहीं है; क्योंकि उसका और हमारा चिरकाल का सम्बन्ध है। तो कहना होगा कि जिस प्रकार चिरकाल का अन्धकार वर्तमान के प्रकाश से मिट जाता है, उसी प्रकार चिरकाल की ममता विवेक का आदर करते ही वर्तमान में मिट सकती है।

इतना ही नहीं, प्राणी प्रमादवश देह आदि से ममता भले ही कर लें, पर उन्हे सदैव अपने साथ रख नहीं सकता; क्योंकि देह से जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है।

यह नियम है कि माना हुआ सम्बन्ध, न मानने मात्र से ही मिट जाता है, उसके लिए कोई अभ्यास अपेक्षित नहीं है। स्वीकृति, तो अस्वीकृति से ही मिटती है, किसी अभ्यास से नहीं। स्वीकृति में सत्ता उसी की होती है, जिसने उसे स्वीकार किया है। इस दृष्टि से भी हम अपनी स्वीकृति को जब चाहें तब अस्वीकृति में बदल सकते हैं। स्वीकृति के आधार पर बनाया हुआ सम्बन्ध अस्वीकृति मात्र से ही मिट सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। इससे यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि यदि हम चाहें तो देह से सम्बन्ध-विच्छेद करके वर्तमान में ही मोह-रहित हो सकते हैं।

निर्मोहता आते ही संयोग की दासता और वियोग का भय मिट जाता है। उसके मिटते ही सहज भाव से नित्य-योग प्राप्त हो जाता है, अर्थात् हम उससे अभिन्न हो जाते हैं, जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। अभिन्न होते ही जड़ता, चिन्मयता में और मृत्यु, अमरत्व में विलीन हो जाती है। अतः निर्मोहतापूर्वक हमें वर्तमान में ही नित्य-चिन्मय-दिव्य जीवन प्राप्त कर लेना चाहिए। यही जीवन की सार्थकता है।

परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर

वर्तमान दशा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन में वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों की सीमा से पार होने की लालसा स्वभाव से ही विद्यमान है। उसकी पूर्ति के लिए प्राप्त परिस्थिति के बन्धन से और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब हम प्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का सदुपयोग कर वस्तु, आदि से अतीत के जीवन को वर्तमान में ही प्राप्त करें।

इस दृष्टि से वर्तमान परस्थिति का सदुपयोग 'साधन' और वस्तु, अवस्था आदि से अतीत का जीवन हमारा 'साध्य' है। हम अपने साध्य से केवल विमुख हुए हैं, उससे हमारी देश-काल की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में ही हो सकती है। जिसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकती है, उसके लिए भविष्य की आशा करना प्राप्ति की लालसा को शिथिल बनाना है। लालसा को शिथिल बनाना

ही साधक की सबसे बड़ी असावधानी है। यद्यपि साधक के जीवन में असावधानी के लिए कोई स्थान ही नहीं है, परन्तु संयोग-जनित सुख-लोलुपता ने असावधानी उत्पन्न कर दी है।

अब विचार यह करना है कि सुख-लोलुपता का हेतु क्या है? तो कहना होगा कि स्वार्थ-भाव ने ही सुख-लोलुपता को जन्म दिया है। स्वार्थ-भाव गलाने के लिए सेवा-भाव को अपना लेना आवश्यक है। सेवा उन्हीं की करनी है, जिनसे छुटकारा पाना है। जिनसे छुटकारा पाना है, उनसे ममता नहीं करनी है; कारण, कि ममता आसक्ति उत्पन्न करती है, जो बन्धन का हेतु है। अतः जिनसे विमुख होना है, उनसे ममता करना भूल है। इस दृष्टि से हमें शरीर आदि सभी वस्तुओं से ममता का त्याग करना होगा। यह नियम है कि जिन वस्तुओं में आसक्ति नहीं रहती, उनके सदुपयोग की सामर्थ्य आ जाती है। अतः देह आदि का सदुपयोग करने के लिए भी हमें उनसे ममता का त्याग करना होगा।

अब यदि कोई यह कहे कि शरीर आदि की ममता का त्याग तो सम्भव ही नहीं है। तो कहना होगा कि ममता करने मात्र से शरीर का कोई हित नहीं होता और ममता के त्याग से कोई अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, ममता किसी वस्तु को सुरक्षित भी नहीं रख सकती। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, जो स्वरूप है, वह वैसा ही रहेगा। ममता से केवल वस्तु आदि में आसक्ति उत्पन्न होती है, और कुछ नहीं।

आसक्ति का साधन-युक्त जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अपितु आसक्तिरहित होने से ही साधन में प्रगति सम्भव है। इस दृष्टि से वस्तु आदि में ममता करना भूल है। इस भूल के मिटते ही समस्त जीवन, साधन बन जाएगा। समस्त जीवन साधन बन जाने पर सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित सहज निवृत्ति स्वतः आ जाएगी, जिसके आते ही स्वाभाविक लालसा की पूर्ति हो जाएगी, जो साधक का उद्देश्य है।

यह नियम है कि शरीर आदि वस्तुओं का सदुपयोग कर डालने पर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, क्योंकि जिसका सही उपयोग कर लेते हैं, उसकी आवश्यकता शेष नहीं रहती; कारण, कि सही उपयोग का यह परिणाम होता है कि उपयोग-कर्ता अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। फिर न तो कर्ता का ही अस्तित्व रहता है और न करने के साधनों की ही आवश्यकता रहती है।

परिस्थिति के सदुपयोग की पूर्णता में साधक का अस्तित्व तथा साधन-सामग्री की अपेक्षा नहीं रहती; पर सदुपयोग के प्रयासकाल में तो साधक को साधन-सामग्री की अपेक्षा रहती ही है। जिसकी अपेक्षा रहती है उसकी प्राप्ति स्वतः होती है; कारण, कि प्राप्त के सदुपयोग में यह विलक्षणता है कि अप्राप्त की प्राप्ति आवश्यकतानुसार हो ही जाती है अर्थात् वस्तुओं के सदुपयोग से आवश्यक वस्तुएँ और अनित्य-जीवन के सदुपयोग से नित्य-जीवन प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से भी प्राप्त के सदुपयोग का ही महत्व है, प्राप्त वस्तु आदि के प्रति ममता का नहीं। अतः वस्तुओं के रहते हुए ही उनकी ममता से रहित हो जाना है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जो वस्तुएँ हमें प्राप्त हैं, उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण क्या है? तो कहना होगा कि सभी वस्तुओं में अधिक महत्वपूर्ण वस्तु 'वर्तमान समय' है। समय के सदुपयोग में ही समस्त जीवन का सदुपयोग निहित है। इतना ही नहीं, समय के सदुपयोग से अन्य वस्तुओं की उपलब्धि हो सकती है, पर किसी भी वस्तु के बदले में समय नहीं मिल सकता।

इस दृष्टि से समय का सदुपयोग तथा आदर करना अत्यन्त आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक व्यर्थ चेष्टा तथा व्यर्थ चिन्तन का अन्त कर दे। ऐसा करते ही सार्थक चेष्टाएँ और सार्थक चिन्तन स्वतः होने लगता है। सार्थक चेष्टा कर्म की आसक्ति का अन्त करने में और सार्थक चिन्तन सब प्रकार के चिन्तन से रहित करने में समर्थ है।

कर्म की आसक्ति मिटते ही स्थूल शरीर का अभिमान और सब प्रकार के चिन्तन से रहित होते ही सूक्ष्म शरीर का अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही सहज स्थिति स्वतः आ जाती है। फिर कारण शरीर की भी अभिमान गल जाता है अथवा यों कहो कि उसका नाश हो जाता है, जिसके होते ही दिव्य-चिन्मय-नित्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है। इस दृष्टि से समय के आदर से ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

जिन चेष्टाओं का सम्बन्ध वर्तमान से न हो और जिनके द्वारा दूसरों के अधिकार की रक्षा न हो, वे सभी चेष्टाएँ व्यर्थ हैं। वर्तमान का सम्बन्ध उन्हीं चेष्टाओं से हो सकता है, जिनके करने में स्वाधीनता हो और दूसरों के अधिकार की रक्षा उन्हीं चेष्टाओं के द्वारा हो सकती है, जिनसे किसी का अहित न हो और अपना सुख-भोग न हो। जिन चेष्टाओं के द्वारा सुख-भोग नहीं किया जाता, उनका राग अंकित नहीं होता; जिनका राग अंकित नहीं होता, उनका चिन्तन नहीं होता। अर्थात् सार्थक चेष्टाओं से वस्तु, अवस्था आदि का चित्र मिट जाता है, जिसके मिटते ही जिसकी स्वाभाविक लालसा है अथवा जो वस्तु आदि से अतीत है, उसका चिन्तन स्वतः होने लगता है।

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ को भस्म कर स्वतः शान्त हो जाती है, उसी प्रकार सार्थक चिन्तन व्यर्थ चिन्तन को खाकर स्वयं शान्त हो जाता है। सब प्रकार के चिन्तन से रहित होते ही 'यह' और 'है' का विभाजन स्वतः हो जाता है अथवा यों कहो कि 'यह' 'है' में विलीन हो जाता है; क्योंकि जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, वह उसी से अभिन्न हो जाता है, जिसकी सत्ता से वह प्रकाशित है।

यह नियम है कि जिन वस्तुओं का हम सदुपयोग कर लेते हैं, उनसे सम्बन्ध-विच्छेद स्वतः हो जाता है; क्योंकि वस्तु रूप से जो भी प्राप्त है वह सदुपयोग के लिए है, उनमें आबद्ध रहने के लिए नहीं। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओं का सदुपयोग ही उनसे असंगकराने में हेतु है। इन सबका सदुपयोग श्रम, संयम, सेवा आदि में निहित है और सेवा आदि का परिणाम त्याग और त्याग का फल चिर-शान्ति तथा ज्ञान एवं प्रेम है। शान्ति में सामर्थ्य, ज्ञान में नित्य-जीवन तथा प्रेम में नित-नूतन रस है, जो

सभी को अभीष्ट है अथवा यों कहो कि जिसकी सबको स्वाभाविक लालसा है।

स्वतन्त्र अस्तित्व उसी को हो सकता है, जो सामर्थ्य, अमरत्व एवं रसरूप है। उसी को 'है' मानना चाहिए। उसके अतिरिक्त जिसमें सतत् परिवर्तन है और जो उपयोग की दृष्टि से आदरणीय है, उसी को 'यह' जानना चाहिए। यद्यपि 'यह', 'है' की सत्ता से ही प्रकाशित है; परन्तु 'है' और 'यह' की तद्रूपता काम उत्पन्न करती है, जो बन्धन का हेतु है। उस उत्पन्न हुए काम का अन्त करने के लिए 'है' और 'यह' का विभाजन अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा, जबकि बुद्धि के द्वारा समस्त 'यह' को जानें। उसके बाद 'है' के द्वारा बुद्धि को जानें। यदि 'है' और 'यह' के ध्मय में काम न रहे, तो स्वभाव से ही समस्त 'यह' बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि सम होकर उस 'है' से अभिन्न हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है।

काम के रहते हुए बुद्धि को मन की ओर, मन को इन्द्रियों की ओर, इन्द्रियों को विषयों की ओर गतिशील होना पड़ता है, जो वास्तव में मृत्यु है। 'है' की जिज्ञासा काम को खा लेती है, फिर 'है' से नित्य-योग स्वतः प्राप्त हो जाता है, जो चिरशान्ति, नित्य-ज्ञान तथा प्रेम का हेतु है।

नित्य-योग और संयोग में भेद है। संयोग होता है 'यह' की ओर गतिशील होने से और नित्य-योग होता है 'यह' से विमुख होकर 'है' के सम्मुख होने से। 'यह' की विमुखता 'यह' से असंग करती है और 'है' की सम्मुखता 'है' से अभिन्न करती है। संयोग 'यह' की आसक्ति उत्पन्न करता है और अभिमान में आबद्ध कर देता है तथा नित्य-योग निरभिमानता पूर्वक 'है' का प्रेम प्रदान करता है। संयोग में मृत्यु और नित्य-योग में अमरत्व निहित है।

'यह' की सेवा 'यह' को निर्मल बनाती है और 'यह' से विमुखकर 'है' से अभिन्न करती है। अतः 'यह' के अर्थ में जो कुछ है, उसकी हमें सेवा करनी है, उससे ममता नहीं। श्रम, संयम, सदाचार द्वारा समस्त 'यह' की सेवा हो जाती है। सेवा त्याग में और त्याग उस प्रेम में विलीन हो जाता है, जो अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है।

निर्भयता की कुन्जी

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि हमें किसी प्रकार का भी भय अपेक्षित नहीं है। जिसकी अपेक्षा नहीं है, उसको बनाए रखने में हमारी भी असावधानी हेतु हैं।

अब विचार यह करना है कि भय उत्पन्न ही क्यों होता है? तो कहना होगा कि भय का कारण एकमात्र अविवेक, अविश्वास तथा अकर्त्तव्य है। इन तीनों दोषों से ही भय का साम्राज्य सुरक्षित रहता है। विवेक के अनादर से अविश्वास और अविश्वास से अकर्त्तव्य का जन्म होता है, जिसका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है अथवा यों कहो कि स्थानभेद से विवेक का अनादर ही अविश्वास और अकर्त्तव्य के रूप में बदल जाता है, क्योंकि एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक रूप धारण कर लेता है।

जाने हुए के अनुरूप न मानना और माने हुए के अनुरूप न करना ही अविवेक, अविश्वास तथा अकर्त्तव्य है। इस दृष्टि से यह निर्विववाद सिद्ध

हो जाता है कि अविवेक, अविश्वास तथा अकर्त्तव्य अपना ही बनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नहीं, परिस्थिजन्य नहीं एवं किसी और के द्वारा उत्पन्न किया हुआ नहीं। जो अपना बनाया हुआ दोष है, उसका निवारण वर्तमान में ही हो सकता है; कारण, कि जैसा जानते हैं, वैसा ही मान लेना और जैसा मान लेते हैं, वैसा ही करने लगना वर्तमान जीवन की वस्तु है।

अब यदि कोई यह पूछे कि अविवेक, अविश्वास और अकर्त्तव्य का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि अनेक प्रकार का निर्णय ही 'अविवेक' है, अनेक विश्वासों का होना ही 'अविश्वास' है और जिसके करने पर कर्त्ता में करने का राग शेष नहीं रहे वही 'अकर्त्तव्य' है। एक निर्णय और एक विश्वास ही कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने में समर्थ है अथवा यों कहो कि जो करना चाहिए, उसके करने के लिए हमें एक ही निर्णय और एक ही विश्वास की अपेक्षा है। यह तभी सम्भव होगा, जब निज ज्ञान का अनादर न करें। निज-ज्ञान का आदर करते ही अपने में से देहभाव का त्याग हो जाएगा। देहभाव का त्याग होते ही देह का विश्वास अपने विश्वास में परिणत हो जाएगा। देह का अविश्वास ही हमें सभी वस्तुओं में अविश्वास करा देता है।

यह नियम है जिस पर अविश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध नहीं रहता; जिससे सम्बन्ध नहीं रहता, उसके रहने तथा न रहने में समानता आ जाती है अर्थात् उसके न रहने का भय मिट जाता है और रहने में कोई विशेषता नहीं भाती। अथवा यों कहो कि संयोग की दासता तथा वियोग का भय मिट जाता है। इस दृष्टि से शरीर आदि वस्तुएँ विश्वास करने योग्य नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि विश्वास करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि वस्तु आदि के रहने पर जो रहता है, अथवा जब वस्तुएँ नहीं थी, तब तो था अथवा वस्तुएँ जिसका आश्रय पाकर प्रकाशित होती हैं-वही विश्वास करने योग्य है। जो विश्वास करने योग्य है, उस पर विश्वास करते ही अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते हैं। एक विश्वास के होते ही अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन हो जाते हैं। जब अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन हो जाते हैं, तब अनेक चिन्तन मिटकर एक चिन्तन रह जाता है, जो जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा का रूप धारण कर लेता है। जिज्ञासा उसी की हो सकती है, जिसके जान लेने पर और कुछ जानना शेष न रहे और लालसा उसी की होती है, जो स्वभाव से ही अत्यन्त प्रिय हो अथवा जिसका किसी भी प्रकार से त्याग न किया जा सके।

इससे सिद्ध यह हुआ कि हम उसी को जानना चाहते हैं, जो हमें अत्यन्त प्रिय हो और जिसका किसी भी प्रकार से त्याग न कर सकें। इस दृष्टि से लालसा और जिज्ञासा किसी एक की ही है। लालसा तथा जिज्ञासा उसी की हो सकती है, जिससे अभिन्नता हो सके अथवा यों कहो कि जो प्राप्त हो सके। प्राप्त वही हो सकता है, जो सर्वदा तथा सर्वत्र हो। जो सर्वदा सर्वत्र है, उसी का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है, उसी को वर्तमान में ही प्राप्त किया जा सकता

है, जिसके प्राप्त होते ही सब प्रकार के भय स्वतः मिट जाते हैं।

एक विश्वास को सुरक्षित रखने के लिए अनेक विश्वासों का त्याग अनिवार्य है, पर यह तभी सम्भव होगा, जब हम अनेक विश्वासों की उत्पत्ति के कारण को जान लें। यदि इस समस्या पर विचार किया जाए, तो यह स्पष्ट विदित होता है कि देह-विश्वास होने पर ही देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि अनेक प्रकार के विश्वास स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं और देह-विश्वास का अन्त होते ही ये सब अपने-आप मिट जाते हैं, क्योंकि जिसको देह पर विश्वास नहीं रहता, उसे किसी वस्तु आदि की अपेक्षा ही नहीं रहती। जिनकी अपेक्षा नहीं रहती, उन पर विश्वास करना आवश्यक नहीं रहता। अर्थात् देह-विश्वास ही अनेक विश्वासों का हेतु है। जिस पर विश्वास नहीं रहता, उससे सम्बन्ध टूट जाता है; पर उसकी सेवा का दायित्व रहता है। इस दृष्टि से शरीर सेवा का क्षेत्र है, ममता का नहीं। शरीर की सेवा में ही विश्व की सेवा निहित है; क्योंकि शरीर की सेवा करने पर शरीर विश्व के काम आने लगता है।

अब विचार यह करना है कि शरीर की सेवा का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि जितेन्द्रियता, निर्विवकल्पता और समता के द्वारा ही शरीर की पूर्ण सेवा हो सकती है। जितेन्द्रियता के द्वारा शरीर में शुद्धि आती है, मन की निर्विवकल्पता के द्वारा सामर्थ्य आती है और बुद्धि की समता के द्वारा शान्ति आती है। शुद्धि, सामर्थ्य और शान्ति आ जाने पर सर्वहितकारी प्रवृत्तियाँ स्वतः होने लगती हैं, जो विश्व की सेवा है। शरीर और वस्तु आदि की ममता तो केवल आसक्ति ही उत्पन्न करती है, उससे न तो शरीर का हित होता है और न समाज का ही। इस दृष्टि से वस्तु आदि के प्रति ममता करने का कोई स्थान ही नहीं है।

जिनसे ममता रहित होना है, उनकी सेवा अवश्य करनी है और जिन पर विश्वास करना है, उनसे ही प्रेम करना है, उन्हीं को अपना मानना है और उन्हीं से अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव होगा, तब हम अचाह हो जाएँ; क्योंकि चाह न तो प्रेम उत्पन्न होने देती है, न अपना मानने देती है और न अभिन्न होने देती है। शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर सब प्रकार की चाह का अन्त स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से शरीर की सेवा में ही उनका प्रेम निहित है, जिससे हमें अभिन्न होना है, क्योंकि समस्त विश्व उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति है। शरीर तथा विश्व की सेवा ही 'कर्त्तव्य' का, शरीर आदि से सम्बन्ध-विच्छेद ही 'विवेक' का और जो वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है, उससे नित्य-सम्बन्ध ही 'विश्वास' का प्रतीक है। अतः अविवेक, अविश्वास तथा अकर्त्तव्य का अन्त होने पर ही निर्भयता प्राप्त हो सकती है, तो सभी को अभीष्ट है।

आसक्ति और प्रीति का विवेचन

जीवन का अध्ययन करने पर ये दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं-किसी की आसक्ति और किसी का प्रेम। जिसमें आसक्ति प्रतीत होती है, उसमें प्रवृत्ति तो होती है, पर उसकी प्राप्ति नहीं होती और जिससे प्रेम होता है, उसकी न तो प्रतीति होती है और न उसमें प्रवृत्ति ही होती है, परन्तु

उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेम उसी से होता है, जो प्राप्त है और आसक्ति उसी में होती है, जिसकी प्रतीति तो हो, पर प्राप्ति न हो। अब विचार यह करना है कि प्रतीति किसकी हो रही है? तो कहना होगा कि प्रतीति उसकी हो रही है, तो इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा जानने में आता है।

यह नियम है कि जो जिसके द्वारा जानने में आता है, उससे उसकी जातीय एकता तथा गुणों की भिन्नता होती है और जो जानता है वह उसकी अपेक्षा, जो जानने में आता है, से अधिक सूक्ष्म तथा विभु होता है। इस दृष्टि से इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ जाना जाता है, उसकी इन्द्रियों से जातीय एकता है और वह इन्द्रियों की अपेक्षा स्थूल तथा सीमित है एवं जो इन्द्रियों को जानता है, वह इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विभु और सूक्ष्म है। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि मन इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म तथा विभु है, क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। पर जो बुद्धि मन को जानती है, वह मन की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा विभु है।

समस्त सृष्टि अर्थात् दृश्य जगत् इन्द्रियों के किसी अंश में है और इन्द्रियाँ मन के किसी अंश में हैं और मन बुद्धि के किसी अंश में है; किन्तु बुद्धि उस अनन्त-नित्य-चिन्मय के किसी अंश में है, जो बुद्धि का प्रकाशक है। अब यदि कोई यह कहे कि जो बुद्धि का प्रकाशक है, उसे अनन्त, नित्य, चिन्मय क्यों स्वीकार किया जाये? तो कहना होगा कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य स्वयं अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं कर पाते। परन्तु जिसके प्रकाश से ये सब प्रकाशित हैं, वह अपने को और अपने से भिन्न बुद्धि आदि समस्त दृश्य को भी प्रकाशित कर रहा है; इससे वह नित्य और चिन्मय है। सृष्टि की किसी एक वस्तु की भी गणना नहीं हो सकती। यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी संख्या कितनी है और सीमा क्या है? जिस प्रकार किसी भी बीज के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कितने वृक्ष विद्यमान है; क्योंकि एक बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होता है, उसमें अनेकों बीज होते हैं।

इस प्रकार जब एक बीज के विस्तार की भी गणना एवं सीमा सम्भव नहीं है, तब समस्त सृष्टि की गणना तथा सीमा कैसे हो सकती है? जब सृष्टि की गणना तथा सीमा नहीं हो सकती, तो उससे सूक्ष्म जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि हैं, उनकी सीमा कैसे हो सकती है? जब बुद्धि आदि की ही सीमा नहीं हो सकती, तो उसके प्रकाशक की तो बात ही क्या है? अतः जो बुद्धि से अतीत है, वह अनन्त है।

बुद्धि और बुद्धि के प्रकाशक के मध्य में किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व तो जान नहीं पड़ता। केवल यह कह सकते हैं कि जिसमें अनन्त की प्रीति और बुद्धि आदि समस्त दृश्य की आसक्ति विद्यमान है, वह न तो दृश्य है और न दृश्य का प्रकाशक है। उसे तो केवल प्रीति और आसक्ति का समूह ही कह सकते हैं। परन्तु आसक्ति-काल में प्रीति का दर्शन नहीं होता और जब प्रीति जाग्रत होती है, तब आसक्ति का कोई अस्तित्व नहीं रहता। अतः उसे प्रीति और आसक्ति का समूह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि दृश्य की ओर गतिशील होने में आसक्ति भासती है और दृश्य से विमुख होते ही प्रीति। इस प्रीति और आसक्ति के द्वन्द्व का निवारण ही जीवन का उद्देश्य है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब आसक्ति मिटकर प्रीति से अभिन्न हो जाए।

अब यदि कोई यह कहे कि प्रीति ही आसक्ति से अभिन्न क्यों न हो जाये? तो कहना

होगा कि यह सम्भव नहीं है, क्योंकि आसक्ति का सम्बन्ध उससे है, जिसकी नित्य स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और प्रीति का सम्बन्ध उससे है, जिसकी नित्य स्वतन्त्र सत्ता है। अतः प्रीति आसक्ति में विलीन नहीं हो सकती, अपितु आसक्ति ही प्रीति से अभिन्न हो सकती है। इस दृष्टि से आसक्ति की निवृत्ति और प्रीति की जागृति ही वास्तविक साधना है।

'आसक्ति' पराधीनता और जड़ता में आबद्ध करती है, किन्तु 'प्रीत' स्वाधीनता तथा नित्य-चिन्मय जीवन की ओर गतिशील करती है। यह सभी को मान्य होगा कि परतन्त्रता और जड़ता में आबद्ध रहना किसी का अभीष्ट नहीं है, अपितु स्वाधीनता, चिन्मयता, दिव्यता आदि सभी को स्वभाव से ही प्रिय है। अतः स्वाभाविक प्रियता की जागृति ही आसक्ति का अन्त करने में समर्थ है। परतन्त्रता की वेदना ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाभाविक प्रियता स्वतः जाग्रत होने लगती है।

इस दृष्टि से परतन्त्रता की वेदना ही हमें उस अनन्त की दिव्य-चिन्मय प्रीति से अभिन्न करने में समर्थ है। पराधीनता को ही जीवन मान लेने से आसक्ति पुष्ट होती है। पराधीनता की वेदना जाग्रत होने पर आसक्ति मिटती जाती है और प्रीति सबल होती जाती है। आसक्ति अहंभाव को पुष्ट करती है और प्रीति अहंभाव को अपने ही में विलीन कर लेती है, क्योंकि प्रीति और प्रीतिकर्त्ता का विभाजन नहीं हो सकता। प्रीति जिसकी है उसको रस प्रदान करती है और आसक्ति जिसमें होती है उससे सुख की आशा कराती है। इस दृष्टि से प्रीति दाता और आसक्ति भिखारी बनाती है, अथवा यों कहो कि आसक्ति पराधीन और प्रीति स्वाधीन बनाती है। आसक्ति कोई भी ऐसी नहीं होती, जिससे अरुचि न हो, किन्तु प्रीति नित-नव रुचि जाग्रत करती है। उसमें कभी अरुचि नहीं होती; क्योंकि प्रीति अनन्त, नित्य और चिन्मय है, किन्तु आसक्ति अनित्य, जड़ और सीमित है। आसक्ति की निवृत्ति होती है, परन्तु प्रीति की नित-नव वृद्धि होती है। क्योंकि प्रीति तो उस अनन्त का स्वभाव है और आसक्ति प्रमाद का परिणाम है। प्रमाद-रहित होते ही आसक्ति सदा के लिए मिट जाती है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रमाद की निवृत्ति कैसे हो? तो कहना होगा कि प्रमाद को प्रमाद जान लेने पर उसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। जिसे 'यह' कहते हैं, उसको 'मैं' मान लेना वास्तव में प्रमाद है। 'यह', 'मैं' नहीं है, ऐसा जानते ही प्रमाद मिट जाता है। 'यह' का अर्थ है, जो अपने को अपने-आप प्रकाशित न कर सके। इस दृष्टि से समस्त दृश्य, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि 'यह' के अर्थ में आ जाते हैं। अतः जो अपने को बुद्धि आदि से विमुख कर लेता है, उसका प्रमाद स्वतः मिट जाता है। प्रमाद के मिटते ही अहंभाव अनन्त-नित्य-चिन्मय की प्रीति हो जाता है। उसके बाद प्रीति तथा प्रियतम से भिन्न कुछ शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से आसक्ति की निवृत्ति और प्रीति की जागृति ही वास्तविक जीवन है।

सुख की आशा के त्याग में ही विकास

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि सब प्रकार की असफलता का कारण एकमात्र सुख की आशा है; कारण, कि सुख-भोग की आशा सुख-भोग से भी अधिक

भयंकर दोष है; क्योंकि सुख-भोग से अरुचि स्वाभाविक होती है, पर सुख की आशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। सुख की आशा का जन्म ममता से होता है, क्योंकि जिसे हम अपना मान लेते हैं, उसी से सुख की आशा करते हैं अथवा यों कहो कि सुख की आशा ही हमें अधिकार-लालसा में आबद्ध कर देती है, जिसके समान और कोई परतन्त्रता नहीं है। इतना ही नहीं, अधिकार-लालसा रहते हुए अपने अस्तित्व की सिद्धि ही नहीं हो सकती, क्योंकि जिनके द्वारा अधिकार सुरक्षित होता है, उनके अस्तित्व की सिद्धि होती है और जो अधिकार माँगता है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

यह सभी को मान्य होगा कि सुख की आशा रहते हुए न कोई सेवा कर सकता है और न प्रेम। सेवा के बिना भौतिक विकास नहीं हो सकता और प्रेम के बिना वास्तविक जीवन नहीं मिल सकता। अब यदि कोई यह कहे कि सुख की आशा के आधार पर ही तो माँ शिशु की सेवा करती है और प्रेम देती है एवं सुख की आशा के आधार पर ही पारस्परिक सेवा और प्रेम का आदान-प्रदान होता है। तो पूछना होगा कि यदि सुख की आशा के आधार पर प्रेम होता है, तो मोह किसके आधार पर होता है? और यदि सुख की आशा के आधार पर ही पारस्परिक सेवा का आदान-प्रदान निर्भर है, तो फिर स्वार्थभाव किस पर निर्भर है?

प्रेम में तो अपने आपको मिटाना होता है और सेवा के लिए अपना सब कुछ देना होता है। जो अपने आपको मिटा नहीं सकता, वह प्रेम नहीं कर सकता और जो अपना सर्वस्व दे नहीं सकता, वह सेवा नहीं कर सकता। सेवा का अन्त त्याग में है, सुख की आाशा में नहीं, और प्रेम अपने आप को देने में हैं, कुछ माँगने में नहीं। सुख की आशा के आधार पर की हुई सेवा 'भोग' में बदल जाती है जिसकी पूर्ति होने पर राग और अपूर्ति होने पर द्वेष उत्पन्न होता है। द्वेष संघर्ष और राग बन्धन उत्पन्न करता है, जिसमें सभी का अहित है।

अतः संघर्ष तथा बन्धन का अन्त तभी सम्भव है, जब सुख की आशा से रहित सेवा की जाए। इस दृष्टि से सेवक के जीवन में सुख की आशा का कोई स्थान ही नहीं है। इतना ही नहीं, सेवक का हृदय तो करुणा के रस से और प्रसन्नता से भरपूर रहता है। वहाँ भला सुख की आशा कैसे ठहर सकती है?

अब विचार यह करना है कि प्रेम-प्राप्ति में सुख की आशा बाधक क्यों है? तो कहना होगा कि सुख की आशा अहंभाव को पुष्ट और देहाभिमान को उत्पन्न करती है। प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश करने के लिए सब प्रकार के अभिमान का अन्त करके अपने आपको मिटाना पड़ता है, क्योंकि प्रेम भेद तथा दूरी सहन नहीं कर सकता। अभिमान रहते हुए भेद मिट नहीं सकता और अहं के रहते हुए दूरी नहीं मिट सकती। दूरी मिटाने के लिए अहं का अन्त करना होगा और भेद मिटाने कि लिए अभिमान रहित होना होगा। यह तभी सम्भव होगा, जब सुख की आशा सदा के लिए मिटा दी जाए। इस दृष्टि से सुख की आशा प्रेम-प्राप्ति में बाधक है।

सेवा और प्रेम की तो कौन कहे, पारस्परिक एकता भी सुख की आशा के कारण सुरक्षित नहीं रह सकती; क्योंकि सुख की आशा से मिलना अलग होने का हेतु है। अब यदि कोई यह कहे कि सुख की आशा को लेकर मिलना अलग होने की तैयारी क्यों है? तो कहना होगा कि यदि सुख की आशा पूरी हो गई, तो सुख से सम्बन्ध हो जाएगा जिसके द्वारा पूरी हुई, उससे सुख-भोग-काल में सम्बन्ध नहीं रहेगा। यदि सुख की आशा पूरी न हुई, तो क्रोध उत्पन्न होगा, जो एकता नहीं रहने देगा। अतः सुख की पूर्ति और अपूर्ति दोनों में ही पारस्परिक भिन्नता अनिवार्य है। इस दृष्टि से यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि सुख की अशा से मिलना अलग होने की तैयारी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सुख की आशा ने ही तीव्र जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा जाग्रत नहीं होने दी। यदि हम सुख की आशा में आबद्ध न होते, तो सन्देह की वेदना अथवा प्रिय-लालसा की जागृति जीवन की वस्तु हो जाती है। यह नियम है कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से हो जाता है, उसके लिए व्याकुलता तथा जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है। सुख की आशा हमें वर्तमान का उपयोग नहीं करने देती अथवा यों कहो कि वस्तुस्थिति का परिचय नहीं होने देती, जिसके बिना जो करना चाहिए, उसे हम कर नहीं पाते और जो नहीं करना चाहिए, उसमें आबद्ध हो जाते हैं।

इस दृष्टि से सुख की आशा समस्त असफलताओं का हेतु है। जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान से, योगी को योग से और प्रेमी को प्रेमास्पद से सुख की आशा ने ही अभिन्न नहीं होने दिया। इतना ही नहीं, सुख की आशा ही अमरत्व से मृत्यु की ओर गतिशील करती है। अतः सुख की आशा रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते, जो हमारी स्वाभाविक माँग है। इस दृष्टि से सुख की आशा का त्याग ही विकास का मूल हैं।

पर-चर्चा से हानि

वस्तुस्थिति का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता और समय का बहुत बड़ा भाग पर-चर्चा में लग जाता है, जिससे बड़ी हानि यह होती है कि जिस आवश्यक कार्य के लिए सामर्थ्य, समय आदि मिले थे, वह पूरा नहीं हो पाता। यह नियम है कि आवश्यक कार्य पूरा न होने से और अनावश्यक कार्य करने से अशान्ति, भय, चिन्ता आदि अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं अथवा यों कहो कि जीवन का अनादर हो जाता है, जो अवनति का मूल है।

जीवन का आदर बड़े ही महत्व की वस्तु है; क्योंकि जीवन के आदर में ही साधन निर्माण और साधन के निर्माण में ही साध्य की उपलब्धि निहित है। वर्तमान परिवर्तनशील जीवन नित्य, चिन्मय, दिव्य जीवन-प्राप्ति का साधन है और कुछ नहीं।

साधन-सामग्री का अपव्यय साधक को सफलता से विमुख करता है। अतः साधन-सामग्री का स्वाध्याय करने के लिए साधक को सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा, जब पर-चर्चा का त्याग कर दिया जाए। पर-चर्चा

का त्याग करते ही प्रिय-चर्चा स्वतः होने लगती है, जो प्रेम के प्रादुर्भाव में हेतु है। प्रेम का प्रादुर्भाव प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है।

अब विचार यह करना है कि 'पर' और 'प्रिय में क्या भेद है? 'पर' उसे कहते हैं, जिसका त्याग स्वाभाविक है और 'प्रिय' उसे कहते हैं, जिससे नित्य-योग स्वाभाविक है अथवा यों कहो कि 'पर' उसे कहते हैं, जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता हो और 'प्रिय' उसे कहते हैं, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। जिससे एकता है, उसी की चर्चा रसरूप होती है अथवा यों कहो कि रस का उत्पादन करती है। जिससे जातीय भिन्नता है, उसकी चर्चा तो केवल राग-द्वेष में ही आबद्ध करती है।

'राग' पराधीनता को तथा 'द्वेष' क्रोध, ईष्या और हिंसा आदि अनेक दोषों को उत्पन्न करता है अर्थात् राग-द्वेष के रहते हुए दिव्य-जीवन प्राप्त नहीं हो सकता, जिसके बिना जीवन की सार्थकता ही सिद्ध नहीं हो सकती। इस दृष्टि से पर-चर्चा बड़ा ही भयंकर दोष है।

पर-चर्चा से तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, किन्तु पर-सेवा से बहुत लाभ होता है; कारण, कि प्राकृतिक नियमानुसार दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है, वह कई गुना अधिक होकर स्वयं अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टि से दूसरों की सेवा में अपना हित है। सेवा स्वार्थभाव को मिटा देती है, जिसके मिटते ही निष्कामता आ जाती है; उसके आते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने ही में अपने वास्तविक जीवन का अनुभव हो जाता है।

इतना ही नहीं, सेवा द्वारा भौतिक विकास भी स्वतः होता है; कारण, कि सेवा सेवक को विभु बना देती है अर्थात् सेवक समाज के हृदय में निवास करता है; क्योंकि सेवक में निर्वैरता स्वभाव से ही आ जाती है। निर्वैरता के आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं।

अब विचार यह करना है कि सेवा का स्वरूप क्या है? सेवा दो प्रकार की होती है-एक बाह्य और एक आन्तरिक। बाह्य सेवा का अर्थ है-प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थय आदि के द्वारा बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के सर्वहितकारी कार्य करना। पर यह तभी सम्भव होगा, जब हम प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपनी न मानें, अपितु उसी की मानें जिसकी सेवा का सुअवसर मिला है; क्योंकि सृष्टि एक है, उससे भेद करना प्रमाद है।

अब यदि कोई यह कहे कि जब कोई वस्तु अपनी है ही नहीं और उसकी है, जिसकी सेवा करते हैं, तब उसके नाम पर सेवा कैसे हो सकती है? तो कहना होगा कि बाह्य सेवा जिन साधनों से की जाती रही है, यद्यपि वे साधन एक ही सृष्टि के हैं और जिनकी सेवा की जा रही है, वे भी सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं, तो भी जिस प्रकार शरीर के अवयव परस्पर में एक-दूसरे की सेवा करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि से प्राप्त साधनों के द्वारा ही सृष्टि की सेवा की जा सकती है।

हाँ, यह अवश्य है कि जब सेवा द्वारा भेद गल जाता है, तब 'करना' स्वतः 'होने' में बदल जाता है और आन्तरिक सेवा स्वतः होने लगती है।

आन्तरिक सेवा के लिए किसी बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। उसमें तो सर्वहितकारी भाव विभु होकर सभी को सब कुछ प्रदान करता है, उसके भाव के अनुरूप आवश्यक वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होने लगती हैं। सर्वहितकारी भाव, सर्वात्मभाव प्रदान करता है अर्थात् सभी में सेवक अपने ही को अनुभव करता है। फिर सेवक, सेवा और सेव्य में अभिन्नता हो जाती है। यही सेवा का पराकाष्ठा है।

समस्त विश्व के साथ एकता का भाव आते ही विश्व से अतीत जो विश्व का प्रकाशक है, उसकी जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जाग्रत होती है। जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा जाग्रत होती है, उसकी चर्चा करनी चाहिए; कारण, कि जिसकी चर्चा होने लगती है, उसका चिन्तन होने लगता है और जिसका चिन्तन होने लगता है, उसमें अनुरक्ति हो जाती है, जो समस्त आसक्तियों को खाकर उस अनन्त से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से चर्चा करने योग्य वही है, जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा है। उसी से हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता भी है। उसी की चर्चा प्रिय की चर्चा है। उसके नाते ही शरीर आदि वस्तुओं द्वारा विश्व की सेवा की जा सकती है। अथवा यों कहो कि समस्त विश्व में उसका ही दर्शन किया जा सकता है।

जब समस्त विश्व में उस अनन्त का ही दर्शन होने लगता है, तब पर-सेवा, 'प्रिय-सेवा' के रूप में बदल जाती है। फिर प्रिय-सेवा प्रीति के स्वरूप में बदलकर अर्थात् केवल प्रीति होकर उस अनन्त को रस प्रदान करती है, जो दिव्य अर्थात् केवल प्रीति होकर उस अनन्त को रस प्रदान करती है, जो दिव्य तथा चिन्मय है। अनन्त की प्रीति भी अनन्त की भाँति ही दिव्य तथा चिन्मय है। अथवा यों कहो कि प्रीति और प्रियतम में केवल प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रसरूप और नित-नव है। इस दृष्टि से सेवा, प्रीति की जागृति का हेतु है।

पर-चर्चा का अर्थ है-वस्तु, व्यक्ति आदि की चर्चा और पर-सेवा का अर्थ है-प्राप्त वस्तु आदि के द्वारा सर्वहितकारी कार्य करना। उसका फल है-वस्तु आदि की आसक्ति का न रहना। वस्तु आदि की आसक्ति के मिटते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो भोगेच्छाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। उसकी पूर्ति में ही अमर जीवन निहित है।

इस दृष्टि से यह निर्विववाद सिद्ध हो जाता है कि प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु के द्वारा प्राणिमात्र की सेवा करना तो आवश्यक है, पर उनकी चर्चा के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः पर-चर्चा का त्याग करके पर-सेवा द्वारा हमें अपनी जिज्ञासा तथा लालसा की पूर्ति कर लेनी चाहिए।

सफलता की कुन्जी

जीवन के अध्ययन तथा वर्तमान दशा के परिचय में ही साधन-निर्माण निहित है, जो सिद्धि का हेतु है। साधन का निर्माण और साध्य का निर्णय वर्तमान दशा में ज्ञान से ही सम्भव है। वर्तमान के अभाव-दर्शन और असन्तोष से ही हम अपने साध्य को जान सकते हैं; क्योंकि वर्तमान का अभाव-दर्शन ही भविष्य की उपलब्धि में और असन्तोष ही वर्तमान दशा के परिवर्तन में हेतु है।

अभाव का ज्ञान पूर्णता की जिज्ञासा जाग्रत करता है; क्योंकि अभाव किसी को भी स्वभाव से अभीष्ट नहीं है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि अभाव का ज्ञान साध्य का निर्णय कराने में समर्थ है। असन्तोष की व्यथा प्रयत्नशीलता का पाठ पढ़ाती है और प्राप्त योग्यता तथा सामर्थ्य का सदुपयोग कराने में समर्थ होती है।

इस दृष्टि से असन्तोष और अभाव का परिचय ही हमें वास्तविक जीवन की ओर गतिशील करता है। पर कब? जब अथवा तथा असन्तोष का कारण किसी और को न मानें, अपितु यह जान लें कि अभाव अनित्य जीवन का स्वरूप है और असन्तोष उत्कृष्टता की लालसा है। लालसा उसकी की होती है, जिसका अस्तित्व नित्य हो। अभाव का ज्ञान किसी भाव की सिद्धि में हेतु है; क्योंकि अभाव का अभाव होना अनिवार्य है।

साधन-तत्त्व बीज रूप से साधक में विद्यमान है और साध्य से भी देश-काल की दूरी नहीं है। इस दृष्टि से साधक, साधक और साध्य सर्वदा अभिन्न हो सकते हैं, अर्थात् साधक साधन द्वारा साध्य को सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। साध्यक की उपलब्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है, उससे निराश होना भूल है; अपितु साधक के जीवन में साध्य के लिए नित-नव उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए।

यह नियम है कि जो वर्तमान जीवन की वस्तु होती है, उसके लिए नित-नव उत्कण्ठा स्वाभाविक उत्पन्न होती है। हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है उसके लिए भविष्य की आशा करते हैं और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से नहीं है, जैसे, अप्राप्त परिस्थिति, उसका वर्तमान में चिन्तन करते हैं।

चिन्तन से कोई परिस्थिति प्राप्त नहीं होती; क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति कर्म का परिणाम है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में नही हो सकती। परन्तु हम अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन में आबद्ध होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाते; इसलिए सार्थक-चिन्तन का उदय भी नहीं हो पाता, जिसके बिना साधन-निर्माण असम्भव हो जाता है; कारण, कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और सार्थक-चिन्तन ही साधक के मुख्य अंग है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में परतन्त्रता नहीं है और सार्थक-चिन्तन में किसी प्रकार का श्रम नहीं है। अतः साधन में न तो परतन्त्रता है और न श्रम अर्थात् साधन करना सहज तथा स्वाभाविक है।

अब विचार यह करनाहै कि जब साधन सहज और स्वाभाविक है, तब हम उसे क्यों नहीं प्राप्त कर पाते? तो कहना होगा कि हम अपने जीवन का अध्ययन बिना किए औ वर्तमान दशा को बिना जाने साधक करने का प्रयास करते है, जो अस्वाभाविक है। इसी कारण न तो साधक को साधन रुचिकर होता है और न साधन के प्रति निस्सन्देहता होती है। अरुचि और सन्देहयुक्त साधन से सिद्धि सम्भव ही नहीं है।हमें साध्य से निराश नहीं होना है, अपितु साधन का निर्माण करना है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम 'क्यों करें', इस को भूल जाएँ और जो कर सकते हैं, उसे करने लग जाएँ। जो करसकते हैं, उसके करने से

राग निवृत्त हो जाता है तथा जो करना चाहिए, उसकी योग्यता और सामर्थ्य आ जाती है। जब तक साधक की साध्य से अभिन्नता नहीं होती, तब तक सतत् रूप से यह क्रम चलता ही रहता है अर्थात् साधक साधन होकर साध्य की ओर गतिशील होता रहता है।

अब यदि कोई यह कहे कि हम से तो कुछ भी नहीं हो सकता। तो कहना होगा कि जो कुछ भी नहीं कर सकते है, उससे वह भी तो नहीं हो सकता, जो नहीं करना चाहिए। जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने से, जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से भी निर्बल से निर्बल प्राणी भी साधन कर सकता है। अतः हमसे साधन नही हो सकता-यह कहना उसी समय तक सम्भव है। जब तक हम साधन नहीं करना चाहते। साधन की रुचि में साधन करने की सामर्थ्य निहित है। अतः साधन न कर सकते की बात कहना अपने आपको धोखा देना है।

प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग और सार्थक चिन्तन-ये दोनों बातें ही साधन-निर्माण में हेतु है। परिस्थिति का सदुपयोग सभी को अभीष्ट है। पर विचार यह करना है कि परिस्थिति का सदुपयोग हम किसी अप्राप्त परिस्थिति के लिए कर रहे हैं अथवा परिस्थितियों से अतीत होने के लिए? परिस्थिति का सदुपयोग यदि अप्राप्त परिस्थिति के लिए कर रहे हैं, तो समझना चाहिए कि अभी हम उस जीवन को नहीं चाहते हैं, जो नित्य; क्योंकि सभी परिस्थितियाँ स्वभाव से ही परिवर्तनशील हैं। जो परिवर्तनशील है, उससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं हो सकती। जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं हो सकती, वह हमारा वास्तविक जीवन नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से परिस्थितियों से अतीत का जीवन ही हमारा जीवन हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि परिस्थिति का सदुपयोग राग-निवृत्ति में हेतु हो सकता है। पर कब? जब हमारा उद्देश्य परिस्थिति के सदुपयोग में तो हो, पर परिस्थिति में जीवन-बुद्धि न हो। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है; पर हम उसे साधन-सामग्री न मान कर उससे ममता कर लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि जो परिस्थिति राग मिटाने के लिए मिली थी, वह नवीन राग उत्पन्न करने का हेतु बन जाती है। उस समय हम परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं, जो वास्तव में अविवेक सिद्ध है।

सार्थक-चिन्तन का उदय दो प्रकार से होता है-निस्सन्देहता प्राप्त करने की रुचि से और अविचल प्रेम पाने तथा देने की लालसा से अथवा यों कहो कि सार्थक-चिन्तन निस्सन्देहता और प्रेम-प्राप्ति के लिए ही अभीष्ट है; उसे किसी वस्तु, अवस्था आदि में आबद्ध नहीं करना चाहिए। क्योंकि वस्तु, अवस्था आदि का चिन्तन निरर्थक-चिन्तन है। जब साधक ममता-रहित होकर परिस्थिति का सदुपयोग करने लगता है, तब प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वभाव से ही जिज्ञासा, स्थिरता अथवा प्रीति उदय होती है। जिज्ञासा सभी भोगइच्छाओं को खाकर उस परम तत्त्व से अभिन्न कर देती है, जिसकी जिज्ञासा थी। स्थिरता सबल तथा स्थाई होकर चिरशान्ति में बदल जाती है और

अमरत्व से अभिन्न कर देती है। प्रीति व्यक्तित्व के मोह को गलाकर दिव्य तथा चिन्मय होकर अनन्त को आह्लादित करने में समर्थ होती है अथवा यों कहो कि प्रीति प्रियतम की सत्ता से ही प्रियतम को रस प्रदान करती है।

प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वभाव से ही आने वाली शान्ति यदि सुरक्षित बनी रहे अर्थात् व्यर्थ-चिन्तन से भंग न हो, तो अपने-आप विचार का उदय होता है, जिससे कामनाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। अतः शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए निर्मोहतापूर्वक दूसरों के अधिकारों की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करते हुए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना होगा।

साधन-निर्माण करने के लिए साधक का सबसे प्रथम स्वभाव में ही उत्पन्न होने वाले संकल्पों को देखना होगा। जिस प्रकार हम पृथ्वी में उगते और मिटते हुए पौधों को अथवा खिलते और मुर्झाते हुए पुष्पों को देखते हैं, उसी प्रकार हमें मन में उत्पन्न होने और मिटने वालें संकल्पों को देखना तो चाहिए, परन्तु उनके साथ न तो सहयोग करना चाहिए और न उनसे भयभीत होना चाहिए। यदि उन संकल्पों में कोई ऐसे हैं कि जिनकी पूर्ति के बिना हम किसी प्रकार नहीं रह सकते, जिनका सम्बन्ध वर्तमान से है एवं जिनकी पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, तो उनकी पूर्ति में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। परन्तु उन संकल्पों की पूर्ति के सुख से असंगरहना चाहिए। ऐसा करने से अनावश्यक संकल्प उत्पन्न होकर स्वतः मिट जाएँगे और आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिट जाएँगे।

संकल्पों के मिटते ही निर्विवकल्पता आ जाएगी और वर्तमान अवस्था संकल्प-पूर्ति एवं संकल्प-निवृत्ति के रूप में प्रतीत होगी और यों कहो कि संकल्प-निवृत्ति की शान्ति प्राप्त होगी; किन्तु अपने को सुख-शान्ति में भी सन्तुष्ट नहीं होना है अर्थात् सुख-शान्ति से अतीत की ओर गतिशील होना है। वह तभी सम्भव होगा, जब संकल्प की पूर्ति एवं संकल्प की निवृत्ति से जीवन से अतीत के जीवन की जिज्ञासा और लालसा जाग्रत हो।

संकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति-ये तीनों ही अवस्थाएँ हैं, जीवन नहीं। जो साधक संकल्प की उत्पत्ति के दुःख, पूर्ति के सुख एवं निवृत्ति की शान्ति में अपने को आबद्ध नहीं करता, वही अवस्थाओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा कर सकता है। प्रत्येक अवस्था स्वभाव से ही परिवर्तनशील तथ अपूर्ण है। इस दृष्टि से पूर्णता की जिज्ञासा एवं लालसा जाग्रत होना अनिवार्य है। इस दृष्टि से पूर्णता की जिज्ञासा एवं लालसा जाग्रत होना अनिवार्य है। परन्तु अवस्थाओं की तद्रूपता ही हमें अवस्थाओं से अतीत की ओर गतिशील नहीं होने देती। यद्यपि अवस्थाओं का ज्ञाता अवस्थाओं से सर्वदा अतीत है, परन्तु अवस्थाओं से मानी हुई एकता के कारण हम उनसे तद्रूप हो जाते हैं, जो वास्तव में अविवेक है।

यह अवश्य है कि मानी हुई एकता कितनी ही सबल तथा स्थाई क्यों न हो, किन्तु

जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी जिज्ञासा और लालसा को मिटा नहीं सकती। जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा मिटाई नहीं जा सकती, उसकी पूर्ति अनिवार्य है; और मानी हुई एकता सर्वदा सुरक्षित नहीं रह सकती; अतः उसकी निवृत्ति अनिवार्य है अथवा यों कहो कि मानी हुई एकता की निवृत्ति में ही उसकी प्राप्ति निहित है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

मानी हुई एकता की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन संकल्पों को पूरा करें, जिनमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित है और उन संकल्पों का अन्त कर दें, जो सुख-भोग की आसक्ति उत्पन्न करने में हेतु हैं। अथवा यों कहो कि सुख-भोग की आसक्ति दूसरों के हित तथा प्रसन्नता की प्रियता में विलीन हो जाए। ऐसा होते ही सब प्रकार के राग का अन्त हो जाएगा। राग-रहित होते ही मन में निर्मलता, चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता और बुद्धि में ममता स्वतः आ जाएगी। फिर तो अप्रयत्न ही प्रयत्न हो जाएगा, जो जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति कराने में समर्थ है।

साधक जो साधन करने में अपने को असमर्थ पाता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि उसने साधन-निर्माण करते समय इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि उसका साधन उसकी योग्यता, रुचि, विश्वास एवं प्रियता के अनुरूप है या नहीं। साधक को उसी साधन से सिद्धि हो सकती है, जो उसे रुचिकर हो, जिसके प्रति अविचल विश्वास हो एवं जिसके करने की योग्यता हो। अतः साधक की योग्यता, रुचि, प्रियता एवं विश्वास के अनुरूप निर्विमत साधन करने में न तो असमर्थता ही है और न असफलता ही। इस दृष्टि से किसी भी साधक को साधन-निर्माण तथा साध्यक की प्राप्ति से निराश नहीं होना चाहिए, अपितु वर्तमान में ही साधन-निर्माण कर सिद्धि प्राप्ति करने के लिए नित-नव उत्कण्ठा जाग्रत करनी चाहिए। यही सफलता की कुन्जी है।

विश्राम की महिमा

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि निर्बलताओं का अन्त, आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति और लक्ष्य से अभिन्नता विश्राम में ही निहित है। इस दृष्टि से विश्राम निर्बल का बल तथा सफलता के लिए अचूक अस्त्र है। इतना ही नहीं, जब सभी प्रयास असफल हो जाते हैं, तब विश्राम से सफलता होती है। इस दृष्टि से विश्राम अन्तिम का भय शेष न रहे; क्योंकि सुख की दासता तथा दुःख का भय ही विश्राम की अभिव्यक्ति नहीं होने देता।

अब विचार यह करना है कि सुख की दासता तथा दुःख का भय कब तक जीवित रहता है? तो कहना होगा कि जब तक हम अपने संकल्पों की पूर्ति चाहते हैं। संकल्पों की पूर्ति कब तक चाहते हैं? जब तक अपने को देह में आबद्ध रखते हैं। देह में आबद्ध कब तक रखते हैं? जब तक सभी मान्यताओं से अतीत के जीवन का

अनुभव नहीं कर लेते हैं। कोई भी प्राणी अपने को केवल 'देह' मानकर कभी भी भोग की वासनाओं से रहित नहीं हो सकता और उसके बिना निःसंकल्पता आ नहीं सकती। निःसंकल्पता के बिना सुख की दासता और दुःख का भय मिट नहीं सकता।

इस दृष्टि से भोग-वासनाओं का त्याग ही द्वन्द्वात्मक जीवन से रहित होने का मुख्य साधन है। द्वन्द्वात्मक जीवन का अन्त होते ही पूर्ण विश्राम स्वतः मिल जाता है, जिसके मिलते ही नित्य-योग हो जाता है, जो जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्ति में हेतु है। जिज्ञासा-पूर्ति से अमरत्व और प्रेम-प्राप्ति से अगाध अनन्त रस की उपलब्धि होती है। अतएव लक्ष्य से अभिन्न होने के लिए विश्राम अत्यन्त आवश्यक है।

अब विचार यह करना है कि विश्राम की उपलब्धि कैसे हो? तो कहना होगा कि प्रत्येक दशा में क्षोभ रहित होने से ही यथेष्ट विश्राम मिल सकता है। हम क्षोभरहित तभी हो सकते है, जब हमारी दृष्टि वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के सतत् परिवर्तन पर लगी रहे अर्थात् अनुकूलता तथा प्रतिकूलता सदैव बनी रहेगी, यह अनुभूति जीवन बन जाए। अनुभूति के आदर के बिना साधन-निर्माण सम्भव नहीं है। इस कारण अनुभूति का आदर अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि अनुभूति ही साधक के पथ-प्रदर्शन में हेतु है।

विश्राम का स्वरूप क्या है? विश्राम आलस्य नहीं है, अकर्मण्यता नहीं है, क्योंकि आलस्य और अकर्मण्यता से तो प्राणी व्यर्थ-चिन्तन तथा जड़ता में आबद्ध हो जाता है और विश्राम व्यर्थ-चिन्तन-रहित होने पर तथा जड़ता से अतीत होने पर ही सम्भव है। विश्राम वह जीवन है, जिससे सभी क्रियाएँ उदित होती हैं अथवा जिसमें सभी क्रियाएँ विलीन होती है, अर्थात् क्रियाशीलता का उद्गम-स्थान भी विश्राम है और उसका लयस्थान भी विश्राम ही है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त कर्मों की भूमि विश्राम ही है। अतः विश्राम से प्राणी अकर्मण्य तथा आलसी नहीं हो सकता। जिस प्रकार अचल हिमालय से ही अनेक नदियाँ निकलती हैं और सभी नदियाँ जाकर उसी समुद्र में विलीन होती हैं, जो अपनी मर्यादा में ही प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार समस्त प्रवृत्तियों का उद्गम स्थान भी विश्राम है और समस्त प्रवृत्तियों का अन्त भी विश्राम में ही निहित है।

विश्राम जड़-तत्त्व नहीं है; क्योंकि यदि वह जड़-तत्त्व होता, तो उससे सभी प्रवृत्तियों को न तो सत्ता ही मिलती, न उनका प्रकाशन ही होता और न वह सभी प्रवृत्तियों को अपने में विलीन ही कर पाता। इस दृष्टि से विश्राम चिन्मय तत्त्व है। अतः विश्राम उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने को सभी वस्तु, अवस्था आदि से असंगकर लेते हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि शक्तिहीनता आ जाने पर विश्राम की ही अपेक्षा होती है और विश्राम मिलने पर स्वतः शक्ति हीनता मिट जाती है। इस दृष्टि से शक्ति-संचय का केन्द्र एकमात्र विश्राम है। गहरी नींद के द्वारा विश्राम पाकर शारीरिक श्रम दूर हो जाता है और कार्य करने की क्षमता आ जाती है, तब सूक्ष्म शक्तियों का विकास होता है। समता के द्वारा विश्राम पाकर

बौद्धिक शान्ति मिलती है, जिससे विचाररूपी सूर्य का उदय होता है, जो अमरत्व से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विश्राम संकल्पपूर्ति के सुख का त्याग करने से प्राप्त होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार भौतिक विकास भी विश्राम में ही निहित है। प्रत्येक बीज पृथ्वी में विश्राम पाकर ही विकसित होता है। मृत्यु ही नवीन जीवन देती है, जो प्राकृतिक विश्राम है। जीवन का सदुपयोग जीवन-काल में ही विश्राम प्रदान करना है, जो नित्य-जीवन का हेतु है।

अब यदि कोई यह कहे कि विश्राम जैसी महत्वपूर्ण स्वाभाविक वस्तु हमें क्यों नहीं प्राप्त होती? तो कहना होगा कि प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग तथा उसका अभिमान हमें विश्राम नहीं करने देता। विश्राम उसकी को प्राप्त होता है, जो अपने में अपना कुछ नहीं पाता एवं जो न तो प्राप्त का दुरुपयोग करता है औरन अप्राप्त वस्तुओं की इच्छा ही। प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग आवश्यक सामर्थ्य और योग्यता प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से असमर्थता तथा योग्यता का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। उसे तो हम प्राप्त के दुरुपयोग द्वारा ही प्राप्त करते हैं, जो अपनी ही भूल है।

विश्राम साधन भी है और साध्य भी; कारण, कि विश्राम से ही समस्त शक्तियों का विकास होता है और उनके सदुपयोग के अन्त में मिलता भी विश्राम ही है; क्योंकि विश्राम में जीवन है, चिन्मयता है, नित-नव रस है।

अब विचार यह करना है कि क्या हम विश्राम चाहते हैं? यदि चाहते हैं, तो क्यों नहीं प्राप्त कर पाते? यद्यपि विश्राम की स्वाभाविक आवश्यकता तो है, परन्तु उसे सुख-लोलुपता ने आच्छादित कर रखा है। सुख की दासता हमें विश्राम की श्वास नहीं लेने देती। सुख-लोलुपता का अन्त करने के लिए हमें दुःख और दुखियों को अपनाना होगा। वह तभी सम्भव होगा, जब हम सभी को अपना मानें; क्योंकि सभी को अपना मान लेने पर सुख-भोग के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता अर्थात् हृदय दुःख से भर जाता है और दुखियों से अभिन्नता हो जाती है, जो सुख-लोलुपता का अन्त करने में समर्थ है। सभी को अपना मानने की सामर्थ्य तथा योग्यता तभी आती है, जब देह आदि वस्तुओं को अपनी न मानें। देहादि को अपना न मानने की सामर्थ्य विवेक से ही आती है।

देहादि से अतीत का जीवन ही वास्तविक जीवन है। उससे अभिन्न होने के लिए ही वर्तमान जीवन है। अतः देहादि के सदुपयोग द्वारा समाज के अधिकारों की रक्षा और अपने अधिकारों का त्याग करते हुए यथेष्ट विश्राम प्राप्त करने का प्रयत्न करें, जिससे अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न होकर कृतकृत्य हो जाएँ, जो सभी का सब कुछ है।

विश्राम की विधि

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्राम जीवन का आवश्यक अंग है; क्योंकि विश्राम के बिना न तो जिज्ञासा की पूर्ति हो सकती है और न दिव्य-चिन्मय प्रीति की

जागृति ही। परन्तु विश्राम की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब हम अपने को देह, वस्तु, अवस्था आदि सभी से विमुख कर सकें। यह तभी सम्भव होगा, जब प्राप्त वस्तु आदि से ममता न हो, अपितु उनका सदुपयोग हो और अप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन न हो। प्राप्त वस्तु आदि का सदुपयोग करने पर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अप्राप्त वस्तु आदि की चाह मिटने पर व्यर्थ-चिन्तन मिट जाता है।

प्राप्त वस्तु आदि से सम्बन्ध-विच्छेद और अप्राप्त वस्तु आदि के चिन्तन से रहित होते ही हम स्वतः वस्तु आदि से विमुख हो जाते हैं और हमें विश्राम मिल जाता है, जिसके मिलते ही जिज्ञासा की पूर्ति और दिव्य-चिन्मय प्रीति जाग्रत हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति में नित्य-जीवन निहित है और प्रीति की जागृति में अनन्त से अभिन्नता स्वतः सिद्ध है।

देह आदि वस्तुओं की ममता का त्याग तथा उनके सदुपयोग की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए हमें देह आदि के स्वरूप को जानना होगा। अब विचार यह करना है कि जिस देह को हम अपना मानते हैं, क्या वह वास्तव में हमारी है अथवा संसार-रूपी सागर की एक लहर है? क्या शरीर और संसार का विभाजन हो सकता है? कदापि नहीं। अतः कहना होगा कि शरीर उसी का हो सकता है, जिसका समस्त संसार है, हमारा नहीं। परन्तु उसके सदुपयोग का दायित्व हम पर अवश्य है; क्योंकि शरीर आदि वस्तुओं के साथ हमें विवेक भी मिला है। अतः प्राप्त विवेक के प्रकाश में हमें शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओं का सदुपयोग अवश्य करना है अथवा यों कहो कि इन सब वस्तुओं को संसाररूपी वाटिका की खाद बना देना है। ऐसा करने से ही शरीर और विश्व की एकता सिद्ध होगी। फिर अपने और पराये का भेद गल जाएगा, जिसके गलते ही समस्त विश्व उस अनन्त की लालसा बन जाएगा।

यह नियम है कि लालसा में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह लालसा है। इस दृष्टि से समस्त विश्व केवल उस अनन्त की लालसा-मात्र है और कुछ नहीं। इसी कारण समस्त विश्व सतत् उसी की ओर दौड़ रहा है अथवा यों कहो कि प्रत्येक वस्तु अपने को सजा-धजाकर उसके भेंट कर रही है; क्योंकि प्रीति का यह स्वभाव है कि वह अपने को सुन्दर बना कर प्रियतम के समर्पित होने में ही अपने को कृतकृत्य मानती है। अतः शरीर आदि वस्तुओं का सदुपयोग है-विश्व की खाद होकर उससे अभेद होने में और विश्व का सदुपयोग है-उस अनन्त से अभिन्न होने में, क्योंकि वास्तव में समस्त विश्व उसकी अभिव्यक्ति है और कुछ नहीं। देह आदि वस्तुओं के स्वरूप को जान लेने पर उनकी ममता का त्याग तथा उनका सदुपयोग होना तो स्वाभाविक ही है।

अब विचार यह करना है कि विश्राम-प्राप्ति में क्या-क्या विघ्न हैं? तो कहना होगा कि जो वर्तमान का कार्य है, उसे भविष्य पर छोड़ना और जो वर्तमान का कार्य नहीं है, उनका चिन्तन करना अथवा यों कहो कि जो कर सकते हैं, उसको न करना और जो करने योग्य नहीं है, उसको करना अथवा जिसका होना सम्भव नहीं है, उसके करने की सोचना आदि विश्राम में विघ्न हैं।

अब विचार करें कि वर्तमान में करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि शरीर और विश्व की एकता, प्राप्त वस्तुओं की ममता का त्याग एवं उनका सदुपयोग वर्तमान जीवन की वस्तु है। ममता-रहित होते ही सभी बन्धन स्वतः टूट जाते हैं, प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग करते ही सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है तथा शरीर और विश्व की एकता सिद्ध होते ही निरभिमानता आ जाती है, जो सब प्रकार के संघर्ष मिटाने में समर्थ है। अतः जो वर्तमान का कार्य है, वही करने योग्य है; क्योंकि वर्तमान के सुधार में ही सफलता निहित है।

यदि कोई कहे कि न करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि जो करने योग्य है, उसके विपरीत जो कुछ है, वह न करने योग्य है। किसक होना सम्भव नहीं है? जो समय निकल गया, उसका हाथ आना सम्भव नहीं है, शरीर आदि वस्तुएँ वर्तमान में जैसी हैं, उनका वैसा ही रहना सम्भव नहीं है, व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहना सम्भव नहीं है और अनन्त से विमुख रहकर शान्ति पाना सम्भव नहीं है। अतः जिसका होना सम्भव ही नहीं है, उसके लिए सोचना या चिन्ता करना जीवन का अनादर तथा सामर्थ्य का दुरुपयोग करना है और कुछ नहीं। जो करने योग्य नहीं है, उसके न करने से, जो करने योग्य है, उसकी योग्यता तथा सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। जो नहीं करना चाहिए, उसका त्याग करना चाहिए। इस दृष्टि से जो करने योग्य है, उसके करने में कोई असमर्थ तथा अयोग्य नहीं है।

अब विचार यह करना है कि जो करने योग्य है, उसके करने में जब हम असमर्थ और अयोग्य नहीं हैं, तब हम उसे क्यों नहीं कर पाते? तो कहना होगा कि करने की सामर्थ्य तथा योग्यता को उसमें लगा देते हैं, जो करने योग्य नहीं है। जैसे, सामर्थ्य तथा योग्यता का बहुत बड़ा भाग हम संसार से सुख लेने की आशा में लगा देते हैं। यद्यपि हमें तो संसार की सेवा करना है, उससे लेना कुछ नहीं; क्योंकि बेचारा संसार स्वयं ही किसी की खोज में है। वह हमें दे ही क्या सकता है? तो भी हम उसके पीछे पड़े हैं, यही प्रमाद है।

अतः हमें संसार की धरोहर जो शरीर आदि वस्तुओं के रूप में प्राप्त है, उसे संसार की ही सेवा में लगा देना है और आगे उससे क्षमा माँग लेना है। जब हम संसार की समस्त वस्तुएँ उसी की सेवा में लगा देते हैं, तब हम स्वभाव से ही उसके बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और समस्त संसार हम से प्रसन्न हो जाता है; क्योंकि जो उस पर अधिकार नहीं जमाता, संसार उससे सदैव प्रसन्न रहता है। संसार उसी को भय देता है, जो उसकी वस्तुओं को अपनी मान लेता है। अतः हमें संसार से कुछ लेना नहीं है, अपितु उससे मिली वस्तुओं को उसी को दे देना है और स्वयं विश्राम पा लेना है, जो हमारा साधन है।

यह नियम है कि साधन-तत्त्व साधक का जीवन है और साध्य का स्वभाव है। अतः विश्राम उस अनन्त का स्वभाव है और हमारा जीवन है। विश्राम आते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि सदा के लिए शान्त हो जाती है, शरीर विश्व के काम आ जाता है और हृदय में प्रीति की गंगा लहराने

लगती है, जो निरभिमानतापूर्वक उस अनन्त से अभिन्न कर देती है; क्योंकि प्रीति दिव्य और चिन्मय-तत्त्व है। प्रीति से अभिन्न होने में ही हमारे जीवन की सार्थकता है; क्योंकि हमको 'प्रीति' से और शरीर आदि को 'विश्व' से अभिन्न होना है तथा यही साधन की सिद्धि है, जो चिर-विश्राम में निहित है।

साधन-निर्माण की भूमि

वर्तमान दशा का अध्ययन साधन-निर्माण की भूमि है। जिस प्रकार बिना भूमि के कोई पौधा उग नहीं सकता, उसी प्रकार वर्तमान दशा का अध्ययन किए बिना साधन-निर्माण नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वर्तमान दशा का अध्ययन कैसे किया जाए? तो कहना होगा कि निज-विवेक के प्रकाश में अपनी उस रुचि को देखा जाए, जो बीजरूप से विद्यमान है और उस योग्यता को देखा जाए, जिससे उसकी पूर्ति और निवृत्ति हो सकती है; क्योंकि विद्यमान रुचि की पूर्ति तथा निवृत्ति के बिना हम अपने वास्तविक जीवन को प्राप्त नहीं कर सकते। भुक्त और अभुक्त रुचियों के जाल में आबद्ध प्राणी परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवन से मुक्त नहीं हो सकता।

अब विचार यह करना है कि साधन-निर्माण की अपेक्षा ही क्यों है? तो कहना होगा कि वर्तमान दशा में दो बातें दिखाई देती हैं-एक तो परिवर्तनशील जीवन का राग और दूसरी नित्य जीवन की जिज्ञासा। अतः राग की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति के लिए साधन की अपेक्षा है। पर साधन का निर्माण तभी सम्भव होगा, जब अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति को भली-भाँति जान लें। उसके लिए हमें उत्पन्न हुए सभी संकल्पों को देखना होगा और उनमें से जो संकल्प राग-निवृत्ति तथा जिज्ञासापूर्ति में हेतु हैं, उन्हें पूरा करना होगा। राग-निवृत्ति में वे ही संकल्प सहायक हो सकते हैं, जिनका सम्बन्ध वर्तमान से हो और जिनकी पूर्ति में किसी का अहित न हो।

यह नियम है कि जिन संकल्पों की पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, उनकी पूर्ति स्वतः हो जाती है, क्योंकि वे शुद्ध संकल्प होते हैं। शुद्ध संकल्पों की पूर्ति में ही अशुद्ध संकल्पों का त्याग अपने आप हो जाता है। अशुद्ध संकल्पों का त्याग होते ही निर्वैरता तथा निर्भयता स्वतः आ जाती है। निर्वैरता द्वेष को खा लेती है और निर्भयता अपने पर विश्वास उत्पन्न करती है। द्वेष के मिटते ही प्रीति स्वतः जाग्रत होती है और अपने पर विश्वास होते ही अपने साधन के प्रति अविचल श्रद्धा हो जाती है।

समस्त साधन तीन भागों में विभाजित हो जाते हैं-करने में, जानने में और मानने में। अर्थात् हम क्या कर सकते हैं, हम क्या जान सकते हैं और हमें क्या मानना अनिवार्य है? अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम क्या कर सकते हैं? तो कहना होगा कि प्राप्त बल का सदुपयोग तथा प्राप्त विवेक का आदर। बल के सदुपयोग से सभी निर्बलताएँ मिट जाती हैं और विवेक के आदर से निःसन्देहता आ जाती है। निर्बलताओं का अन्त

होते ही जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है और निःसन्देहता आते ही ज्ञान और जीवन में भेद नहीं रहता अर्थात् जीवन ज्ञान का प्रतीक हो जाता है। जब वह होने लगता है, जो करना चाहिए, तब उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, जो नहीं करना चाहिए; अर्थात् अकर्त्तव्य सदा के लिए मिट जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हम क्या जान सकते हैं? तो कहना होगा कि इन्द्रियों के द्वारा विषयों को और बुद्धि से शरीर तथा उससे सम्बन्धित वस्तु, अवस्था आदि के सतत् परिवर्तन को जान सकते हैं। इन्द्रियों से जो वस्तु सत्य तथा सुन्दर प्रतीत होती है, वही बुद्धि से मलिन तथा असत्य दीखती है। जब तक अपने पर इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव रहता है, तब तक राग की उत्पत्ति होती रहती है। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है और बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव होता जाता है, त्यों-त्यों राग अपने-आप गलता जाता है।

राग, संयोग की दासता में आबद्ध करता है और उसके गलते ही नित्य-योग स्वतः प्राप्त हो जाता है अथवा यों कहो कि राग भोग में आबद्ध करता है और उसके मिटते ही नित्य-योग स्वतः प्राप्त हो जाता है। इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटाने के लिए बुद्धि-ज्ञान का आदर अनिवार्य है। बुद्धि-ज्ञान का अनादर और इन्द्रिय-ज्ञान का आदर ही साधन-निर्माण नहीं होने देता।

अतः हम यह जान सकते हैं कि साधन-निर्माण करने के लिए हमें बुद्धि-जनित ज्ञान का आदर करना होगा। जिस प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान हमें संयोग, आसक्ति तथा मृत्यु की ओर ले जाता है, उसी प्रकार बुद्धि-जन्य ज्ञान हमें नित्य-योग, प्रीति तथा अमरत्व ही ओर ले जाता है अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान हमें राग-द्वेष में आबद्ध करता है एवं बुद्धि-ज्ञान हमें त्याग और प्रेम प्रदान करता है। अतः बुद्धि-ज्ञान से हम अपना साधन जान सकते हैं और उसके द्वारा साध्य की ओर गतिशील हो सकते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि मानने का साधन-निर्माण में क्या स्थान है? तो कहना होगा कि हम अपने को साधक मानकर ही साधन का निर्माण कर सकते हैं और साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। साधक किसे कहते हैं? साधक उसे कहते हैं, जिसका कोई साध्य हो और जिसकी प्राप्ति के लिए उसमें कोई साधना निहित हो।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान वस्तुस्थिति क्या है? तो कहना होगा कि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव के कारण किसी न किसी प्रकार का राग है और बुद्धि-जन्य ज्ञान के प्रभाव के कारण नित्य-योग, अमरत्व तथा प्रेम की आवश्यकता है; क्योंकि नित्य-योग के बिना संयोग की दासता नहीं मिट सकती, अमरत्व के बिना मृत्यु का भय नहीं मिट सकता और प्रेम के बिना संयोगजनित रस की आसक्ति नहीं मिट सकती।

इस दृष्टि से हमारा साधन वही हो सकता है, जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो और नवीन राग की उत्पत्ति न हो एवं नित्य-योग, अमरत्व और प्रेम की प्राप्ति हो। साधक का जीवन समाज के अधिकारों का समूह है और कुछ नहीं। अतः विद्यमान राग की निवृत्ति तथा नवीन राग की उत्पत्ति के अन्त के लिए हमें सभी के अधिकारों

की रक्षा तथा अपने अधिकार का त्याग करना होगा। ऐसा करने से ही प्राप्त बल का सदुपयोग हो सकता है। प्राप्त बल का सदुपयोग करते ही अधिकार-लालसा रूपी निर्बलता सदा के लिए मिट जाती है, जो नवीन राग को उत्पन्न ही नहीं होने देती है। राग-रहित होते ही द्वेष स्वतः मिट जाता है। त्याग से नित्य-योग एवं अमरत्व, प्रेम से अगाध रस स्वतः प्राप्त होता है, जो वास्तव में साध्य है।

अहं और मम के नाश में जीवन की सार्थकता

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वास्तव में अपने में अपनी जैसी कोई वस्तु है ही नहीं अर्थात् अपने में अपना कुछ नहीं है; परन्तु जब हम प्रमादवश अपने में अपना कुछ मान लेते हैं, तब सीमित हो जाते हैं। सीमित होते ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद के उत्पन्न होते ही अशान्ति तथा संघर्ष का जन्म होता है और हम दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलने लगते हैं।

यदि हम अपने में अपना कुछ न रखें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सीमित से असीम की ओर, भेद से अभेद की ओर, अशान्ति से चिर-शान्ति की ओर, संघर्ष से स्नेह की एकता की ओर एवं दीनता और अभिमान से महानता तथा निरभिमानता की ओर गतिशील हो सकते हैं, जो वास्तविक जीवन-प्राप्ति में हेतु है; क्योंकि सीमित होने पर मृत्यु और असीम की ओर गतिशील होने पर अमरत्व की उपलब्धि होती है। भेद से भय और अभेद की ओर गतिशील होने पर निर्भयता प्राप्त होती है। अशान्ति और संघर्ष से अनेक प्रकार के क्षोभ और शक्तिहीनता तथा शान्ति एवं स्नेह की एकता से सामर्थ्य और क्षमाशीलता प्राप्त होती है। दीनता और अभिमान से संकीर्णता और परिच्छिन्नता; एवं निरभिमानता और महानता से विभुता और अभिन्नता प्राप्त होती है।

अब विचार यह करना है कि क्या हमने शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को अपने में आबद्ध कर लिया है अथवा अपने को इनमें आबद्ध कर दिया है? यदि हमने शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को अपने में पकड़ लिया है, तो इनका ह्रास अवश्य होगा और यदि अपने को शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में आबद्ध कर दिया है, तो अपना विनाश अवश्य होगा। क्या अपने को देह मान लेने पर कोई अमर हो सकता है? कदापि नहीं। जिनसे हमारी ममता होती है, क्या उनका विकास हो सकता है? कदापि नहीं; कारण, कि जिसे हम अपना मान लेते हैं, उसमें हमारी आसक्ति हो जाती है।

यह सभी को मान्य होगा कि आसक्ति का दोष रहते हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का विकास कभी सम्भव नहीं है; क्योंकि आसक्ति शरीर को आलसी, इन्द्रियों को विलासी, मन को असंयमी और बुद्धि को अविवेक युक्त बना देती है। जब तक हम अपने में अपना कुछ भी मानेंगे, तब तक आसक्ति का अभाव नहीं हो सकता और आसक्ति के रहते हुए शरीर, इन्द्रिय आदि का विकास नहीं हो सकता।

अतः यह निर्विववाद सिद्ध है कि जिनका हमें विकास अभीष्ट हो, उनको अपना न मानें। यदि अपना जीवन अभीष्ट हो, तो अपने को किसी में आबद्ध न करें। जब हम उन सबको निकाल देते हैं, जिनको हमने अपने में रख लिया है, जब उन सबका विकास स्वतः होने लगता है; एवं जब हम अपने को उन सभी से हटा लेते हैं, जिनमें अपने को रख दिया है, तब हम अनन्त से अभिन्न होकर अमर हो जाते हैं।

जिसके साथ अहंभाव लग जाता है, वह दूषित हो जाता है, क्योंकि उसमें संकीर्णता आ जाती है। संकीर्णता स्नेह को विभु नहीं होने देती। सीमित स्नेह से ही अनेक प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, जो विनाश के मूल है। इस दृष्टि से अहंभाव का अन्त करना अत्यन्त अनिवार्य है। अहंभाव का नाश होते ही मम का नाश स्वतः हो जाता है। अहं और मम के मिटते ही अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। फिर सभी का विकास स्वतः होने लगता है; क्योंकि अनन्त की कृपा-शक्ति सभी को दिव्य तथा चिन्मय बनाने में समर्थ है।

जब हम प्रमादवश किसी वस्तु को अपना मानते हैं, तब हम अपने को उसके भोग में ही आबद्ध कर लेते हैं; न तो उस वस्तु को सुरक्षित रख सकते हैं और न उसका सदुपयोग की कर पाते हैं। कारण, कि लोभ के रहते हुए वस्तुओं का सदुपयोग हो नहीं सकता। इतना ही नहीं, लोभ में आबद्ध प्राणी को आवश्यक वस्तुएँ भी प्राप्त नहीं हो पाती; क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान की दृष्टि से आवश्यक वस्तुएँ उन्हीं को प्राप्त होती हैं, जो वास्तव में लोभरहित हैं। अतः किसी भी वस्तु को अपनी मानना अपने को दीन बनाना और समाज में दरिद्रता को बढ़ाना ही है, जो संघर्ष का मूल है।

यदि हमने शरीर को अपना न माना होता, तो कभी काम की उत्पत्ति न होती; मन को अपना न माना होता, तो कभी अशुद्ध संकल्प उत्पन्न न होते और यदि बुद्धि को अपना न माना होता, तो कभी विवेक का अनादर न होता। यह नियम है कि जिससे हम अपने को मिला देते हैं, उसमें सत्यता और सुन्दरता भासने लगती है। अतः जब हम शरीर से अपने को मिला लेते हैं, तब शरीर क्षणभंगुर तथा मलिन होते हुए भी सत्य और सुन्दर प्रतीत होने लगता है, जो काम की उत्पत्ति में हेतु है। जब हम मन से अपने को मिला लेते हैं, तब स्वार्थभाव उत्पन्न होता है, जो अशुद्ध संकल्पों को जन्म देता है। जब हम बुद्धि से अपने को मिला लेते हैं, तब हमारा ज्ञान सीमित हो जाता है, जो विचार का उदय नहीं होने देता। इस दृष्टि से अहं के मिलने से ही सभी विकार तथा दोष उत्पन्न होते हैं। अतः अहंरूपी अणु का अन्त करना अत्यन्त अनिवार्य है।

यह नियम है कि जो वस्तु स्थूल होती है, वह सीमित और विनाशी होती है और जो सूक्ष्म होती है, वह विभु और अविनाशी होती है। इस दृष्टि से हमें उस सूक्ष्मता की ओर जाना है, जिसका विभाग न हो सके अर्थात् जो टूट न सके अथवा यों कहो कि जिसमें विभाजन न हो सके। वह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने अहंभावरूपी अणु को तोड़ दें। उसके लिए हमें प्रथम सब प्रकार की ममता को तोड़ना होगा। ममता का अन्त होते ही

सब प्रकार की चाह का अन्त होगा और चाहरहित होते ही अहंरूपी अणु स्वतः टूट जाएगा, उसके लिए कोई अन्य प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा; क्योंकि चाह-रहित होते ही 'अहं' तथा 'मम' का नाश हो जाता है। अहंरूपी अणु के टूटते ही भिन्नता मिट जाती है, जिसके मिटते ही अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से एकता हो जाती है और 'उसका' प्रेम प्राप्त हो जाता है। अतः अपने में अपना कुछ न रखने से ही जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

साधन में शिथिलता क्यों आती है?

वस्तुस्थिति का अध्ययन करने पर यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि साधन में शिथिलता तथा असफलता का हेतु क्या है, जबकि वर्तमान जीवन साधनयुक्त जीवन है? तो कहना होगा कि जब स्वार्थभाव सर्वहितकारी प्रवृत्ति में और सर्वहितकारी प्रवृत्ति सहज निवृत्ति में विलीन नहीं होती, तभी साधन में शिथिलता आती है और असफलता का दर्शन होता है; अर्थात् वर्तमान में सिद्धि नहीं होती।

जब साधन अपनी योग्यता के अनुरूप नहीं होता और साध्य वर्तमान से सम्बन्धित नहीं रहता, तब नित-नव उत्कण्ठा जाग्रत नहीं होती। उत्कण्ठा के बिना साधन में शिथिलता का आ जाना स्वाभाविक है। साधन में शिथिलता आ जाने पर, उत्साहहीनता और निराशा आदि दोष उत्पन्न होने लगते हैं। यद्यपि किया हुआ साधन कभी नष्ट नहीं होता, क्योंकि साधन-तत्त्व नित्य है; परन्तु जिसकी उपलब्धि वर्तमान में हो सकती है, उसके लिए भविष्य की आशा होने लगती है, जिससे साधन का अभिमान तो रहता है, परन्तु साधन साधक का समस्त जीवन नहीं हो पाता; अर्थात् साधन जीवन का एक अंग-मात्र रह जाता है, जो कालान्तर में फल देता है।

अब विचार यह करना है कि साधन का आरम्भ कब होता है? विचार करने पर पता लगेगा कि जब स्वार्थभाव अर्थात् दूसरों से सुख लेने की आशा मिटने लगती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति होने लगती है, तब साधन का आरम्भ होता है; परन्तु जब साधक सर्वहितकारी प्रवृत्ति को ही जीवन मान लेता है, तब गुणों का अभिमान उत्पन्न होता है, जो सहज निवृत्ति को प्राप्त नहीं होने देता। यही साधन में विघ्न है।

सहज निवृत्ति के बिना साधन वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति पर ही आश्रित रहता है, जो वास्तव में परतन्त्रता है। ऐसी साधना ऊपर से तो साधन का अभिमान उत्पन्न करती है और भीतर से असाधन को जन्म देती है अथवा यों कहो कि साधन और असाधन में द्वन्द्व होने लगता है। बस, यही असफलता का हेतु है।

जब तक साधक अपनी प्राप्त शक्ति को लगाकर साध्य के लिए पूर्ण उत्कण्ठा जाग्रत नहीं कर लेता, तब वह साधन में सजीवता नहीं आती, जिसके बिना यन्त्रवत् साधन होता रहता है। यद्यपि साधन और साध्य दोनों ही वर्तमान जीवन की वस्तु हैं, परन्तु साधन की शिथिलता हमें भविष्य की आशा में आबद्ध करती है। पूरी शक्ति लगाना और उत्कण्ठा की जागृति तभी सम्भव है, जब हम साधन और साध्य को वर्तमान की वस्तु मान लें। साधन उसके लिए नहीं करना है, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है और न उसके लिए करना है, जिससे देश-काल की दूरी है। तो फिर साध्य को वर्तमान की वस्तु मानने में आपत्ति ही क्या है?

जिस साध्य की उपलब्धि संकल्प-पूर्ति पर निर्भर है, उसके लिए प्रवृत्ति अपेक्षित है और उसके लिए प्रवृत्ति अपेक्षित है, उसके लिए भविष्य की आशा अनिवार्य है, परन्तु जो साध्य संकल्प-निवृत्ति तथा उत्कण्ठा एवं लालसा-जागृति से प्राप्त होता है, उसके लिए भविष्य की आशा तथा किसी अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिए किसी वस्तु, अवस्था आदि की अपेक्षा नहीं है, उसके लिए तो उत्तरोत्तर उत्कण्ठा बढ़ते रहना ही स्वाभाविक है अथवा यों कहो कि उसके लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की समस्त शक्तियाँ अपने-अपने स्वभाव का त्याग करके साध्य की लालसा बन जाती हैं अर्थात् अनेक इच्छाएँ एक लालसा में, अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में और अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते हैं।

समस्त जीवन एक विश्वास, एक सम्बन्ध और एक लालसा के रूप में ही शेष रह जाता है अर्थात् साध्य की लालसा के अतिरिक्त और कोई अपना अस्तित्व की शेष नहीं रहता। फिर वही लालसा जिज्ञासा होकर तत्त्व-ज्ञान से और प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाती है। अथवा यों कहो कि जो लालसा अनेक कामनाओं को गलाकर उदय होती है, वह दिव्य तथा चिन्मय हो जाती है, क्योंकि चिन्मय प्रेम ही प्रेमास्पद से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद में एकता हो जाती है।

सत् की खोज असत् के त्याग में है, असत् के द्वारा नहीं। असत् का त्याग वर्तमान में हो सकता है। अतः सत् की प्राप्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है, क्योंकि जब अपने द्वारा अपने प्रियतम को अपने ही में पाना है, तब उसके लिए श्रम तथा काल की अपेक्षा ही क्या है? जिस साधन के लिए श्रम तथा काल अपेक्षित नहीं है, वही निवृत्ति का साधन है। वह निवृत्ति का साधन उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने को समर्पण कर देते हैं। सर्वहितकारी वृत्तियों का स्फुरण ही 'प्रवृत्ति मार्ग' है और वृत्तियों का स्फुरण न होना ही 'निवृत्ति-मार्ग' है। सीमित बल तथा सामर्थ्य के द्वारा असीम तथा अनन्त की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस कारण समर्पण ही अन्तिम साधन है। पर वह उन्हीं साधकों को प्राप्त होता है, जो निर्बल हैं तथा जो गुणों के अभिमान से रहित हैं।

गुणों के अभिमान से रहित होते ही अनन्त की कृपाशक्ति स्वतः सब कुछ करने लगती है। फिर न साधन में शिथिलता आती है और न असफलता के लिए ही कोई स्थान रहता है; क्योंकि साधन में शिथिलता और असफलता तभी तक जीवित है, जब तक साधक अपने सीमित बल, योग्यता एवं गुणों के द्वारा सफलता की आशा करता है।

भिन्नता के अन्त में जीवन

जीवन का अध्ययन करने पर विदित होता है कि आसक्ति, संघर्ष और अशान्ति का एकमात्र कारण भेद तथा भिन्नता है, क्योंकि भेद तथा भिन्नता को स्वीकार करने पर ही अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, जो आसक्ति, संघर्ष और अशान्ति के हेतु हैं। अब यदि कोई यह कहे कि मान्यता की भिन्नता, गुणों की भिन्नता और कर्म की भिन्नता तो स्पष्ट दिखाई देती है, फिर उसको क्यों न स्वीकार किया जाए? तो कहना होगा कि सभी मान्यताओं के मूल में जो मान्यताओं का प्रकाशक है अर्थात्

जिसकी सत्ता से मान्यताएँ सत्ता पाती हैं, क्या उसमें भी भेद और भिन्नता है? कदापि नहीं; क्योंकि मान्यताएँ भले ही अनेक हों, परन्तु उनका प्रकाशक एक ही है।

हाँ, यह अवश्य है कि मान्यताओं के भेद से कर्म का भेद हो सकता है, स्वरूप का नहीं। अतः मान्यताओं का भेद होने पर भी यदि स्वरूप का भेद स्वीकार न किया जाए, जो बड़ी ही सुगमतापूर्वक जीवन में अभिन्नता आ जाएगी, जो निर्दोष बनाने में समर्थ है।

जिस प्रकार मान्यताओं का भेद होने पर भी स्वरूप की एकता है, उसी प्रकार गुणों की भिन्नता होने पर भी जातीय एकता है। जैसे, लहर और समुद्र में, शरीर और विश्व में, अंगऔर अंगो में गुणों की भिन्नता होने पर भी जातीय एकता है। यद्यपि शरीर के प्रत्येक अवयव की आंकृति, गुण और कर्म में भेद है, परन्तु जातीय एकता होने से, आकृति, गुण और कर्म का भेद होने पर भी समस्त शरीर के प्रति प्रियता एक-सी है।

यह सभी को मान्य होगा कि सर्वांश में दो व्यक्ति भी समान योग्यता के नहीं होते। अतः योग्यता-भेद होने के कारण कर्म का भेद अनिवार्य है। प्रत्येक व्यक्ति स्वरूप से विश्व के अधिकार का समूह है और कुछ नहीं; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो विश्व से विभक्त की जा सके। इस दृष्टि से समस्त विश्व स्वरूप से एक है अथवा यों कहो कि समस्त विश्व किसी एक की ही एक अवस्थामात्र है।

यह नियम है कि अवस्था की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, अपितु अवस्था में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह अवस्था है। अतः कर्म का भेद होने पर भी सत्तारूप से हम सब एक हैं। इस दृष्टि से कर्म-भेद होने पर भी प्रीति-भेद के लिए कोई स्थान नहीं है। स्वरूप, जातीय तथा प्रीति की एकता ही वास्तविक एकता है, जो भेद तथा भिन्नता को खाकर योग, बोध तथा प्रेम प्रदान करने में समर्थ है।

अब यदि कोई यह कहे कि ऐसी स्थिति में तो मान्यताओं के भेद का जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहा। तो कहना होगा कि मान्यता का भेद कर्त्तव्य-भेद में हेतु है, भिन्नता में नहीं। कर्त्तव्य में भेद होने पर भी कर्त्तव्यपरायणता से तो परस्पर में अभिन्नता तथा एकता ही सिद्ध होती है, भिन्नता नहीं; कारण, कि किसी का कर्त्तव्य ही किसी का अधिकार और किसी का अधिकार ही किसी का कर्त्तव्य बनता है। इस दृष्टि से मान्यता का भेद भी अभिन्नता का ही पोषक है।

गुणों का भेद भी किसी वस्तु की उत्पत्ति तथा उपयोग में हेतु है, जाति-भेद में नहीं; क्योंकि गुणों का भेद मिटने पर किसी रचना की सिद्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार गहरी नींद में अथवा समाधि में गुणों का भेद नहीं रहता, तो किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की प्रतीति भी नहीं रहती। अतः वस्तु, व्यक्ति आदि की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में ही गुणों का भेद अपेक्षित है, जातीय भिन्नता में नहीं।

कर्म के भेद के बिना न तो किसी कार्य की सिद्धि हो सकती है और न किसी समाज की रचना ही हो सकती है। कर्म का भेद एक-दूसरे की पूर्ति में हेतु है, प्रीति की भिन्नता में नहीं। अतः मान्यता का भेद, गुणों का भेद और कर्म का भेद, कर्त्तव्य के लिए, कार्य की सिद्धि के लिए और रचना के लिए है, भिन्नता के लिए नहीं।

स्वरूप, जाति तथा प्रीति की एकता की अनुभूति अमरत्व, सामर्थ्य और रस प्रदान करती है। स्वरूप का भेद स्वीकार करने पर अनन्त से

अभिन्नता नहीं हो सकती और जातीय भेद स्वीकार करने पर नित-नव प्रीति का उदय नहीं हो सकता; क्योंकि स्वरूप का भेद स्वीकार करते ही सीमित अहंभाव प्रतीत होने लगेगा, जो भेद उत्पन्न करने में हेतु है। भेद के उत्पन्न होते ही वासनाएँ उदय होंगी, जो बन्धन तथा मृत्यु की ओर ले जाती हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि एक काल में दो स्वतन्त्र सत्ताओं का अनुभव किसी को नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि हमारी स्वीकृति में भले ही अनेक सत्ताएँ हो; परन्तु सभी स्वीकृतियों के मूल में तो एक ही स्वतन्त्र सत्ता है। इस दृष्टि से अनेक सत्ताएँ उस एक की ही अभिव्यक्तियाँ हैं और कुछ नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि उस एक में अनेकता का भास ही क्यों होता है? तो कहना होगा कि जब हम स्वरूप की एकता से च्युत होकर अपने को किसी न किसी सीमित स्वीकृति में आबद्ध कर लेते हैं, तब इन्द्रियों के ज्ञान से तद्रूपता हो जाती है, जो एक में अनेकता का दर्शन कराने में हेतु है।

स्वीकृति को अपना अस्तित्व मान लेने पर 'स्व' से विमुख होकर 'पर' की ओर गतिशील होते हैं, फिर स्वरूप की एकता से च्युत हो जाते हैं। स्वरूप की एकता से च्युत होते ही अनेक प्रकार के अभाव भासने लगते हैं, जो भिन्नता तथा संघर्ष आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति में हेतु हैं। अतः स्वीकृति को त्यागकर स्वरूप की एकता प्राप्त करना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब स्वीकृति के आधार पर 'पर' की सेवा की जाए, किन्तु 'पर' से किसी प्रकार की आशा न की जाए। 'पर' की सेवा 'पर' के राग से रहित करने में समर्थ है, राग-रहित होते ही स्वीकृति ही सत्ता मिट जाएगी और स्वरूप की एकता स्वतः सिद्ध हो जाएगी।

स्वीकृतियों के भेद के आधार पर अनेकों भेद क्यों न भासते हों, परन्तु उनके मूल में जो 'एक' है, हमें उसी से जातीय तथा स्वरूप की एकता स्वीकार करनी है अथवा यों कहो कि उससे अभिन्न होना है, जिससे अभिन्न होने पर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से एकता हो जाएगी।

भिन्नता का अन्त करने के लिए हमें विवेकपूर्वक अपने ही में अपने द्वारा अपने से अभिन्न होना अनिवार्य है, जिसके होते ही किसी और का अस्तित्व ही न रहेगा अर्थात् भिन्नता सदा के लिए मिट जाएगी।

भौतिक दृष्टि से समस्त विश्व एक जीवन है; तत्त्व दृष्टि से सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, केवल अपना ही स्वरूप है और प्रेम की दृष्टि से प्रेमास्पद से भिन्न कभी कुछ हुआ ही नहीं। ये तीनों दृष्टियाँ जब एक हो जाती है, तब वास्तविक जीवन की प्राप्ति होती है। अतः अनित्य-जीवन से नित्य-जीवन की ओर गतिशील होने के लिए भिन्नता का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है। भिन्नता का अन्त स्वरूप, जातीय तथा प्रीति की एकता में निहित है।

'मैं' क्या है?

जीवन का अध्ययन करने पर मुख्य प्रश्न यही उत्पन्न होता है कि 'मैं' क्या हूँ? यद्यपि हम सभी अपने को कुछ न कुछ मानते हैं, परन्तु जो हम अपने को मानते हैं, क्या वही हमारा अस्तित्व है? इस पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक मान्यता का उद्गम स्थान 'यह' के साथ तद्रूप होने में है। 'यह' के अर्थ में शरीर,

प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को लेना चाहिए।

अतः यदि हम 'यह' से अर्थात् शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से विमुख होकर अपना पता लगाएँ, तो अपने में किसी मान्यता का आरोप नहीं कर सकते। मान्यता को अस्वीकार करते ही सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। चाह- रहित होते ही समस्त दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही राग-द्वेष सदा के लिए मिट जाते हैं। राग का अन्त होते ही भोग 'योग' में, मृत्यु 'अमरत्व' में और द्वेष का अन्त होते ही मोह 'प्रेम' में विलीन हो जाता है। फिर कर्ता, कर्म और फल-ये तीनों मिटकर उसी से अभिन्न हो जाते हैं, जो सभी का सब कुछ है।

यही नहीं, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से तद्रूप होने पर भी 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु सिद्ध नहीं होती; क्योंकि शरीर आदि से तद्रूप होने पर तो विश्व का दर्शन होता है; अथवा यों कहो कि शरीर उसी विश्वरूपी सागर की एक बूँद जान पड़ता है और कुछ नहीं। शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है कि शरीर से तद्रूपता होने पर भी 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, अपितु शरीर से तद्रूप होने पर 'मैं' का अर्थ समस्त विश्व हो जाता है। फिर व्यक्तिगत मान्यता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता है।

क्या विश्व के साथ एकता होने वाली मान्यता हमारे जीवन में कुछ अर्थ रखती है? यदि रखती है, तो कहना होगा कि जिस प्रकार हम समस्त विश्व के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं, उसी प्रकार हमें शरीर से भी उपेक्षा रखनी होगी अथवा जिस प्रकार शरीर के प्रति आत्मीयता रखते हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता करनी होगी। शरीर के प्रति उपेक्षा होने पर भी मोह-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती और समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता होने पर भी सीमित प्यार जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रह सकती। मोह तथा सीमित प्यार का अन्त होते ही अविवेक तथा सब प्रकार के राग का अन्त स्वतः हो जाता है। अविवेक का अन्त होते ही नित्य-ज्ञान से अभिन्नता और राग का अन्त होते ही नित्य-योग की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

अब यदि कोई यह कहे कि ज्ञान तो इन्द्रिय, बुद्धि आदि में भी है। तो कहना होगा कि इन्द्रियों का ज्ञान पूरा ज्ञान नहीं है, अल्प-ज्ञान है और बुद्धि का ज्ञान भी अनन्त-ज्ञान नहीं है, सीमित है। इन्द्रिय-ज्ञान से बुद्धि-ज्ञान भले ही विशेष हो, परन्तु अविवेक का अन्त होने पर जिस ज्ञान से अभिन्नता होती है, वह तो अनन्त और नित्य-ज्ञान है, सीमित तथा परिवर्तनशील नहीं। अथवा यों कहो कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि का ज्ञान उस अनन्त ज्ञान से ही प्रकाशित है, स्वतन्त्र नहीं है; परन्तु नित्य-ज्ञान स्वयंप्रकाश है, परप्रकाश्य नहीं।

इन्द्रियों का ज्ञान विषयों में आसक्ति और बुद्धि का ज्ञान विषयों से अनासक्ति कराने में हेतु है अथवा यों कहो कि बुद्धि के ज्ञान से निर्विवकल्प स्थिति प्राप्त हो सकती है। इन्द्रियों के ज्ञान से भोगों में आसक्ति ही उत्पन्न होती है और कुछ नहीं। परन्तु नित्य-ज्ञान से तो नित्य-योग और अमरत्व की प्राप्ति होती है। हाँ, इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग स्वार्थ-भाव को त्याग कर विश्व की सेवा करने में है और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग विषयों से विरक्त होने में है।

इस दृष्टि से इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान भी अपने-अपने स्थान पर आदरणीय हैं। परन्तु कब तक? जब तक इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का दुरुपयोग नहीं होता। इन्द्रिय-ज्ञान का दुरुपयोग है

'विषय-लोलुपता' में और बुद्धि के ज्ञान का दुरुपयोग है 'विवाद में', जिसका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

'मैं' और विश्व एक है, यह मान्यता भी साधनरूप मान्यता हो सकती है, साध्यरूप नहीं; अर्थात् निर्णयात्मक नहीं। इस साधनरूप मान्यता से हमें सीमित प्यार का अन्त करना है एवं देह के मोह से और उसकी तद्रूपता से रहित होना है। विश्व से एकता स्वीकार करते ही सामूहिक सुख-दुःख अपना सुख-दुःख हो जाता है, जो हृदय में करुणा और प्रसन्नता प्रदान करने में समर्थ है। करुणा भोग-प्रवृत्ति को और प्रसन्नता भोग-वासनाओं को खा लेती है; ऐसा होते ही समस्त कामनाओं का अन्त हो जाएगा। कामनाओं का अन्त होते ही निर्दोषता आ जाएगी और गुणों का अभिमान गल जाएगा, जिसके गलते ही परिच्छिन्नता तथा संकीर्णता सदा के लिए मिट जाएगी। उसके मिटते ही अनन्त से अभिन्नता हो जाएगी। फिर सीमित प्यार-जैसी कोई वस्तु न रहेगी अर्थात् सभी आसक्तियाँ मिटकर उस अनन्त की प्रीति बन जाएँगी।

प्रीति तथा आसक्ति में बड़ा अन्तर है। आसक्ति में जड़ता और प्रीति में चिन्मयता होती है। आसक्ति मिट सकती है, पर प्रीति नित्य होती है। आसक्ति का जन्म किसी अविवेकयुक्त प्रवृत्ति से तथा अभ्यास से होता है; परन्तु प्रीति अभ्यास-जन्य नहीं है, स्वभाव है, श्रमरहित है, जीवन है; यह अविवेकसिद्ध नहीं है, अपितु विवेकसिद्ध है। आसक्ति की पूर्ति तथा निवृत्ति होती है, परन्तु प्रीति की न पूर्ति होती है न निवृत्ति। आसक्ति घटती, बढ़ती तथा मिटती है; किन्तु प्रीति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, यह घटती या मिटती नहीं है। आसक्ति वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि में सीमित रहती है; परन्तु प्रीति विभु होती है। आसक्ति बन्धन उत्पन्न करती है और मृत्यु की ओर ले जाती है; परन्तु प्रीति स्वाधीन बनाती है और अमरत्व प्रदान करती है। आसक्ति एक में अनेकता का दर्शन कराती है और प्रीति अनेकता को एकता में विलीन करती है; क्योंकि प्रीति की दृष्टि में प्रियतम से भिन्न कुछ नहीं रहता।

इस दृष्टि से 'मैं' का अर्थ विश्व के साथ एकता अथवा अनन्त से अभिन्नता अथवा अनन्त की प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अथवा यों कहो कि 'मैं' का अर्थ कुछ नहीं या सब कुछ है या केवल प्रीति ही है।

निस्संदेहता से लक्ष्य की प्राप्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि निस्संदेहता के बिना न तो साधन का निर्माण हो सकता है और न साध्य की उपलब्धि ही। इस दृष्टि से निस्संदेहता साधन की भूमि है और साधन के निर्माण में ही साध्य की प्राप्ति है।

अब विचार यह करना है कि निस्संदेहता प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए? तो कहना होगा कि निस्संदेहता दो प्रकार से प्राप्त होती है-एक तो जिज्ञासा की पूर्ति में और दूसरी विकल्परहित विश्वास में। जब तक जिज्ञासा की पूर्ति नहीं होती, तब तक भी निस्संदेहता नहीं आती और जब तक दो विश्वास रहते हैं, तब तक भी निस्संदेहता नहीं आती। संदेह की वेदना जिज्ञासा की जागृति में हेतु है और जिज्ञासा की जागृति कामनाओं की निवृत्ति का कारण है। कामनाओं

की निवृत्ति से जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है; फिर निस्संदेहता स्वतः प्राप्त हो जाती है।

सन्देह की उत्पत्ति सर्वदा अधूरी जानकारी में होती है, पूरी में नहीं तथा उस पर भी सन्देह नहीं होता, जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। इस दृष्टि से सन्देह करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि "मैं" और "यह'। क्योंकि 'यह की प्रतीति तो हो रही है, पर उसकी पूरी जानकारी नहीं है, और 'मैं' को मानते तो हैं, पर जानते नहीं। अतः जो प्रतीत हो रहा है, उस पर सन्देह हो सकता है और जो मान्यता है, उस पर भी सन्देह हो सकता है।

यह सभी को मान्य होगा कि जिसे यह कहते हैं, उसे "मैं नहीं कह सकते और जिसे मैं कहते हैं, उसे यह नहीं कह सकते एवं 'यह' और "मैं", इन दोनों में नित्य-सम्बन्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि यह के परिवर्तन का जिसे ज्ञान है, उसे अपने परिवर्तन का ज्ञान नहीं है। इस दृष्टि से परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील का नित्य-सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, यह अवश्य है कि परिवर्तनशील से मानी हुई एकता हो सकती है; क्योंकि 'यह से ममता कर सकते हैं, परन्तु नित्य-सम्बन्ध नहीं।

इस दृष्टि से यह' और 'मैं" का विभाजन अनिवार्य है, जिसके करते ही भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है और केवल यही तीव्र जिज्ञासा जागृत होती है कि वास्तविकता क्या है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल और स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों जिज्ञासु का अहंभाव गलकर जिज्ञासा से अभिन्न होता जाता है। जिस काल में जिज्ञासा अहंभाव को खाकर पुष्ट हो जाती है, उसी काल में उसकी पूर्ति स्वतः हो जाती है, अर्थात् वह वास्तविकता से अभिन्न हो जाती। है। फिर सन्देह-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती।

'यह', 'मै' नहीं हैं, इसे स्वीकार करते ही 'यह' से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है अर्थात् 'यह' की ममता मिट जाती है, जिसके मिटते ही जीवन ही में मृत्यु का अनुभव हो जाता है। फिर मैं सब ओर से विमुख होकर अपने ही में अपने वास्तविक जीवन को पा लेता है। इस दृष्टि से यह' को जानते ही "मैं" को और 'मैं को जानते ही वास्तविकता को जानकर निस्संदेह हो जाता है। निस्संदेहता प्राप्त होते ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं।

अतः निस्संदेहता प्राप्त करने के लिए हमें वर्तमान में ही प्रयत्नशील होना चाहिए। जब तक सन्देह की वेदना अत्यन्त तीव्र नहीं हो जाती, तब तक सन्देह मिटाने की योग्यता नहीं आती। यहाँ तक कि यदि किसी को प्यास लगी हो और उससे कहा जाए कि तुम पहले पानी पीना चाहते हो अथवा निस्संदेह होना चाहते हो? इस पर यदि वह यह कहे कि मुझ निस्संदेह होना है, पानी नहीं पीना है, तो समझना चाहिए कि सन्देह की वेदना जागृत हो गई। असह्य वेदना होते ही उसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। यह सब कुछ जिसके प्रकाश से प्रकाशित है और जिसकी सत्ता से सत्ता पाता है, उसकी कृपाशक्ति स्वतः सन्देह-निवृत्ति की योग्तया प्रदान कर देती है, क्योंकि वह सब प्रकार से समर्थ है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसकी कृपाशक्ति जिज्ञासु को जिज्ञासा पूर्ति की सामर्थ्य प्रदान करती है, उसे हम कैसे मान लें, जब कि जानते नहीं हैं? तो कहना होगा कि जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं, उसी को तो मानना है। जानने के पश्चात् तो मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। अथवा जिसके सम्बन्ध में कुछ जानते हैं,

उस पर तो सन्देह हो सकता है, विश्वास नहीं। विश्वास उसी पर किया जाता है, जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। वह एक ही विश्वास करने योग्य है। शरीर, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि कोई भी जो 'यह' के अर्थ में आते हैं, विश्वास करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि इन सबसे हमारा नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अब यदि कोई यह कहे कि हम तो शरीर आदि पर विश्वास न करके अपने पर विश्वास करेंगे। तो कहना होगा कि किसी ने अपने को इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा देखा नहीं। बुद्धि आदि के द्वारा जिसे देखा, वह विश्वास के योग्य नहीं और जिसने बुद्धि आदि को जाना, वह किसी मान्यता में आबद्ध नहीं हो सकता।

अब कोई यह कहे कि हम तो उसी का नाम 'मैं' मान लेते हैं। तो पूछना होगा कि फिर 'है' किसको मानोगे? मैं', 'है की अपेक्षा सीमित है। अतः अपने पर विश्वास की बात कहना भी तो मानना ही है, जानना नहीं। हाँ, यह हो सकता है कि हम उस अनन्त की कृपाशक्ति को ही अपनी कृपा मान लें, अथवा उस 'अनन्त को ही हम अपना स्वरूप मान लें, परन्तु ऐसी मान्यता का अर्थ यह होगा मानों जल-कण कहता है कि समस्त सागर मेरा है। सागर तो यह कह सकता है कि जल-कण मेरा ही स्वरूप है, पर जल-कण का ऐसा कहना उपयुक्त नहीं मालूम होता।

जल-कण यह तो कह सकता है कि मैं सागर का हूँ, मेरी और सागर की जाति में कोई भेद नहीं है। अथवा यों कहो कि जल-कण सागर की प्रीति बनकर सागर में ही निवास कर सकता है। इस दृष्टि से उस 'एक का विश्वास ही हमें निस्संदेहता प्रदान कर सकता है। अतः जिज्ञासा की पूर्ति में अथवा एक विश्वास में ही निस्संदेहता निहित है।

सन्देह से निस्संदेहता प्राप्त करना जिज्ञासुओं की साधना है और विश्वास से निस्संदेहता प्राप्त करना विश्वास-मार्गियों की साधना है। यह नियम है कि जब अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते हैं, तब अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में और अनेक इच्छाएँ एक प्रिय-लालसा में विलीन हो जाती हैं। प्रिय-लालसा प्रिय से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से विश्वास के आधार पर वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि समस्त जीवन दो भागों में विभाजित है-प्रवृत्ति और निवृत्ति। यद्यपि उन दोनों भागों को उद्देश्य एक है; क्योंकि जीवन एक है; परन्तु उद्देश्य-पूर्ति के लिए साधन-दृष्टि से दो भागों में विभाजन हो सकता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्गम स्थान देहाभिमान तथा विद्यमान राग है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति का आना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रवृति से प्राप्त शक्ति का व्यय होता है और निवृत्ति द्वारा पुनः शक्ति का संचय होता है। विद्यमान राग की निवृत्ति में ही प्रवृत्ति का सदुपयोग निहित है और नवीन राग की उत्पत्ति न होने तथा प्रवृत्ति की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए ही निवृत्ति अपेक्षित है।

अब हमें अपनी प्रवृत्तियों का निरीक्षण करना है कि हमारी प्रवृत्तियाँ सुख-भोग की आसक्ति तथा देहाभिमान को पुष्ट करने में हैं अथवा विद्यमान राग की निवृत्ति में। जिन प्रवृत्तियों के द्वारा हम वस्तु, व्यक्ति आदि से अपने सुख-सम्पादन की आशा करते हैं, वे सभी देहाभिमान

को पुष्ट करती हैं और हमें लोभ, मोह आदि दोषों में आबद्ध करती है। अतः ऐसी प्रवृत्तियों के द्वारा प्रवृत्ति की सार्थकता सिद्ध नहीं होती, अपितु दोषों की ही वृद्धि होती है, जिससे हम जड़ता और शक्तिहीनता में आबद्ध हो जाते हैं।

परन्तु जिन प्रवृत्तियों में दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित है, वे प्रवृत्तियाँ विद्यमान राग की निवृत्ति करने में समर्थ हैं और उनके अन्त में स्वभाव से ही वास्तविकता की जिज्ञासा जागृत होती है। जिज्ञासा नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देती, अपितु सहज निवृत्ति को जन्म देती है, जो विकास का मूल है। सहज निवृत्ति से आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है।

रागरहित होने के लिए सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति साधनरूप है, साध्य नहीं। अतः हमें अपने में-से, 'मैं सर्वहितैषी हूँ, मैं अचाह हूँ अथवा "मुझे अपने लिए संसार से कुछ नहीं चाहिए'—यह अहंभाव भी गला देना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब सर्वहितकारी प्रवृत्ति होने पर भी अपने में करने का अभिमान न हो और चाहरहित होने पर भी, 'मैं चाहरहित हूँ-ऐसा भास न हो; कारण, कि अहंभाव के रहते हुए वास्तव में कोई अचाह हो नहीं सकता, क्योंकि सेवा तथा त्याग का अभिमान भी किसी राग से कम नहीं है।

सूक्ष्म राग कालान्तर में घोर राग में आबद्ध कर देता है। राग का अत्यन्त अभाव तभी हो सकता है, जब दोष की उत्पत्ति न हो और गुण का अभिमान न हो; क्योंकि अभिमान के रहते हुए अनन्त से अभिन्नता सम्भव नहीं है और उसके बिना कोई भी वीतराग हो ही नहीं सकता; कारण, कि सीमित अहंभाव के रहते हुए राग का अत्यन्त अभाव नहीं हो सकता।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति की जननी है; क्योंकि सर्वात्म-भाव दृढ़ होने पर ही निवृत्ति आती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति से ही सर्वात्म-भाव की उपलब्धि होती है। अपने ही समान सभी के प्रति प्रियता उदय हो जाने पर ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति की सिद्धि होती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव में किए हुए संग्रह का प्रायश्चित्त है, कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है और निवृत्ति प्राकृतिक विधान है; उसे अपनी महिमा भान लेना मिथ्या अभिमान को ही जन्म देना है, और कुछ नहीं। अत: प्रवृत्ति और निवृत्ति को ही जीवन मत मान लो। प्रवृत्ति-निवृत्ति रूपी साधन से वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति की रुचि सहज निवृत्ति के लिए अपेक्षित है और सहज निवृत्ति काम का अन्त करने का साधन है। साधन में कर्तव्यभाव तभी तक रहता है, जब तक साधक का समस्त जीवन साधन नहीं बन जाता। साधक का समस्त जीवन तब तक साधन नहीं बन सकता, जब तक वह करने और पाने की रुचि में आबद्ध रहता है।

करने और पाने की रुचि तब तक रहती है, जब तक हम उस अनन्त से मिली हुई योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुओं को अपनी मानते हैं और उनके आधार पर अपना व्यक्तित्व, स्वीकार करते हैं, जो अविवेकसिद्ध है; कारण, कि समस्त सृष्टि एक है, उसका प्रकाशक, उसका ज्ञाता और उसका आधार भी एक है, तो फिर हमारे व्यक्तित्व के लिए स्थान ही कहाँ है? जिसे हम अपना मानते है, वह उस सृष्टि का ही एक अंश है। अत: वह उसी की वस्तु है, जिसकी यह सृष्टि है। व्यक्तित्व का अभिमान गलाने के लिए सर्वहितकारी प्रवृत्ति

तथा निवृत्ति की अपेक्षा है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति हमें ऋण से मुक्त कर सुन्दर समाज का निर्माण करती है और निवृत्ति हमें स्वाधीनता प्रदान कर अनन्त से अभिन्न करती है, जिसमें वास्तविक जीवन है।

सब प्रकार के संघर्ष का अन्त सर्वहितकारी प्रवृत्ति में निहित है; क्योंकि सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्नेह की एकता प्रदान करती है। प्रवृत्ति स्वरूप से छोटी हो या बड़ी; परन्तु उसके मूल में यदि सर्वहितकारी भाव है, तो वह विभु हो जाती है। वह विश्व शान्ति की स्थापना में समर्थ है; क्योंकि स्नेह की एकता वह काम नहीं करने देती, जो नहीं करना चाहिए और वह स्वतः होने लगता है, जो करना चाहिए। उसके होते ही जीवन में व्यापकता आ जाती है, जिसके आते ही सब प्रकार की आसक्तियों का अन्त हो जाता है। आसक्तियों का अन्त होते ही उस दिव्य चिन्मय प्रीति का उदय होता है, जो अपने ही में अपने प्रीतम को मिलाकर नित-नव रस प्रदान करती है। यही हमारी वास्तविक आवश्यकता है।

निष्कामता में ही सफलता है

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि निष्कामता ही सफलता की कुन्जी है। निष्कामता के बिना निर्दोषता नहीं आती और दोषरहित हुए बिना हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। दोषों की आवश्यकता तो किसी को भी नहीं होती. सभी को अपना साथी निर्दोष चाहिए। इस दृष्टि से निष्कामता जीवन की वास्तविक आवश्यकता है।

अब विचार यह करना है कि निष्कामता प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए? तो कहना होगा कि निष्कामता उसे ही प्राप्त हो सकती है, जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से अपना मूल्य बढ़ा लेता है। यद्यपि कोई भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति ऐसी हो ही नहीं सकती, जो हमारे दिये हुए महत्त्व एवं सहयोग के बिना हम पर शासन कर सके, परन्तु हम इस रहस्य को भूल जाते हैं; प्रत्युत वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के आधार पर अपना मूल्य आँकने लगते हैं। बस, हमारी यही भूल हमें निष्काम नहीं होने देती।

हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है, पर न तो उसकी दासता में आबद्ध होना है और न किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करना है; क्योंकि सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। कोई परिस्थिति किसी परिस्थिति की अपेक्षा भले ही सुन्दर प्रतीत हो, परन्तु वास्तविकता की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप है, साध्यरूप नहीं। अतः प्रत्येक परिस्थिति का महत्त्व उसके सदुपयोग में है, किसी परिस्थिति-विशेष में नहीं। हमें प्राप्त परिस्थिति को आदर करना चाहिए, पर उससे ममता और उसमें जीवन-बुद्धि नहीं करनी चाहिए, अपितु साधन-बुद्धि रखनी चाहिए। ऐसा करने से बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियों से अतीत के उस जीवन पर विश्वास हो जाएगा, जो निष्कामता प्रदान करने में समर्थ है।

प्रत्येक स्थिति प्राकृतिक न्याय है, उसके आदरपूर्वक सदुपयोग में ही सभी का हित निहित है। परन्तु कामना-अपूर्ति के भय और कामना-पूर्ति की आसक्ति के कारण हम परिस्थितियों में भेद करने लगते हैं तथा प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की अपेक्षा परिस्थिति-परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग के

लिए मिली थी, उसे अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति के प्रयास में लगा देते है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का भी सदुपयोग नहीं हो पाता और उत्कृष्ट परिस्थिति भी प्राप्त नहीं होती। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्त परिस्थति के सदुपयोग से ही उत्कृष्ट परिस्थिति अथवा परिस्थितियों से असंगता प्राप्त होती है, जो वास्तविक निष्कामता है।

अब यदि कोई यह कहे कि हम उस प्राकृतिक विधान का आदर कैसे करें, जो कामना-अपूर्ति के दुःख में हेतु है? तो कहना होगा कि कामना-अपूर्ति को दुःख कामना-पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त करने के लिए आया था, जिसे पाकर हम भयभीत हो गए। यह भूल गए कि कामना-पूर्ति के सुख से अतीत भी एक जीवन है, जो कामना-पूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय में हमारा हित ही निहित है। अतः उसका आदर करना अनिवार्य है।

भौतिक विज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु अनन्त है, उसमें कमी नहीं है। फिर भी हमें यदि वस्तुएँ प्राप्त नहीं हैं, तो समझना चाहिए कि हम वस्तुओं के अधिकारी नहीं हैं। प्रकृति के विधान में किसी से राग-द्वेष नहीं है, उसमें तो सभी के प्रति समानता है। अतः जो वस्तुएँ हमारे बिना रह सकती हैं अथवा हमें अप्राप्त हैं, उनकी अप्राप्ति में ही हमारा विकास निहित है।

अब यदि कोई यह कहे कि वस्तुओं के बिना तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रह सकता। तो कहना होगा कि जो अस्तित्व वस्तुओं के आश्रित है, वह क्या हमारा अस्तित्व है? कदापि नहीं। इस दृष्टि से तो वस्तुओं का ही अस्तित्व सिद्ध होगा, हमारी नहीं। हमारा अस्तित्व तो तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम वस्तुओं से अतीत के उस जीवन को प्राप्त कर लें, जो निष्कामता से ही प्राप्त हो सकता है। निष्कामता हमें प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग और अप्राप्त वस्तुओं की कामना के त्याग का पाठ पढ़ाती है, न तो वस्तुओं के संग्रह की प्रेरणा देती है और न अप्राप्त वस्तुओं के आह्वान की ही।

वस्तुओं का संग्रह तथा वस्तुओं का आह्वान करने वाला निष्काम नहीं हो सकता। निष्कामता आ जाने पर प्राप्त वस्तुओं को सदुपयोग होने लगता है। और आवश्यक वस्तुएँ प्रकृति के विधान से स्वतः मिलने लगती हैं। परन्तु कब? जब न तो वस्तुओं के अभाव से हम क्षुब्ध हों, न प्राप्त वस्तुओं में हमारी ममता हो, न उनका दुरुपयोग हो और न वस्तुओं के आधार पर हम अपना अस्तित्त्व ही मानें।

जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख होते ही छाया हमारे पीछे दौड़ती है और सूर्य से विमुख होने पर हम छाया के पीछे दौड़ते हैं, पर उसे पकड़ नहीं पाते; उसी प्रकार निष्कामता-रूपी सूर्य के सम्मुख होते ही छायारूपी वस्तुएँ हमारे पीछे दौड़ती हैं और विमुख होते ही हम छायारूपी वस्तुओं के पीछे दौड़ते हैं, पर उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते।

प्राप्त वस्तु, बल और विवेक किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं हैं, अपितु किसी की देन हैं। अब यदि कोई यह कहे कि हमें जो कुछ मिला है, वह हमारे ही कर्म का फल है। तो कहना होगा कि कर्म करने की सामर्थ्य क्या आपकी अपनी है? यदि आपकी अपनी है तो आप किसी प्रकार का अभाव क्यों अनुभव करते हैं और प्रवृत्ति के अन्त में शक्तिहीन क्यों होते हैं? शक्तिहीन की अनुभुति यह सिद्ध करती है कि सामर्थ्य किसी व्यक्ति की अपनी नहीं है। वह उसी की देन है,

जिसके प्रकाश से समस्त विश्व प्रकाशित है। उसकी दी गई सामर्थ्य को अपनी मान लेना कहाँ तक न्याय संगत है।

हाँ, यह अवश्य है कि जिसने हमें सब कुछ दिया है, उसने अपने को गुप्त रखा है, अर्थात् 'मैं देता हूँ, यह प्रकाशित नहीं किया। इतना ही नहीं, उसने अपने को इतना छिपाया है कि जिसे देता है, उसे वह मिली हुई वस्तु अपनी ही मालूम होती है, किसी और की नहीं। भला, जिसमें इतनी आत्मीयता है, इतना सौहार्द है, क्या हमने कभी एक बार भी वस्तुओं से विमुख होकर उसकी ओर देखा?

जिसकी ओर हम एक बार भी नहीं देख सके, वह सर्वदा हमारी ओर देखता है। यदि ऐसा न होता, तो असमर्थ होने पर बिना ही यत्न के सामर्थ्य कैसे मिलती? इस दृष्टि से हमें निष्काम होकर मिली हुई सामर्थ्य का प्राप्त विवेक के प्रकाश में उसी के नाते उपयोग करना है और उसी अनन्त की ओर देखना है, जो हमारी ओर सदैव देखता है। उसकी ओर देखते ही हम उसके हो जाएँगे, जिसके होते ही सब प्रकार के अभाव का अभाव हो जाएगा और दिव्य चिन्मय जीवन प्राप्त होगा, जो हमारी वास्तविक आवश्यकता है।

पराश्रय का त्याग और सेवा

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि सब प्रकार के अभाव का कारण एकमात्र पराश्रय है; क्योंकि 'पर' का आश्रय ही हमें जड़ता में आबद्ध करता है, सीमित बनाता है और अनेक प्रकार की आसक्तियों को जन्म देता है। इस दृष्टि से पराश्रय का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

आसक्तियों के रहते हुए प्रीति का उदय नहीं होता है। प्रीति के बिना नित-नवं रस की उपलब्धिं नहीं होती, अपितु चित में खिन्नता ही निवास करती है, जो हमें क्रोधी बनाकर कर्तव्य से च्युत कर देती है। अतः किसी भी आसक्ति का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सीमित होते ही कामनाओं का उदय होता है, जो स्वाधीनता का अपहरण करने में हेतु है। स्वाधीनता का अपहरण होते ही हम जड़ता में आबद्ध होकर दिव्य चिन्मय जीवन से विमुख हो जाते हैं। अतः पराश्रय का अन्त करने के लिए हमें वर्तमान में ही प्रयत्नशील होना चाहिए।

पराश्रय का अन्त करने के लिए हमें सर्वप्रथम पर-आश्रय के भाव को पर-सेवा की सद्भावना में परिवर्तित करना होगा; क्योंकि जिसकी सेवा करने का सुअवसर मिल जाता है, उसकी आसक्ति मिट जाती है और जिसमें आसक्ति नहीं रहती, उससे सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। अतः पर-सेवा की संभावना हमें 'पर के आश्रयं से मुक्त करने में समर्थ है।

अब विचार यह करना है कि 'पर' का अर्थ क्या है? तो कहना होगा कि जिसका वियोग अनिवार्य हो, वही 'पर है। इस दृष्टि से किसी अन्य की तो बात ही क्या है, शरीर भी 'पर' के ही अर्थ में आता है। अतः सर्वप्रथम हमें शरीर की सेवा करनी है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम शरीर के अभिमान का त्याग करें। शरीर के अभिमान का त्याग करते ही निर्वासना आ जाएगी। वासनाओं का अन्त होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाएँगे। फिर समस्त विश्व की सेवा स्वतः होने लगेगी; क्योंकि सेवा उन्हीं साधनों से की जा सकती है, जिनमें शुद्धता हो। इन्द्रियों

की शुद्धता से सदाचार की प्राप्ति और समाज के चरित्र का निर्माण होगा। मन की शुद्धता से अशुद्ध संकल्प मिट जाएँगे और निर्विकल्पता आ जाएगी।

निर्विकल्पता आते ही मन विभु हो जाएगा, जिससे समस्त विश्व की मूक सेवा होने लगेगी। बुद्धि की शुद्धता विषमता का विनाश कर देगी, जिससे भिन्नता मिट जाएगी और एकता आ जाएगी, जो चिर-शान्ति की स्थापना करने में समर्थ है और जिसमें सब प्रकार के विकास की सामर्थ्य निहित है। इस दृष्टि से शरीर की सेवा में ही समस्त विश्व की सेवा विद्यमान है।

सेवा वही कर सकता है, जो किसी को बुरा न चाहे। जो किसी को बुरा नहीं चाहता, वह अपने से दुखियों को देखकर करुणा से द्रवित और सुखियों को देखकर प्रसन्न होने लगता है, अथवा यों कहो कि करुणा और प्रसन्नता उसका स्वभाव बन जाता है। करुणा सुख-भोग की आसक्ति को और प्रसन्नता सुख-भोग की कामना को खा लेती है। कामना और आसक्ति के मिटते ही बाह्य-सेवा भी स्वतः होने लगती है, अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और सम्पादित सामर्थ्य तथा योग्यता से रोगी, बालक, विरक्त, जो सत्य के अन्वेषण में लगे हैं, की सेवा स्वाभाविक होने लगती है, क्योंकि ये तीनों ही सेवा के पात्र हैं।

यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि सेवा का अन्त भोग में नहीं, अपितु त्याग में है और त्याग का अन्त है, केवल शान्ति और प्रेम में। यह नियम है कि जिन साधनों से हम सेवा करते हैं, उनकी ममता मिट जाती है। और जिनकी हम सेवा करते हैं, उनमें सौन्दर्य आ जाता है। ममतारहित होने से स्वाधीनता प्राप्त होती है और हमारे तथा सभी व्यक्तियों के निर्माण से सुन्दर समाज का निर्माण स्वत: हो जाता है।. .

इस दृष्टि से 'पर' की सेवा में अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। एवं 'पर' के आश्रय में अपना और समाज का भी अहित है; क्योंकि जिससे हम ममता कर लेते हैं, वह वस्तु और व्यक्ति दोनों ही विनाश को प्राप्त होते हैं। वस्तु की ममता हमें लोभी बनाकर संग्रह की इच्छा उत्पन्न कर देती है एवं व्यक्तियों की ममता हमें तो मोही बनाती है और उन्हें पराश्रित कर देती है, जिनमें हमारा मोह होता है। लोभ की बुद्धि ने ही वस्तुओं का अभाव और मोह की बुद्धि ने ही परस्पर में संघर्ष उत्पन्न कर दिया है, जो विनाश का मूल है।

वस्तुओं का उपयोग व्यक्तियों की सेवा में और व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियों को विवेकयुक्त बनाने में निहित है; क्योंकि विवेकयुक्त जीवन में ही अपना कल्याण तथा सबका हित विद्यमान है।

पराश्रय मृत्यु की ओर एवं उसका त्याग अमरत्व की ओर ले जाता है। पराश्रय जड़ता में आबद्ध करता है और उसका त्याग चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देता है तथा लोभ और मोह का अन्त कर निर्लोभता, निर्मोहता एवं प्रेम प्रदान करता है। निर्लोभता से दरिद्रता और निर्मोहता से अविवेक मिट जाता है तथा प्रेम से अगाध, अनन्त रस की उपलब्धि होती है, जो वास्तविक जीवन है।

कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन

वस्तुस्थिति पर विचार करने से ये दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं--प्रथम यह कि क्या हम वही कर रहे हैं, जो हमें करना चाहिए अथवा वह भी करते हैं, जो नहीं करना चाहिए? और दूसरा यह कि जो

स्वतः हो रहा है, उसका हम पर क्या प्रभाव है? अब विचार यह करना है कि हम जो कुछ करते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है? तो कहना होगा कि कुछ कार्य तो हम ऐसे करते हैं, जिनका कारण अपने को देह मान लेना है और कुछ कार्य ऐसे होते हैं कि जिनका सम्बन्ध बाह्य सम्पर्क से है, अथवा यों कहो कि करने का उदय हमारी मान्यता में तथा हमारे सम्बन्धों में निहित है।

हाँ, एक बात और है, कुछ क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं, जिन्हें हम देहजनित कह सकते हैं। वे क्रियाएँ कर्म नहीं, प्रत्युत देह का स्वभाव हैं। देह के स्वभाव से अतीत की ओर जाने के लिए कर्तव्य का विधान बना है, क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो विवेक की कोई अपेक्षा ही न होती। विवेकयुक्त जीवन में ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या करने योग्य है और क्या नहीं करने योग्य है? विवेक-रहित जीवन में तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। जहाँ पर प्रश्न ही नहीं है कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं, उस जीवन में तो केवल स्वत: आने वाले सुख-दुःख का भोग है, सदुपयोग अथवा दुरुपयोग नहीं।

इस दृष्टि से अब हमें अपने द्वारा होने वाली सभी चेष्टाओं को निज-विवेक के प्रकाश में देखना है कि क्या हम वही करते हैं, जो करने योग्य है, अथवा निज-ज्ञान का अनादर करके वह भी कर बैठते हैं; जो नहीं: करना चाहिए जो नहीं करना चाहिए, उसको करने से अपना तथा दूसरे को अहित ही होता है।

कर्तत्व के स्थल पर एक बात और विचारणीय है, वह यह कि हम जो कुछ करते हैं, उसका परिणाम हमीं तक सीमित नहीं रहता, अपितु समस्त विश्व में फैलता है; क्योंकि कर्म बिना संगठन के नहीं होता। अतः संगठन से उत्पन्न होने वाले कर्म का परिणाम व्यापक होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से हम जो कुछ करें, वह इस उद्देश्य को सामने रखकर करना चाहिए कि हमारे द्वारा दूसरों का अहित तो नहीं हो रहा है।

यदि हमारे द्वारा होने वाले कर्मों से दूसरों का अहित हो रहा है, तो हमारा भी अहित निश्चित है; क्योंकि दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है, वह कई गुना अधिक होकर हमारे प्रति स्वतः होने लगता है। अतः इस कर्म-विज्ञान की दृष्टि से हमें वह नहीं करना चाहिए, जिसमें किसी अन्य का अहित हो, अपितु वह अवश्य करना चाहिए, जिसमें सभी का हित हो।

अब यदि कोई यह पूछे कि हम यह कैसे जानें कि किसमें दूसरे को अहित है? तो इसका निर्णय करने के लिए हमें एक ही बात पर ध्यान देना चाहिए कि हम जो कुछ दूसरों के प्रति कर रहे हैं, क्या वही दूसरों के द्वारा अपने प्रति किये जाने की आशा करते हैं? दूसरों के द्वारा अपने प्रति हम वही आशा करते हैं, जो करने के योग्य है; क्योंकि हम अपने प्रति दूसरों से न्याय, प्रेम, उदारता, आदर, करुणा एवं क्षमा आदि व्यवहार की ही आशा रखते हैं। जो अपने प्रति चाहते हैं, वही हमें दूसरों के प्रति करना है। ऐसा करने से 'करना', 'होने में विलीन हो जाता है। फिर हम, जो हो रहा है, उसे देखने लगते हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि जो देख रहा है, वह स्वयं नहीं कर रहा है, अर्थात् कर्ता और दृष्टा एक नहीं होते। हाँ, यह अवश्य जानना है कि जो देख रहा है, उस पर देखने का प्रभाव क्या है? देखने वाला अपने को कुछ मानकर देख रहा है अथवा सभी मान्यताओं से रहित होकर देख रहा है? अब विचार यह करना है कि मान्यताओं में

आबद्ध होकर देखना क्या है और सभी मान्यताओं से रहित होकर देखना क्या है? तो कहना होगा कि अपने को। इन्द्रियाँ मानकर हम विषयों को देखते हैं, अपने को मन मानकर इन्द्रियों को देखते हैं, बुद्धि होकर मन को देखते हैं और इन सबके अभिमानी होकर बुद्धि को देखते हैं तथा सभी मान्यताओं से रहित होकर उस अभिमानी को देखते हैं, जो सीमित है।

जब हम अपने को कुछ मानकर देखते हैं, तब देखे हुए में हमारी आसक्ति हो जाती है अथवा अरुचि। अरुचि और आसक्ति के कारण हम उस देखे हुए में बँध जाते हैं। फिर जो कुछ देखने में आता है, उसकी वास्तविकता हम नहीं जान पाते। पर जब विवेक दृष्टि से देखते हैं, तब जो कुछ हमें दिखाई देता है, वह सब या तो अनित्य प्रतीत होता है अथवा केवल अभाव-ही-अभाव या दुःख-ही-दुःख।

इन्द्रियाँ विषयों की दृष्टा हैं, मन इन्द्रियों का दृष्टा है, बुद्धि मन की दृष्टा है और अभिमानी बुद्धि का भी दृष्टा है। जब तक हम उसे ही दृष्टा मान लेते हैं, जो दृश्य है, तब तक जो सर्व का दृष्टा है, उसको अथवा यों कहो कि जो सभी मान्यताओं से अतीत दृष्टा है, उसको नहीं जान पाते।

इन्द्रियों की दृष्टि से समस्त विषय सुखद तथा सत्य प्रतीत होते हैं। जब तक इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मन पर रहता है, तब तक मन इन्द्रियों के अधीन होकर विषयों की ओर गतिशील रहता है और जब मन पर बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव होने लगता है, तब इन्द्रियों का प्रभाव मिटने लगता है; क्योंकि जो वस्तु इन्द्रिय-दृष्टि से सत्य और सुन्दर मालूम होती है, वही वस्तु बुद्धि-दृष्टि से असत्य और असुन्दर मालूम होती है। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव होते ही मन विषयों से विमुख हो जाता है। उसके विमुख होते ही इन्द्रियाँ स्वतः विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं और मन बुद्धि में विलीन हो जाता है। उसके विलीन होते ही बुद्धि सम हो जाती है। फिर उस समता का जो दृष्टा है, वह किसी मान्यता में आबद्ध नहीं हो सकता। उस दृष्टा की दृष्टि में सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि समस्त सृष्टि तो बुद्धि के सम होते ही विलीन हो जाती है; केवल समता रह जाती है। उस समता का प्रकाशक जो नित्य-ज्ञान है, उसमें सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं प्रतीत होती, अथवा यों कहो कि उस ज्ञान से अभिन्न होने पर सब प्रकार के प्रभावों का अभाव हो जाता है; अर्थात् कामनाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है, जो वास्तव में जीवन है।

इन्द्रिय-दृष्टि की सत्यता का प्रभाव राग उत्पन्न करता हैं और राग भोग में प्रवृत्त करता है; किन्तु बुद्धि-दृष्टि की सत्यता राग को वैराग्य में और भोग को योग में परिवर्तित करने में समर्थ है। जब राग वैराग्य में और भोग योग में बदल जाता है, तब दृष्टा में मान्यताओं से अतीत होकर देखने की योग्यता ओ जाती है। उससे पूर्व हम जो कुछ देखते हैं, वह किसी-न-किसी मान्यता में आबद्ध होकर ही देखते हैं, अर्थात् उस समय हमारी दृष्टि सीमित रहती है, दूरदर्शिनी नहीं रहती। इस कारण जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही नहीं जान पाते। अतः हम अनेक प्रकार में प्रभावों के आबद्ध रहते हैं।

यह तो सभी को मान्य होगा कि कर्तृत्वकाल में भोग हो सकता है, देखना नहीं; क्योंकि जब हम कुछ करते हैं, तब देखते नहीं और जब देखते हैं, तब करते नहीं। इस दृष्टि से विषयों के उपभोगकाल में विषयों को देख नहीं पाते और जब विषयों को देखते हैं, तब उनका

उपभोग नहीं कर सकते। अतः देखना तभी सम्भव हो सकता है, जब उपभोगकाल न हो। भोग-प्रवृत्ति भोग का देखना नहीं, अपितु भोग के आरम्भ का सुख और परिणाम का दुःख भोगना है। सुख-दुःख का भोग करते हुए हम जो स्वत: हो रहा है, उसे यथार्थ देख नहीं सकते। अतः जो हो रहा है, उसको देखने के लिए हमें राग रहित दृष्टि की अपेक्षा है, जो विवेकसिद्ध है।

जो हो रहा है, उसके दो रूप दिखाई देते हैं-एक तो सीमित सौन्दर्य और दूसरा प्रत्येक वस्तु आदि का सतत परिवर्तन। वस्तु आदि के सौन्दर्य को देखकर हमें उस अनन्त सौन्दर्य की महिमा का अनुभव स्वतः होने लगता है। जिस प्रकार किसी सुन्दर वाटिका को देखकर वाटिका के माली की स्मृति स्वतः जागृत् होती है, उसी प्रकार प्रत्येक रचना को देखकर संसाररूपी वाटिका के माली की स्मृति जागृत होती है; क्योंकि किसी की रचना का दर्शन रचयिता की महिमा को प्रकाशित करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु हमें उस अनन्त की ओर ले जाने में हेतु बन जाती है और हम उसकी रचना देख-देखकर नित-नव प्रसन्नता का अनुभव करने लगते हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक रचना में उस कलाकार का ही दर्शन होने लगता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह सब उस अनन्त की लीला ही है, और कुछ नहीं।

अनन्त की लीला भी अनन्त ही है और उसका दर्शन भी अनन्त है। लीला का बाह्य स्वरूप भले ही सीमित तथा परिवर्तनशील हो, पर उसके मूल में तो अनन्त नित्य चिन्मय तत्त्व ही विद्यमान है। उनकी अनुपम लीला का दर्शन उनकी चिन्मय दिव्य प्रीति जागृत् करने में समर्थ है। अतः जो हो रहा है, उसका प्रभाव प्रेमी बनाकर प्रेमास्पद से अभिन्न करने में हेतु है।

अब रहा वस्तु आदि में परिवर्तन के दर्शन का प्रभाव; परिवर्तन का दर्शन होते ही स्वभावतः अविनाशी की जिज्ञासा जागृत् होती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों कामनाएँ स्वत: मिटने लगती हैं। कामनाओं का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है और जिज्ञासा की पूर्ति में ही अमर जीवन निहित है।

जो हो रहा है, उससे तो हमें प्रेम तथा जीवन की ही उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से जो हो रहा है, उसमें सभी का हित विद्यमान है। अतः 'होने में प्रसन्न तथा 'करने में सावधान रहने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अब यदि कोई यह कहे कि वस्तु आदि के सौन्दर्य को देखकर हमारे जीवन में काम की उत्पत्ति होती है और दुःख-मृत्यु आदि को देखकर भय उत्पन्न होता है। तो कहना होगा कि हमारे देखने में दोष है। हम सीमित सौन्दर्य देखकर ही उसमें आबद्ध हो जाते हैं और उसका भोग करने लगते हैं, अनन्त और नित्य सौन्दर्य की लालसा को सबल नहीं होते देते। प्रत्येक भोग के परिणाम में भयंकर रोग उत्पन्न होता है, जो जिज्ञासा जागृत् करने में हेतु है। पर हम जिज्ञासु न होकर उस रोग-शोक आदि को देखकर खीझने लगते हैं और मन-माना कोई-न-कोई निर्णय कर बैठते हैं कि उस अनन्त की रचना में इतना दुःख क्यों है!

इतना ही नहीं, कभी-कभी तो यहाँ तक कहने लगते हैं कि सृष्टि का कोई कर्ता नहीं है, घटनाएँ अकस्मात् हो रही हैं, मृत्यु-ही-मृत्यु है, जीवन-जैसी कोई वस्तु है ही नहीं; जहाँ तक सुख सम्पादित कर सकें, करते रहें। यद्यपि सुख-

सम्पादन के परिणाम में दुःख-ही-दुःख भोगते रहते हैं और खीझते रहते हैं; परन्तु न तो घटनाओं के अर्थों पर विचार करते हैं, न उस कर्ता की कारीगरी को देखते हैं और न अपने को उसका जिज्ञासु अथवा भक्त ही मानते हैं। अपितु भोगी तथा रोगी बनकर ही जीवित रहते हैं। दुःख तथा मृत्यु के दर्शन से तो हमारे जीवन में अमरत्व तथा आनन्द की लालसा जागृत्। होनी चाहिए थी, पर ऐसा नहीं होता। उसका कारण यह है कि हम मनमानी निर्णय कर लेते हैं, जो हमारा अपना ही दोष है। हमारा निर्णय ऐसा ही होता। है, जैसे कोई जल-कण सागर के विषय में मनमाना निर्णय कर ले।

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उस अनन्त जीवन का एक अंशमात्र है। प्रत्येक अंश उससे अभिन्न हो सकता है, जिसका वह अंश है; पर उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दे सकता। जिस सीमित परिवर्तनशील योग्यता से हम निर्णय देते हैं, वह योग्यता क्या हमारी अपनी वस्तु है? यदि हमारी वस्तु है, तो उसमें परिवर्तन क्यों है? और उसका विनाश क्यों है? यदि हमारी नहीं है, तो क्या हमने जिससे मिली है, उसकी और गतिशील होने का कभी प्रयत्न किया? यदि नहीं किया तो हमें किसी प्रकार के निर्णय करने का क्या अधिकार है? व्यक्ति मिली हुई योग्यता का सदुपयोग ही कर सकता है; किसी प्रकार का अनर्गल निर्णय देकर खीझना व्यर्थ है।

दुःख उतनी बुरी वस्तु नहीं, जितना हम मान लेते हैं। दुःख के आधार पर ही हम आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं। जिस प्रकार भूख ही भोजन-प्राप्ति में हेतु है, उसी प्रकार दुःख तथा मृत्यु ही अमरत्व तथा आनन्द की प्राप्ति में हेतु हैं। पर ऐसा तभी हो सकता है, जब हम दुःख होने पर विचार करें, भयभीत न हों। दुःख हमारे बिना ही बुलाए आया है, हम उसे रोक नहीं सकते। जिसे रोक नहीं सकते और जो अपने-आप आता है, वह किसी ऐसे की देन है, जो अनन्त है।

उस अनन्त की देन में सभी का हित विद्यमान है। उससे भयभीत होना हमारी अपनी भूल है। जिसे काल में दुःख पूर्ण जागृत् होता है, उसी काल में सब प्रकार की आसक्तियाँ अपने-आप मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही हम उस अनन्त की महिमा देखने के अधिकारी हो जाते हैं। अथवा यों कहो कि उसकी महिमा का आश्रय लेकर ही उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लेते हैं। अतः जो कुछ हो रहा है, वह हमें नहीं से 'है' की ओर गतिशील करने में समर्थ है। "नहीं" का अर्थ अभाव है और है' का अर्थ अभाव-का-अभाव। इस दृष्टि से प्रत्येक 'अभाव', अभाव-का-अभाव करने में समर्थ है और प्रत्येक रचना उस अनन्त की लालसा जागृत् करने में हेतु है। अत: जो हो रहा है; उसमें सब कुछ मिल सकता है।

साधन-तत्त्व

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्य का ज्ञान प्रत्येक कर्ता में निहित है, अर्थात् साधन-तत्त्व साधक में विद्यमान है। जब साधक अपने में विद्यमान साधन-तत्त्व का आदर नहीं करता, तब उसे बाहर से साधन-निर्माण की अपेक्षा होती है। यद्यपि साधन-तत्त्व ही गुरु-तत्त्व है, जो साधक में जन्मसिद्ध है, तथापि इस प्राप्त गुरु-तत्त्व का अनादर करने के कारण

किसी अप्राप्त गुरु की अपेक्षा हो जाती है। इसका अर्थ किसी बाह्य गुरु का अनादर नहीं है; अपितु विद्यमान गुरु का अनादर न किया जाए, उसी के लिए यह कहना है कि अपने प्राप्त गुरु का आदर करो।

जो साधक प्राप्त गुरु का आदर करता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर साध्य-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि अपने प्रति जितनी प्रियता होती है, उससे अधिक किसी अन्य के प्रति नहीं होती और अपनी अनुभूति के प्रति जितना सद्भाव तथा निस्संदेहता होती है, उतनी अन्य के प्रति नहीं होती। इस दृष्टि से अपनी अनुभूति के आधार पर जितनी सुगमतापूर्वक साधन-निर्माण तथा साधन-परायणता हो सकती है, उतनी किसी अन्य की अनुभूति द्वारा नहीं।

इतना ही नहीं, जिस साधन के समझने की तथा करने की सामर्थ्य साधक में बीज-रूप से विद्यमान नहीं होती, वह साधन कोई भी किसी भी साधक को न तो समझा सकता है और न उससे करा हो सकता है। जिस प्रकार नेत्र को कोई शब्द नहीं सुना सकता और श्रोत्र को कोई रूप नहीं दिखा सकता, उसी प्रकार जिस साधन की सामर्थ्य साधक में नहीं है, उसको कोई बाह्य गुरु नहीं करा सकता। जिस बीज में उपजने की सामर्थ्य होती है, उसी को पृथ्वी, जल, वायु आदि उपजा सकते हैं। अतः साधक में विद्यमान साधना को ही बाह्य गुरु भी विकसित करने में सहयोग दे सकते हैं।

अपने प्राप्त विवेक के आधार पर यदि साधन निर्माण करना है, तो सर्वप्रथम अपने प्राप्त ज्ञान से अपने दोषों को जानना होगा। जिस ज्ञान से दोषों का ज्ञान होगा, उसी ज्ञान में दोषों के कारण का ज्ञान भी विद्यमान है और उस कारण के निवारण का भी। अपने दोषों को जान लेने में कभी धोखा नहीं हो सकता, अपितु अपने दोषों का ज्ञान जितना अपने को होता है, उतना अन्य को हो ही नहीं सकता; कारण, कि दूसरों के सामने तो हम इन्द्रियों के द्वारा ही दोषों का वर्णन करेंगे। मन में जितनी सामर्थ्य है, उतनी इन्द्रियों में नहीं और बुद्धि में जितनी सामर्थ्य है, उतनी मन में नहीं। अतः बुद्धि की सारी बातें मन में नहीं आ पातीं और मन की सारी बातें इन्द्रियों में नहीं आ पातीं। इसलिए इन्द्रियों के द्वारा प्रकाशित किया जाने वाला दोष पूरा दोष नहीं हो सकता। जब तक दोष का पूरा ज्ञान न हो, तब तक कारण का ज्ञान और उसके निवारण का ज्ञान सम्भव नहीं है। अत: दोष देखने और निवारण करने के लिए साधक को अपने ही ज्ञान को अपना गुरु बना लेना चाहिए।

यह नियम है कि जब प्राणी अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता अर्थात् दोषी पाता है, तब उसमें एक गहरी वेदना जागृत् होती है, जो दोषों को मिटाने में समर्थ है; कारण, कि दोषों से रस लेने से ही दोष सुरक्षित रहते हैं। जब दोषों से वेदना उत्पन्न होने लगती है, तब वे स्वत: मिट जाते हैं, अथवा यों कहो कि साधक में दोष मिटाने की सामर्थ्य आ जाती है।

इस दृष्टि से अपने दोषों का ज्ञान और उनके होने की वेदना ही निर्दोष होने के साधन हैं। हाँ, यह अवश्य है कि अपने ज्ञान से जो अपना गुण देखेगा, वह साधन-निर्माण नहीं कर सकेगा; क्योंकि गुण देखने से गुणों का अभिमान होगा, जो सभी दोषों का मूल है। अतः प्राप्त गुरु का आदर वही कर सकता है, जो अपना गुण नहीं देखता, अपितु दोष देखता है।

दोष का ज्ञान जिससे होता है, उस ज्ञान को कभी नाश नहीं होता। केवल प्रमादवश

साधक प्राप्त ज्ञान का अनादर करने लगता है। ज्ञान का अनादर ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु अल्प ज्ञान है, जो सभी दोषों का मूल

साधन-तत्त्व ही गुरु-तत्व है, जो सर्वदा साधक में विद्यमान है। इस दृष्टि से साधक, साधन और साध्य में जातीय एवं स्वरूप की एकता है; क्योंकि तीनों एक ही धातु से निर्मित हैं; कारण, कि साधन-तत्त्व साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है। अतः साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो सकता है। साधक की साधन-तत्त्व से अभिन्नता ही वास्तविक गुरु की प्राप्ति है, जो जीवन में एक बार ही होती है और जिसके होते ही गुरु और शिष्य अभिन्न हो जाते हैं। यही वास्तविक गुरु सेवा तथा गुरुभक्ति है।

अब यदि कोई यह कहे कि जब साधन-तत्त्व साधक में विद्यमान है, तब साधक को प्रमाद क्यों हो जाता है? तो कहना होगा कि निज-ज्ञान के अनादर से। निज-ज्ञान का अनादर होता है, बाह्य ज्ञान की आशा तथा विश्वास से। इन्द्रियजन्य ज्ञान बुद्धिजन्य ज्ञान की अपेक्षा बाह्य है और बुद्धिजन्य ज्ञाननिज-ज्ञान की अपेक्षा बाह्य है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान का आदर तथा उस पर विश्वास न किया होता, तो किसी प्रकार के राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई होती। यदि राग की उत्पत्ति न होती, तो किसी दोष का जन्म ही नहीं होता।

यदि बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान पर अविश्वास कर लिया जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक रोग 'वैराग्य' में बदल सकता है, क्योंकि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान वस्तु में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन कराता है, जिससे कि वस्तुओं से राग की उत्पत्ति हो जाती है, बुद्धि का ज्ञान उसी वस्तु में मलिनता तथा क्षणभंगुरता को दर्शन कराता है, जो राग को 'वैराग्य' में परिवर्तित करने में समर्थ है। जब राग 'वैराग्य' में बदल जाता है, तब भोग 'योग' में परिणत हो जाता है, अथवा यों कहो कि इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं और मन निःसंकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है।

बुद्धि के सम होते ही निज-ज्ञान का प्रकाश बाह्य ज्ञान को अपने में विलीन कर लेता है। फिर राग-विरागरहित अलौकिक दिव्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है। इस दृष्टि से साधक बाह्य ज्ञान से विमुख होकर निज-ज्ञान का आदर करके सुगमतापूर्वक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो सकता है।

साधन-तत्त्व साध्य से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि साध्य तो प्रमाद का प्रकाशक है, नाशक नहीं, किन्तु साधन-तत्त्व प्रमाद को खाकर साधक को साध्य से अभिन्न भी कर देता है; कारण, कि सत् असत् का। नाशक नहीं होता, अपितु प्रकाशक होता है, किन्तु सत् की लालसा असत् को खाकर सत् से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से गुरु-तत्त्व साध्य-तत्त्व से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है।

यदि किसी कारणवश साधक अपने इन्द्रिय-ज्ञान पर बुद्धि-ज्ञान द्वारा विजयी न हो सके तो ऐसी दशा में साधकों को परस्पर मिलकर साधन-निर्माण के लिए विचार-विनिमय करना चाहिए। जिस प्रकार दो दीपक एक-दूसरे के नीचे का अन्धकार मिटाने में समर्थ हैं, उसी प्रकार पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा सुगमतापूर्वक साधन-निर्माण हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा, जब परस्पर में श्रद्धा, विश्वास तथा स्नेह की एकता हो और निस्संकोच होकर अपनी दशा

एक-दूसरे से कह सकें। इसी का नाम 'बाह्य सत्संग' है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें तो ऐसे साथी ही नहीं मिलते कि जिनके साथ विचार-विनिमय कर सकें। ऐसी दशा में जिस किसी सद्ग्रन्थ पर अपना विश्वास हो, उसके प्रकाश में अपने दोष देखें और निवारण के लिए साधन का निर्माण करें। यदि किसी सद्ग्रन्थ पर भी विश्वास न हो, तो केवल साधन-निर्माण की तीव्र लालसा जागृत् करें। ज्यों-ज्यों लालसा सबल तथा स्थाई होती जाएगी, त्यों-त्यों साधन-निर्माण की योग्यता अथवा अनुकूल परिस्थिति उस अनन्त की अहेतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त होती जाएगी; क्योंकि कर्तव्य-ज्ञान के लिए विवेक के स्वरूप में जिसने गुरु प्रदान किया है, वही सत्संग एवं सद्ग्रन्थ के स्वरूप में भी गुरु प्रदान कर सकता है।

गुरु की प्राप्ति में एकमात्र गुरु की आवश्यकता ही हेतु है। अतः गुरु की आवश्यकता गुरु से मिला देती है, यह निर्विवाद सत्य है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निर्माण करके उस साध्य से अभिन्न होने में सर्वदा स्वतन्त्र है, जो वास्तविक जीवन है।

वर्तमान जीवन का सदुपयोग

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान परिवर्तनशील जीवन के सदुपयोग में ही नित्य जीवन और दुरुपयोग में ही मृत्यु निहित है। यद्यपि जन्म और मृत्यु दोनों एक ही परिवर्तनशील जीवन की दो अवस्थाएँ हैं, क्योंकि जन्म से ही मृत्यु आरम्भ हो जाती है और मृत्यु के अन्त में जन्म स्वाभाविक है। परन्तु यदि वर्तमान जीवन को साधनयुक्त बना दिया जाए, तो मृत्यु से पूर्व ही अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान जीवन का सदुपयोग क्या है? तो कहना होगा कि अपने-आप आए हुए सुख-दुःख का सदुपयोग ही वर्तमान जीवन का सदुपयोग है। सुख का सदुपयोग उदारता में और दुःख का विरक्त होने में निहित है। उदारता सुख-भोग की आसक्ति को, और विरक्ति सुख-भोग की कामना को खा लेती है।

उदारता का अर्थ दूसरों के दुःख से दुःखी होकर प्राप्त सुख का सद्व्यय करना है और विरक्ति का अर्थ इन्द्रियों की विषयों से अरुचि का जागृत् होना है। विषयों की अरुचि अमरत्व की जिज्ञासा जागृत् करती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल और अस्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों भोगेच्छाएँ स्वतः जिज्ञासा में विलीन होती जाती हैं। जिस काल में भोगेच्छाओं का सर्वांश में अन्त हो जाता है, उसी काल में जिज्ञासा स्वतः पूरी हो जाती है, अर्थात् अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है।

जीवन का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब वर्तमान जीवन में ही अर्थात् प्राणों के रहते हुए ही मृत्यु का अनुभव हो जाए। यह तभी सम्भव होगा, जब निज-विवेक के प्रकाश में परिवर्तनशील जीवन का अध्ययन किया जाए। यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक वस्तु, अवस्था और परिस्थिति निरन्तर बदल रही है। उसमें स्थायित्व मानना निज-विवेक का अनादर है। जिसे साधारण दृष्टि से स्थिति कहते हैं, वह वास्तव में परिवर्तन का क्रम है, और कुछ नहीं; अथवा यों कहो कि समस्त वस्तुएँ अमरत्व की ओर दौड़ रही हैं, क्योंकि परिवर्तन के ज्ञान में ही अपरिवर्तन की लालसा विद्यमान है। उस लालसा की पूर्ति वर्तमान में हो सकती है, क्योंकि जो उत्पत्ति विनाश-रहित है, उससे देश-काल की दूरी नहीं है और जिससे देश-

काल की दूरी नहीं है, वह वर्तमान में ही प्राप्त हो सकता है।

परिवर्तनशील जीवन की आशा में आबद्ध प्राणी न तो वर्तमान जीवन का सदुपयोग कर पाता है, न अमरत्व से अभिन्न हो सकता है और न मृत्यु से ही बच सकता है। अतः परिवर्तनशील जीवन से निराश होकर साधक को वर्तमान जीवन का सदुपयोग करने तथा अमरत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, क्योंकि अमरत्व से जातीय तथा स्वरूप की एकता है। जिससे स्वरूप की एकता है, उसकी प्राप्ति अनिवार्य है। जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है, उससे निराश होना प्रमाद है और जिसमें सतत् परिवर्तन है, उसकी आशा करना। भूल है।

परिवर्तनशील जीवन से निराश होते ही जीवन ही में मृत्यु का अनुभव हो जाता है। साधक सब ओर से विमुख होकर अपने ही में अपने वास्तविक जीवन से अभिन्न हो, अमर हो जाता है। फिर शरीर आदि प्रत्येक वस्तु अपने से स्पष्ट अलग अनुभव होती है। इतना ही नहीं, कर्म, चिन्तन, स्थिति आदि सभी अवस्थाओं से असंगता हो जाती है और जड़ता का अन्त हो जाता है, अथवा यों कहो कि दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

उत्पत्ति-विनाश का ही तो एक क्रम है, जो धीरे-धीरे होता रहता है; परन्तु अमरत्व से अभिन्नता वर्तमान ही में हो जाती है; क्योंकि वह सर्वकाल में ज्यों-का-त्यों है अथवा यों कहो कि काल से अतीत है। जीवन ही में मृत्यु का अनुभव और अमरत्व की प्राप्ति युगपत होती है; पर जीवन ही में मृत्यु का अनुभव तब हो सकता है, जब शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी से। सम्बन्ध–विच्छेद कर दिया जाए, जो विवेकसिद्ध है। विवेक अभ्यास नहीं है, अपितु निज-ज्ञान का आदर है। इस कारण वर्तमान में ही फल देता है।

अब यदि कोई यह कहे कि शरीर आदि से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर : क्या वर्तमान कार्य हो सकेगा? तो कहना होगा कि सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही कार्य सुन्दरतापूर्वक हो सकता है; क्योंकि सम्बन्ध विच्छेद होने से अनासक्ति आ जाती है, जो सभी दोषों को खा लेती है, अथवा यों कहो कि इससे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाते हैं। इनके शुद्ध होने से समस्त व्यवहार पवित्र तथा सुन्दर होने लगते हैं, क्योकि अशुद्धि ही कर्तव्य में दोष उत्पन्न करती है। शुद्धि तो कर्तव्यनिष्ठ बनाती है। इस दृष्टि से अमरत्व की प्राप्ति तथा वर्तमान जीवन का सदुपयोग, ये दोनों जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करने में निहित हैं।

अब यदि कोई यह प्रश्न करें कि जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कैसे किया जाए? तो इस समस्या को हल करने के लिए साधक को सर्वप्रथम जीवन और मृत्यु के स्वरूप को जानना होगा। वर्तमान जीवन क्या है? जीवन-शक्ति, प्राण और इच्छाओं का समूह। मृत्यु क्या है? प्राण-शक्ति का व्यय हो जाना और इच्छाओं का शेष रह जाना। जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करने के लिए साधक को प्राणों के रहते हुए ही इच्छाओं का अन्त करना होगा।

इच्छाओं का अन्त होते ही देहाभिमान गल जाता है। फिर सभी अवस्थाओं से अतीत जो सभी अवस्थाओं का प्रकाशक है, उस स्वयं प्रकाश नित्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है; अथवा यों कहो कि शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को उसके समर्पित कर देना है, जो सर्व को प्रकाशक है, जिससे सभी मत्ता पाते हैं, जो सभी को सब कुछ है और सबसे अतीत भी है। उसका सम्बन्ध,

उसकी जिज्ञासा तथा उसकी स्मृति और प्रीति के उदय होने पर ही जीवन में मृत्यु का अनुभव हो सकता है; क्योंकि उसका सम्बन्ध अन्य सम्बन्धों को खा लेता है, उसकी जिज्ञासा भोगेच्छाओं को भस्म कर देती है, उसकी स्मृति अन्य की विस्मृति कराने में समर्थ है और उसकी प्रीति उससे दूरी तथा भेद मिटाने में हेतु है, अथवा यों कहो कि अनन्त की प्रीति अनन्त से अभिन्न कर देती है।

जीवन में ही मृत्यु का अनुभव किये बिना कोई भी योगी, विवेकी और प्रेमी नहीं हो सकता, क्योंकि योगी होने के लिए भोग-वासनाओं का अन्त करना होगा और भोग-वासनाओं का अन्त करने के लिए अपने को तीनों शरीरों से अलग अनुभव करना होगा। इस दृष्टि से योग की सिद्धि के लिए भी जीवन में ही मृत्यु का अनुभव अनिवार्य है। विवेकी होने के लिए भी साधक को समस्त दृश्य से अपने को विमुख करना है, अर्थात् दृष्टि को दृश्य से विमुख कर अमरत्व से अभिन्न करना है। अतः उसके लिए भी निराधार होकर जीवन ही में मृत्यु स्वीकार करना अनिवार्य है। इसी प्रकार प्रेमी होने के लिए भी जीते-जी ही मरना होगा, क्योंकि प्रेमी वही हो सकता है, जो सब प्रकार की चाह से रहित हो और अपना सर्वस्व अपने प्रेमास्पद को बिना किसी शर्त के समर्पित कर दे।

अब यदि कोई यह कहे कि योगी, विवेकी और प्रेमी होने के लिए तो जीते-जी मरने की बात है, पर समाज-सेवा के लिए तो जीवन में मृत्यु का अनुभव आवश्यक नहीं है। तो कहना होगा कि वास्तविक सेवा के लिए भी जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करना होगा, क्योंकि सेवा त्याग की भूमि तथा प्रेम की जननी है। सेवा वही कर सकेगा, जो अपने सेव्य के मन की बात पूरी कर सके और उसके बदले में किसी प्रकार की आशा न करे। दूसरे के मन की बात पूरी करने में अपने मन को दे देना होगा। अतः जीते-जी बिना मरे सेवा की भी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अपने पास अपने मन का न रहना ही जीते-जी मरना है। जब तक अपने पास अपना मन रहता है, तब तक मृत्यु में जीवन प्रतीत होता है और जब अपने पास अपना मन नहीं रहता, तब जीवन में ही मृत्यु का अनुभव होता है।

अब यदि कोई यह कहे कि अपने पास अपना मन न रहे, इसके लिए साधक को क्या करना है? तो कहना होगा कि साधक का जिनसे सम्बन्ध है, उनके मन से अपना मन मिला देना चाहिए, पर उसी अंश में जिस अंश में उनका हित हो।।

यदि असमर्थता के कारण साधक दूसरों के मन की बात पूरी न कर सके, तो उसे नम्रतापूर्वक दुःखी हृदय से क्षमा माँग लेनी चाहिए। ऐसा करने से भी साधक का मन साधक के समीप न रहेगा, क्योंकि किसी के मन की बात पूरी करना अथवा मन की बात पूरी न करने के दुःख से दुःखी होना समान अर्थ रखता है। अत: योगी, विवेकी, प्रेमी और सेवक होने के लिए जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करना है। योग से सामर्थ्य, विवेक से अमरत्व और प्रेम से अगाध अनन्त रस की उपलब्धि सुगमतापूर्वक हो सकती है, जो वास्तविक जीवन है।

साधन करने में कोई असमर्थ नहीं है

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि साधन करने में न तो असमर्थता है और न असिद्धि; क्योंकि साधन साधक की वर्तमान योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य पर निर्भर है।

अथवा यों कहो कि प्राप्त बल के सदुपयोग एवं विवेक के आदर में ही साधन निहित है। साधन करने के लिए किसी अप्राप्त बल, वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है और न उस ज्ञान की आवश्यकता है, जो अपने में नहीं है, अपितु जो है, उसी से साधन करना है।

यह नियम है कि सामर्थ्य की न्यूनता तथा अधिकता साधन में कोई अर्थ नहीं रखती। जिस प्रकार पथिक यदि अपनी ही गति से अपने मार्ग पर चलता रहे, तो अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच ही जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक साधक यदि अपनी योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधननिष्ठ हो जाए, तो सिद्धि अवश्यम्भावी है। इसमें संदेह के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि किसी भी साधक को वह नहीं करना है, जिसे वह नहीं कर सकता, परन्तु वह अवश्य करना है, जिसे वह कर सकता है

अब प्रश्न यह होता है कि जब साधन में असमर्थता और असिद्धि नहीं है, तब हम साधनपरायण क्यों नहीं हो पाते और हमें साध्य की उपलब्धि क्यों नहीं होती? तो कहना होगा कि इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक साधक को स्वयं ही देना है, किसी अन्य से नहीं लेना है; क्योंकि जो जानते हुए भी नहीं मानता और करने की सामर्थ्य होते हुए भी नहीं करता, उसे न कोई जना सकता है। और न कोई उससे करा सकता है।

जिस प्रकार सोये हुए को जगाया जा सकता है, पर जो जगते हुए सो रहा है, उसे कोई नहीं जगा सकता; उसी प्रकार जो अपनी जानकारी का स्वयं आदर नहीं करता और प्राप्त बल का सदुपयोग नहीं करता, उसकी कोई भी सहायता नहीं कर सकता। क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार विवेक के अनादर से अविवेक की और बल के दुरुपयोग से निर्बलता की ही वृद्धि होती है। ज्यों-ज्यों प्राणी विवेक का अनादर तथा बल का दुरुपयोग करता जाता है, त्यों-त्यों विवेक में धुंधलापन और निर्बलता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। यहाँ तक कि एक दिन विवेकयुक्त जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है और प्राणी साधन करने के योग्य नहीं रहता।

साधक जो साधन कर सकते हैं, उनका न करना ही असाधन है। इसके अतिरिक्त असाधन-जैसी कोई वस्तु नहीं है। अब विचार यह करना है कि ऐसा क्यों होता है? तो कहना होगा कि साधक ने निज-विवेक के प्रकाश में प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करने का प्रयत्न नहीं किया। यह दोष साधक का अपना बनाया हुआ है, प्राकृतिक नहीं। सभी साधकों का उद्देश्य एक हो सकता है, पर साधन एक नहीं हो सकता। सभी साधकों में प्रीति की एकता हो। सकती है, पर कर्म की नहीं। हाँ, यह हो सकता है कि अपने साधन का अनुसरण हो और अन्य के साधन का आदर हो।

जिस प्रकार कोई भी औषधि बड़ी या छोटी, ऊँची या नीची तथा भली या बुरी नहीं होती, अपितु जिस रोग की जो औषधि है, वह उसी के लिए उपयुक्त होती है, उसी प्रकार साधक की रुचि, योग्यता, विश्वास तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधना ही साधक को सिद्धि प्रदान करने में समर्थ है। कभी भी दो रोगी परस्पर में संघर्ष नहीं करते कि तुम हमारी औषधि खाओ, तभी नीरोग हो सकते हो; चाहे वे किसी एक ही चिकित्सक से चिकित्सा क्यों न करा रहे हों। यह सम्भव है कि दो रोगियों को समान रोग हो, पर यह कभी सम्भव नहीं है। कि दो व्यक्ति सर्वांश में समान रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के हों। हाँ, आंशिक एकता

दो साधकों में हो सकती है और उद्देश्य की एकता सभी साधकों में हो सकती है। इसी कारण प्रीति तथा लक्ष्य की एकता और साधन की भिन्नता अनिवार्य है।

यदि रोगी अपने चिकित्सक अथवा औषधि की प्रशंसा करता रहे; किन्तु । न तो चिकित्सक की आज्ञा का पालन करे और न विधिवत् औषधि का सेवन ही करे तथा कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य को ग्रहण भी न करे, तो क्या वह नीरोग हो सकता है? कदापि नहीं। उसी प्रकार जो साधक अपने साधन की, अपने आचार्य की, अपने नेता की तथा अपने पैगम्बर की प्रशंसा तो करे, पर साधन को अपना जीवन न बनाए, तो क्या उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है? कदापि नहीं।

जो साधन साधक को रुचिकर होता है और जिसके प्रति किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता, वह साधक का जीवन बन जाता है, जो सफलता का हेतू है। पर ऐसे साधन का निर्माण तभी हो सकता है, जब साधक अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधन स्वीकार करे। कोई भी साधक किसी भी परिस्थिति में यह नहीं कह सकता कि हम साधन नहीं कर सकते, क्योंकि परिस्थिति के अनुरूप ही साधन का निर्माण होता है। अतः प्रत्येक साधक को किसी-न-किसी साधना के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना ही होगा। कि हम कर सकते हैं। यह नियम है कि साधक पूरी शक्ति लगाकर जो साधन कर सकता है, उसी में सिद्धि निहित है। अतः साधक के जीवन में साधन में असमर्थता और असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

यदि कोई साधक साधन निर्माण करने में असमर्थता अनुभव करता हो, पर उसे साधन करने की रुचि हो, तब भी साधन का निर्माण हो सकता है। और सिद्धि मिल सकती है; क्योंकि यह नियम है कि चाह की अपूर्ति में स्वभाव से ही वेदना जागृत् हो जाती है। जिस प्रकार तृषित प्राणी की जल की चाह न तो मिटाने से मिटती है, न घटती है, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है; जब तक जल नहीं मिल जाता, तब तक किसी भी प्रकार से उसे चैन से नहीं रहने देती; उसी प्रकार साधन करने की चाह साधक को उस समय तक चैन से नहीं रहने देगी, जब तक साधन का निर्माण नहीं हो जाएगा।

जैसे, कोई भी प्रलोभन तथा भय तृषावान् की तृषा को, जब तक उसका अस्तित्व है, मिटा नहीं सकता, अर्थात् जल के मिलने पर ही उसकी तृषा शान्त होती है, उससे पूर्व नहीं; उसी प्रकार साधन की तीव्र लालसा तब तक किसी प्रकार मिटती नहीं, जब तक साधन-निर्माण तथा साधन-निष्ठा प्राप्त नहीं हो जाती। इस दृष्टि से भी यह सिद्ध होता है कि साधक साधन-निर्माण में और साधननिष्ठ होने में स्वाधीन है।

साधक को दो ही बातों पर ध्यान देना है—एक तो यह कि वह जो कर सकता है, उसे कर डाले और निश्चिन्त हो जाए; दूसरी यह कि साधन न होने की गहरी वेदना जागृत् हो जाए। निश्चिन्तता निर्भयता को और निर्भयता प्रसन्नता को जन्म देती है। प्रसन्नता खिन्नता को खा लेती है और खिन्नता के मिटते ही कामनाओं का अन्त हो जाता है। कामनाओं के अन्त में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। यह नियम है कि वर्तमान की वेदना भविष्य की उपलब्धि होती है। इस प्रकार वेदना से भी साधक को सफलता हो सकती है। अतः साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। साधक जो कर सकता है, उसको जब नहीं करता और साधन न होने का दुःख भी उसे

नहीं होता, तब समझना चाहिए कि यही उसके जीवन का सबसे काला समय है, जिसे उसने स्वयं ही बनाया है।

साध्य को यह स्वभाव है कि जो साधक प्राप्त सामर्थ्य का उपयोग करता है, उसे तो वह आवश्यक सामर्थ्य तब तक बिना ही माँगे देता रहता है, जब तक कि साधक साध्य से अभिन्न नहीं हो जाता। एवं जो साधक प्राप्त सामर्थ्य का उपयोग न करने के दुःख से दुखी होकर अपने को साध्य के समर्पित कर देता है, उसे साध्य की कृपा शक्ति स्वतः साध्य से अभिन्न कर देती है। अतः दोनों दशाओं में साध्य स्वयं साधक को अपना लेता है, यह साध्य की महिमा है। इस महिमा को कोई जाने अथवा न जाने, माने अथवा न माने, साध्य की कृपाशक्ति तो अपना कार्य करती ही रहती है।

साधनयुक्त जीवन में विलक्षणता यह है कि साधक की अल्प सामर्थ्य के आधार पर साधन निर्माण हो अथवा किसी विशेष सामर्थ्य के आधार पर, साध्य की प्राप्ति सभी साधकों को समान होती है; क्योंकि साधक, साधन और साध्य-इन तीनों में जातीय तथा स्वरूप की एकता है। अतः साधनयुक्त जीवन में सिद्धि निहित है, यह निर्विवाद सत्य है।

वर्तमान का आदर ही साधन है।

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक साधक को जो मिला है, उसी में उसका हित निहित है; क्योंकि प्राकृतिक न्याय प्रेम तथा उदारता से पूर्ण है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग करना ही विकास का मूल है। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमान का आदर करना है, उसकी दासता में आबद्ध नहीं होना है। अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग वर्तमान परिस्थिति के आदर में निहित है। जब साधक वर्तमान का आदरपूर्वक सदुपयोग करने लगता है और अप्राप्त वस्तु तथा व्यक्ति आदि का चिन्तन नहीं करता, तब बड़ी ही सुगमता से सब प्रकार की चाह और चिन्तन से रहित हो जाता है। चाह और चिन्तन से रहित होते ही चिरशान्ति स्वतः प्राप्त होती है, जिसमें अनन्त सामर्थ्य निहित है।।

अतः साधक के जीवन में असमर्थता और प्रतिकूलता जैसी कोई वस्तु है। ही नहीं। वर्तमान का अनादर और दुरुपयोग ही साधक को सफल नहीं होने देता, जो साधक को अपना बनाया हुआ दोष है। यह नियम है कि अपने बनाए हुए दोष के त्याग में साधक सर्वदा स्वाधीन है, पर जब तक साधक दोष-जनित सुख का उपभोग करता रहता है अथवा दोष को दोष जान लेने पर भी दुःखी नहीं होता, तब तक दोष का त्याग नहीं हो पाता। दोष का त्याग न कर सकने की जो निर्बलता है, वह प्राकृतिक नहीं है। उसे तो साधक ने अपनी असावधानी से ही उत्पन्न किया है। अत: वह सावधानीपूर्वक मिटाई जा सकती है।

जिस ज्ञान से हमें दूसरों के कर्तव्य का ज्ञान होता है, क्या उससे हम अपना कर्तव्य नहीं जान सकते? अवश्य जान सकते हैं। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जिसे अपने अधिकार और दूसरों के कर्तव्य का ज्ञान न हो? क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जो अपने प्रति दूसरों से बुराई कराने की आशा करता हो? कोई भी नहीं। जिसे अपने अधिकार का ज्ञान है, उसे दूसरों के अधिकार का ज्ञान स्वभाव से ही होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान तो नित्य-

प्रकाश है। वह तो सभी को वास्तविकता का दर्शन कराता है। दूसरे का अधिकार ही तो अपना कर्तव्य है। अतः अपने कर्तव्य का ज्ञान साधक को स्वभावसिद्ध है। साधक कर्तव्यनिष्ठ हो, अथवा न हो, पर कर्तव्य का ज्ञान उसमें अवश्य निहित है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कर्तव्य का ज्ञान होने पर भी कर्तव्यपरायणता क्यों नहीं आती? तो कहना होगा कि प्रत्येक साधक में ज्ञान के दो स्थल हैं—बुद्धि और इन्द्रिय। उन दोनों के बीच में मन देवता का निवास है। अब देखना यह है कि मन देवता पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है। या बुद्धि के ज्ञान का अथवा आंशिक रूप से दोनों का? जिन प्राणियों के मन पर केवल इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है, उनमें तो कर्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता और जिनके मन पर केवल बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव है, वे स्वभाव से ही कर्तव्यनिष्ठ होते हैं।

कर्तव्यपरायणता का प्रश्न उन्हीं प्राणियों के सामने आता है, जिनके मन पर बुद्धि और इन्द्रियाँ दोनों के ज्ञान का प्रभाव हो। इन्द्रियों का ज्ञान सुख-भोग की ओर तथा बुद्धि का ज्ञान उसके परिणाम की ओर प्राणी को आकर्षित करता है।

यदि बुद्धि को ज्ञान सबल हो जाए और इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खा जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधक में कर्तव्यपरायणता आ सकती है। हम जानते हुए नहीं मान पाते और मानते हुए नहीं कर पाते; इसका एकमात्र कारण है, मन में इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का द्वन्द्व। उस द्वन्द्व का अन्त करने के लिए साधकों को श्रद्धा तथा विश्वासपूर्वक परस्पर विचार-विनिमय करना चाहिए।

जब बुद्धि अपने प्रकाशक में, मन बुद्धि में और इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं, तब साधक को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मन के सभी संकल्प विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हों, अर्थात् । अविवेक से उत्पन्न हुए संकल्प मिट जाएँ। अशुद्ध संकल्पों का त्याग ही . साधन की सर्वप्रथम भूमि है। शुद्ध संकल्पों की पूर्ति साधन की दूसरी भूमि और शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख में आबद्ध न होना साधन की तीसरी भूमि है। निःसंकल्पतापूर्वक मन का बुद्धि में विलीन हो जाना साधन की चतुर्थ भूमि है और बुद्धि का सम होकर चिर-शान्ति में निवास करना पाँचवीं भूमि है।

इस दृष्टि से साधन की प्रगति पाँच भिन्न स्थलों में से होती है अथवा अपनी योग्यता के अनुसार साधक इन पाँच स्थलों में से किसी भी एक स्थल से साधन का आरम्भ कर सकता है। यह नियम है कि साधन चाहे किसी भी स्थल से आरम्भ किया जाए, एक स्थल की पूर्णता दूसरे स्थल में प्रवेश कराने में स्वतः हेतु हो जाती है। इस दृष्टि से साधन के आरम्भ होने पर साधक किसी भी कोटि का हो, सिद्धि का होना अनिवार्य है।

समस्त साधन दो भागों में विभाजित हैं—एक तो विचारपूर्वक शरीर और विश्व के स्वरूप को जानना, दूसरा विश्वासपूर्वक विश्व के प्रकाशक को मानना। जिसने विश्व के स्वरूप को जान लिया, वह स्वभाव से ही जिज्ञासु हो जाता है और जिसने विश्व के प्रकाशक को मान लिया, वह भक्त हो जाता है।

जिज्ञासु अपने जाने हुए दोष के त्याग में समर्थ है और भक्त अपने को समर्पित करने में समर्थ है।

जो जिज्ञासु अपने जाने हुए दोष का त्याग नहीं कर सकता और जो भक्त अपने को समर्पित नहीं कर सकता, वे दोनों ही साधन में सफल नहीं

हो पाते। दोनों प्रकार के साधकों का लक्ष्य एक है, पर साधना में भेद है, क्योंकि जिज्ञासु प्रथम जानता है, फिर मानता है, और भक्त प्रथम मानता है, फिर जानता है। जानने में मानना और मानने में जानना निहित है। साधक वह नहीं हो सकता, जो न तो जाने हुए का आदर करता है और न माने हुए पर दृढ़ ही रहता है।

अनुभूति और विकल्परहित विश्वास का नाश नहीं होता। अन्तर केवल इतना है कि अनुभूति के आधार पर अपने पर विश्वास होता है और विश्वास के आधार पर उस पर विश्वास होता है, जो समस्त विश्व का पति है।

विश्वास की साधना के भी पाँच स्थल हैं—प्रथम स्वीकृति, दूसरा विश्वास, तीसरा सम्बन्ध, चौथा स्मृति और पाँचवाँ प्रीति।

अब यदि कोई यह कहे कि स्वीकृति और विश्वास आदि में भेद क्या है? तो कहना होगा कि, 'विश्व का कोई प्रकाशक है, ऐसा मान लेना स्वीकृति है। उस पर मुझे विश्वास है, यह मान लेना विश्वास है। उससे मेरा नित्य सम्बन्ध है, अर्थात् 'वह मेरा है और मैं उसका हूँ', ऐसा सर्वदा मानना सम्बन्ध है। उसके बिना मैं नहीं रह सकता', यह स्मृति है और उससे मेरी अत्यन्त आत्मीयता है, ऐसा अनुभव करना प्रीति है। साधन का आरम्भ स्वीकृति से होता है और उसकी परावधि प्रीति में होती है। ऐसा होने पर साधक स्वतः अपने प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, क्योंकि प्रीति किसी प्रकार का भेद तथा दूरी नहीं रहने देती। इतना ही नहीं, प्रीति प्रेमास्पद को प्रेमी बनाने में भी समर्थ है।

यह नियम है कि अनुभव तथा मधुर स्मृति और सम्बन्ध कभी नष्ट नहीं होते। अत: एक बार का सम्बन्ध और स्मृति भी साधक को साध्य से मिलाने में समर्थ है। फिर जिनकी स्मृति अखण्ड है, उन्हें वर्तमान में ही प्रेमास्पद की प्राप्ति हो जाए, इसमें तो सन्देह ही क्या है? जिनका समस्त जीवन नित्य-ज्ञान से प्रकाशित है, वे तो वर्तमान में ही तत्त्वज्ञ हैं। इस दृष्टि से साधक चाहे जिज्ञासु हो अथवा भक्त, दोनों ही अपने-अपने साधन द्वारा साध्य से अभिन्न हो सकते हैं।

जिज्ञासुओं के द्वारा निर्दोषता और भक्तों के द्वारा प्रीति का प्रसार स्वतः वैसे ही होता रहता है, जैसा पुष्पों से सुगन्ध स्वतः फैलती है। अतः साधक भक्त अथवा जिज्ञासु होकर वर्तमान का आदरपूर्वक सदुपयोग करते हुए अपने उस साध्य से अभिन्न हो सकते हैं, जो वास्तविक जीवन है।

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि हमारे सामने दो समस्याएँ उपस्थित हैं—एक तो वर्तमान का सदुपयोग करने की और दूसरी, स्वाभाविक आवश्यकता को पूर्ण करने की; क्योंकि वर्तमान के सदुपयोग में ही कर्तव्य निहित है और कर्तव्यनिष्ठा से ही राग की निवृत्ति होती है। राग की निवृत्ति में ही स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति निहित है। अत: रागरहित होकर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में ही जीवन की सार्थकता

अब विचार यह करना है कि स्वाभाविक आवश्यकता क्या है? तो कहना होगा कि स्वाभाविक आवश्यकता उसी की हो सकती है, जिससे जातीय और स्वरूप की एकता हो। जातीय

और स्वरूप की एकता किससे है? इसका ज्ञान तभी हो सकता है, जब मानी हुई एकता का त्याग कर दिया जाए। मानी। हुई एकता का त्याग करने के लिए हमें उन सभी के अधिकारों की रक्षा करनी होगी, जिनसे हमने एकता स्वीकार की है। साथ ही हमें अपने अधिकारों का भी त्याग करना होगा। ऐसा करते ही मानी हुई एकता मिट जाएगी, जिसके मिटते ही कामनाओं का अन्त हो जाएगा। कामनाओं के अन्त में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है और जिज्ञासा की पूर्ति में प्रेम की प्राप्ति स्वत: सिद्ध है। यही वास्तव में प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है।

जिज्ञासा की पूर्ति साधक को अनित्य जीवन से मुक्त करके नित्य-जीवन से अभिन्न करती है। अथवा यों कहो कि क्रियाशीलता, चिन्तन, स्थिति आदि अवस्थाओं से असंग कर देती है। अवस्थाओं से अतीत के जीवन में न तो किसी प्रकार का श्रम है, न अभाव है और न किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की। अपेक्षा ही है; केवल अनन्त दिव्य चिन्मय जीवन है, और उसी चिन्मय जीवन में प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रेम जैसा अलौकिक तत्त्व सभी को अभीष्ट है। उससे किसी की कभी भी तृप्ति नहीं होती, अपितु नित-नव उत्कण्ठा ही जागृत्। रहती है तथा प्रेम के आदान-प्रदान में कभी प्रेम की क्षति तो होती ही नहीं, अपितु नित-नव वृद्धि ही होती रहती है।

उस अलौकिक प्रेम-प्राप्ति के लिए साधक को वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा अपने को रागरहित करना होगा। यह तभी सम्भव है, जब अपने जीवन को समाज के अधिकार का समूह बना दिया जाए, अर्थात् व्यक्ति समाज का ऋणी न रहे और उसकी प्रसन्नता किसी वस्तु, व्यक्ति आदि पर निर्भर न रहे, तभी वह पूर्णरूप से वर्तमान का सदुपयोग कर सकता है, जो साधक का परम पुरुषार्थ है।

वर्तमान के सदुपयोग में इस बात का सदैव ध्यान रखना है कि अपने प्रति न्याय हो और अन्य के प्रति क्षमायुक्त व्यवहार हो। न्याय प्राणी को निर्दोष और क्षमा निर्वैर बनाती है। निर्दोषता से निरभिमानता और निर्वैरता से एकता स्वतः आ जाती है, क्योंकि किसी-न-किसी अभिमान के आधार पर ही दोष जीवित रहता है और वैरभाव के आधार पर ही भिन्नता बनी रहती है। भिन्नता और अभिमान के रहते हुए वर्तमान का सदुपयोग सम्भव नहीं है और वर्तमान के सदुपयोग के बिना साधक वीतराग नहीं हो सकता। वीतराग हुए बिना न तो चिर-शान्ति ही मिल सकती है और न प्रेम का ही उदय हो सकता

यद्यपि प्रेम का अंकुर बीजरूप से सभी में विद्यमान है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति उन्हीं के जीवन में होती है, जो कामना-रहित होकर सभी से आत्मीयता प्राप्त कर लेते हैं। भौतिकवाद की दृष्टि से समस्त विश्व एक जीवन है। अतः समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता का भाव आ जाने पर विश्व-प्रेम स्वतः जागृत् होता है। समस्त विश्व बुद्धि के किसी अंश में है, क्योंकि जो वस्तु जिसका विषय होती है, वह उसी के अन्तर्गत होती है। इस दृष्टि से बुद्धि जिसको विषय करती है, वह बुद्धि के ही किसी अंश में है। कामना-रहित होते ही बुद्धि सम हो जाती है; फिर समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता का अनुभव हो जाता है; वह विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति में हेतु है, क्योकि बुद्धि के सम होते ही अनेकता एकता में विलीन होती जाती है और जब तक बुद्धि सम नहीं होती, तब तक एकता में अनेकता का दर्शन होता रहता है।

बुद्धि सम तब तक नहीं होती, जब तक मन निर्विकल्प नहीं होता, मन निर्विकल्प तब तक नहीं होता, जब तक जितेन्द्रियता प्राप्त नहीं होती तथा जितेन्द्रियता तब तक प्राप्त नहीं होती, जब तक शरीर की वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता और स्वार्थभाव गल नहीं जाता अर्थात् सेवाभाव की उत्पत्ति नहीं होती।

शरीर की क्षणभंगुरता का ज्ञान, स्वार्थभाव का गल जाना तथा सेवाभाव की उत्पत्ति-विश्व-प्रेम की साधना है। विश्व-प्रेम सुख-भोग की आसक्ति को खाकर उस नित्य-जीवन की जिज्ञासा जागृत् करता है, जिसकी पूर्ति स्वत: सिद्ध है। जिज्ञासा की पूर्ति होते ही बुद्धि से अतीत जो नित्य-जीवन है, उससे । आत्मीयता हो जाती है और बुद्धि जिसके एक अंश में थी, उस अनन्त से स्वतः प्रेम हो जाता है। अथवा यों कहो कि विश्व-प्रेम विश्व को पार करता हुआ उस अनन्त का प्रेम हो जाता है, जो सबका सब कुछ है; क्योंकि प्रेम-जैसा चिन्मय तत्त्व किसी सीमा में आबद्ध नहीं हो सकता। सीमित प्रेम ही। तो मोह है, जो अनेक प्रकार की आसक्तियाँ और संघर्ष उत्पन्न करता है। जब तक प्रेम असीम नहीं होता, तब तक सीमित अहंभाव का नाश नहीं होता अर्थात् निरभिमानता नहीं आती, जब तक निरभिमानता नहीं आती, तब तक भेद का अन्त नहीं होता तथा जब तक भेद का अन्त नहीं होता, तब तक न तो चिर-शान्ति मिल सकती है, न निर्भयता और न दिव्य-चिन्मय प्रेम ही मिल सकता है; क्योंकि आसक्तियों के रहते हुए न तो स्वाधीनता की प्राप्ति हो सकती है और न जीवन की ही।

अतः आसक्तियों का अन्त करने के लिए सीमित प्यार का अन्त करना अनिवार्य है। जब तक प्रेम अनन्त नहीं हो जाता, तब तक मोह तथा अभिमान का अन्त नहीं होता और निर्मोहता तथा निरभिमानता के बिना न तो वास्तविक जीवन से अभिन्नता ही होती है और न प्रेम का उदय ही होता है। मोह तथा अभिमान का अन्त करने के लिए वर्तमान के सदुपयोग द्वारा जिज्ञासा की जागृति अनिवार्य है, क्योंकि जिज्ञासा की पूर्ति में ही जीवन निहित है और जीवन की प्राप्ति में ही मोह तथा अभिमान का अन्त है, अथवा यों कहो कि मोह तथा अभिमान के अन्त में ही जीवन की प्राप्ति है।

जीवन के बिना अभाव की और प्रेम के बिना नीरसता की सिद्धि होगी, जो किसी को अभीष्ट नहीं है; स्वाभाविक आवश्यकता तो जीवन तथा नित-नव रस की है। अत: जीवन की जिज्ञासा और प्रेम की लालसा, इनकी पूर्ति में ही स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति निहित है। रागरहित होने में चिर-शान्ति है, चिर-शान्ति में नित्य-जीवन और नित्य जीवन में प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है। ये सब मिलकर ही जीवन की एकमात्र आवश्यकता हैं। इनमें से किसी एक अंश को ही जीवन मान लेना जीवन का अधूरापन है। जीवन के किसी एक अंश को ही जीवन मान लेने पर अनेक प्रकार के वाद तथा मत सिद्धान्तरूप मालूम होते हैं, जो वास्तव में साधनरूप हैं। अतः चिर-शान्ति, अमरत्व और प्रेम--इन तीनों के बिना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। इन तीनों की एकता में ही वास्तविक जीवन है।

इस दृष्टि से साधक को रागरहित होने के लिए वर्तमान का सदुपयोग करना है और जिज्ञासा की पूर्ति से अमरत्व प्राप्त करना है, जो रागरहित होने

पर स्वतः सिद्ध है, एवं जिज्ञासा की पूर्ति में ही प्रेम की प्राप्ति है, क्योंकि निस्संदेहता आने पर ही प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होता है।

निस्संदेहता सीमित अहंभाव को प्रेम के स्वरूप में बदल देती है, अथवा यों कहो कि अनेक आसक्तियाँ मिटकर प्रीति के रूप में बदल जाती हैं, फिर विश्व-प्रेम, आत्मरति एवं अनन्त का प्रेम- इन तीनों में अभिन्नता हो जाती है, जो स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में समर्थ है। अथवा यों कहो कि अनन्त का प्रेम ही जिज्ञासा की पूर्ति की दृष्टि से आत्मरति और सर्वहितकारी प्रवृत्ति की दृष्टि से विश्व-प्रेम के स्वरूप में प्रतीत होता है अथवा अनन्त के प्रेम में ही सभी का प्रेम निहित है। इस दृष्टि से चिर-शान्ति, अमरत्व और प्रेम की प्राप्ति एक ही जीवन की विभूतियाँ हैं, और कुछ नहीं। उनमें से किसी एक की प्राप्ति होने पर सभी की प्राप्ति हो जाती है; यही वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति है।

'मैं' का स्वरूप

जीवन का अध्ययन करने पर यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है कि, मैं क्या हूँ?' यह नियम है कि प्रश्न की उत्पत्ति अधूरी जानकारी में ही होती है। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते अथवा पूरा जानते हैं, उसके सम्बन्ध में प्रश्न की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि, "मैं क्या हूँ, इस सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ अवश्य जानता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह जानना विवेकपूर्वक न हो, अपितु विश्वास के आधार पर हो, क्योंकि विवेकपूर्वक जान लेने पर तो निस्संदेहता आ जाती है, फिर प्रश्न की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

विकल्परहित विश्वास ज्ञान न होने पर भी ज्ञान-जैसा प्रतीत होता है। उसी विश्वास के कारण यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, "मैं क्या हूँ? क्योंकि 'मैं' की अस्वीकृति किसी को नहीं है। यद्यपि केवल स्वीकृति को 'मैं नहीं कह सकते, तो भी हम स्वीकृति के स्वरूप में अपने को मानते हैं। कभी-कभी तो दृश्य के साथ मिलाकर अपने को मान लेते हैं और कभी श्रवण की हुई स्वीकृति को भी 'मैं मान लेते हैं। जब हम दृश्य के साथ मिलाकर अपने को मानते हैं, तब कामनाओं का उदय है और वे सभी कामनाएँ इन्द्रियजन्य स्वभाव के अनुरूप होती हैं, अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त कराने वाली होती हैं। यद्यपि विषय-प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति कुछ नहीं होती, अपितु शक्तिहीनता, जत एवं परतंत्रता की अनुभूति होती है। उस अनुभूति के आधार पर ही सिा उत्पन्न होती है कि मैं क्या हूँ?' अथवा यों कहो कि सामर्थ्य, चिन्मयता एवं स्वाधीनता की माँग उत्पन्न होती है।

इस दृष्टि से मैं' का अर्थ हो जाता है— उसकी लालसा, जिसमें जीवन है, सामर्थ्य है, स्वाधीनता है। जब तक भोग-प्रवृत्ति के परिणाम की वेदना नहीं होती, तब तक तो 'मैं' का अर्थ रहता है--भोग-वासनाओं का समूह। यद्यपि भोग-वासनाएँ जिज्ञासा को मिटा नहीं पातीं, परन्तु उसमें शिथिलता अवश्य आ जाती है। उसी स्थिति में प्राणी को कभी भोग-वासनाएँ और कभी जिज्ञासा दोनों ही अपने में प्रतीत होती हैं, अथवा यों कहो कि जिज्ञासा और भोग-वासनाओं का द्वन्द्व रहता है। उस द्वन्द्व का अन्त करने के लिए ही प्राणी । अपने को साधक मानता है, अथवा यों कहो कि उसमें साधन की रुचि जागृत् होती है। साधन की रुचि जागृत् होने पर सर्वप्रथम, 'मैं दृश्य नहीं हूँ, यह विचार उदित होता है। उसका उदय होते ही, 'मैं क्या हैं? यह समस्या सामने आती है।

देह के साथ अपने को मिला लेना ही दृश्य के साथ मिल जाना है। पर उस देह के प्रति

भी अनेक मान्यताएँ होती हैं, जो साधनरूप हैं। जैसे, 'मैं हिन्दुस्तानी हूँ। अतः हिन्दुस्तान का ह्रास-विकास मेरा ह्रास-विकास है। उसी प्रकार देश, जाति, मत, सम्प्रदाय, पद, कुटुम्ब और कार्यक्षेत्र के अनुरूप अनेक मान्यताओं के साथ हम अपने को मिला लेते हैं, पर सभी मान्यताओं की भूमि केवल देह है। इस दृष्टि से देह साधन का क्षेत्र है; परन्तु अन्तर यह हो जाता है कि केवल देह के साथ मिले रहने से तो पशुता के समान केवल भोग की ही रुचि उत्पन्न होती है। पर साधनरूप मान्यताओं के साथ मिलने से भोग-प्रवृत्ति में भी एक मर्यादा आती है और उसके साथ-साथ भोग-निवृत्ति की लालसा भी जागृत् हो जाती है, क्योंकि भोग-प्रवृत्ति का परिणाम किसी को अभीष्ट नहीं है।

साधनरूप समस्त मान्यताएँ दो भागों में विभाजित हैं--एक भाग तो वह है, जिसमें अपने को सुन्दर बनाने वाली मान्यताएँ हैं और दूसरा भाग वह है, जिसमें दूसरों के अधिकार की रक्षा करने वाली मान्यताएँ हैं। अथवा यों कहो कि अपने को सुन्दर बनाकर दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना है। दूसरों के अधिकार की रक्षा से जब राग की निवृत्ति हो जाती है, तब स्वत: समस्त दृश्य से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जिज्ञासा की पूर्ति अपने-आप हो जाती है। फिर यह प्रश्न कि, "मैं क्या हूँ?" हल हो जाता

साधनरूप "मैं" यद्यपि तीन भागों में विभाजित है--विषयी, जिज्ञासु तथा भक्त। उनमें-से विषयी-भाव की मान्यता तो दृश्य से सम्बन्धविच्छेद नहीं होने देती, किन्तु जिज्ञासु तथा भक्त-भाव की मान्यताएँ दृश्य से सम्बन्ध विच्छेद करने में समर्थ हैं। अपने को विषयी मान लेने में उत्कृष्ट भोगों की ही रुचि दृढ़ होती है, जो दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती है। दृश्य से सम्बन्ध रहते हुए, "मैं क्या हूँ?'' यह प्रश्न हल नहीं हो सकता।

ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओं के द्वारा परिवर्तनशील जीवन को सुन्दर बनाने का अर्थ यह है कि उस व्यवितत्व की आवश्यकता समाज को हो जाए और उसे समाज की आवश्कयता न रहे। अथवा यों कहो कि उसकी आवश्यकता को समाज अपनी ही आवश्यकता समझने लगे। यदि समाज की उदारता, सेवा एवं स्नेह के आधार पर व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहा, तो भी यह प्रश्न हल नहीं होगा कि, 'मैं क्या हूँ?', 'मैं क्या हूँ, इस प्रश्न को वही साधक हल कर सकता है, जो समाज का ऋणी न हो और समाज की उदारता की दासता में आबद्ध भी न हो। समाज का ऋणी न रहने पर व्यक्ति का मूल्य समाज से अधिक हो जाता है और समाज की उदारता का उपभोग न करने पर वह व्यक्तित्व के मोह से रहित हो जाता है। व्यक्तित्व के मोह का अन्त होते ही तीव्र जिज्ञासा जागृत् होती है, जो मैं क्या हूँ, इस समस्या को हल करने में समर्थ है। जिस काल में जिज्ञासा माने हुए सभी सम्बन्धों को खा लेती है, उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है। तब मैं नित्य-जीवन से अभिन्न हो जाता है।

अनित्य जीवन और नित्य-जीवन का आश्रय बिना लिए "मैं" जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अनित्य जीवन के साथ मिलाने से "मैं" अनेक मान्यताओं के रूप में प्रतीत होता है और मान्यता के अनुरूप ही कर्तव्य तथा राग का जन्म होता है। कर्तव्य राग-निवृत्ति का साधन है। अत: जिस प्रकार औषधि की आवश्यकता रोग-काल में होती है, आरोग्य-काल में नहीं, उसी प्रकार कर्तव्य की प्रेरणा राग-निवृत्ति के लिए ही होती है। राग-रहित

होते ही अनित्य जीवन से तो सम्बन्ध टूट जाता है और नित्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है; क्योंकि अनित्य जीवन और नित्य-जीवन में देश-काल की दूरी नहीं है। अनित्य जीवन की भिन्नता और नित्य-जीवन की अभिन्नता के मध्य में 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु कभी देखने में नहीं आती। हाँ, यह अवश्य है कि अनित्य जीवन के सम्बन्ध में जो आसक्ति उत्पन्न हो गई थी, वह नित्य-जीवन से अभिन्नता होते ही प्रीति के रूप में बदल जाती है। जिस प्रकार पहले अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति प्रतीत होती थी, उसी प्रकार तब नित्य-जीवन और उसकी प्रीति ही रह जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति तो विनाशी है तथा नित्य-जीवन और उसकी प्रीति अविनाशी है। जिज्ञासा के उदय में साधक अकाम होता है और पूर्ति में आप्तकाम हो जाता है, यही वास्तविक जीवन है।

अब यदि कोई कहे कि जिज्ञासापूर्ति के लिए साधक को किस साधन की अपेक्षा है? तो कहना होगा कि भोग के परिणाम की अनुभूति के आधार पर जिज्ञासा जागृत् होती है और समस्त दृश्य से विमुख होने पर जिज्ञासा की पूर्ति होती है। समस्त दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वत: प्राप्त होती है, जो स्वभाव से ही सभी का परम सुहृद है। अथवा यों कहो कि जो उत्पत्ति, विनाश और देश-काल की दूरी से रहित है, उसी की अहैतुकी कृपा से दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य जिज्ञासु को प्राप्त होती है। अतः दृश्य की विमुखता ही जिज्ञासा की पूर्ति का सुगम और अन्तिम साधन है। जब किसी कारण से जिज्ञासु मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाता, तब वही कृपा सद्गुरु के स्वरूप में मूर्तिमान होकर जिज्ञासा की पूर्ति कर देती है।

जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान जीवन का प्रश्न है, भविष्य का नहीं। अतः जिज्ञासा जागृत होने पर जब तक हल न हो जाए, तब तक किसी अन्य प्रवृत्ति का जन्म नहीं होना चाहिए। यदि किसी की जिज्ञासा इतनी सबल तथा स्थाई नहीं है, जो वर्तमान की वस्तु हो, तो ऐसे जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे जिज्ञासा को सबल और स्थाई बनाने के लिए निरन्तर इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि को लगाए रखें। उन्हें इन्द्रिय-ज्ञान पर बुद्धि-ज्ञान से विजय प्राप्त करनी होगी। जिस काल में बुद्धि का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान को खा लेगा, उसी काल में जिज्ञासा वर्तमान जीवन की वस्तु हो जाएगी। फिर, मैं क्या हूँ, यह प्रश्न स्वतः हल हो जाएगा। बुद्धि के ज्ञान का अनादर होने पर जिज्ञासा की जागृति नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्धि के ज्ञान के अनादर से इन्द्रिय-ज्ञान का आदर होने लगता है, जो राग को उत्पन्न करने में हेतु है।

राग की उत्पत्ति हो जाने पर इन्द्रियाँ विषयों के अधीन, मन इन्द्रियों के अधीन और बुद्धि मन के अधीन हो जाती है। इससे बेचारा प्राणी जड़ता में आबद्ध हो जाता है। परन्तु बुद्धि के ज्ञान का आदर होने पर इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि सम हो जाती है। उससे जिज्ञासा की पूर्ण जागृति और उसकी पूर्ति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

बुद्धि के ज्ञान का आदर होने पर दृश्य के स्वरूप का और अपने कर्तव्य का भी ज्ञान हो जाता है, अर्थात् बुद्धि के ज्ञान में कर्तव्य का तथा दृश्य के स्वरूप को ज्ञान भी निहित है। जो साधक दृश्य के स्वरूप को भली-भाँति जान लेते हैं, वे रागरहित होकर प्रत्येक दशा में जिज्ञासु हो सकते हैं, अर्थात् उनके लिए कोई प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं

रहती। किन्तु जो साधक दृश्य के स्वरूप को पूर्णरूप से नहीं जान पाते, वे पहले कर्तव्यनिष्ठ होकर पीछे जिज्ञासु होते हैं। जिज्ञासा की जागृति के लिए रागरहित होना अनिवार्य है, चाहे प्रवृत्ति द्वारा हो अथवा दृश्य के वास्तविक स्वरूप को जानकर।

जो साधक सरल विश्वास के आधार पर अपने को भक्त मान लेता है, वह स्वभाव से ही समस्त विश्व से सम्बन्ध-विच्छेद कर देता है और अपने प्रभु से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। उसमें न तो अपना कोई बल रहता है और न किसी प्रकार का संदेह ही रहता है। जिनसे उसने सम्बन्ध स्वीकार किया है, उनके विश्वास और उनकी प्रीति को ही वह अपना जीवन मानता है। देह, गेह आदि किसी से उसका सम्बन्ध नहीं रहता है। वह प्रत्येक कार्य अपने प्रभु के नाते ही स्वीकार करता है। कार्य के अन्त में स्वभाव से ही प्रभु की वह स्मृति उदित होती है, जो प्रीति के स्वरूप में बदलकर उसे प्रियतम से अभिन्न कर देती है।।

जिज्ञासु और भक्त में अन्तर केवल इतना है कि जिज्ञासु दृश्य के स्वरूप को जानकर दृश्य से विमुख होता है और भक्त उसे अपना न मानकर। दृश्य से विमुख होने में दोनों समान हैं। जिज्ञासु जानने के पश्चात् किसी की सत्ता स्वीकार करता है और भक्त बिना ही जाने, विश्वास के आधार पर ही अपने प्रभु की सत्ता स्वीकार कर लेता है।

जिज्ञासु 'जिज्ञासा' होकर उस अनन्त से अभिन्न हो जाता है, जिसकी वह जिज्ञासा थी और भक्त 'भक्ति होकर अपने प्रभु से अभिन्न हो जाता है। जिज्ञासु जिज्ञासापूर्ति होने पर अमरत्व को प्राप्त करता है और भक्त 'भक्ति होकर अपने प्रेमास्पद के प्रेम को प्राप्त करता है। जिज्ञासु का मैं अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का 'मैं प्रेमास्पद को प्रेम हो जाता है।

विषयी का 'मैं एकमात्र विषयों की आसक्ति के रूप में ही प्रतीत होता है, जिज्ञासु का 'मैं अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का मैं प्रेम हो जाता है। जो 'मैं' विषयों की आसक्ति के रूप में प्रतीत होता है, वह अभावरूप है; क्योंकि विषयासक्ति में जीवन नहीं है। जिज्ञासु का "मैं" जिज्ञासा काल में केवल जिज्ञासा है और जिज्ञासा की पूर्ति में उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। भक्त को 'मैं आरम्भ में तो प्रभु का विश्वास और प्रभु के सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होता है; पर अन्त में प्रभु का प्रेम हो जाता है। प्रेम और प्रेमास्पद में जातीय एकता है। इस दृष्टि से मैं अभाव, अमरत्व या प्रेम ही है, और कुछ नहीं है।

त्याग और प्रेम

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि त्याग और प्रेम के बिना जीवन की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती। त्याग की भूमि है, 'ममता का अन्त और प्रेम की भूमि है, 'अभिन्नता'।

ममता का उद्गम स्थान क्या है? सीमित अहंभाव, जो अविवेकसिद्ध है। इससे लाभ क्या है? ममता प्रियता का भास कराती है। इससे हानि क्या है? ममता सीमित प्यार में आबद्ध करती है, जो संघर्ष का मूल है।

ममता का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि सीमित अहंभाव का अन्त कर दिया जाए। विवेक के प्रकाश में उन सभी मान्यताओं का अन्त कर दें, जो अपने को सीमित अहंभाव में आबद्ध करती हैं। यह नियम है कि 'अहं' का नाश होने पर मम' का नाश स्वयं हो जाता है। अहं और मम का नाश होते ही भेद और भिन्नता स्वत: मिट जाती है। इनके मिटते ही अभिन्नता आ जाती है, जो प्रेम की भूमि है।

अब यदि कोई अपने को अहंभाव मिटाने में असमर्थ पाता हो, तो उसे अपनी ममता को विभु बना देना चाहिए। ममता के विभु हो जाने पर ममता स्वतः मिट जाएगी और ममता के मिटते ही अहं मिट जाएगा।

सभी को अपना मानने का वही फल होता है, जो किसी को भी अपना न मानने से होता है। इस दृष्टि से जिसे सभी को अपना मानना रुचिकर हो, वह सभी को अपना मानकर अभिन्नता प्राप्त कर सकता है और जिसे किसी को भी अपना न मानना रुचिकर हो, वह सभी से असंग होकर अभिन्नता प्राप्त कर सकता है। भाव यह कि शरीर, प्राण, इन्द्रियं, मन, बुद्धि आदि से असंग होने पर निरभिमानता स्वतः आ जाती है और उसके आते ही भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। इस दृष्टि से ममता-रहित होने में अभिन्नता हेतु है और अभिन्नता आ जाने पर ममता-रहित भी हुआ जा सकता है, अर्थात् त्याग से प्रेम और प्रेम से त्याग की पुष्टि होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि त्याग और प्रेम से जीवन की सार्थकता कैसे सिद्ध होती है? तो कहना होगा कि त्याग के बिना चिर-शान्ति नहीं मिलती

और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती। चिर-शान्ति के बिना जीवन तथा सामर्थ्य की उपलब्धि नहीं होती और अगाध अनन्त रस के बिना खिन्नता एवं नीरसता का अन्त नहीं हो सकता। खिन्नता तथा नीरसता का अन्त हुए बिना काम का अन्त नहीं होता और काम का अन्त हुए बिना जड़ता, परतन्त्रता, शक्तिहीनता आदि दोषों का अन्त नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि काम का अन्त हुए बिना अभाव का अभाव नहीं हो सकता। अभाव के अभाव में ही इस जीवन की सार्थकता है, जो त्याग और प्रेम से ही सम्भव है।

अब यदि कोई यह कहे कि सभी को अपना मान लेने से ममता कैसे मिट सकती है? तो कहना होगा कि जो सभी को अपना मान लेगा, वह किसी का बुरा नहीं चाहेगा। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, वह अपने से सुखियों को देखकर प्रसन्न होता है और अपने से दुखियों को देखकर करुणार्द्र होने लगता है। करुणा सुख-भोग की आसक्ति को और प्रसन्नता खिन्नता को खा लेती है। सुख-भोग की आसक्ति तथा खिन्नता के मिटते ही भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है। भोग-वासनाओं के अन्त में ही नित्य-योग निहित है और नित्य-योग में ही वह चिर-शान्ति तथा सामर्थ्य विद्यमान है, जिससे ममता और अहंता स्वतः मिट जाती है।

जब प्राणी अपने में असमर्थता तथा अभाव का अनुभव करता है, तभी वस्तु एवं व्यक्ति आदि से ममता करता है। वस्तु की ममता लोभ में और व्यक्तियों की ममता मोह में आबद्ध करती है। लोभ से जड़ता की और मोह से अविवेक की पुष्टि होती है, जो सभी दोषों का मूल है। . किसी को अपना न मानने से भी वासनाओं का अन्त हो

जाता है और वासनाओं का अन्त होते ही चिर-शान्ति तथा अमरत्व की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि किसी को अपना न मानने से काम का नाश हो जाता है, क्योंकि जब तक हम किसी से ममता नहीं करते, तब तक कामनाओं का जन्म ही नहीं होता। देह को अपना मानने पर ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं।

चिर-शान्ति, अमरत्व एवं नित-नव रस की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सभी को अपना माने अथवा किसी को अपना न मानें। सभी को अपना मानने से प्रीति विभु हो जाएगी और किसी को भी अपना न मानने से अमरत्व की प्राप्ति। प्रीति के विभु हो जाने पर प्राणी चाहरहित हो जाता है और चाहरहित होते ही सब प्रकार के भेद तथा संघर्ष मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही चिर-शान्ति से और अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है।

अब यदि कोई यह कहे कि सभी को अपना मानने में सुगमता है अथवा किसी को अपना न मानने में? तो कहना होगा कि सेवा तथा प्यार करने के लिए सभी को अपना मान लो और अपनी पूर्ति के लिए किसी को भी अपना मत मानो। सेवा क्रियात्मक रूप से सीमित और भावरूप से असीम होती है। सेवा का भाव ही वास्तव में प्यार है, अर्थात् क्रिया सीमित होने पर भी प्रीति विभु होनी चाहिए। सभी को अपना मान लेने पर संग्रह की आसक्ति, मिट जाती है, जिसके मिटते ही निलभता आ जाती है। निलभता आते ही प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग होने लगता है और अप्राप्त वस्तुओं की चाह मिटती जाती है। वस्तुओं की चाह मिटते ही जड़ता शेष नहीं रहती और वस्तुओं से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन की लालसा जागृत् होती है, जो अपनी पूर्ति में आप समर्थ है।

अपनी पूर्ति के लिए किसी को अपना न मानने से समस्त दृश्य से विमुखता आ जाएगी, जिसके आते ही अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाएगी। अत: सेवा करने के लिए सभी अपने हैं और अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए केवल वही अपने हैं, जो सभी से अतीत और सभी के प्रकाशक भी हैं, अथवा यों कहो कि जिनसे सभी को सत्ता मिलती है।

त्याग दृश्य से विमुख करने में और प्रेम अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से त्याग और प्रेम में ही जीवन की सार्थकता है, जो सभी साधकों को सर्वदा सुलभ है।

विवेक की अलौकिकता

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट दिदित होता है कि प्राप्त विवेक में कर्तव्य-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनों ही विद्यमान हैं। कर्तव्य-विज्ञान के द्वारा प्राणी सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है और अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्न हो सकता है।

विवेक अलौकिक तत्त्व है। प्राणी को यह साधननिष्ठ होने के लिए ही मिला है। समस्त साधन दो भागों में विभाजित हैं-एक तो साधन का वह भाग है, जिसमें प्राणी अपने व्यक्तित्व को सुन्दर बनाकर सुन्दर समाज का निर्माण करता है और साधन का दूसरा भाग वह है, जिसमें प्राणी व्यक्तित्व के मोह तथा बन्धनों से रहित होकर अमरत्व को प्राप्त करता है।

विवेक किसी कर्म का फल नहीं है, क्योंकि कर्मानुष्ठान के लिए विवेक, सामर्थ्य और प्राकृतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से कर्म विवेक का कार्य है, कारण नहीं। अत: विवेक अलौकिक तत्त्व है, जो अनन्त की अहैतुकी कृपा से मिला है। उसका आदर करना अत्यन्त आवश्यक है।

कर्तव्य-विज्ञान को प्रथम भाग व्यक्ति को सुन्दर बनाना है और दूसरा भाग सुन्दर व्यक्तित्व से समाज को सुन्दर बनाना है। समाज को सुन्दर बनाने के लिए दूसरों के अधिकार की रक्षा करना आवश्यक है। अब यदि कोई यह कहे कि दूसरों का अधिकार क्या है? तो कहना होगा कि जो बात हम अपने प्रति दूसरों से नहीं कराना चाहते, वह दूसरों के प्रति नहीं करना है, अपितु जो हम दूसरों से आशा करते हैं, वही हमें दूसरों के प्रति करना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने से जो सबल है, उससे रक्षा और प्यार की आशा करता है।

अतः अपने से निर्बलों की रक्षा करनी है और उन्हें प्यार देना है। ऐसा करने से प्राप्त बल का सदुपयोग होगा। बल के सदुपयोग से बल की वृद्धि होती है, क्योंकि कर्म-विज्ञान की दृष्टि से जो दूसरों के प्रति किया जाता है, वही प्राकृतिक नियम के अनुसार कई गुना होकर अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टि से बल के सदुपयोग में बल का विकास और दुरुपयोग में उसका ह्रास निहित है। कर्तव्य-विज्ञान बल के दुरुपयोग की प्रेरणा नहीं देता।

यह नियम है कि कोई व्यक्ति किसी अन्य के दुःख का अन्त नहीं कर सकता, तो भी प्राप्त सौन्दर्य और सुख को बाँटकर अपने को उदार तो बना ही सकता है। यह अवश्य है कि समस्त विश्व मिलकर भी किसी एक व्यक्ति के दुःख का नितान्त अभाव नहीं कर सकता, फिर किसी व्यक्ति के द्वारा किसी व्यक्ति के दुःख का सर्वथा अन्त हो सके, यह कैसे सम्भव है? पर इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति प्राप्त सुख को दुःखियों की सेवा में व्यय न करे; क्योंकि सुख तो वास्तव में दुःखियों की ही वस्तु है। अतः उसे दुःखियों की सेवा में व्यय करके अपने को सुख की दासता से मुक्त करना है। सुख की दासता से मुक्त होते ही प्राणी में सब प्रकार के अभाव का अभाव करने की लालसा स्वतः जागृत होती है। उस लालसा की पूर्ति के लिए। अध्यात्म-विज्ञान की आवश्यकता है।

अध्यात्म-विज्ञान का अर्थ है, 'स्व' का विज्ञान, जो 'पर' से विमुख होने की प्रेरणा देता है। 'स्व' का अर्थ है, जिससे नित्य-योग है और पर" का अर्थ है, जिससे वियोग अनिवार्य है। जागृत् का समस्त दृश्य स्वप्न में नहीं रहता

और स्वप्न का दृश्य सुषुप्ति में नहीं रहता तथा सुषुप्ति की जड़ता समाधि में नहीं रहती, परन्तु इन सभी अवस्थाओं का प्रकाशक तो सर्वदा ज्यों-का--त्यों रहता है। इस दृष्टि से सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से अतीत का योग ही नित्य-योग है।

जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं का ज्ञान तो प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को है ही। जागृत् और स्वप्न में सुख-दुःख की अनुभूति होती है, पर सुषुप्ति में किसी को भी दुःख की अनुभूति नहीं होती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता, तब दुःख नहीं होता। इस अनुभूति के आधार पर यदि जाग्रत् में ही सुषुप्ति प्राप्त कर ली जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक दुःख का अन्त हो सकता है।

जाग्रत् में सुषुप्ति प्राप्त करने के लिए वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर पवित्र भाव से करना है। कार्य का अन्त होते ही अपने को सब ओर से हटा लेना है और किसी भी कार्य का चिन्तन नहीं करना है। बस, ऐसा होते ही जाग्रत् में सुषुप्ति हो जाएगी, जो वास्तव में समाधि है। समाधि और सुषुप्ति में अन्तर केवल इतना ही है कि सुषुप्ति में जड़ता है, किन्तु समाधि में जड़ता नहीं रहती है। सुषुप्ति विश्राम देकर कार्य करने की क्षमता और समाधि जड़ता से विमुख करके उस चिन्मय दिव्य जीवन से विभिन्न होने की सामर्थ्य प्रदान करती है, जो वास्तविक जीवन है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओं तथा अवस्थाओं के परिवर्तन का ज्ञान जिस ज्ञान में है, वही विवेक है। परिवर्तन का ज्ञान उसी को हो सकता है, जो स्वयं परिवर्तनशील न हो। कर्तव्यपरायणता के द्वारा व्यक्ति अपने को समाज तथा समस्त विश्व के ऋण से मुक्त कर सकता है और अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा अपने को सब ओर से हटाकर अर्थात् जीवन ही में मृत्यु का अनुभव करके अपने ही में अपने परम प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनों ही से जीवन की पूणता सिद्ध होती है और वे दोनों विवेक में विद्यमान हैं। विवेक और सामर्थ्य उस अनन्त की देन है, किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं, अथवा यों कहो कि व्यक्ति की खोज भले ही हो, उपज नहीं है। खोज उसी की होती है, जो है। अतः प्राप्त विवेक और सामर्थ्य के उपयोग में ही जीवन की सार्थकता है, अर्थात् उसके द्वारा ही अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो सकती है।

व्यक्तित्व की निवृत्ति में जीवन

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्तित्व तीन भागों में विभाजित है—कामना की उत्पत्ति में, पूर्ति में और निवृत्ति की लालसा में। कामना की उत्पत्ति में अभाव, पूर्ति में क्षणिक सुख और पूर्ति के परिणाम में भयंकर दुःख प्रतीत होता है, जो कामना-निवृत्ति की लालसा जागृत् करने में हेतु है। कामनाओं की उत्पत्ति के उद्गम स्थान और पूर्ति के क्षेत्र में जातीय एकता तथा गुणों की भिन्नता है, अर्थात् कामना की उत्पत्ति तथा पूर्ति का क्षेत्र एक ही धातु से निर्मित है। यदि ऐसा न हो, तो जिसमें कामना उत्पन्न होती है, उसकी न तो कामना-पूर्ति के क्षेत्र में आसक्ति होती और ने प्रवृत्ति ही सिद्ध होती।

यह नियम है कि पर-प्रकाश्य तत्त्व में अनेक श्रेणियाँ होती हैं-जैसे यन्त्र, हाथ और संचालक का मस्तिष्क। ये तीनों ही पर-प्रकाश्य हैं; अतः एक ही जाति के हैं। परन्तु श्रेणी-भेद होने से यन्त्र, हाथ और मस्तिष्क की जड़ता में भेद मालूम होता है। यन्त्र की अपेक्षा हाथ में और हाथ की अपेक्षा मस्तिष्क में अधिक चेतना प्रतीत होती है। इस दृष्टि से कामनाएँ जिसमें उत्पन्न होती हैं। वह, भोगने के साधन और भोग्य वस्तुएँ, ये सभी पर-प्रकाश हैं; किन्तु भोग्य वस्तु की अपेक्षा भोगने के साधनों में और उसकी अपेक्षा भोक्ता में अधिक चेतना प्रतीत होती है; जैसे, रूप की अपेक्षा नेत्र में और नेत्र की अपेक्षा देखने

के अभिमानी में अधिक चेतना प्रतीत होती है। : : इस बात को जानकर कि देखने का अभिमानी, नेत्र और रूप-ये तीनों । एक ही जाति के हैं, उनमें केवल गुणों का ही भेद है। यदि देखने की कामना का अन्त कर दिया जाए, तो तीनों उसी एक में विलीन हो जाएँगे, जो तीनों का प्रकाशक है और तीनों को सत्ता देता है।

अब यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि देखने के अभिमानी में देखने की कामना कब से उत्पन्न हुई और क्यों उत्पन्न हुई? तो विचार करने पर विदित होगा कि प्रवृत्ति स्वभाव से ही निवृत्ति में विलीन होती है। देखने की प्रवृत्ति से कोई ऐसा परिणाम प्राप्त नहीं होता, जिसका कोई अस्तित्व हो और प्रवृत्ति के अन्त में अभाव ही शेष रहता है। जिस प्रवृत्ति के परिणाम में अभाव हो एवं प्रवृत्ति-काल में परतन्त्रता हो, उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः देखने के अभिमानी में देखने की कामना कब से उत्पन्न हुई, इसके लिए किसी काल की कल्पना नहीं की जा सकती। केवल यह कहा जा सकता है। कि देखने की प्रवृत्ति का अन्त होता है। इस कारण देखने की प्रवृत्ति की उत्पत्ति सिद्ध होती है, अर्थात् विनाश के आधार पर ही उत्पत्ति की बात कही जाती है।

देखने आदि की प्रवृत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि देखने की वास्तविकता जानने के लिए अर्थात् प्रवृत्ति की वास्तविकता जानने के लिए ही प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति की वास्तविकता का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की कामना मिट जाती है, जिसके मिटते हो भोक्ता जिज्ञासु हो जाता है। जिस काल में जिज्ञासा जिज्ञासु को खाकर पूर्ण जागृत होती है, उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है, जिसके होते ही भोक्ता, भोगने के साधन और भोग्य वस्तुएँ, तीनों ही उसी में विलीन हो जाते हैं, जो सभी कल्पनाओं से अतीत है।

क्या भोक्ता के बिना भोग्य वस्तु और भोग्य वस्तु के बिना भोक्ता की सिद्धि हो सकती है? कदापि नहीं। भोक्ता भोग्य वस्तु का विनाशक है और भोग्य वस्तु भोक्ता को परिच्छिन्न तथा परतन्त्र बनाने में हेतु है।

यदि भोक्ता में परतन्त्रता और परिच्छिन्नता आ जाने की वेदना असह्य हो जाए, तो स्वाधीन और अपरिच्छिन्न होने की लालसा स्वत: जागृत हो जाती है, जो भोग-वासनाओं को ख़ाकर उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह लालसा है, क्योंकि लालसा में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह लालसा होती है।

भोक्ता, भोग के साधन और भोग्य वस्तु; यद्यपि इन तीनों में जातीय एकता है। परन्तु भोक्ता कौन है? यह प्रश्न स्वत: उत्पन्न होता है। तो कहना होगा कि जो शरीर के साथ तादात्म्य स्वीकार करता है, वही भोक्ता है और जो भोक्ता है, वही कर्ता है; जैसे, श्रोत्र से तद्रूप होकर मैं सुनता हूँ और वाणी से तद्रूप होकर मैं बोलता हूँ इत्यादि।

यदि अपने को इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से तद्रूप न किया जाए, तो भोक्ता के अस्तित्व की सिद्धि ही नहीं हो सकती। शरीर से तादात्म्य न रहने पर भोक्ता के अस्तित्व का तो पता ही नहीं चलता, केवल सर्व का प्रकाशक सर्व के साक्षी के रूप में शेष रहता है; जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में कोई वेद पढ़ता है और कोई जुआ खेलता है, पर दीपक न तो वेद पढ़ता है और न जुआ खेलता है। यद्यपि प्रकाश के बिना दोनों ही कार्य सिद्ध नहीं हो सकते, परन्तु प्रकाशक स्वयं कुछ नहीं करता। उसी प्रकार जो सर्व का प्रकाशक है, उसमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का

आरोप नहीं हो सकता। इस दृष्टि से जो प्रकाशक है, वह कर्ता तथा भोक्ता नहीं है और जो कर्ता तथा भोक्ता है, वह प्रकाशक नहीं है।

भोग-वासनाओं का अन्त होने पर भोक्ता-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। उसके मिटते ही भोग की आसक्ति सर्वप्रकाशक की प्रीति बन जाती है, जो दिव्य तथा चिन्मय है।

संकल्पों की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति एवं वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश तथा अवस्थाओं के परिवर्तन का ज्ञान जिसको है, उसे अपनी उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तन का ज्ञान नहीं है। जो उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तन से रहित है, वही उत्पत्ति, विनाश एवं परिवर्तन का प्रकाशक है।

उत्पत्ति, विनाश और परिवर्तन के मूल में उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तनरहित तत्त्व का होना स्वाभाविक है, नहीं तो उत्पत्ति, विनाश और परिवर्तन की सिद्धि ही नहीं हो सकती; क्योंकि उत्पत्ति किसी से होगी और विनाश किसी में होगा। इस प्रकार परिवर्तन उत्पत्ति-विनाश के क्रम का नाम है।

उत्पत्ति और विनाश का मूल आधार एक है। इस दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश में सत्ता उसी की हो सकती है, जो उनका आधार है, क्योंकि जिसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है, उसमें उत्पत्ति-विनाश घटित नहीं हो सकते। इस दृष्टि से जो सर्व का प्रकाशक है और सर्व का आधार है, उसी से सम्पूर्ण सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं और सत्ता पाती हैं, क्योंकि अनेक स्वतन्त्र सत्ताएँ सिद्धि नहीं हो सकतीं।

सर्व का प्रकाशक और सर्व का आधार एक ही हो सकता है, उसमें श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं। जिसमें श्रेणियों होती हैं, वह पर-प्रकाश्य होता है, स्वयं-प्रकाश नहीं। पर यह रहस्य वही जान पाता है, जो कामना की पूर्ति, उत्पत्ति और निवृत्ति के जाल से मुक्त होकर भोग की रुचि का अन्त करने में समर्थ है। भोग की रुचि का अन्त होते ही समस्त आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं। फिर व्यक्तित्व गलकर उस अनन्त की प्रीति बन जाता है, जो सभी का सब कुछ है। उसी में वास्तविक जीवन निहित है।

उपासना का रहस्य

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्ति का जीवन स्वाभाविक आवश्यकता और अस्वाभाविक इच्छाओं का समूह है। अतः स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है। स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि स्वाभाविक आवश्यकता क्या है? तो कहना होगा कि स्वाभाविक आवश्यकता उसकी है, जो सर्वोत्कृष्ट हो, जिसमें किसी प्रकार का अभाव न हो, जो अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य सम्पन्न हो एवं जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो।

स्वाभाविक आवश्यकता जिसकी है, वह एक ही हो सकता है, अनेक नहीं; क्योंकि सर्वोत्कृष्ट दो नहीं हो सकते। इस दृष्टि से अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता एक ही हो सकती है। अतः सभी को किसी एक को ही प्राप्त करना है,

परन्तु योग्यता-भेद होने के कारण उसका बाह्यरूप एक नहीं हो सकता है।

अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक है कि जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार किया जाए। नित्य-सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अतः व्यक्ति को जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, उसी की उपासना करनी है और उसी से अभिन्न होता है। यह तभी सम्भव होगा, जब व्यक्ति उसके प्रतीक में उन सभी दिव्य-चिन्मय गुणों की स्थापना करके, जो उसकी आवश्यकता में विद्यमान हैं, अपनी समस्त अस्वाभाविक इच्छाओं को उसके समर्पित कर दे। बस, यही उपासना की वास्तविकता है। यह प्राकृतिक नियम है कि प्रीति तथा नित्य-सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जो सर्वोत्कृष्ट हो और अपने स्वभाव के अनुरूप हो; क्योंकि स्वभाव की एकता के बिना सम्बन्ध सम्भव नहीं है। सर्वोत्कृष्ट एक है और व्यक्ति अनेक हैं। सभी को उसे ही प्राप्त करना है। व्यक्तियों के स्वभाव में समानता नहीं है, परन्तु आवश्यकता समान है।

स्वभाव की भिन्नता के कारण उसी एक में अनेक प्रकार के दिव्य गुणों की स्थापना करना अनिवार्य है। इन सभी भावों की सम्भावना उसी के प्रति हो सकती है, जो अनन्त हो और जो अनन्त सौन्दर्य एवं माधुर्य से सम्पन्न हो; क्योंकि ऐश्वर्य के बिना सर्वोत्कृष्टता सिद्ध नहीं होगी और माधुर्य के बिना वह सभी को अपना न सकेगा। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की उपासना के प्रतीक में भेद हो सकता है, जो उसने अस्वाभाविक स्वभाव के अनुसार स्वीकार किया है; परन्तु वास्तविकता में कोई भेद नहीं हो सकता।।

प्रेम का यह स्वभाव है कि वह प्रेमी के अस्वाभाविक भावों को मिटाता जाता है और प्रेमास्पद के वास्तविक स्वभाव से उसे अभिन्न करता जाता है। इस कारण सभी प्रेमी अपने-अपने माने हुए स्वभाव को मिटाकर प्रेमास्पद के वास्तविक स्वभाव से अभिन्न हो जाते हैं, जो सर्वोत्कृष्ट है और अवर्णनीय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमियों ने अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप प्रेमास्पद में जिन दिव्य गुणों की स्थापना की थी, वे सब गुण उसमें नहीं हैं। वे गुण तो हैं हीं, परन्तु उतने ही नहीं हैं, अपितु अनन्त हैं।

यदि प्रेमियों के स्वभाव के अनुरूप प्रेमास्पद न हो, तो कभी भी उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता नहीं हो सकती। जिससे आत्मीयता नहीं होती, उससे प्रेम नहीं हो सकता और जिससे प्रेम नहीं हो सकता, उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह नियम है कि जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसकी आवश्यकता नहीं हो सकती।।

जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। इस दृष्टि से सभी व्यक्तियों को सर्वोत्कृष्ट अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य सम्पन्न प्रेमास्पद की प्राप्ति हो सकती है। प्रेमास्पद का वर्णन प्रेमियों की दृष्टि से भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार का हो, परन्तु प्रेमास्पद तो एक ही है। एक होने पर भी अनन्त होने के कारण अनेक प्रकार से उसे प्राप्त किया जा सकता है।

अत: प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार उस अनन्त की उपासना कर सकता है। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थाई होती जाएगी, त्यों-त्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वत: मिटती जाएँगी और ज्यों-ज्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ मिटती जाएँगी, त्यों-त्यों प्रेमी का स्वभाव गलता जाएगा और प्रेमास्पद से अभिन्नता होती जाएगी। जिस

काल में प्रेमी अपने सहित अपना सर्वस्व प्रेमास्पद को समर्पित कर देता है, उसी काल में प्रेमी प्रेम' होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। बस, यही उपासना की वास्तविकता है।

नि:संदेहता तथा प्रीति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान जीवन विश्वास तथा संदेह का समूह है। संदेह वास्तविकता जानने के लिए है। और विश्वास प्रेम-प्राप्ति के लिए। संदेह उसे नहीं कह सकते, जिसकी निवृत्ति न हो, अर्थात् संदेह की निवृत्ति अवश्य हो सकती है और उसकी निवृत्ति में वास्तविकता का ज्ञान निश्चित है। विश्वास जिस पर होता है, उससे नित्य-सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है और नित्य-सम्बन्ध से प्रीति स्वतः जागृत् होती है, जो उससे अभिन्न कर देती है, जिसकी वह प्रीति है। विश्वास हो और प्रीति न हो, प्रीति हो और प्राप्ति न हो, यह सम्भव नहीं है, अर्थात् विश्वास से प्रीति का और प्रीति से प्राप्ति का होना अनिवार्य है।

विश्वास एक पर ही होता है, अनेक पर नहीं। सन्देह प्रतीति पर होता है, अदृश्य पर नहीं। जिसको जान लेते हैं, उसको मानने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि मानना उसी के सम्बन्ध में आवश्यक होता है, जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। जिसके सम्बन्ध में कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते, उसके सम्बन्ध में सन्देह होता है। इस दृष्टि से विश्वास उसी पर करना है, जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते।।

यदि पूछा जाए कि हम किसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते? तो कहना होगा कि उसी के सम्बन्ध में नहीं जानते, जिसको इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा देखा नहीं है।

सन्देह उसी पर होता है, जिसको इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जानते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जिसे जानते हैं, उस पर सन्देह क्यों होता है? तो कहना होगा कि एक वस्तु को इन्द्रिय के द्वारा जैसी जानते हैं, वही वस्तु बुद्धि के द्वारा वैसी नहीं है, अर्थात् इन्द्रियों के ज्ञान पर बुद्धि के ज्ञान से सन्देह होता है। जिस पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव होता है, उसी पर बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव होता है। वस्तु भी एक है और जिस पर प्रभाव होता है वह भी एक है; परन्तु वस्तु को देखने के साधन अनेक हैं।

यदि नेत्र से पूछा जाए, तो समस्त सृष्टि को "रूप" बताएगा और यदि श्रोत्र से पूछा जाए तो कहेगा कि 'शब्द' ही सृष्टि है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय अपने ही विषय का प्रतिपादन करेगी, परन्तु मन कहेगा कि सृष्टि में

सभी इन्द्रियों के विषय हैं। मन और इन्द्रियों के निर्णय पर बुद्धि कहेगी कि मन और इन्द्रियाँ जिनकी सत्ता स्वीकार करते हैं, वे सभी परिवर्तनशील हैं। ज्यों-ज्यों मन, इन्द्रिय आदि का प्रभाव मिटता जाता है और बुद्धि का प्रभाव होता जाता है, त्यों-त्यों राग 'वैराग्य' में और भोग 'योग' में बदलता जाता है।

जिस काल में बुद्धि के ज्ञान का पूर्ण प्रभाव हो जाता है, उसी काल में राग का अन्त हो जाता है। रागरहित होते ही जो भोगी था, वह योगी हो जाता है। भोगी होने पर अनेक प्रकार के अभाव प्रतीत होते हैं और योगी होने पर चिरशान्ति तथा आवश्यक सामर्थ्य का वह विकास होने लगता है, जो नि:संदेहता प्राप्त कराने में समर्थ है। नि:संदेहता आते ही मृत्यु अमरत्व में, जड़ता

चिन्मयता में और दु:ख आनन्द में बदल जाता है, यही वास्तविक जीवन है।

नि:संदेहता आ जाने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का व्यापार राग-द्वेषरहित होने लगता है, क्योंकि निःसन्देहता के आते ही कामनाओं का अन्त हो जाता है। कामनाओं का अन्त होने पर विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि अपने प्रकाशक में विलीन हो जाती है। वास्तविकता का ज्ञान होने पर इन्द्रिय, बुद्धि आदि का व्यापार-काल हो अथवा विश्राम-काल हो, उससे वास्तविक ज्ञान में कोई भेद नहीं होता। जिस प्रकार जल का ज्ञान होने पर चाहे समुद्र शान्त हो या तरंगित, समुद्र और लहर का कोई भेद नहीं रहता, उसी प्रकार वास्तविकता का ज्ञान होने पर चाहे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का व्यापार हो, अथवा वे सभी सम हों, वास्तविकता ज्यों-की-त्यों रहती है।

दृश्य की स्वीकृति में मृत्यु का दर्शन निहित है और उसकी अंस्वीकृति मैं अमरत्व की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। दृश्य की वास्तविकता जान लेने पर और दृश्य की अस्वीकृति में भी नि:सन्देहता आ जाती है। सन्देह तभी तक रहता, जब तक दृश्य को स्वीकार करते हैं; पर उसकी वास्तविकता नहीं जानते, अथवा दृश्य को अस्वीकार कर अमरत्व को प्राप्त नहीं होते।।

विश्वास, मबन्ध और प्रीति–इन तीनों की सार्थकता एक ही में होने पर होती है, अनेक में नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि प्रीति अनेक में एक ही का दर्शन करा सकती है; कारण, कि विश्वास करने योग्य एक ही है और अनेक में भी उसी की सत्ता है, अथवा यों कहो कि वह एक ही अनेक रूप में प्रतीत होता है। यह प्रीति की महिमा है कि वह अनेकता में एकता का दर्शन कराती है, क्योंकि प्रीति ने उससे भिन्न किसी अन्य को देखा ही नहीं, जिसकी वह प्रीति है। इस दृष्टि से प्रीति सदैव एक ही में निवास करती है और नि:संदेहता आ जाने पर भी एक ही से अभिन्नता होती है। अतः नि:संदेहता अथवा विश्वासपूर्वक किसी एक ही को प्राप्त करना है।

जब संदेह समस्त दृश्य पर हो, तभी नि:संदेहता सम्भव है, क्योंकि दृश्य अनेक होने पर भी स्वरूप से एक है और विश्वास उसी एक पर हो सकता है, जिसकी इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को प्रतीति नहीं हुई। जो दृश्य के किसी अंश पर तो सन्देह करते हों और किसी अंश पर विश्वास करते हों, उन्हें नि:संदेहता नहीं मिल सकती और जो प्रतीति के आधार पर विश्वास करना चाहते हों, उनमें अविचल विश्वास नहीं हो सकता।

जिन साधकों को नि:संदेहतापूर्वक अनन्त से अभिन्न होना हो, वे समस्त दृश्य पर सन्देह करें, किसी अंशमात्र पर नहीं और जिन्हें विश्वास के द्वारा अनन्त से अभिन्न होना हो, वे उस पर विश्वास करें, जिसकी कभी भी प्रतीति नहीं हुई। जिसकी कभी भी प्रतीति नहीं हुई, उस पर विश्वास करते ही प्रतीति मात्र से साधक विमुख हो जाता है। विमुख होते ही जिस पर विश्वास किया था, उससे नित्य-सम्बन्ध और उसकी प्रीति स्वतः जागृत् हो जाती है, जो विश्वास-कर्ता को उससे अभिन्न करने में समर्थ है, जिस पर उसने विश्वास किया था।

विश्वासी और जिज्ञासु दोनों साधकों में अन्तर केवल इतना है कि जिज्ञासु दृश्य के स्वरूप को जानकर और विश्वासी किसी एक को मानकर दृश्य से सम्बन्ध विच्छेद करता है। दृश्य से सम्बन्ध विच्छेद होने पर दोनों की समान स्थिति हो जाती है। अन्तर केवल इतना होता है कि विश्वासी का

अस्तित्व उसी की प्रीति हो जाता है कि जिस पर उसने विश्वास किया था और जिज्ञासु का अस्तित्व जिज्ञासा होकर उसी से अभिन्न होता है, जिसकी उसे जिज्ञासा थी।

जिज्ञासा सदैव जीवन की होती है और लालसा सदैव रस की होती है। पर ये दोनों जिसके प्रति होती हैं, वह एक ही है; क्योंकि प्रत्येक साधक की माँग वास्तव में रस और जीवन दोनों ही की होती है। ऐसी माँग किसी की नहीं होती कि रस हो और जीवन न हो अथवा जीवन हो और रस न हो। अतः जीवन और रस की उपलब्धि जिससे होगी, वह भी एक ही होना चाहिए, क्योंकि रस और जीवन की एक ही माँग जब सभी साधकों की है, तब साध्य दो नहीं हो सकते। यह सम्भव नहीं है कि रस किसी और में मिले तथा जीवन किसी और में मिले। इस दृष्टि से जिज्ञासु 'जिज्ञासा' होकर जिससे अभिन्न होता है, विश्वासी भी प्रीति होकर उसी से अभिन्न होता है। इतना ही नहीं, जीवन और रस का विभाजन भी नहीं हो सकता, अर्थात् जीवन में रस और रस में जीवन है। जीवन नित्य है और रस अनन्त। जिज्ञासा 'जीवन का प्रतीक है और प्रेम 'रस' का।।

सन्देह उसे नहीं कहते, जिसकी निवृत्ति न हो, जीवनं उसे नहीं कहते, जिसकी प्राप्ति न हो और आवश्यकता उसे नहीं कहते, जिसकी पूर्ति न हो। अतः सन्देह की निवृत्ति, जीवन की प्राप्ति और आवश्यकता की पूर्ति अनिवार्य है। यह तभी सम्भव है, जब संयोग से उत्पन्न होने वाली आसक्ति और मृत्यु का अन्त हो जाए तथा नित्य-योग से प्राप्त होने वाले अमरत्व और प्रीति की प्राप्ति हो जाए। अतएव सन्देह की निवृत्ति और प्रेम की प्राप्ति में ही वास्तविक जीवन निहित है।

कर्तव्यनिष्ठा और स्मृति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राणी में कुछ-न-कुछ करने की रुचि स्वभाव से ही विद्यमान है। उसकी पूर्ति के लिए साधक को सबसे प्रथम वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना है। वर्तमान कार्य का अर्थ है, जिसके बिना किये न रह सकें और जिसके करने से दूसरों के अधिकार सुरक्षित हो जाएँ।

अब यह प्रश्न होता है कि सुन्दरतापूर्वक कार्य करने का वास्तविक अर्थ क्या है? तो कहना होगा कि जो प्रवृत्ति पवित्र भाव से भावित हो और जो भाव विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो, उसी प्रवृत्ति को सुन्दरतापूर्वक की हुई प्रवृत्ति कह सकते हैं। अतः हमें अपने वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक करने के लिए सर्वप्रथम निज-विवेक के प्रकाश में भाव की शुद्धि करनी होगी, स्वार्थ भाव का त्याग करना होगा, अर्थात् हम जो भी कार्य करें, उससे किसी का अहित न हो, अपितु उसमें जिनसे उस कार्य का सम्बन्ध है, उनका हित तथा प्रसन्नता निहित हो। ऐसा करने से करने की रुचि का अन्त होगा और स्वभाव से ही जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा जागृत् होगी। जिज्ञासा की जागृति स्वयं अपनी पूर्ति में समर्थ है, क्योंकि जिज्ञासा उसी की होती है, जिससे स्वरूप की एकता है अर्थात् जिससे किसी प्रकार की दूरी नहीं है। जिज्ञासा की पूर्ति में ही वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि बिना कार्य किये क्या जिज्ञासा की जागृति नहीं हो सकती? तो कहना होगा कि उन साधकों को हो सकती है,

जिनमें करने की रुचि विद्यमान नहीं है और जिन्हें जीवन ही में मृत्यु का अनुभव हो गया है। उन जिज्ञासुओं द्वारा न तो किसी का अहित होता है और न किसी के अधिकार का अपहरण ही होता है, क्योंकि वे तो अपना सर्वस्व सभी के हित में समर्पण कर देते हैं। यहाँ तक कि उनकी देह आदि में भी ममता नहीं रहती। उनकी दृष्टि बिना ही दृश्य के स्थिर हो जाती है। उनका चित्त बिना ही आधार के शान्त हो जाता है। अथवा यों कहो कि उनकी इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि समता में स्थित हो जाती है। ऐसा होते ही सीमित अहं-भाव गल जाता है और वास्तविक जीवन से उनकी अभिन्नता हो जाती है। उन साधकों पर कर्तव्य का कोई दायित्व नहीं रहती। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे कर्तव्यनिष्ठ नहीं होते। उनमें कर्तव्यनिष्ठा साधन रूप से नहीं रहती, अपितु उनका स्वभाव हो जाती है।

जिज्ञासा कर्तव्यनिष्ठा की विरोधिनी नहीं है, अपितु पोषक है; क्योंकि कर्तव्यनिष्ठा ही जिज्ञासा को जन्म देती है। इस दृष्टि से कर्तव्यनिष्ठ प्राणी जिज्ञासु हो जाता है और जिज्ञासु स्वभाव से ही कर्तव्यनिष्ठ होता है। अन्तर केवल इतना है कि जो प्रथम जिज्ञासु होता है, वह जिज्ञासा-पूर्ति के अनन्तर स्वभाव से ही कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है और जो कर्तव्यनिष्ठ होता है, वह करने के राग से रहित होते ही जिज्ञासु हो जाता है।

इस दृष्टि से सुन्दरतापूर्वक किया हुआ वर्तमान कार्य राग-निवृत्ति का हेतु है। हाँ, यह अवश्य है कि एक कार्य का अन्त होने पर उससे सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए और किसी अन्य कार्य का चिन्तन नहीं होना चाहिए। कार्य का चिन्तन में रहने से स्वभाव से ही शान्ति, विचार और प्रेम की प्राप्ति होगी। शान्ति से सामर्थ्य, विचार से अमरत्व और प्रेम से रस की उपलब्धि होगी, जो सभी की अभीष्ट है। कार्यजनित सुख का त्याग हो और फल की आशा न हो, तभी शान्ति सुरक्षित रह सकेगी।

शान्ति के सुरक्षित रहने से ही विचार तथा प्रेम का उदय होगा। शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए शान्ति में रमण नहीं करना होगा। यदि शान्ति में रमण किया गया, तो केवल दुःख दब जाएगा; पर विचार तथा प्रेम का उदय नहीं होगा। अत: शान्ति को सुरक्षित रखना है, पर उसका भोग नहीं करना है, अर्थात शान्ति में आबद्ध नहीं होना है। शान्ति से असंग होते ही अमरत्व की प्राप्ति स्वतः हो जाएगी; क्योंकि शान्ति से अतीत 'जीवन' है, मृत्यु नहीं; 'चिन्मयता है, जड़ता नहीं; 'आनन्द' है, दुःख नहीं; 'रस' है, नीरसता नहीं।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी कार्य करने के साधन हैं। उनके सदुपयोग में ही सफलता है; उनकी ममता में ही अपना विनाश है। अत: जो कार्य करने के साधन हैं, उनसे सुन्दरतापूर्वक कार्य करो। कार्य के अन्त में इन्द्रियों को मन में और मन को बुद्धि में विलीन हो जाने दो। ऐसा होते ही चिन्मय जीवन में प्रवेश होगा। वह तब सम्भव होगा, जब कार्य तो चाहे जितना हो, पर कार्य चिन्तन और फल की आशा न हो। यह सभी जानते हैं कि नाव जल में चलती है; पर जब उसमें जल भर जाता है, तब नाव डूब जाती है। उसी प्रकार समस्त कार्य मन, बुद्धि द्वारा ही होते हैं, परन्तु जब कार्य मन में भर जाता है, तब कर्ता डूब जाता है।

वर्तमान कार्य में मन, बुद्धि को लगा दो; पर कार्य के अन्त में वृद्धि को सम और मन को निर्विकल्प हो जाने दो, क्योंकि निर्विकल्प मन में

ही प्रीतम निवास करता है और बुद्धि की समता से ही अनेकता एकता में विलीन होती है, अथवा यों कहो कि जब मन और बुद्धि में-से कार्य निकल जाता है, तब वे स्वतः चिन्मय हो जाते हैं, उनका चिन्मय जीवन में प्रवेश हो जाता है। इस दृष्टि से कार्य के चिन्तन का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अपितु प्रत्येक कार्य को उस अनन्त के नाते अनन्त की प्रसन्नता के लिए सुन्दरतापूर्वक कर देना है। यही उनकी वास्तविक पूजा है।

इस दृष्टि से साधनयुक्त जीवन के दो भाग हो गए---एक तो, वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना और दूसरा, कार्य के अन्त में प्रीतम की मधुर स्मृति का उदय होना।

अब यदि कोई यह कहे कि कार्य में और मधुर स्मृति में किसकी महत्ता अधिक है? तो कहना होगा कि कर्ता एक है और उसका उद्देश्य एक है; पर उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन दो भागों में विभाजित है। उद्देश्य की एकता के कारण दोनों की महत्ता समान है। क्योंकि जिसकी स्मृति होती है, उसी का तो कार्य करना है।

अतः कार्य के अन्त में स्मृति की जागृति स्वाभाविक है। स्मृति और कार्य में अन्तर इतना है कि स्मृति अपने-आप उदित होती है और कार्य करना पड़ता है। परन्तु करने का राग रहते हुए स्मृति स्वतः उदित नहीं होती। अतएव स्मृति की जागृति के लिए करने का राग मिटाना आवश्यक है और वह सुन्दरतापूर्वक कार्य करने से ही मिट सकता है। सुन्दरतापूर्वक कार्य करना स्मृति की भूमि है, और कुछ नहीं। जब स्मृति इतनी सबल हो जाती है कि अन्य की विस्मृति हो जाए, तब वह स्वतः उसमें विलीन हो जाती है, जिसकी वह थी। कोई व्यक्ति उसे भले ही न जाने, अथवा न माने; पर रागरहित होते ही किसी की स्मृति स्वतः जागृत होती है और जिसकी स्मृति जागृत् होती है, उसी की प्राप्ति होती है तथा वही सबका लक्ष्य भी है।

अब यदि कोई यह कहे कि राग-निवृत्ति के पश्चात् तो सभी दुःख मिट जाते हैं, फिर किसी की स्मृति क्यों आवश्यक है? तो कहना होगा कि राग-निवृत्ति होने पर उन सभी दुःखों का अन्त हो जाता है, जो सुख की दासता से उत्पन्न हुए थे; परन्तु, 'मैं वीतराग हूँ, 'मैं शान्त हूँ, "मुझे कुछ नहीं चाहिए', ये जिस अहं की ध्वनि हैं, वह शेष रहता है। उसका नाश किसी की स्मृति से ही होता है। उसी के नाते साधक को प्रत्येक कार्य करना है और कार्य के अन्त में उसी की स्मृति बनकर उसमें अभिन्न होना है। यह तभी

सम्भव होगा, जब साधक प्रत्येक वर्तमान कार्य को सर्वोत्कृष्ट कार्य जानकर पूरी शक्ति लगाकर पवित्र भाव से लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए करे और कार्य के अन्त में कुछ काल शान्ति में निवास कर श्रम से रहित हो जाए। ऐसा होते ही करने का राग मिट जाएगा और प्रिय की वह स्मृति जागृत् होगी, जो प्रिय से अभिन्न करने में समर्थ है। उसी प्रिय से साधक की जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

कामना-निवृत्ति का महत्त्व

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि कामना-उत्पत्ति का दुःख और पूर्ति का सुख साधक को उस जीवन में प्रवेश नहीं होने देता, जो कामनाओं की निवृत्ति से प्राप्त होता है। अब यदि कोई कहे कि सुख-दुःख से अतीत भी क्या कोई जीवन है? तो कहना होगा कि क्या

सुख-दुःख जीवन है? यदि सुख-दुःख जीवन है, तो मृत्यु क्या है? अतः वास्तविक जीवन तो सुख-दुःख से अतीत ही है।

सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश उन्हीं का हो सकता है, जो सुख-लोलुपता से अपने को ऊपर उठा सकें। इसके लिए साधक को सुख की वास्तविकता को जानना होगा। अब यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए कि सुख-दुःख क्या हैं? तो कहना होगा कि संकल्पपूर्ति का ही दूसरा नाम सुख है। और संकल्प-उत्पत्ति का ही दूसरा नाम दुःख है। संकल्प-उत्पत्ति के पश्चात् ही उसकी पूर्ति का प्रश्न उत्पन्न होता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि संकल्प-पूर्ति के सुख के लिए संकल्प की उत्पत्ति का दुःख अनिवार्य है। अतः जिसे सुख कहते हैं, उसकी भूमि 'दुःख है।

अब संकल्प-पूर्ति के परिणाम पर विचार करना है। जिस वस्तु और व्यक्ति आदि के द्वारा संकल्प पूरा होता है, उसमें आसक्ति होना स्वाभाविक है। प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति परिवर्तनशील तथा क्षणभंगुर हैं। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति के परिणाम में भी भयंकर दुःख है। जिस सुख का आरम्भ दुःख से होता है और जो सुख अन्त में भयंकर दुःख में बदल जाता है, उसकी आशा करना कहाँ तक विवेकयुक्त है? अर्थात् सुख की आशा अविवेक-सिद्ध है। सुख की आशा मिटते ही अनावश्यक संकल्प मिट जाते हैं और आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे होने लगते हैं। परन्तु इस प्रकार होने वाला संकल्प-पूर्ति का सुख साधक को बाँध नहीं पाता, क्योंकि उसकी दृष्टि में सुख का वह महत्त्व मिट जाता है, जिसके मिटते ही संकल्पों की निवृत्ति हो जाती है। इसी अवस्था में जिज्ञासा और प्रिय-लालसा की जागृति तथा शान्ति की उपलब्धि भी होती है। संकल्प-पूर्ति का लालचे रहते हुए न तो कोई जिज्ञासु हो सकता है, न प्रेमी हो सकता है और न योगी ही हो सकता है। आज यदि योगी योग से, प्रेमी प्रेम से और जिज्ञासु निःसंदेहता अर्थात् तत्वज्ञान से विमुख है, तो उसका एकमात्र कारण है-कामना-पूर्ति के साथ-साथ योग, ज्ञान तथा प्रेम-प्राप्ति की आशा। यद्यपि योग भोग की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है, परन्तु कामना-पूर्ति का लालच योग नहीं होने देता।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या कामना-पूर्ति के लालच का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है? तो कहना होगा कि कामना-पूर्ति का स्थान भले ही हो, पर उसके लालच का कोई स्थान नहीं है; क्योंकि जिन कामनाओं का पूरा होना अनिवार्य है, वे तो स्वभाव से ही पूरी हो जाएँगी। पर उनकी पूर्ति का लालच तो नवीन कामनाओं को भी जन्म देगा। अतः वह न तो योग होने देगा, न विचार का उदय होने देगा और न प्रेम का उदय ही होने देगा। इस दृष्टि से कामनापूर्ति के लालच का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

जब कामना-पूर्ति और अपूर्ति समान हो जाती हैं, तब साधक सुगमतापूर्वक कामना की अपूर्ति के दुःख का तथा कामना की पूर्ति के सुख का सदुपयोग कर सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रविष्ट हो जाता है। साधक को सुख-दुःख का सदुपयोग करना है, उनमें आबद्ध नहीं होना है। उनमें से किसी एक को सदुपयोग करने पर दोनों का सदुपयोग हो जाता है, क्योंकि सुख-दुःख दोनों स्वरूप से एक हैं। दुःख का सदुपयोग शरीर तथा संसार के स्वरूप के ज्ञान में है, सुख की दासता में नहीं और सुख का सदुपयोग सेवा में है, भोग में नहीं। यह नियम है कि जिसका सदुपयोग कर दिया जाता है, उससे सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और जिससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, उसका

अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। अतः सुख-दुःख के सदुपयोग से सुख-दुःख मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं। कामना-निवृत्ति में चिर-शान्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति निहित है।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या कामना-निवृत्ति में जीवन है? तो कहना होगा कि कामना-उत्पत्ति से पूर्व और पूर्ति के अन्त में जो जीवन है, वही कामना-निवृत्ति में है। कामना की उत्पत्ति में तो अभाव है और पूर्ति में जड़ता है। वास्तविक जीवन तो कामना-निवृत्ति में ही है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं, जो कामना की उत्पत्ति से पूर्व के जीवन का अनुभव कर लेते हैं। बड़ी-से-बड़ी कामना की पूर्ति के पश्चात् साधक उसी स्थिति में आता है, जो कामना-उत्पत्ति से पूर्व थी। इससे यह सिद्ध हुआ कि कामना की उत्पत्ति से पूर्व का जीवन स्वाभाविक जीवन है और कामना की उत्पत्ति तथा पूर्ति का जीवन अस्वाभाविक है, अथवा यों कहो कि वह जीवन नहीं, मृत्यु है। . कामना-उत्पत्ति और पूर्ति ही उस अनन्त में जगत् का दर्शन कराती है। और कामना-निवृत्ति ही उस अनन्त से अभिन्न करती है। कामना की उत्पत्ति और पूर्ति से आसक्ति तथा कामना की निवृत्ति से अनुरक्ति प्राप्त होती है। अथवा यों कहो कि कामना की उत्पत्ति और पूर्ति जगत् की आसक्ति उत्पन्न करती है तथा कामना की निवृत्ति अनन्त की प्रीति जागृत् करती है। आसक्ति का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रीति की जागृति स्वतः सिद्ध है। प्रीति की जागृति समस्त विश्व में अपने प्रीतम का ही दर्शन कराती है; क्योंकि आसक्ति प्रीतम में जगत् का और प्रीति जगत् में प्रीतम का दर्शन कराती है। बस, यही आस्तिकवाद और नास्तिकवाद का अन्तर है। नास्तिक जिस जगत् को अपनी भोग-सामग्री मानता है, आस्तिक उस जगत् को प्रीतम मानकर उसकी पूजा करता है। इस दृष्टि से कामना-उत्पत्ति और पूर्ति का जीवन 'नास्तिक-जीवन' है और कामना-निवृत्ति में 'आस्तिक-जीवन है। हाँ, आस्तिक-जीवन नास्तिक जीवन का प्रकाशक है, नाशक नहीं। परन्तु आस्तिकता की लालसा नास्तिकता को खाकर आस्तिक बनाने में समर्थ है। वह आस्तिकता की लालसा कामना-निवृत्ति से ही पुष्ट होती है।

कामना-निवृत्ति के लिए कामना-पूर्ति के लालच का त्याग अनिवार्य है। यद्यपि कामना-पूर्ति प्राकृतिक विधान पर निर्भर है, कामना-पूर्ति के लालच पर नहीं। परन्तु साधक प्रमादवश कामनापूर्ति का लालच करता है, जिसका उसके जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

कामना-पूर्ति श्रम तथा संग्रह-साध्य है और कामना-निवृत्ति श्रम-रहित है, क्योंकि कामना-निवृत्ति के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, केवल प्राप्त विवेक के प्रकाश में कामनाओं के उद्गम स्थान को जानना है। कामनाओं का उद्गम स्थान है, सीमित अहंभाव, जिसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि वह अविवेक सिद्ध है। अतः कामनाओं की उत्पत्ति उससे होती है, जिसका अस्तित्व नहीं है, अथवा यों कहो कि कामनाओं की उत्पत्ति ही कामनाओं का ऐसा अस्तित्व है, जो कामनाओं की निवृत्ति होने पर शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति की लालसा ही कामनाओं को खाकर जिज्ञासा के रूप में बदल जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति स्वाभाविक है; क्योंकि जिज्ञासा उसी की होती है, जिससे किसी प्रकार की दूरी नहीं है और जो अनन्त तथा नित्य है।

आवश्यक कामनाओं की पूर्ति प्राकृतिक विधान से स्वतः हो जाती है। और कामनाओं की निवृत्ति विवेकसिद्ध है। विवेक उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है, क्योंकि वह किसी प्रयत्न का फल नहीं है, अपितु विवेक से ही सभी प्रयत्न सिद्ध होते हैं। विवेक का सदुपयोग करते ही कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वत: हो जाती है।

जीवन का परम पुरुषार्थ

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान जीवन बड़े ही महत्त्व का है, क्योंकि इस जीवन में ही प्राणी उत्कृष्ट भोगों के लिए, नित्य जीवन के लिए और प्रेम-प्राप्ति के लिए साधन कर सकता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति, तप एवं पुण्यकर्म आदि से उत्कृष्ट भोग और विवेक से नित्य-जीवन और समर्पण से प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। इतना ही नहीं, हम अपने को इतना सुन्दर बना सकते हैं कि हमारी आवश्यकता सभी को हो और हमें किसी की आवश्यकता न हो, क्योंकि वस्तु और व्यक्ति की आवश्यकता शरीर तक ही सीमित है और शरीर संसार की वस्तु है, अपनी नहीं। इस दृष्टि से कोई भी वस्तु तथा व्यक्ति अपने काम नहीं आ सकता और शरीर को भी कोई वस्तु तथा व्यक्ति आदि सदैव सुरक्षित नहीं रख सकते। केवल क्षणिक कामना-पूर्ति का सुख वस्तु और व्यक्ति के द्वारा मिल सकता है, वह भी तब, जब अविवेक से अपने में कामना उत्पन्न कर ली जाए; क्योंकि कामनारहित होने पर तो कामना-पूर्ति का भी कोई महत्त्व नहीं रहता।

अब यदि कोई यह कहे कि वस्तुओं के बिना तो प्राण नहीं रह सकते। तो कहना होगा कि प्राण तो वस्तुओं के रहते हुए भी नहीं रहेंगे, क्योंकि जन्म से मृत्यु आरम्भ हो जाती है। इस सृष्टि से वस्तुओं का लोभ और व्यक्तियों का मोह कुछ अर्थ नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है कि उत्पादित वस्तुओं का व्यक्तियों की सेवा में उदारतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्राणी के उदारभाव की आवश्यकता समस्तं विश्व को हो सकती है। उदारता स्वभाव है, कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो श्रम-साध्य हो।

प्राकृतिक विधान का आदर करने पर उदारता प्राप्त होती है। जिस प्रकार पृथ्वी पर सभी पौधे उगते तथा आश्रय पाते हैं, जल सभी की प्यास बुझाता है, सूर्य सभी को प्रकाश देता है, वायु सभी को श्वास लेने देती है। और आकाश से सभी को अवकाश मिलता है, उसी प्रकार उदार स्वभाव से सभी को स्नेह तथा सहयोग मिलता है।

स्नेह की माँग प्राणीमात्र को रहती है, क्योंकि स्नेह के बिना जीवन में व्यापकता नहीं आती। सच तो यह है कि हमारा निर्माण भी किसी के स्नेह और उदाहरता से ही हुआ है। अतः स्नेह एवं उदारता से हमारी जातीय एकता है। जिससे हमारी जातीय एकता है, हम उससे विमुख हो गए हैं; दूर नहीं। विमुखता अपना ही बनाया हुआ दोष है, किसी और का नहीं। जब हम अपने बनाए हुए दोष का त्याग कर देंगे, तब हमारा समस्त जीवन विवेक और प्रेम से परिपूर्ण हो जाएगा। विवेकपूर्वक हम अनित्य-जीवन से विमुख होकर नित्य-जीवन प्राप्त कर सकते हैं, प्रेमी होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान कर सकते हैं और प्राप्त बल के सदुपयोग से उत्कृष्ट भोग भी प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु भोगों की प्राप्ति किसी भी विवेकी

तथा प्रेमी को अभीष्ट नहीं है; क्योंकि भोग का परिणाम रोग तथा शोक है। अथवा यों कहो कि भोग की प्राप्ति तो पशु-पक्षी आदि अन्य योनियों में भी हो सकती है। अतः भोग-प्राप्ति विवेकयुक्त जीवन का उद्देश्य नहीं है। विवेकयुक्त जीवन का उद्देश्य तो केवल कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति ही हो सकता है। कामनाओं की निवृत्ति में नित्य-योग और चिर-शान्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति में अमरत्व की प्राप्ति होती है। परन्तु जिसे भोग अभीष्ट नहीं है, उसे ही नित्य-योग और अमरत्व प्राप्त होता है। जो अमरत्व की भी लालसा नहीं रखता, उसे प्रेम की प्राप्ति होती है। अमरत्व का महत्त्व भी तभी तक है, जब तक प्राणी कामनाओं के कारण जन्म और मृत्यु में आबद्ध है। प्राप्त विवेक के सदुपयोग से कामनाओं का अन्त वर्तमान में ही हो सकता है।

पुण्यकर्म आदि से उत्कृष्ट भोग और विवेक से अमरत्व प्राप्त हो सकता है। कर्म करने की सामर्थ्य और विवेक तो अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त हैं। परन्तु प्रेम-प्राप्ति के लिए तो हमें उस अनन्त से समर्पित होना पड़ेगा। उसके लिए हमें उनकी दी हुई सामर्थ्य, योग्यता आदि को केवल उन्हें ही समर्पित करना होगा; जिस प्रकार शिशु माँ की उपार्जित वस्तुओं को माँ से उत्पन्न किये हुए हाथों के द्वारा ही जब माँ के भेंट कर देता है, तब माँ प्रसन्न हो जाती है। बेचारे बालक के पास अपनी कोई वस्तु नहीं है, सब कुछ माँ से ही मिला है। उसी प्रकार हमें भी सब कुछ उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से ही मिला है। अतः हमें उनकी दी हुई प्रत्येक वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य को उन्हीं से प्राप्त हुए विवेकपूर्वक उन्हीं को भेंट कर देना है तथा उनके विश्वास, प्रेम और सम्बन्ध को ही अपना अस्तित्व मानना है। ऐसा होते ही जो हमें प्रेम प्राप्त होता है, उसी प्राप्त प्रेम से हम उस अनन्त को रस प्रदान कर सकते हैं। जिस प्रकार माँ के द्वारा प्राप्त स्नेह से ही शिशु माँ को रस प्रदान करता है, उसी प्रकार हम शिशु की भाँति उस अनन्त के दिए हुए प्रेम से ही उन्हें आह्लादित कर सकते हैं; कारण, कि विवेकयुक्त जीवन का निर्माण उनकी अनिर्वचनीय, अनुपम और अहेतुकी कृपाशक्ति ने उन्हें प्रेम प्रदान करने के लिए ही किया है।

इस दृष्टि से जीवन का मुख्य उद्देश्य प्रेम-प्राप्ति है। वह प्रेम तभी प्राप्त होगा, जब हम उनकी कृपा का आश्रय लेकर अपने को उन्हीं के समर्पित कर दें। इस बात के लिए चिन्तित न हों कि हम कैसे हैं। जैसे भी हैं उनके हैं; वे जैसे भी हैं अपने हैं। उनकी कृपा स्वयं हमें उनसे प्रेम करने के योग्य बना। लेगी। हमें तो केवल उनकी कृपा को अपना लेना है। उनकी गुणमयी माया तो प्राणियों को मोहित करती है, परन्तु उनकी कृपाशक्ति स्वयं उन शक्तिमान को मोहित कर देती है। अतः उनकी कृपा का आश्रय लेकर जो एक बार यह कह देता है कि, 'मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो', बस, वे सदा के लिए उसके हो जाते हैं। यही इस जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ है।

असंगता और प्रेम

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जिन मान्यताओं को हम अपने में स्वीकार कर लेते हैं, वे ही सीमित अहंभाव के स्वरूप में भासने लगती हैं। यदि हमने अपने को देह मान लिया, तो देह ही हमें अपना स्वरूप मालूम होने लगेगा, अर्थात् हम देह के अस्तित्व को

ही अपना अस्तित्व मानने लगेंगे। उसी प्रकार जितनी ऐसी मान्यताएँ हैं, जिनकी अपने में अभेद-भाव से स्थापना कर ली जाती है, वे सभी हमें अपने अस्तित्व के रूप में मालूम होती है और हम अपने को सीमित मानकर अनेक प्रकार की ममताएँ उत्पन्न कर लेते हैं; क्योंकि जो सीमित है, उसे अपने को जीवित रखने के लिए वस्तु एवं व्यक्ति आदि की अपेक्षा हो जाती है। फिर वह उनकी दासता में आबद्ध हो जाता है और उनके नष्ट होने पर क्षुब्ध होने लगता है। वस्तु, व्यक्ति आदि के बने रहने पर अपने को अभिमानी बनाता है। और मिटने पर दीन तथा अनाथ मानता है, अर्थात् दीनता और अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है।

सीमित अहंभाव अनेक प्रकार की मान्यताओं का समूह है और परिस्थिति अनेक प्रकार की ममताओं का केन्द्र है। यह नियम है कि अहंता के अनुरूप ही ममता उत्पन्न होती है। अत: जैसा हमारा 'अंह' होता है, उसी के अनुरूप 'मम होता है। 'अहं' और 'मम' का सम्बन्ध ही भोग है, जो अनेक प्रकार के रोग तथा शोक को उत्पन्न करता है।

भोग से विमुख होकर योग के सम्मुख होने के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि जिनसे हमारी ममता है, उन्हें क्या देना शेष है? यदि जो देना था, वह दे दिया और लेने की आशा का त्याग कर दिया है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भोग 'योग' में बदल जाएगा। भोग जीवन की अस्वाभाविक अवस्था है और योग जीवन की स्वाभाविकता है। अस्वाभाविकता तो प्राणी को जड़ता, परतन्त्रता, शक्तिहीनता आदि अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध करती है और स्वाभाविकता सामर्थ्य, चिन्मयता तथा स्वाधीनता की ओर गतिशील करती है। इस दृष्टि से भोग का योग में परिवर्तन करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि अस्वाभाविकता का विनाश स्वाभाविक है और स्वाभाविकता अविनाशी है।

अब यह देखना है कि सीमित अहंभाव का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि जिनसे हमारी ममता है, उनके अधिकारों का समूह और अपने अधिकार की लालसा ही सीमित अहंभाव है। किसी-न-किसी दृष्टि से सभी के प्रति हमारी ममता है, क्योंकि देह की ममता में ही सभी की ममताएँ निहित हैं और देह का विश्व से विभाजन हो नहीं सकता। अतः सभी के प्रति ममता स्वतः सिद्ध है।

इस दृष्टि से हमें क्रियात्मक रूप से और भावरूप से सभी के अधिकारों को सुरक्षित रखना है। क्रिया भले ही सीमित हो, पर भाव तो विभु हो ही सकता है। अतः क्रियात्मक रूप से सेवा भले ही सीमित हो, पर किसी का भी बुरा न चाहना, इस भाव का विभु होना सम्भव है। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके हृदय में सभी का हित विद्यमान रहता है।

जिनसे ममता है, उनके अधिकार की रक्षा करने से ही उनके प्रति राग की निवृत्ति हो सकती है और अपने अधिकार के त्याग से ही उनसे असंगता हो सकती है। रागहित होकर जब हम सब ओर से विमुख हो जाते हैं, तब नित्य-योग स्वतः प्राप्त हो जाता है। राग-रहित होने से नीरसता नहीं आती, अपितु रस की वृद्धि होती है और विमुख होने से उपेक्षा नहीं होती, प्रत्युत सभी से वह एकता प्राप्त होती है, जो वास्तव में प्रीति है। 'प्रीति' लोभ, मोह

और स्वार्थ की तो नाशक है, पर किसी वस्तु, व्यक्ति और सेवा की नहीं। प्रीति अनेकता

की नाशक है, एकता की नहीं, भिन्नता की नाशक है, अभिन्नता की नहीं, जड़ता की नाशक है, चिन्मयता की नहीं, नीरसता की नाशक है, नित-नव रस की नहीं और पराधीनता की नाशक है, स्वाधीनता की नहीं। प्रीति अधिकार-लालसा को मिटाती है, दूसरों के अधिकार की रक्षा को नहीं।।

इस दृष्टि से प्रीति सभी को अभीष्ट है। पर इसकी उपलब्धि तभी सम्भव है, जब नित्य-योग प्राप्त कर अहं' और 'मम' का अन्त कर दिया जाए। उसके लिए हमें सभी से विमुख होकर सभी से अभिन्न होना है। जिस प्रकार देह की आसक्ति से ही वस्तु, व्यक्ति आदि में आसक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार देह की विमुखता से वस्तु, व्यक्ति आदि की आसक्ति मिट जाती है। अतः देह से विमुख होने पर ही हम सभी से विमुख होकर प्रीति प्राप्त करके सभी से अभिन्न हो सकते हैं। अभिन्नता प्रीति से होती है और विमुखता विवेक से। इस दृष्टि से विवेक प्रीति की जागृति में हेतु है। विवेक सभी साधकों को स्वभाव से ही प्राप्त है। अत: प्रीति की प्राप्ति में कोई परतन्त्र नहीं है।

दूसरों के अधिकार की रक्षा के बिना साधक जड़ता से विमुख होकर चिन्मय जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता और अपने अधिकार के त्याग के बिना परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं हो सकता। समस्त विश्व एक वस्तु है। उसमें जो हमें अपने व्यक्तित्व का भास होता है, वह 'अहं' और 'मम' का परिणाम है, और कुछ नहीं। उस व्यक्तित्व को मिटाने के लिए ही जो कुछ भी योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुरूप में प्राप्त है, उसे विश्व की भेंट कर देना है; क्योंकि वास्तव में वह उसी का है। विश्व की वस्तु विश्व को देकर साधक अपने को अनन्त की प्रीति बना लेता है। यह नियम है कि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को कभी नहीं देखा।

अधिकार-लालसा का जन्म क्यों होता है? अपने को देह मान लेने पर, जो अविवेकसिद्ध है। अविवेक से उत्पन्न हुई अधिकार-लालसा विवेक से स्वत: मिट जाती है। अब यदि कोई यह कहे कि देह को सुरक्षित रखने के लिए तो हमें कुछ लेना ही होगा। तो कहना होगा कि ऐसी धारणा भी देह की ममता ही सिद्ध करती है, और कुछ नहीं। देह तो स्वभाव से ही बदल रही है। अतः उसको स्थिर बनाए रखने की लालसा कुछ अर्थ नहीं रखती। यह नियम है कि जिससे अपनी ममता न हो और जिसका उपयोग सभी के हित में हो, उसको सभी अपना मान लेते हैं।

अतः जब हमारी देह में ममता न रहेगी और देह का उपयोग सभी के हित में होगा, तब सभी उस देह को अपनी देह के समान सुरक्षित रखने का प्रयत्न करेंगे। उस समय लेना भी देना बन जाएगा। देह आदि वस्तुओं से ममता करके देना भी लेना हो जाता है, क्योंकि उससे प्राणी उन मान, बड़ाई, पद-लोलुपता आदि में आबद्ध हो जाते हैं, जो चिन्मय जीवन से विमुख कर देते हैं। अतः देह आदि की ममता का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

ममतारहित होते ही लेने का तो प्रश्न ही नहीं रहता, केवल देना-ही-देना रह जाता है। वह भी कब तक? जब तक सर्वस्व नहीं दे दिया जाता। अतः देह की ममता का त्याग करके साधक लेना बन्द कर देता है।

और सर्वस्व देकर देने से मुक्त हो जाता है। सर्वस्व देते ही साधक दिव्य चिन्मय प्रीति से अभिन्न हो जाता है। फिर प्रीति होकर अनेक रूपों में, अनेक परिस्थितियों में अपने प्रीतम को ही लाड़ लड़ाता है, अथवा यों कहो, कि नित-नव रस की वृद्धि करता है, क्योंकि प्रीति रसरूप है।

अब यदि कोई यह कहे कि हम उस अनन्त की तो प्रीति होना चाहते हैं, पर इस भौतिक जगत् की, जिसमें अनेक दोष दिखाई देते हैं, प्रीति कैसे हो सकते हैं? तो कहना होगा कि जब प्रीति से अभिन्नता हो जाती है, तब समस्त भौतिक जगत् उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति प्रतीत होता है, उसके बाद यह प्रश्न शेष नहीं रहता कि हम किसकी प्रीति हैं। प्रीति तो सभी की प्रीति है। पर यह अवश्य है कि वह किसी परिस्थिति आदि में आबद्ध नहीं है, सीमित नहीं है, विनाशी नहीं है; नित-नव है, दिव्य है, चिन्मय है और उसकी दृष्टि में प्रीतम से भिन्न कुछ नहीं है। क्योंकि प्रेम के साम्राज्य में प्रेमास्पद से भिन्न कुछ हुआ ही नहीं।

प्रेम के साम्राज्य में उन्हीं का प्रवेश होता है, जो विवेकपूर्वक अपने को कर्म, चिन्तन और स्थिति आदि से असंग कर लेते हैं। इस दृष्टि से प्रेम का साम्राज्य समाधि से अतीत है, जहाँ जड़ता, विषमता और भिन्नता का लेश नहीं है, केवल प्रीति और प्रीतम का ही ऐसा नित-नव दिव्य तथा चिन्मय विलास है, जिसमें अगाध और अनन्त रस निहित है।

दोषों का मूल-असावधानी

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि साधक के जीवन में प्राकृतिक नियम के अनुसार न तो न जानने का दोष है और न जाने हुए के अनुरूप जीवन बनाने के लिए सामर्थ्य का अभाव ही है, अर्थात् साधन की मूल सामग्री तो साधक को प्राप्त ही है। उसके सदुपयोग न करने में साधक की ही असावधानी है, जो उसका अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाए हुए दोष के मिटाने का दायित्व अपने पर ही है, किसी और पर नहीं। प्राप्त के सदुपयोग को ही 'साधन' कहते हैं। इस दृष्टि से साधन करने में साधक सर्वथा स्वाधीन है। साधन में पराधीनता की अनुभूति केवल साधक की असावधानी से ही उत्पन्न होती है।।

यदि साधक में न जानने का दोष होता, तो न तो उसे अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान होता और न दूसरों से भलाई की आशा होती। जब हम बुराई को बुराई जानते हैं, तभी तो अपने प्रति होने वाली बुराई "बुराई' मालूम होती है और जब हम भलाई को भलाई जानते हैं, तभी तो अपने प्रति दूसरों से भलाई की आशा करते हैं। हमसे सबसे बड़ी असावधानी यही होती है कि जानी हुई भलाई को दूसरों के प्रति नहीं करते, अपितु जानी हुई बुराई को दूसरों के प्रति करने लगते हैं। कर्म विज्ञान के अनुसार दूसरों के प्रति की हुई भलाई-बुराई अपने प्रति हो जाती है। इस दृष्टि से हम स्वयं अपनी अवनति अपने आप कर लेते हैं, क्योंकि दूसरों के अहित में अपनी अवनति निहित है।

अब विचार यह करना है कि हम बुराई को बुराई जानते हुए बुराई क्यों करते हैं? तो कहना होगा कि इन्द्रिय-ज्ञान में और बुद्धि के ज्ञान में जो द्वन्द्व है, उसी के कारण हम बुराई को बुराई जानकर भी उसका त्याग नहीं कर पाते। जिस काल में बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान पर विजयी हो जाता है, उसी काल में द्वन्द्व मिट जाता है, उसके मिटते ही बुराई का त्याग स्वतः हो जाता है और भलाई अपने आप होने लगती है, क्योंकि बुराई को तो किया जाता है और भलाई स्वतः होती है।

। इन्द्रिय-ज्ञान का दुरुपयोग राग उत्पन्न करता है। राग से भोग में प्रवृत्ति स्वाभाविक होने लगती है। भोग-प्रवृत्ति से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और भोग के परिणाम में भयंकर दुःख, अभाव, जड़ता एवं पराधीनता आ जाती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है।

इन्द्रिय-ज्ञान के सदुपयोग से राग की वास्तविकता का परिचय होता है। और विश्व के सौन्दर्य को देखकर उसके रचयिता की जिज्ञासा तथा लालसा जागृत् होती है। परन्तु हम असावधानी के कारण वस्तु, व्यक्ति आदि के सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो जाते हैं और इन्द्रिय-ज्ञान का दुरुपयोग करने लगते हैं, यही अवनति का मूल है। इस दृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग राग को अनुराग में परिवर्तित करके साधक को विश्व के रचयिता की ओर गतिशील होने की प्रेरणा देने में समर्थ है।

इन्द्रिय-ज्ञान तो वस्तु, व्यक्ति आदि में सीमित तथा परिवर्तनशील सौन्दर्य का दर्शन कराता है और बुद्धि का ज्ञान अन्य वस्तुओं की तो कौन कहे, अपने शरीर में क्षणभंगुरता एवं मलिनता का दर्शन करता है। यदि बुद्धि के ज्ञान का अनादर न किया जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक काम का अन्त हो जाता है, जो अनन्त नित्य सौन्दर्य की लालसा जागृत् करने में समर्थ है, क्योंकि काम का उद्गम स्थान अपने शरीर की सुन्दरता और सत्यता की प्रतीति में है, जो वास्तव में है नहीं। इस दृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का सदुपयोग किया जाए तो उनका द्वन्द्व मिट सकता है, जिसके मिटते ही समस्त बुराइयों का अन्त हो जाएगा और भलाई स्वतः होने लगेगी। अथवा यों कहो कि जो नहीं करना चाहिए, उसकी निवृत्ति हो जाएगी और जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगेगी। यही वास्तविक साधन है।।

प्राकृतिक नियम के अनुसार इन्द्रिय-ज्ञान सेवा के लिए मिला है, सुख-भोग के लिए नहीं और बुद्धि का ज्ञान त्याग के लिए मिला है, विवाद के लिए नहीं। सेवा से त्याग की पुष्टि होती है और त्याग से प्रेम की प्राप्ति होती है। सभी साधनों की परावधि त्याग में और त्याग की परावधि प्रेम में निहित है। साधन-दृष्टि से तो इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान, दोनों का उपयोग एक ही उद्देश्य की पूर्ति में निहित है।

सुख सेवा के लिए है, भोग के लिए नहीं और दुःख विवेक का आदर करने के लिए है, भयभीत होने के लिए नहीं। परिवर्तनशील जीवन की समस्त परिस्थितियाँ सुख तथा दुःख के स्परूप में ही प्रतीत होती हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति साधन रूप है। परन्तु हम अपनी असावधानी से सुख-दुःख का सदुपयोग नहीं कर पाते। इस कारण प्राप्त परिस्थिति हमारे लिए साधन रूप नहीं हो पाती, अपितु साधन में बाधक प्रतीत होती है। परन्तु यह बात वास्तव में है नहीं, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में सभी का हित है, किसी का अहित नहीं। अतः साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। इस दृष्टि से हमें प्राप्त परिस्थिति में ही साधन का निर्माण करना चाहिए।

साधन से न तो निराश होना चाहिए और न हार ही स्वीकार करनी चाहिए। जो साधक साधन करने से निराश नहीं होता और हार स्वीकार नहीं करता, वह अवश्य सिद्धि पाता है। असफलता का कारण एकमात्र साधन से निराश होना और हार स्वीकार करना है, जो साधक की अपनी ही असावधानी है।।

साधन का आरम्भ सेवा और त्याग से होता है और अन्त प्रेम में। साधक का अस्तित्व बीजरूप से साधन-तत्त्व ही है, और कुछ नहीं। अर्थात् साधक विकसित होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से साधन-तत्त्व से भिन्न साधक का और कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब यह समझ में आ जाता है कि साधन-तत्त्व ही साधक का अस्तित्व है, तब साधक का समस्त जीवन सेवा होकर त्याग में और त्याग होकर प्रेम में विलीन हो जाता है। अथवा यों कहो कि बीजरूप साधन-तत्त्व जो साधक को अस्तित्व है, वह सर्वप्रथम सेवारूपी वृक्ष के स्वरूप में विकसित होता है, उस पर वह त्यागरूपी फल लगता है, जिसमें प्रेमरूपी रस भरा है। उस रस की माँग अन्य किसी की तो बात ही क्या, अनन्त को भी है।

साधन के आरम्भ में जो सेवक है, वही मध्य में त्यागी है और अन्त में प्रेमी है। असाधनकाल में जो स्वार्थी है, वही रागी है और वही मोही है। अथवा यों कहो कि स्वार्थरूपी भूमि में ही रागरूपी वृक्ष उपजता है, जिस पर वह मोहरूपी फलं लगता है, जिसका परिणाम भयंकर और दुःखद है। .

स्वार्थ की उत्पत्ति का मूल कारण प्राप्त विवेक का अनादर है, और कुछ नहीं; अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान और बुद्धि-ज्ञान का दुरुपयोग है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधन-काल में न तो सामर्थ्य का अभाव है और न, न जानने का ही दोष है; केवल साधन करने की लालसा की न्यूनता है, जो साधक के जीवन को साधनरूप नहीं बनने देती।

साधन की लालसा सबल और स्थाई नहीं होती, इसका एकमात्र कारण यह है कि साधक जो कुछ जानता है, उसे मानता नहीं; यदि मान भी लेता है, तो उसके अनुरूप जीवन नहीं बनाता। यह साधक की अपनी ही असावधानी है।।

जो साधक अपने ज्ञान का आदर नहीं करता, वह गुरु और ग्रन्थ के ज्ञान का भी आदर नहीं कर सकता। जैसे, जो नेत्र के प्रकाश का उपयोग नहीं करता, वह सूर्य के प्रकाश का भी उपयोग नहीं कर पाता; उसी प्रकार जो साधक प्राप्त विवेक और बल का उपयोग नहीं कर पाता, वह किसी अन्य के दिए हुए बल और विवेक का भी उपयोग नहीं कर सकता। अतः यह निश्चित है कि प्राप्त विवेक के आदर और प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से ही साधन का निर्माण हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि साधन का क्रम क्या होना चाहिए? तो। कहना होगा कि सेवा करते हुए त्याग का सम्पादन करना चाहिए और त्याग को प्रेम में बदलने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब सेवा करने पर न तो सेवा का अभिमान हो और न सेवक कहलाने की रुचि ही। निरभिमानतापूर्वक की हुई सेवा स्वतः त्याग में बदल जाती है। त्याग का फल चिर-शान्ति और अमरत्व की प्राप्ति है। जब साधक शान्ति के रस में आबद्ध नहीं होता, तब त्याग प्रेम में बदल जाता है। सेवा, त्याग और प्रेम के साथ अहंभाव नहीं रहना चाहिए। ऐसा होने पर सेवा त्याग में और त्याग प्रेम में स्वतः विलीन हो जाता है अर्थात् सेवा त्याग और प्रेम तो हो, पर सेवक, त्यागी और प्रेमी न हो। अथवा यों कहो कि सेवक 'सेवा' होकर त्याग; त्यागी 'त्याग' होकर और प्रेमी प्रेम' होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाए। यही वास्तविक जीवन है।

गुण, दोष और उनकी निवृत्ति

वर्तमान जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि गुण-दोष का समूह ही जीवन है। गुणों को सीमित कर देने पर दोष भासने लगते हैं। परन्तु वास्तव में मानव का लक्ष्य गुण और दोष से अतीत वास्तविक जीवन को प्राप्त करना है। उसके लिए गुण और दोष के द्वन्द्व का अन्त करना होगा। यह तभी सम्भव है, जब दोष की उत्पत्ति न हो और गुणों का अभिमान गल जाए। उसके लिए प्राप्त विवेक के प्रकाश में वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि गुण और दोष के द्वन्द्व का अन्त कैसे हो? तो कहना होगा कि गुण और दोष के स्वरूप को जान लेने पर ही द्वन्द्व को अन्त हो सकता है। सभी को सुख देने के प्रयास को गुण कहते हैं; किन्तु केवल एक ही शरीर को सुखी रखने का प्रयास किया जाए, तो वह दोष हो जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुण को सीमित कर देना दोष हो जाता है। जिस प्रकार प्रकाश की न्यूनता ही अन्धकार है, अन्धकार का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; उसी प्रकार गुण की न्यूनता ही दोष है, दोष का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यदि दोष का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो वह मिट ही नहीं सकता था। मिटाना उसी को है, जो मिट सकता है और मिट वही सकता है, जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न हो, अपितु जो किसी कारण से प्रतीत होता हो।

ज्ञान की न्यूनता 'अज्ञान', प्रेम की न्यूनता 'द्वेष, त्याग की न्यूनता 'राग' और उदारता की न्यूनता 'लोभ' है। यद्यपि गुण और दोष अनेक नहीं हैं, परन्तु एक ही गुण स्थान-भेद से अनेक गुणों के रूप में और एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक दोषों के रूप में प्रतीत होता है। अब विचार यह करना है। कि मौलिक गुण और दोष क्या हैं? तो कहना होगा कि सभी दोष अविवेक में

और सभी गुण विवेक में विद्यमान हैं। अतः गुण और दोष का द्वन्द्व मिटाने के लिए विवेकरूपी प्रकाश में अविवेकरूपी अन्धकार का अन्त करना अनिवार्य है।

गुण और दोष का द्वन्द्व मिटते ही दोषों की उत्पत्ति नहीं होगी और गुणों का अभिमान न रहेगा। गुणों का अभिमान गलते ही सीमित अहंभाव मिट जाएगा, जिसके मिटते ही सब प्रकार के अभाव का अभाव हो जाएगा, जो वास्तविक जीवन है।

गुणों की पूर्णता में अभिमान का उदय नहीं होता। अभिमान का उदय तो तभी होता है, जब आंशिक गुण हों। आंशिक गुण में दोष की उपस्थिति का होना अनिवार्य है। वास्तविक निर्दोषता आ जाने पर न तो दोष को उत्पत्ति ही होती है और न गुणों को अभिमान ही रहता है।

सभी दोष अविवेक के कार्य हैं। अब विचार यह करना है कि अविवेक क्या है? तो कहना होगा कि अविवेक केवल विवेक का अनादर है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इस कारण विवेक के आदर में ही अविवेक का विनाश है। जिस प्रकार प्रकाश होने पर अन्धकार का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार विवेक का आदर करने पर सीमित अहंभावरूपी अन्धकार, जो अविवेक है, स्वतः मिट जाता है। उसके मिटते ही

समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि जिस भूमि में दोष निवास करते थे, वह भूमि ही शेष नहीं रहती।

अब विचार यह करना है कि विवेक का आदर क्या है? तो कहना होगा कि 'यह' को 'मैं न मानना ही विवेक का आदर है, जिसके करते ही सीमित अहंभाव मिट जाता है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपत् है, उसी प्रकार विवेक का आदर और अविवेक की निवृत्ति युगपत् है। 'यह' को 'मैं न मानने पर सभी दोष मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही स्वत: दिव्य गुण प्रकाशित होते हैं; क्योंकि यह' को 'मैं न मानने से कामनाओं का अन्त हो जाता है और कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होते ही सीमित अहंभाव-जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती, क्योंकि सभी कामनाओं का उद्गम स्थान जो 'यह' को 'मैं मानना था, वह शेष नहीं रहा।

अब यदि कोई यह कहे कि कामना-रहित होने पर क्या जिज्ञासा के आधार पर सीमित अहं नहीं रह सकता? तो कहना होगा कि कदापि नहीं; क्योंकि जिज्ञासा उसी की होती है, जिससे देश-काल की दूरी नहीं है और जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है और जो अविनाशी है, उसकी जिज्ञासा उसी में विलीन हो जाती है, यह प्राकृतिक विधान है। अतः कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर सीमित अहं का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यह नियम है कि सीमित अहं के मिटते ही 'मम' मिट जाता है तथा 'अहं' और 'मम' के नाश होते ही सीमित प्रीति अर्थात् सब प्रकार की आसक्तियाँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही सभी दोष मिट जाते हैं। फिर गुण और दोष का द्वन्द्व नहीं रहता।

कामनाओं की निवृत्ति में चिर-शान्ति और सामर्थ्य, जिज्ञासा की पूर्ति में अमरत्व और समस्त आसक्तियों की निवृत्ति में दिव्य चिन्मय प्रीति निहित है।

यद्यपि दिव्य चिन्मय प्रीति बीजरूप से सभी में विद्यमान है; परन्तु वह अविवेक से आच्छादित हो जाती है, अविवेक उसका विनाश नहीं कर सकता। इसी कारण प्राणिमात्र में किसी-न-किसी रूप में प्रीति रहती है, जैसे हिंसक प्राणी भी अपने शरीर से और अपने बच्चों से प्रीति करते हैं। प्रीति की न्यूनता में ही लोभ, मोह, आसक्ति, जड़ता एवं हिंसा आदि दोष उत्पन्न होते हैं और प्रीति की व्यापकता में ही निर्मोहता, निर्लोभता, अनासक्ति, चिन्मयता आदि दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव होता है।

इस दृष्टि से सभी दोषों का मूल, प्रीति की न्यूनता और सभी दिव्य गुणों के प्रादुर्भाव का हेतु, 'प्रीति की अनन्तता' है। प्रति न तो किसी कर्म का फल है और न अभ्यास का ही; क्योंकि कर्म का फल नित्य नहीं हो सकता और प्रीति नित्यतत्त्व है। अभ्यास अनन्त नहीं हो सकता, श्रमरहित नहीं हो सकता, अहंरहित नहीं हो सकता; परन्तु प्रीति श्रमरहित है, अहंरहित है, अनन्त है, और दिव्य चिन्मय है। इस दृष्टि से प्रीति की सिद्धि न किसी कर्म का फल है और न अभ्यास का।

अब विचार यह करना है कि प्रीति किसका फल है? तो कहना होगा कि प्रीति किसी का फल नहीं है, अपितु अनन्त का स्वभाव है। अविवेक के कारण प्रीति ढंकी-सी रहती है, जो विवेक का आदर करते ही ज्यों-की-त्यों स्वतः

जागृत हो जाती है; क्योंकि अविनाशी का स्वभाव भी विनाशरहित होता

यद्यपि कामना-निवृत्ति विवेकसिद्ध है; परन्तु विवेक का आदर करने में स्वाभाविक प्रियता इसलिए नहीं होती कि कामना-अपूर्ति के दुःख और कामना-पूर्ति के सुख के आक्रमणों से प्राणी क्षुब्ध रहता है। इस कारण विवेक का आदर करने में वह अस्वाभाविकता प्रतीत होने लगती है, जो वास्तविक नहीं है।

सुख-दुःख अपने-आप आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं, रहने वाली नहीं। यह भाव दृढ़ होते ही दुःख को हर्षपूर्वक सहन करने की और सुख का सद्व्यय करने की योग्यता स्वतः आ जाती है। सुख-दुःख का सदुपयोग करते ही विवेक का आदर स्वाभाविक हो जाता है।

विवेक के आदर में, अर्थात् अविवेक की निवृत्ति में चिर-शान्ति, अमरत्व और प्रेम स्वतः सिद्ध है। जिस प्रकार काष्ठ में विद्यमान अग्नि उससे प्रकट होकर उसी को भस्म कर देती है, उसी प्रकार प्रेमी में उत्पन्न हुआ 'प्रेम', जिज्ञासु में उत्पन्न हुआ 'ज्ञान' और योगी में उत्पन्न हुआ 'योग' प्रेमी, जिज्ञासु एवं योगी को भस्म करके प्रेम, ज्ञान और योग से अभिन्न कर देता है, जो उस अनन्त को विभूतियाँ हैं।

अहं भाव के रहते हुए योग, ज्ञान और प्रेम में भले ही भिन्नता प्रतीत होती हो, परन्तु अहं के गलते ही वह अभिन्नता में परिवर्तित हो जाती है; अर्थात् योग, ज्ञान और प्रेम का विभाजन नहीं हो सकता। ये सब उस एक ही जीवन में हैं, जिसकी प्राप्ति गुण और दोष का द्वन्द्व मिटने पर अहंभाव के गलते ही स्वतः सिद्ध है।

साधनरूप मान्यताएँ

जीवन के अध्ययन के यह स्पष्ट विदित होता है कि सभी को अपना मान लेने में, किसी एक को ही अपना मान लेने में, अथवा किसी को भी अपना न मानने में जीवन की सार्थकता निहित है।

सभी को अपना मान लेने पर स्वार्थभाव गल जाता है, उसके गलते ही राग-द्वेष मिट जाते हैं और त्याग तथा प्रेम स्वभाव से ही उदित हो जाते हैं। त्याग से अमरत्व और प्रेम से अगाध रस की उपलब्धि होती है, जो सभी को अभीष्ट है।

किसी एक को ही अपना मान लेने पर अनेक विश्वास, अनेक सम्बन्ध, अनेक चिन्तन टूट जाते हैं। प्रत्येक कार्य मोहरहित एवं उसी एक के नाते होने लगते हैं। कार्य के अन्त में उसी अनन्त की वह प्रीति स्वतः जागृत होती है, जो उससे अभिन्न करने में समर्थ है; क्योंकि प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती।।

किसी को भी अपना न मानने से जीवन ही में मृत्य का अनुभव होता है, अर्थात् सब ओर से निराशा हो जाती है, जिसके होते ही प्राणी सब ओर से विमुख होकर अपने ही में प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

उपर्युक्त सभी मान्यताएँ साधनरूप हैं। यह नियम है कि मान्यताओं का भेद तभी तक रहता है, जब तक मान्यता के अनुरूप साधक का जीवन नहीं हो जाता। साधक और साधन में अभिन्नता हो जाने पर सभी साधनरूप मान्यताओं का परिणाम एक ही होता है; क्योंकि सभी साधकों की वास्तविक आवश्यकता एक है। केवल योग्यता-भेद होने के कारण साधन निर्माण के लिए

ही मान्यताओं का भेद है। जिस प्रकार आरोग्य सभी रोगियों का एक है, पर रोगों का भेद होने के कारण चिकित्सा में भेद रहता है, उसी प्रकार साधकों की योग्यता में भेद होने के कारण साधनरूप मान्यताओं का ही भेद रहता है, साध्य का नहीं।

सभी को अपना न मानने पर राग-द्वेष आदि अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं; कारण, कि जिन्हें हम अपना मान लेते हैं, उनसे राग होता है। यह नियम है कि किसी का राग ही किसी का द्वेष बन जाता है, क्योंकि सभी दोष द्वन्द्वात्मक होते हैं।

अब यह विचार करना है कि हम सभी को अपना क्यों नहीं मानते हैं? तो कहना होगा कि सुख-भोग की आसक्ति के कारण हम सभी को अपना नहीं मान पाते क्योंकि काम ही भेद को उत्पन्न करता है, जो अविवेकसिद्ध है।

किसी एक को ही अपना ने मानने से अनेक विश्वास, अनेक सम्बन्ध, अनेक चिन्तन उत्पन्न हो जाएँगे। अनेक विश्वास सदैव संदेहयुक्त होते हैं। अतः अनेक विश्वासों के रहते हुए नि:संदेहता नहीं आएगी। नि:संदेहता के बिना किसी कार्य को सुचारु रूप से नहीं कर सकेंगे। उसके बिना परिस्थिति का सदुपयोग सम्भव नहीं है। परिस्थितियों का सदुपयोग किए बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होगी, न परिस्थितियों की दासता से मुक्त हो सकेंगे और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उपलब्धि ही होगी।

इस दृष्टि से अनेक विश्वास अनेक दोष उत्पन्न करने में समर्थ हैं। अनेक विश्वास के कार्य अनेक सम्बन्ध और अनेक चिन्तन हैं। अनेक चिन्तन सार्थक चिन्तन को और अनेक सम्बन्ध नित्य-योग को जागृत् नहीं होने देते।

नित्य-योग के बिना चिर-शान्ति और अमरत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती तथा सार्थक-चिन्तन के बिना न तो व्यर्थ-चिन्तन मिट सकता है और न प्रीति की जागृति ही होती है। प्रीति के बिना प्रीतम से अभिन्नता और नित-नव रस की उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से अनेक विश्वास अनेक सम्बन्ध और अनेक चिन्तनों का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। उन सबका अन्त तभी हो सकता है, जब हम किसी एक के ही होकर रहें, क्योंकि एक का होकर रहने से ही नित्य-योग की उपलब्धि एवं प्रीति की जागृति होगी।

'समस्त विश्व एक जीवन है, इसका अनुभव उन्हीं को हो सकता है, जो इन्द्रियों के अल्पज्ञान को ही ज्ञान न मानकर बुद्धि के ज्ञान से समस्त विश्व को जानने का प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार लहर और समुद्र का विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार शरीर और विश्व का विभाजन नहीं हो सकता। सभी नेत्र एक ही सूर्य से प्रकाश पाते हैं, सभी श्रोत्र एक ही आकाश से शब्द सुनते हैं इत्यादि। अर्थात् समष्टि शक्तियों से ही शरीर की सीमित शक्तियाँ कार्य करती हैं और समष्टि के अस्तित्व में ही शरीर का अस्तित्व निहित है। विश्व की एकता का ज्ञान ही सभी को अपना मानने की प्रेरणा देता है।

अब विचार यह करना है कि किसी एक को ही अपना मानने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है? इस पर कहना होगा कि समस्त विश्व की पर-प्रकाश्यता एवं इसके सतत् परिवर्तन का ज्ञान किसी स्वयं प्रकाश एवं अपरिवर्तनशीलता की लालसा जागृत करता है। उसी लालसा के आधार पर किसी एक को

अपना मानने की प्रेरणा मिलती है। अथवा यों कहो कि प्रेम का आदान-प्रदान करने के लिए किसी एक नित्य साथी की आवश्यकता स्वाभाविक है, उसके आधार पर भी किसी एक का होकर रहने की प्रेरणा मिलती है।

निज-विवेक के प्रकाश में समस्त विश्व काल-रूपी अग्नि में जलता हुआ प्रतीत होता है, तब नित्य-जीवन की जिज्ञासा स्वतः जागृत होती है। उसी जिज्ञासा के आधार पर सभी से विमुख होने की प्रेरणा मिलती है, जो किसी का होकर नहीं रहने देती, अर्थात् वह मृत्यु से अमरत्व की ओर तथा असत् से सत् की ओर गतिशील करने में समर्थ है। जीवन के अध्ययन से प्राप्त प्रेरणा का आदर न करने पर साधन का निर्माण सम्भव ही नहीं है और साधन-निर्माण के बिना साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस दृष्टि से प्राप्त प्रेरणा का आदर करना अनिवार्य है।

साधनरूप मान्यताएँ तथा प्रेरणाएँ सभी आदरणीय हैं। उनमें-से-किसी भी मान्यता और प्रेरणा के अनुरूप साधन-निर्माण कर सकते हैं। साधन करने में असमर्थता नहीं है, अपितु असावधानी है, जो साधन की रुचि जागृत होने पर मिट सकती है।

यद्यपि बीजरूप से साध्य की लालसा प्रत्येक साधक में विद्यमान है; परन्तु अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति एवं स्वाभाविक लालसा की जागृति के लिए निज-ज्ञान का आदर करना अनिवार्य हो जाता है। अथवा यों कहो कि जाने हुए असत् के त्याग से अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति और स्वाभाविक लालसा की जागृति स्वतः हो जाती है, जो साधने-निर्माण करने में समर्थ है।

साधन-निर्माण वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है; क्योंकि जो कार्य वर्तमान में करने का है, उसे वर्तमान ही में करना चाहिए। साधन का आरम्भ अहं के परिवर्तन से होता है। जिस प्रकार अपने को विद्यार्थी मान लेने पर अध्ययन का आरम्भ होता है, उसी प्रकार अपने को साधक मान लेने पर साधन का आरम्भ होता है। जो अपने को साधक मानता है, वह अपने को देह नहीं मान सकता। अपने को देह न मानने से विषयाशक्ति स्वतः मिटने लगती है। उसके मिटते ही साधक की मान्यता के अनुरूप उस साधन का उदय स्वतः हो जाता है, जो साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है और जिसमें जीवन की वास्तविकता निहित है।

अस्वाभाविकता और उसकी निवृत्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि अस्वाभाविकता ही असमर्थता, अभाव तथा प्रमाद में आबद्ध करती है। अब विचार यह करना है कि अस्वाभाविकता का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि अनन्त से विभाजित हो जाना ही अस्वाभाविकता है, अर्थात् अपने प्रिय से भिन्न भी कोई और है, ऐसी मान्यता ही वास्तव में प्रमाद है। इस प्रमाद से ही चाह की उत्पत्ति हुई है और अनेक प्रकार के अभाव प्रतीत होने लगे हैं, जिनके कारण प्राणी पराधीनता और असमर्थता में आबद्ध हो गए हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि जो स्वत: होना चाहिए, उसे भी वे नहीं कर पाते।

अब विचार यह करना है कि स्वतः क्या होना चाहिए? तो कहना होगा कि योग, ज्ञान और प्रेम ये तीनों स्वतः होने चाहिएँ; क्योंकि इनके लिए

किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। वस्तु की चाह लोभ उत्पन्न करती है, अवस्था की चाह जड़ता उत्पन्न करती है और किसी परिस्थिति की चाह सीमित बनाती है, अथवा यों कहो कि मोह में आबद्ध करती है। परन्तु जिसकी प्राप्ति के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, उसकी प्राप्ति तो स्वाभाविक होनी चाहिए। इस दृष्टि से योग, ज्ञान और प्रेम वर्तमान की वस्तुएँ हैं और स्वभावसिद्ध हैं। जो स्वभावसिद्ध हैं, उनके लिए हम अस्वाभाविक साधनों को अपनाते हैं, यही प्रमाद है।

अब अस्वाभाविक और स्वाभाविक साधनों पर विचार करना है। संकल्प-निवृत्ति की अपेक्षा संकल्प-पूर्ति अस्वाभाविक है। अतः जो साधन संकल्प-पूर्ति के आधार पर होते हैं, वे सभी अस्वाभाविक हैं; क्योंकि संकल्प की उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है। अतः उनकी पूर्ति के आधार पर किया हुआ साधन स्वाभाविक हो ही नहीं सकता। अब यदि कोई यह कहे कि संकल्प-निवृत्ति की साधना कैसे स्वाभाविक है? तो कहना होगा कि संकल्प की उत्पत्ति और पूर्ति से पूर्व जो जीवन है, क्या उसमें कोई अस्वाभाविकता है? कदापि नहीं। अतः संकल्प-निवृत्ति की साधना ही स्वाभाविक साधना है। संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व किसी प्रकार का भेद तथा किसी प्रकार का अभाव सिद्ध नहीं होता। अभाव का अभाव होने पर योग, ज्ञान, प्रेम स्वतः सिद्ध है। अभाव ही भोग की उस रुचि को उत्पन्न करता है, जो अभाव ही उस भेद को उत्पन्न करता है, जो ज्ञान नहीं होने देता और अभाव ही उस भिन्नता को उत्पन्न करता है, जो प्रेम नहीं होने देती।

अभाव का अभाव करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि संकल्प-पूर्ति की दासता से और संकल्प-निवृत्ति के अभिमान से अपने को मुक्त कर लिया जाए; अर्थात् चाह की उत्पत्ति न हो और अचाह हो जाने का अभिमान भी न हो; क्योंकि जिस गुण के साथ अहं मिल जाता है, वह गुण भी दोष हो जाता है।

चाह की उत्पत्ति का मूल, अपने में देहभाव को स्वीकार करना है। अथवा यों कहो कि अपना सीमित अस्तित्व स्वीकार करना ही चाह का उद्गम स्थान है। देह का सृष्टि से विभाजन नहीं हो सकता और सृष्टि अपने प्रकाशक से भिन्न नहीं हो सकती। हाँ, यह हो सकता है कि सृष्टि अपने प्रकाशक के सर्वांश में न होकर किसी एक अंश में हो। जस प्रकार कोई भी लहर समुद्र से विभाजित नहीं हो सकती और केवल लहों को ही समुद्र नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार न तो सृष्टि को ही प्रकाशक कहा जा सकता है। और न सृष्टि अपने प्रकाशक से भिन्न ही हो सकती है। इस दृष्टि से हम सभी उसी प्रकाशक की अभिव्यक्ति मात्र हैं, और कुछ नहीं।

अब यदि हम अपने सीमित अस्तित्व को, जो वास्तव में नहीं है, उस अनन्त को समर्पित कर दें, जिसकी हम अभिव्यक्ति हैं, तो वर्तमान में ही चाह-अचाह के जाल से मुक्त हो सकते हैं। चाह से मुक्त होते ही बन्धन टूट जाते हैं, पराधीनता मिट जाती है, शक्तिहीनता शेष नहीं रहती और अचाह का अभिमान गलते ही अभिन्नता आ जाती है, जो दिव्य चिन्मय प्रीति प्रदान करने में समर्थ है। प्रीति का उदय होते ही न तो अरुचि-जैसी कोई वस्तु शेष रहती है और न किसी प्रकार का श्रम रहता है। अरुचि तथा श्रम का अन्त होते ही अस्वाभाविकता मिट जाती है, उसके मिटते ही प्रीति और प्रीतम का नित-नव मिलन अनेक

प्रकार से होता रहता है, जो रसरूप है, दिव्य है और चिन्मय है।

अब यदि कोई पूछे कि या जीवन में श्रम तथा अरुचि का कोई स्थान ही नहीं है? तो कहना होगा कि श्रम का स्थान आलस्य मिटाने में है, प्रिय के पाने में नहीं। अरुचि का स्थान सुख-भोग के त्याग में है, प्रीति के उदय में नहीं। इतना ही नहीं, अरुचि ही वास्तव में अनेक रुचियों को जन्म देती है। और श्रम ही आलस्य को उत्पन्न करता है। पर यह रहस्य तब समझ में आता है, जब देह का अभिमान गल जाए। अब यदि कोई यह कहे कि अरुचि ने अनेक रुचियों को जन्म कैसे दिया? तो कहना होगा कि अरुचि प्रतिकुलता से उत्पन्न होती है और प्रतिकूलता कामना की अपूर्ति में प्रतीत होती है। कामना की उत्पत्ति मिथ्या अभिमान से होती है। कामना-पूर्ति के लिए ही अनेक प्रकार की रुचियाँ उत्पन्न होती हैं और रुचि-पूर्ति के लिए श्रम अपेक्षित होता है। इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि कामना-अपूर्ति के दु:ख ने अरुचि को उत्पन्न किया और कामना-पूर्ति के लालच ने अनेक रुचियों को जन्म दिया। इन सब का मूल, केवल मिथ्या अभिमान है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अरुचि ने ही अनेक रुचियों को और श्रम ने ही आलस्य को जन्म दिया है; क्योंकि कामना-पूर्ति के लिए ही श्रम अपेक्षित है; योग, ज्ञान, तथा प्रेम के लिए नहीं।

अभाव, श्रम और अरुचि-ये तीनों तभी तक निवास करते हैं, जब तक हम उस अनन्त के समर्पित नहीं हो जाते, अर्थात् उसके सम्मुख नहीं हो जाते, जिससे विमुख हो गए हैं। अभाव अविवेक सिद्ध है, श्रम देहाभिमान से उत्पन्न होता है और अरुचि प्रीति की न्यूनता में उत्पन्न होती है। अरुचि त्याग नहीं है, द्वेषपूर्वक सम्बन्ध है और श्रम पुरुषार्थ नहीं है, अपितु देहाभिमान का प्रतीक है। अभाव स्वरूप से नहीं है, अपितु प्रमाद से है। अरुचि किसी को समस्त विश्व से नहीं होती, अपितु किसी अंश से होती है। इस दृष्टि से अरुचि त्याग नहीं है। पुरुषार्थ से अहंभाव गल जाता है और श्रम का जन्म सीमित अहंभाव से होता है। इस दृष्टि से श्रम पुरुषार्थ नहीं है।

चाह की उत्पत्ति में ही अभाव की प्रतीति होती है और चाह की उत्पत्ति, जो नहीं है, उसको स्वीकार करने पर होती हैं। अतः अभाव स्वरूप से नहीं है, अपितु प्रमाद से ही है।

अब यदि कोई यह कहे कि श्रमरहित होने का उपाय क्या है? तो कहना होगा कि सर्वप्रथम चाह और अचाह के जाल से मुक्त हो जाएँ, फिर अपनी सीमित शक्तियों को अनन्त शक्ति के समर्पित कर दें। ऐसा करने पर जिससे समस्त सृष्टि गतिशील हो रही है उसी से सब कुछ होगा। उसके लिए चिन्ता व्यर्थ है। श्रमरहित होने का अर्थ कर्तृत्व के अभिमान से रहित होना है, कर्तव्य से रहित होना नहीं। कर्तव्य के लिए तो अनन्त शक्ति स्वतः कार्य कर रही है। हमें अपनी सीमित शक्तियों को उसी से मिला देना है, अर्थात् 'करना', 'होने में परिवर्तित कर देना है।

अब यदि कोई कहे कि रुचि तो राग उत्पन्न कर देगी। तो कहना होगा कि राग तो सुख-भोग से उत्पन्न होता है, जो रुचि-अरुचि के द्वन्द्व से सिद्ध है। केवल रुचि तो अनुराग उत्पन्न कर देगी, राग नहीं। अनुराग विभु है और राग वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध है। अत: अरुचि से रहित जो रुचि है, वह राग उत्पन्न नहीं कर सकती, अपितु प्रीति जागृत् करती है।

सीमित श्रम का अभिमान गलते ही अनन्त शक्ति कार्य करने लगती है। और अरुचि

का अन्त होते ही केवल प्रीति-ही-प्रीति शेष रह जाती है, जो सर्वदा सर्वत्र अपने प्रीतम को ही लाड़ लड़ाती है। प्रीति होकर जहाँ देखोगे, वहाँ प्रीतम पर ही दृष्टि पड़ेगी और प्रीति होकर जो सुनोगे, उसमें प्रीतम की ही आवाज सुनाई देगी। प्रीति होकर जहाँ मिलोगे, वहाँ प्रीतम से ही मिलन होगा। प्रीति होकर जो करोगे, वह प्रीतम की ही पूजा होगी; क्योंकि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न किसी और को देखा ही नहीं। अथवा यों कहो कि प्रीति में एकमात्र प्रीतम ही निवास करता है, कोई दूसरा नहीं।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या सब ओर से विमुख होने पर ही हम सत्य से अभिन्न हो सकते हैं? तो कहना होगा कि जो सत्य सब ओर से विमुख होने पर प्राप्त होता है, वही सभी के सम्मुख होने से भी मिल सकता है; अर्थात् जिसकी उपलब्धि त्याग से होती है, उसी की प्रेम से भी होती है। त्याग विमुखता का पाठ पढ़ाता है और प्रेम सम्मुखता का। जब तक किसी और की स्वीकृति है, तब तक त्याग साधन है और जब कोई और है ही नहीं, तब प्रेम ही साधन है और प्रेम ही साध्य है। अथवा यों कहो कि त्यागरूपी भूमि में ही प्रेमरूपी-वृक्ष उत्पन्न होता है, अर्थात् त्याग का फल ही प्रेम है।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या मृत्यु और अनुकूल संयोग का वियोग भी रुचिकर होना चाहिए? तो कहना होगा, अवश्य; कारण, कि किसी भी संयोग से नित्य-योग नहीं हो सकता। नित्य-योग एकमात्र वियोग से ही सिद्ध है। इस दृष्टि से संयोग की अपेक्षा वियोग कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। किसी की मृत्यु में ही किसी का जन्म निहित है। इस दृष्टि से नवीन जन्म के लिए मृत्यु अपेक्षित है। इतना ही नहीं, यदि मृत्यु को जीवन में ही अपना लिया जाए, तो अमरत्व की प्राप्ति मृत्यु से ही होती है। अत: मृत्यु जीवन से अधिक महत्त्व की वस्तु है। परन्तु देह की आसक्ति मृत्यु का भय उत्पन्न करती है, जो अविवेकसिद्ध है।

अरुचि के रहते हुए दिव्य चिन्मय प्रीति का उदय नहीं हो सकता और प्रीति के बिना योगी की योग से, जिज्ञासु की तत्त्व से और प्रेमी की प्रेमास्पद से अभिन्नता नहीं हो सकती। इस सृष्टि से अरुचि का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि उस अनन्त में ही योगी के योग की, जिज्ञासु की जिज्ञासा की और प्रेमी के प्रेम की परावधि है। अनन्त से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता हो ही नहीं सकती। तो फिर अरुचि किससे की जाए?

अरुचि से अरुचि होते ही योग, ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होता है, जो वास्तविक जीवन है। अत: अस्वाभाविकता से उत्पन्न होने वाली अरुचि का अन्त करके दिव्य चिन्मय प्रीति को जागृत करना ही वह वास्तविक साधन है, जो स्वाभाविकता को अपना लेने पर स्वतः सिद्ध है।।

स्वाभाविकता आते ही सभी व्यक्तियों में, सभी वस्तुओं में और सभी परिस्थितियों में अपने प्रीतम का ही दर्शन होगा; क्योंकि सर्वत्र सर्वदा सब कुछ उस अनन्त की ही विभूतियाँ हैं, अन्य कुछ नहीं।

अब यदि कोई कहे कि ध्यान में दीखने वाली ज्योति में ही, तथा ध्यान में अनुभव होने वाली दिव्य आकृतियों में ही उस अनन्त का दर्शन होता है। तो पूछना होगा कि क्या वह ध्यान भी कोई ध्यान है, जिससे उत्थान हो जाए? यदि ध्यान में अनन्त का दर्शन होता है, तो ध्यान के उत्थान में किसका दर्शन होता है? क्या अनन्त से भिन्न किसी और की सत्ता है? कदापि नहीं। जिसे हम ध्यान में देखते हैं, उसी को हमें ध्यान से उत्थान होने पर भी

देखना है। तभी ध्यानी का ध्यान अखण्ड़ होगा और उसे सर्वत्र अपने प्रीतम को ही अनुभव होगा; भीतर-बाहर का भेद मिट जाएगा, जिसके मिटते ही उस अनन्त नित्य चिन्मय दिव्य जीवन से अभिन्नता हो जाएगी, जो सभी का सब कुछ है।

विवेक से प्रीति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन की सार्थकता उसे विवेक-दृष्टि से अथवा प्रीति-निर्मित दृष्टि से देखने पर या दृष्टि को उसके उद्गम स्थान में विलीन करने पर ही हो सकती है, क्योंकि विवेक-दृष्टि निर्दोष बनाती है और प्रीति-निर्मित दृष्टि प्रीतम से मिलाती है तथा दृष्टि को अपने उद्गम स्थान में विलीन होना अमरत्व से अभिन्न करता है। निर्दोषता, प्रीति एवं अमरत्व की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

अब विचार यह करना है कि उपर्युक्त दृष्टियों में से सर्वप्रथम किस दृष्टि का उपयोग करना चाहिए? तो कहना होगा कि निर्दोषता आने पर ही प्रीति का उदय होता है और अमरत्व से अभिन्नता होती है। इस कारण सर्वप्रथम विवेक-दृष्टि का उपयोग करना अनिवार्य है।

विवेक-दृष्टि में अपने बनाए हुए दोष का ज्ञान तथा उसकी निवृत्ति का उपाय विद्यमान है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब विवेक-दृष्टि का उपयोग केवल अपने वर्तमान जीवन पर ही किया जाए, किसी अन्य पर नहीं। जिस प्रकार एक जल-कण के ज्ञान में समस्त जल का ज्ञान निहित है, उसी प्रकार अपने वर्तमान जीवन के ज्ञान में समस्त विश्व का ज्ञान निहित है; क्योंकि व्यक्तिगत जीवन समष्टि जीवन का एक अंग है, और कुछ नहीं।

विवेक-दृष्टि से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इतना ही नहीं, समस्त दृश्य किसी का प्रकाश है, और कुछ नहीं। वस्तु आदि के परिवर्तन का ज्ञान नित्य-जीवन की आवश्यकता जागृत् करता है तथा प्रकाश प्रकाशक की ओर गतिशील होने की प्रेरणा देता है। नित्य-जीवन की आवश्यकता अनित्य जीवन की कामनाओं को खा लेती है। कामना-रहित होते ही आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। कामनाओं की निवृत्ति में निर्दोषता और आवश्यकता की पूर्ति में नित्य-जीवन की प्राप्ति निहित है।

निर्दोषता आते ही राग-द्वेष का अन्त हो जाता है। राग-द्वेष रहित होते ही इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि अपने प्रकाशक में विलीन हो जाती है। अथवा यों कहो कि इन्द्रियों के प्रकाश में जगत् की प्रतीति है। इन्द्रियाँ मन के, मन बुद्धि के और बुद्धि उस अनन्त के प्रकाश से प्रकाशित है, जो सभी से अतीत है। इस दृष्टि से समस्त दृश्य उस अनन्त का प्रकाश है। प्रकाश में सत्ता प्रकाशक की ही होती है। अतः प्रकाश और प्रकाशक का विभाजन नहीं हो सकता, अपितु प्रकाश अपने प्रकाशक से अभिन्न हो सकता है। वास्तव में यही नित्य-योग है।

दृश्य के संयोग से भोग और उसकी विमुखता में नित्ययोग स्वतः सिद्ध है। नित्य-योग संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त करने में समर्थ है। उसके होते ही चिर-शान्ति, अमरत्व एवं प्रीति की जागृति स्वतः हो जाती है; क्योंकि जब दृष्टि अपने उद्गम-स्थान में विलीन हो

जाती है, तब किसी प्रकार का भय तथा अभाव शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है। फिर दिव्य चिन्मय प्रीति-निर्मित दृष्टि प्राप्त होती है। प्रीति ने अपने प्रीतम से भिन्न कभी किसी को देखा ही नहीं। प्रीति की दृष्टि में सृष्टि नहीं है, क्योंकि सृष्टि तो केवल अविवेक से उत्पन्न हुई। दृष्टि से प्रतीत होती है, जो नित्य-योग प्राप्त होने पर शेष नहीं रहती।।

प्रीति उस अनन्त का स्वभाव है और विवेकी का जीवन है, अर्थात् विवेकी का अस्तित्व प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। प्रीति सब प्रकार की आसक्तियों को अपने में विलीन कर लेती है। अथवा यों कहो कि समस्त आसक्तियाँ गलकर प्रीति के स्वरूप में बदल जाती हैं। प्रीति रसरूप है, असीम है, दिव्य और चिन्मय है एवं अविनाशी होने के कारण नित-नव भी है। प्रीति की न कभी पूर्ति होती है, न निवृत्ति और न क्षति ही; क्योंकि प्रीति अनन्त का स्वभाव होने के कारण अनन्त है।

प्रीति की प्राप्ति उन्हीं साधकों को होती है, जो विवेकपूर्वक अपने को वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्न कर लेते हैं। अर्थात् अपने सहित अपना सर्वस्व समर्पण करने पर ही प्रीति की उपलब्धि हो सकती है, क्योंकि 'अहं' और 'मम' का नाश हुए बिना प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता।

'अहं' और 'मम' का नाश करने के लिए विवेकपूर्वक अविवेक का अन्त करना अनिवार्य है। अविवेक का अन्त होते ही सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। चाहरहित होते ही अप्रयत्न होना ही प्रयत्न रह जाता है, जो 'अहं' और 'मम' का नाश करने में समर्थ है।

विवेक-दृष्टि में सृष्टि का अन्त है, प्रीति की दृष्टि में प्रीतम की प्राप्ति है। सृष्टि का अपने उद्गम स्थान में विलय होने में ही अमरत्व की प्राप्ति है। . विवेक की दृष्टि साधन का आरम्भ है और सृष्टि का अन्त अथवा प्रीति की दृष्टि साधन का अन्त है। अतः विवेकपूर्वक दृष्टि को उसके उद्गम स्थान में विलीन करके प्रीति-निर्मित दृष्टि प्राप्त करने में ही जीवन की सार्थकता है, जो वर्तमान की वस्तु है।

उद्देश्य और उसकी पूर्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि उद्देश्य का ज्ञान और उसकी पूर्ति की लालसा जागृत् होने पर प्राणी स्वभाव से ही अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए तत्पर हो जाता है, क्योंकि उद्देश्य वही हो सकता है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से हो, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो, जिसकी पूर्ति में किसी का अहितं न हो और समस्त प्रवृत्तियाँ उसी के लिए हों; अर्थात् समस्त जीवन उस एक लालसा की पूर्ति में ही लग जाए।

अब विचार यह करना है कि उद्देश्य को ज्ञान कैसे हो? उसके लिए हमें अनेक इच्छाओं के मूल में अपनी स्वाभाविक आवश्यकता को जानना होगा, क्योंकि आवश्यकता के ज्ञान में ही उद्देश्य का ज्ञान विद्यमान है। आवश्यकता उसी का नाम है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो, जिसके लिए अनेक इच्छाओं का त्याग किया जा सके; पर जिसका त्याग किसी भी प्रकार न हो सके। जिस आवश्यकता का त्याग किसी प्रकार नहीं हो सकता, उसका ज्ञान तभी संम्भव होगा, जब हम उन सभी इच्छाओं का त्याग कर दें, जिनकी पूर्ति के बिना सुखपूर्वक अथवा दुःखपूर्वक रह सकते है।

सभी बाह्य वस्तुओं और व्यक्तियों का त्याग हम गहरी नींद के लिए कर देते हैं। परन्तु यदि जड़ता-रहित सुषुप्ति प्राप्त हो जाए, तो उसके लिए गहरी नींद की भी त्याग कर सकते हैं। जाग्रत् और स्वप्न, दोनों अवस्थाएँ सुषुप्ति में विलीन होती हैं। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं का ज्ञान जाग्रत् और स्वप्न में भी रहता है; परन्तु सुषुप्ति का ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में स्पष्ट नहीं होता, केवल सुखपूर्वक निद्रा की स्मृति ही जाग्रत् में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति-अवस्था के सुख की अनुभूति है, क्योंकि बिना अनुभूति के स्मृति सम्भव नहीं है। परन्तु प्रत्येक अवस्था का त्याग होता है।

अतः सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन की आवश्यकता ही स्वाभाविक आवश्यकता है। अथवा यों कहो कि जो सभी अवस्थाओं का प्रकाशक है, उसकी आवश्यकता ही स्वाभाविक आवश्यकता हो सकती है। इस दृष्टि से जो वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है और सभी का प्रकाशक है, उसकी प्राप्ति और उसकी प्रीति हमारा उद्देश्य है। यद्यपि सत्तारूप से वह सर्वदा प्राप्त है; परन्तु वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की आसक्ति ने हमें उससे विमुख कर दिया है।

जिससे हमें उद्देश्य का ज्ञान होता है, उसी ज्ञान में उद्देश्यपूर्ति के साधनों का भी ज्ञान विद्यमान है। जब हम जानते हैं कि जाग्रत् और स्वप्न में सुख और दुःख दोनों ही होते है और सुषुप्ति में किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता; तब उसका कारण एकमात्र यह हुआ कि जाग्रत् और स्वप्न में तो दृश्य से सम्बन्ध रहता है, परन्तु सुषुप्ति में जाग्रत् और स्वप्न का दृश्य अपने कारण में विलीन हो जाता है। दृश्य के विलीन होने पर दुःख नहीं रहता। इस अनुभूति के आधार पर यदि हमें जाग्रत् में ही अपने को समस्त दृश्य से विमुख कर लें, तो दुःख का अन्त हो जाएगा और सुषुप्ति की भाँति जड़ता भी नहीं रहेगी।

अब विचार यह करना है कि समस्त दृश्य से विमुखता प्राप्त करने के लिए क्या करना होगा? तो कहना होगा कि दृश्य के स्वरूप को यथार्थ ज्ञान होने पर ही दृश्य से विमुखता सम्भव है।

दृश्य का स्वरूप क्या है? जिसमें प्रवृत्ति तो हो, पर जिसकी प्राप्ति न हो। अर्थात् जिसकी ओर दौड़ते हों, पर उसे पकड़ न पाते हों-यही दृश्य का वास्तविक स्वरूप है। जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसमें प्रवृत्ति क्यों होती है? अथवा जिसे पकड़ नहीं पाते, उसकी ओर दौड़ते क्यों हैं? तो कहना होगा कि अपने को देह मान लेने के कारण ही ऐसा होता है, जो अविवेकसिद्ध है।

अपने को देह मान लेने पर कामनाओं का उदय होता है, क्योंकि ऐसी कोई कामना नहीं है, जिसका सम्बन्ध देह से न हो। कामनाओं का उदय होते ही बुद्धि मन में, मेन इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं, परन्तु प्रवृत्ति के अन्त में शक्तिहीनता के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति का रागे होने के कारण परतन्त्रता और जड़ता की अनुभूति होती है। प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से आने वाली निवृत्ति से शक्ति का संचय होने लगता है, जिसके होते ही राग के कारण पुनः प्रवृत्ति होने लगती है। इसी प्रकारे अनेक बार प्रवृत्ति-निवृत्ति होती रहती है, परन्तु प्राप्ति कुछ नहीं होती। इस अनुभूति का आदर करने पर प्रवृत्ति से अरुचि हो जाती है और प्रवृत्ति से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जागृत् होती है। वह जिज्ञासा ज्यों-ज्यों

सबल और स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों प्रवृत्ति का राग स्वतः मिटता जाता है। प्रवृत्ति के राग का अन्त होने पर जो निवृत्ति प्राप्त होती है, वह चिर-शान्ति प्रदान करती है।

यह नियम है कि असत् का ज्ञान असत् से असंग होने पर और सत् का ज्ञान सत् से अभिन्न होने पर ही होता है। इस दृष्टि से जब प्रवृत्ति से असंगत प्राप्त होती है, तब दृश्य के वास्तविक स्वरूप का यह ज्ञान हो जाता है कि वह वास्तव में कुछ नहीं है; क्योंकि यदि दृश्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति होनी चाहिए थी। पर ऐसा नहीं होता। केवल प्रवृत्ति के राग से ही बार-बार प्रवृत्ति होती है। राग की निवृत्ति होते ही प्रवृत्ति सहज निवृत्ति में विलीन होकर चिर-शान्ति से अभिन्न हो जाती है। चिर-शान्ति में किसी को दृश्य की अनुभूति नहीं होती।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि दृश्य का वास्तविक स्वरूप अभावरूप है। दृश्य भले ही इन्द्रिय-दृष्टि से सत् और बुद्धि की दृष्टि से परिवर्तनशील मालूम होता हो, परन्तु इन्द्रिय और बुद्धि भी तो दृश्य के अन्तर्गत हैं। यदि इन्द्रिय तथा बुद्धि से असंग होकर दृश्य की खोज की जाए, तो दृश्य-जैसी कोई वस्तु नित्य या अनित्य किसी भी रूप में प्रतीत नहीं होती। अत: दृश्य के सम्बन्ध में यही कहना उपयुक्त जान पड़ता है कि दृश्य वह है, जिसकी ओर दौड़ते हों, पर जिसे पकड़ न पाते हों।

अब यदि कोई यह कहे कि दृश्य नहीं है, तो प्रतीत क्यों होता है? तो कहना होगा कि दृश्य की प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान से तद्रूप होने पर होती है। ये दोनों भी दृश्य ही हैं, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि दृश्य से तरूप होने पर ही दृश्य की प्रतीति होती है। दृश्य से तद्रूपता निज-ज्ञान के अनादर से है, वास्तविक नहीं।

निज-ज्ञान का आदर करने पर दृश्य से तद्रूपता नहीं रहती। तद्रूपता के मिटते ही दृश्य की प्रतीति स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही नित्य-योग प्राप्त हो जाता है। नित्य-योग में चिर-शान्ति और सामर्थ्य विद्यमान है, जो उद्देश्य की पूर्ति में हेतु है; क्योंकि चिर-शान्ति सभी वस्तु, अवस्था आदि की आसक्तियों का अन्त कर देती है और सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है। वस्तु, अवस्था आदि की आसक्ति तो तभी तक जीवित रहती है, जब तक 'चिर-शान्ति' खिन्नता और अभाव को खा नहीं लेती। चिर-शान्ति स्थिति नहीं है। स्थिति तो सविकल्प या निर्विकल्प होती है। स्थिति अवस्था है, स्वतन्त्र सत्ता नहीं; परन्तु चिर-शान्ति अवस्थाओं से असंग होने पर प्राप्त होती है। चिर-शान्ति में जड़ता से विमुख कर चिन्मय साम्राज्य में प्रवेश कराने की सामर्थ्य है; अथवा यों कहो कि चिर-शान्ति उस अमरत्व से अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है।

अमरत्व से अभिन्न होते ही दिव्य चिन्मय प्रीति स्वत: जागृत हो जाती है, क्योंकि जीवन तथा रस का विभाजन नहीं हो सकता। रसरहित जीवन और जीवनरहित रस किसी को भी अभीष्ट नहीं है। 'अमरत्व' जीवन है और प्रीति रस है। इस दृष्टि से अमरत्व और प्रीति दोनों ही की प्राप्ति मानव का उद्देश्य है। उसकी पूर्ति दृश्य से विमुख होने पर वर्तमान में ही हो सकती है। परन्तु यदि किसी कारण दृश्य से विमुख होने में असमर्थता का अनुभव हो, तो उद्देश्य-पूर्ति के नाते निर्मोहतापूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब प्राप्त

वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्य से सभी की सेवा की जाए और सेवा का अन्त त्याग में कर दिया जाए, अर्थात् सेवा के बदले में किसी प्रकार की आशा न की जाए, अपितु जिनकी सेवा की जाए, उन्हीं के हित और प्रसन्नता का ध्यान रहे। ऐसा होते ही दृश्य से विमुख होने की वह सामर्थ्य स्वतः आ जाएगी, जो उद्देश्यपूर्ति में समर्थ है।

यदि किसी कारणवश सर्वहितकारी सेवा भी सम्भव न हो, तो अपने-आपको उसके समर्पित कर देना चाहिए, जो सभी का सब कुछ है और जिसकी प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य है। समर्पित होते ही उनकी कृपाशक्ति स्वतः साधन करने की सामर्थ्य प्रदान करेगी या उद्देश्य की पूर्ति कर देगी; अथवा यों कहो कि जिसको प्राप्त करना है, उसकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही अन्तिम सुगम साधन है।

कर्तव्य-मीमांसा

वर्तमान जीवन की अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान कार्य को भविष्य पर छोड़ना और भविष्य के कार्य का वर्तमान में चिन्तन करना, जो स्वयं कर सकते हैं, उसके लिए दूसरों की ओर देखना और जो अपने करने का नहीं है, उसके लिए स्वयं चिन्तन करना, यही असफलता का कारण है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान कार्य क्या है? तो कहना होगा कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग; जाने हुए दोष को त्याग; जिसे प्राप्त करना हो, उसका विश्वास, उससे नित्य-सम्बन्ध और जिससे छुटकारा पाना है, उसकी ममता का त्याग वर्तमान को कार्य है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही प्राणी का हित है; क्योंकि परिस्थिति का सदुपयोग करने पर न तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन होता है और न प्राप्त परिस्थिति की आसक्ति ही रहती है, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति से असंगता हो जाती है और अप्राप्त परिस्थिति की चाह मिट जाती है। अप्राप्त परिस्थिति की चाह मिटने से वस्तु, व्यक्तिं आदि का चिन्तन मिटे जाता है। वस्तु का चिन्तन मिटते ही निर्लोभता और व्यक्ति का चिन्तनं मिटते ही निर्मोहता आ जाती है। निर्लोभता जड़तों से विमुख करती है और निर्मोहता अविवेक का नाश करती है। जड़ता से विमुख होते ही चिन्मय साम्राज्य में प्रवेश और अविवेक का नाश होते ही नित्य-जीवन की प्राप्ति स्वत: हो जाती है।

जाने हुए दोष का त्याग करते ही निर्दोषता स्वत: आ जाती है, क्योंकि सभी दोष दोषी के सहयोग से ही जीवित रहते हैं। अतः दोष की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जब साधक जाने हुए दोष को त्याग कर देता है, तब पुनः दोष की। उत्पत्ति नहीं होती। यह नियम है कि जाने हुए दोष के त्याग से दोषों को जानने की और उनको मिटाने की सामर्थ्य उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। इस दृष्टि से जाने हुए दोष के त्याग में निर्दोषता निहित है। निर्दोषता आ जाने पर गुणों का अभिमान स्वत: गल जाता है। गुणों का अभिमान गलते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। उसके मिटने पर सब प्रकार के भेद और अभाव स्वतः मिट जाते हैं; फिर अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

जिसे प्राप्त करना है, उस पर विश्वास और नित्य-सम्बन्ध पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि नित्य-सम्बन्ध और विकल्परहित विश्वास उसी पर हो सकता है, जिसकी आवश्यकता तो हो, पर जिसे जानते न हों और जो अविनाशी हो; क्योंकि नित्य सम्बन्ध नश्वर से नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सभी वस्तु, व्यक्ति आदि का विश्वास मिटने पर जो विश्वास शेष रहता है, वही उसका विश्वास है, जिसको प्राप्त करना है और नित्य-सम्बन्ध भी उसी से है। विश्वास में सम्बन्ध की सामर्थ्य निहित है और सम्बन्धं में प्रीति की जागृति स्वतः सिद्ध है। यह नियम है कि प्रीति ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों जिसकी वह प्रीति है, उससे दूरी तथा भेद मिटता जाता है, जिसके मिटते ही प्रीति स्वयं अपने प्रीतम से अभिन्न हो जाती है। इस दृष्टि से विश्वास और नित्य-सम्बन्ध भी लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ हैं।

छुटकारा उससे पाना है, जो निरन्तर बदल रहा है एवं जिसका त्याग अनिवार्य है। इस दृष्टि से शरीर आदि सभी वस्तुओं की ममता का त्याग करना है, जिसके करते ही सभी बन्धन स्वभाव से ही टूट जाते हैं, अथवा यों कहो कि सब ओर से विमुखता आ जाती है। फिर स्वभाव से ही समस्त आसक्तियाँ मिटकर उसकी प्रीति बन जाती हैं, जिसे प्राप्त करना है।

वर्तमान के कार्य सभी अपने करने के हैं और उनका परिणाम स्वतः होने वाला है। जो अपने करने के हैं, उन्हें करनी हैं, परिणाम पर दृष्टि नहीं रखनी है; क्योंकि उसमें अपना अधिकार नहीं है। यह नियम है कि जो कर सकते हैं, उसके कर डालने पर करने की रुचि मिट जाती है और निश्चिन्तता आ जाती है। करने की रुचि मिटते ही कर्ता स्वयं किसी की जिज्ञासा अथवा प्रीति बन जाता है और निश्चिन्तता आते ही व्यर्थ-चिंतन मिट जाता है तथा आवश्यक सामर्थ्य का विकास स्वतः होने लगता है। ऐसा होने पर जिज्ञासा की पूर्ति होकर प्रीति प्रीतम से अभिन्न हो जाती है।

इस दृष्टि से वर्तमान के कार्य का हो जाना ही सफलता की कुञ्जी है। पर सफलता पर दृष्टि नहीं रखनी है, अपितु कर्तव्यनिष्ठ होकर कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के अभिमान से मुक्त होना है। वर्तमान का सुधार ही वास्तविक सुधार है, क्योंकि वर्तमान का परिणाम ही भविष्य होता है। आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन वर्तमान के दुरुपयोग से ही होता है। इतना ही नहीं, वर्तमान की नीरसता ही कामनाओं को जन्म देती है और वर्तमान में नीरसता तभी आती है, जब जो कर सकते हैं, उसे नहीं करते और जो नहीं कर सकते, उसका चिन्तन करते हैं। इस दृष्टि से सभी दोषों का मूल, वर्तमान का दुरुपयोग है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

कर्तव्यनिष्ठ होने पर कर्तव्य के परिणाम पर दृष्टि ही नहीं जाती, क्योंकि फल अपने अधिकार की वस्तु नहीं है। परन्तु यदि कोई यह कहे कि फल की आशा तो होनी ही चाहिए, क्योंकि उसके बिना अपना अस्तित्व ही कैसे रहेगा? तो कहना होगा कि शरीर आदि सभी वस्तुओं का अस्तित्व तो स्वभाव से ही मिट रहा है। उसकी आशा करना तो प्रमाद ही होगा, और कुछ नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि कर्तव्यनिष्ठ होते ही कर्ता स्वतः जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाएगा। जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम का प्रादुर्भाव तो स्वभावसिद्ध है।

इस दृष्टि से प्रेमी और जिज्ञासु होने के लिए ही कर्तव्यनिष्ठ होना है। जिस काल में जिज्ञासा जिज्ञासु को खाकर पूर्ण जागृत होती है, उसी काल में उसकी पूर्ति अपने-आप हो जाती है।

जिस काल में प्रेम का उदय होता है, प्रेमी प्रेम' होकर स्वयं प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद का प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाता है। जिज्ञासु को जिज्ञासापूर्ति और प्रेमी को प्रेम-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की आशा ही नहीं होती। प्रेम-प्राप्ति प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा पर निर्भर है और जिज्ञासा की पूर्ति जिज्ञासा की पूर्ण जागृति पर निर्भर है।

साधक जो कर सकता है, उसके करने पर वह स्वभाव से ही जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाएगा और जिज्ञासु तथा प्रेमी होने पर जो होना है, वह स्वतः होने लगेगा। अतः कर्तव्यनिष्ठ होने में ही अपना अधिकार है, फल की आशा में नहीं। फल की आशा किसी आसक्ति की सूचक है, जिसको साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कर्तव्य-पालन की कसौटी है कि फल की आशा स्वभाव से ही न रहे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि कर्तव्य-पालन का होना ही महान फल है, क्योंकि कर्तव्य-पालन के पश्चात् करने का प्रश्न ही शेष नहीं रहता। जब साधक जो कर सकता है, वह कर डालता है। तब क्या साध्य को जो करना है, वह नहीं करेगा? क्या साध्य अपने कर्तव्य से च्युत हो सकता है? कदापित नहीं, अपितु साध्य तो इतना उदार है कि साधक को भी करने की सामर्थ्य प्रदान करता है।

जिस प्रकार माँ अपने शिशु के लिए सब कुछ स्वत: करती है, उसी प्रकार साध्य साधक के लिए सब कुछ करता है। अन्तर केवल इतना है कि माँ सब प्रकार से समर्थ नहीं है, परन्तु साध्य सब प्रकार से समर्थ है। फल की आशा साध्य के कर्तव्य पर दृष्टि रखना है, जो साध्य का सबसे बड़ा अनादर है। इस दृष्टि से फल की आशा करना साधक का महान् दोष है। उसका त्याग करना परम आवश्यक है।

जाने हुए दोष का त्याग, वर्तमान का सदुपयोग, विकल्परहित विश्वास और शरीर आदि वस्तुओं की ममता का त्याग अपने करने का कार्य है, उसको सुगतापूर्वक प्रत्येक साधक कर सकता है। इसका परिणाम स्वतः होने वाली वस्तु है। उसके लिए चिन्ता करना प्रमाद है। जो कर सकते हैं, उसके करते ही नित्य-योग, अमरत्व और प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाएगी, जो वास्तविक जीवन है।

क्षणिक जीवन से निराशा तथा अनन्त का आश्रय

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवन का ज्ञान संसार की असारता का पाठ पढ़ाता है। अथवा यों कहो कि जीवन की अनित्यता नित्य-जीवन की जिज्ञासा जागृत् करती है। पर उसकी पूर्ति तभी सम्भव है, जब साधक जीवन की आशा को त्यागकर जीवन का सदुपयोग करने लगे।

जीवन की आशा के त्याग से क्षणभंगुर जीवन की कामना का नाश हो । जाता है, जिसके होते ही जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है। इस दृष्टि से कामनाओं का त्याग और जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान् जीवन की वस्तु है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग क्या है? तो कहना होगा कि क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग है, 'सर्वहितकारी प्रवृत्ति'। सर्वहितकारी प्रवृतियाँ

स्वार्थभाव को खा लेती हैं, स्वार्थभाव के मिटते ही सुख-भोग की आसक्ति शेष नहीं रहती और समस्त विश्व के साथ एकता का ज्ञान हो जाता है, जिसके होते ही मोह का नाश और प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है। निर्मोहता में वास्तविक ज्ञान और प्रेम में अगाध अनन्त रस निहित है।

अब विचार यह करना है कि सर्वहितकारी प्रवृत्ति क्या है? तो कहना होगा कि जिसमें किसी का अहित न हो, जिसका उदय करुणा तथा प्रसन्नता से हो और जिसके अन्त में अभिन्नता प्राप्त हो, वही सर्वहितकारी प्रवृत्ति है। अभिन्नता आते ही कर्तृत्व का अभिमान गल जाता है और वासनाओं का अन्त हो जाता है। वासनाओं का अन्त होते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता, जिसके मिटते ही नित्य-योग, नित्य-जीवन और प्रेम प्राप्त होता है।

जब तक प्राणी क्षणभंगुर जीवन की आशा तो करता है, पर उसका सदुपयोग नहीं करता, तब तक न तो साधन का निर्माण हो सकता है और न साध्य की उपलब्धि ही। इस दृष्टि से साधक के जीवन में क्षणभंगुर जीवन की आशा का कोई स्थान ही नहीं है, अपितु उससे निराश होना अनिवार्य है, क्योंकि सच्ची निराशा आ जाने पर जीवन में ही मृत्यु का अनुभव हो जाता है, जिसके होते ही समस्त विश्व से विमुखता हो जाती है। सब ओर से विमुख होते ही अपने ही में अपने उस वास्तविक जीवन का अनुभव हो जाता है, जो दिव्य तथा चिन्मय है।

क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग और उससे निराश होने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन का निर्माण तथा साध्य की उपलब्धि कर सकता है। परन्तु यह तभी सम्भव होगा, जब साधन निर्माण वर्तमान जीवन की वस्तु हो। उसके लिए प्राप्त विवेक का आदर करना आवश्यक है।

यदि किसी कारण प्राप्त विवेक के आदर में असमर्थता का अनुभव हो, तो व्यथित हृदय से, सरल विश्वासपूर्वक उस अनन्त की अहेतुकी कृपा का आश्रय लेकर, जिसने विवेक तथा सामर्थ्य प्रदान की है, अपने को उसे समर्पित कर देना चाहिए। समर्पण होते ही कृपाशक्ति स्वतः साधन का निर्माण कर देगी, जिसके होते ही साधक का समस्त जीवन दिव्य चिन्मय प्रीति-स्वरूप हो जाएगा। फिर सर्वत्र सर्वदा अपने प्रीतम को ही दर्शन होगा; क्योकि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को कभी देखा ही नहीं। प्रीति प्रीतम का स्वभाव है और प्रेमी का जीवन है। इस दृष्टि से प्रीति और प्रीतम में स्वरूप की एकता है।

क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग करके अथवा उससे निराश होकर अथवा अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन प्राप्त कर सकता है।

परिवर्तनशील एवं वास्तविक जीवन

जीवन के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि जब तक साधक को अपने वर्तमान परिवर्तनशील जीवन का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक न तो प्रमाद का अन्त होता है, न स्वाभाविक लालसा जागृत् होती है और न सर्वहितकारी प्रवृत्ति का उदय ही होता है।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन का यथार्थ ज्ञानरूपी प्रकाश प्रमादरूपी अन्धकार को खा लेता है। फिर स्वाभाविक लालसा स्वतः जागृत

होती है, जिसकी पूर्ति अपने-आप हो जाती है। फिर होने वाली सभी प्रवृत्तियों से दूसरों का हित स्वतः होने लगता है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि वर्तमान व्यक्तिगत जीवन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि समष्टि शक्तियों के आधार पर ही व्यक्तिगत चेष्टाएँ होती हैं। जैसे सूर्य के आधार पर ही नेत्र की चेष्टा होती है। इस दृष्टि से समस्त विश्व और व्यक्तिगत जीवन के स्वरूप में कोई भेद नहीं है।

अतः जो समस्त विश्व का प्रकाशक है, वही व्यक्तिगत जीवन को भी है। परन्तु प्राणी प्रमादवश सीमित शक्तियों के अभिमान में आबद्ध होकर अपने व्यक्तित्व को अलग मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह वस्तु, व्यक्ति आदि की उस दासता में आबद्ध हो जाता है, जिससे कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और जो स्वाभाविक लालसा को आच्छादित करके अनेक प्रकार की आसक्तियों को जन्म देती है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व का मोह उत्पन्न हो जाता है, जो अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति में हेतु है। व्यक्तित्व का मोह रहते हुए त्याग करने पर त्यागी, सेवा करने पर सेवक और प्रेम करने पर प्रेमी कहलाने की कामना बनी रहती है, जो सेवा, त्याग तथा प्रेम की सार्थकता सिद्ध नहीं होने देती।

त्याग की सार्थकता चिर-शान्ति और निर्मोहता में, सेवा की सार्थकता स्वार्थ से रहित सर्वहितकारी प्रवृत्ति में और प्रेम की सार्थकता प्रेमास्पद को रस प्रदान करने में है। चिर-शान्ति और निर्मोहता के बिना अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, सर्वहितकारी प्रवृत्तियों के बिना प्रवृत्ति के अन्त में प्रवृत्ति का चिन्तन नहीं मिट सकता और प्रेमास्पद को रस प्रदान किये बिना नित-नव अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती।।

दृश्य से तादात्म्य होने पर ही दृश्य की प्रतीति होती है। इन्द्रियों से तादात्म्य होने पर विषयों की, मन से तादात्म्य होने पर इन्द्रियों की और बुद्धि से तादात्म्य होने पर मन की प्रतीति होती है। अतः सम्पूर्ण दृश्य उससे तादात्म्य होने पर ही प्रतीत होता है। अब विचार यह करना है कि प्राणी का दृश्य से तादात्म्य क्यों होता है? तो कहना होगा कि कामनापूर्ति के लिए। यदि कामना-पूर्ति का लालच न हो, तो दृश्य से तादात्म्य हो ही नहीं सकता।।

अब यदि यह विचार किया जाए कि कामना-पूर्ति का लालच क्यों होता है? तो कहना होगा कि उस व्यक्तित्व के मोह से, जो अविवेकसिद्ध है और जो वास्तविकता की जिज्ञासा तथा भोग की वासनाओं का समूह है। भोग-वासनाओं को निवृत्ति और वास्तविकता की जिज्ञासा की पूर्ति होने पर व्यक्तित्व-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। अतः व्यक्तित्व के मोह का अन्त करने के लिए जिज्ञासा की पूर्ति और भोगवासनाओं की निवृत्ति अनिवार्य है, जो विवेक से ही हो सकती है।

अविवेक की भूमि में ही व्यक्तित्व के मोह की उत्पत्ति होती है और व्यक्तित्व का मोह ही शरीर आदि दृश्य से तादात्म्य उत्पन्न करता है, जिसके उत्पन्न होते ही समस्त दृश्य की प्रतीति होने लगती है। यदि विवेकपूर्वक अविवेक का अन्त कर दिया जाए, तो समस्त दृश्य अपने उद्गम स्थान में स्वतः विलीन हो जाएगा; फिर त्रिपुटी शेष न रहेगी। त्रिपुटी के मिटते ही अखण्ड एकरस नित्य-तत्त्व से अभिन्नता हो जाएगी अर्थात् दृष्टा,

दर्शन, दृश्य, तीनों उस अनन्त में विलीन हो जाएँगे, जो सभी को सब कुछ है।

इस दृष्टि से जिसे हम व्यक्तित्व' कहते हैं, वह केवल अविवेक की . दृष्टि है, और कुछ नहीं तथा जिसे हम 'पर' कहते हैं, वह इन्द्रियों की दृष्टि । है, और कुछ नहीं। व्यक्तित्व के मिटते ही 'पर' जैसी कोई वस्तु ही नहीं, रहती।

अपना तो केवल प्रीतम ही है, और कुछ नहीं-ऐसी दृष्टि तब प्राप्त होती है, जब वर्तमान जीवन के ज्ञान से अविवेक मिट जाता है; अविवेक के मिटते ही सब प्रकार के भेद का अन्त हो जाता है, भेद का अन्त होते ही संभी वासनाओं का अन्त हो जाता है और वासना-रहित होते ही समस्त आसक्तियाँ दिव्य चिन्मय प्रीति के स्परूप में परिवतर्तित हो जाती हैं।

आसक्तियों के रहते हुए ही 'पर' की प्रतीति होती है। जब आसक्तियाँ प्रीति के स्वरूप में परिवर्तित हो जाती हैं, तब 'पर'-जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती। केवल प्रीति और प्रीतम की ही नित-नव मिलन रहता है, जो वास्तविक जीवन है।

ममता का त्याग और प्रेम

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन की सार्थकता सिद्ध करने के लिए हमें उस पर विश्वास करना है, जो बुद्धि से परे है। 'उसको अपना मानना और उसी का प्रेमी होना है। जो बुद्धि के सामने है, उसे अपना नहीं मानना है, उस पर विश्वास भी नहीं करना है, अपितु इसकी सेवा करना है और उसके वास्तविक स्वरूप को जानना है।

बुद्धि के द्वारा जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके प्रति ममता करने से किसी का भी कोई लाभ नहीं होता, न तो उसका, जिससे ममता की जाती है। और न ममता करने वाले का ही। अब विचार यह करना है कि बुद्धि के द्वारा किसकी प्रतीति हो रही है? तो कहना होगा कि देश, काल, वस्तु और व्यक्ति आदि की। देश-काल की ममता सीमित बनाती है तथा वस्तु और व्यक्ति की ममता लोभ और मोह में आबद्ध करती है। ममता-रहित होकर वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा करने से निर्लोभता और निर्मोहता आती है। देश-काल की ममता से रहित होने पर जो असीम और कालातीत है, उससे नित्य-सम्बन्ध हो जाता है, अथवा यों कहो कि उससे अभिन्नता हो जाती है। लोभ और मोह में आबद्ध प्राणी सेवा नहीं कर सकता। अत: सेवा करने के लिए निर्लोभता और निर्मोहता अत्यन्त आवश्यक है। निलभता आने पर जब वस्तुओं की अपेक्षा व्यक्तियों का महत्त्व बढ़ जाएगा, तब सेवा स्वभाव से ही होने लगेगी। निर्मोहता आने पर अविवेक मिट जाएगा, जिसके मिटते ही कर्तव्य का ज्ञान एवं कर्तव्यपरायणता स्वतः प्राप्त होगी। लोभ और मोह का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, केवल वस्तु और व्यक्ति को अपना मानने से ही लोभ और मोह की उत्पत्ति होती है। लोभ की उत्पत्ति जड़ता में और मोह की उत्पत्ति वियोग के भय में आबद्ध करती है। जड़ता और भय में आबद्ध प्राणी नित्य चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

वस्तुओं की ममता अपने को संग्रही बनाती है और समाज में दरिद्रता उत्पन्न करती है, जो विप्लव का हेतु है। व्यक्तियों की ममता अपने को मोही बनाकर आसक्त कर देती है और जिनसे ममता की जाती है, उनमें अधिकार-लालसा जाग्रत् करती है। मोह और आसक्ति कर्तव्य का ज्ञान नहीं होने देते एवं अधिकार-लालसा, की हुई

सेवा तथा प्रीति का दुरुपयोग कराती है और तृष्णा में आबद्ध करती है। लोभ और मोह से सेवा करने वाला कर्तव्यविमूढ़ और सेवा कराने वाला तृष्णा में आबद्ध हो जाता है, जिसका परिणाम बड़ा ही दुःखद सिद्ध होता है, अर्थात् करने वाले और कराने वाले दोनों का अहित होता है। इस दृष्टि से लोभ और मोह के रहते हुए सेवा सिद्ध नहीं होती। वास्तविक सेवा करने वाले में त्याग और कराने वाले में सन्तोष उत्पन्न करती है। वह निर्लोभता एवं निर्मोहता आने पर ही सम्भव है; अतः उसके लिए हमें वस्तुओं और व्यक्तियों की ममता का त्याग करना होगा।

देश और काल की ममता ने सीमित अहंभाव को उत्पन्न कर दिया है, जिसके कारण अनेक भेद उत्पन्न हो गए हैं और जीवन संघर्ष तथा भय से आक्रान्त हो गया है। सेवा द्वारा सब प्रकार के बाह्य संघर्ष का अन्त हो सकता है। परन्तु कब? जब सेवा ममता-रहित होकर की जाए; यहाँ तक कि जिन साधनों से सेवा की जाए, उनमें भी ममता न हो और ज़िनकी सेवा की जाए, उनमें भी ममता न हो। तभी वास्तविक सेवा हो सकती है। यदि सेवा के साधनों के प्रति ममता की जाएगी, तो सेवक में अभिमान उत्पन्न हो जाएगा। जैसे, अपना हाथ मानकर किसी का मुँह धोने से धोने वाले में अभिमान और धुलाने वाले में दीनत्व आ जाएगा; क्योंकि अभिमान भेद उत्पन्न कर देता है। यदि यह मान लिया जाए कि जिसका मुँह धोते हैं, उसी का यह हाथ है, तो धोने वाले में निरभिमानता और धुलाने वाले में अभिन्नता आ जाएगी, जिसके आते ही परस्पर में स्नेह की वह एकता जागृत होगी, जो भय और संघर्ष का अन्त करने में समर्थ है।

अतः सामर्थ्य, योग्यता, वस्तु, शरीर आदि जिन साधनों से सेवा की जाए, उन साधनों को उन्हीं का समझना चाहिए, जिनकी सेवा हो रही है। ऐसा करते ही सेवक में त्याग और जिनकी सेवा की जाएगी, उनमें सौन्दर्य तथा सन्तोष आदि दिव्य गुण उत्पन्न होने लगेंगे। अथवा यों कहो कि जिनकी सेवा की जाएगी, वे भी सेवक हो जाएँगे। यदि की हुई सेवा सेवक बनाने में समर्थ नहीं है, तो समझना चाहिए कि सेवा में कोई दोष है, सेवा के साधनों या सेवा-पात्र के प्रति वह ममता है, जिसका सेवाक्षेत्र में कोई स्थान ही नहीं है।

जिस काल में शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त वस्तुएँ तथा उनके द्वारा प्रतीत होने वाले समस्त दृश्य से ममता टूट जाती है, उसी काल में दृश्य के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और जो बुद्धि से परे है, उस अनन्त से प्रेम हो जाता है, क्योंकि दृश्य के स्वरूप का ज्ञान दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य प्रदान करता है। दृश्य से विमुख होते ही सीमित अहंभाव गलकर उस प्रेम के स्वरूप में बदल जाता है, जो प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है। प्रेम को स्थाई तथा सबल बनाने के लिए चाहरहित होना अनिवार्य है, क्योंकि चाह की उत्पत्ति प्रेम को दूषित करती है। यहाँ तक कि प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है, जब सद्गति की भी चाह न हो। इतना ही नहीं, अचाह होने की भी चाह न हो, क्योंकि चाह की उत्पत्ति भिन्नता उत्पन्न करती है, जो प्रेम में बाधक है। प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है, जब प्रेमी में इस भाव का उदय भी न हो कि, 'मैं प्रेमी हूँ, क्योंकि प्रेम प्रेमी को खाकर ही पुष्ट होता है।

प्रेम निःसंदेहता की भूमि में उपजता है और नित्य-सम्बन्ध तथा चाहरहित होने में पुष्ट होता है। प्रेम के साम्राज्य में केवल प्रेम का ही आदान-प्रदान है अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद का निवास प्रेम में है और प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव है। इस

दृष्टि से प्रेम का उदय प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है। अतः बुद्धि के इस ओर जो कुछ है, उसके स्वरूप को जानना है। और बुद्धि के उस ओर जो है, उस पर विश्वास करना है। बुद्धि के इस ओर जो है, उसकी ममता का त्याग करना है और बुद्धि के जो उस ओर है. उसको अपना मानना है। बुद्धि के इस ओर जो है, उसकी सेवा करनी है और बुद्धि के उस ओर जो है, उसका प्रेम होकर रहना है। सेवक में किसी प्रकार की ममता नहीं रहती और प्रेमी में अहं नहीं रहता। यह नियम है कि सेवा 'त्याग' में और त्याग उस 'प्रेम' में स्वतः बदल जाता है, जो वास्तविक जीवन है।

अचाह में अभिन्नता

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि भेद का अन्त बिना हुए भय, चिन्ता, शोक आदि द्वन्द्वों की निवृत्ति सम्भव नहीं है।

अब विचार यह करना है कि भेद का स्वरूप क्या है और उसकी उत्पत्ति का हेतु क्या है? तो कहना होगा कि समस्त विश्व एक है, जीवन एक है, तत्त्व एक है, उसमें अनेकता को स्वीकार करना ही भेद का स्वरूप है। और अविवेक ही उसका कारण है। अविवेक के कारण ही प्राणी शरीर और विश्व का भेद स्वीकार करता है, जो वास्तव में नहीं है। जैसे अनेक कीटाणुओं का समूह एक शरीर है, वैसे ही समस्त दृश्य का समूह एक विश्व है। वह विश्व जिसके प्रकाश से प्रकाशित है तथा जिसमें उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय है, वह तत्त्व भी एक है। इस दृष्टि से उस एक में ही अनेक की प्रतीति होती है। पर अनेक एक से भिन्न कभी नहीं होते। अथवा यों कहो। कि अनेकता उस एक की ही विभूतिमात्र है। यद्यपि किसी भी विभूति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती; परन्तु जिसकी वह होती है, उससे भिन्नता का भास अवश्य होने लगता है, जो वास्तविक नहीं है।

जिस प्रकार दर्पण में दीखने वाली आकृति न तो दर्पण के ऊपर बनती है और न भीतर होती है। इतना ही नहीं, उससे दर्पण में किसी प्रकार की। विकृति भी नहीं होती। दर्पण ही आकृति के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु प्रतीत होने पर भी दर्पण ज्यों-का-ज्यों है। हाँ, आकृति की प्रतीति का कारण अवश्य है; जैसे-दर्पण की निर्मलता, पारे को पीछे लगना और आकृति का सम्मुख होना। उसी प्रकार उस एक में अनेकता की प्रतीति का कारण देहाभिमान तथा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव है। अथवा यों कहो कि भोग की रुचि ही भेद को उत्पन्न करती है, जो अविवेक-सिद्ध है।

अपने को देह न मानने पर भोग की रुचि का अन्त हो जाता है, अर्थात् स्थूल शरीर से ममता टूटते ही अशुभ प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती और शुभ प्रवृत्ति में आसक्ति नहीं रहती। सूक्ष्म शरीर की ममता टूटने पर व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति नहीं होती और सार्थक-चिन्तन में आसक्ति नहीं रहती अथवा यों कहो कि सब प्रकार का चिन्तन टूट जाता है; क्योंकि शरीर से ममता टूटते ही निर्विकल्प स्थिति से भी असंगता हो जाती है, जिसके होते ही देहाभिमान गल जाता है, फिर अनेकता के दर्शन नहीं होते। अथवा यों कहो कि एक में अनेक और अनेक में एक ही के दर्शन होते हैं, जिनके होते ही भेद का अन्त हो जाता है और किसी प्रकार का भय, चिन्ता, शोक आदि को द्वन्द्व नहीं रहता।

भोग की रुचि अनन्त में विश्व का दर्शन कराती है। उस रुचि का अन्त होने पर समस्त विश्व

अनन्त में विलीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि वह अनन्त की प्रीति बन जाती है। इस दृष्टि से प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ है। ही नहीं। प्रीति प्रीतम से और प्रीतम प्रीति से सर्वदा अभिन्न रहते हैं; क्योंकि उन दोनों का स्वरूप एक है। केवल रस-निष्पत्ति के लिए ही दो-जैसे भासते हैं। वास्तव में तो प्रीति ने प्रीतमं से भिन्न और प्रीतम ने प्रीति से भिन्न न तो किसी अन्य के दर्शन ही किये और ने उन दोनों का भी वियोग एवं मिलन हुआ; क्योंकि यही अनन्त की महिमा है। स्वरूप से मिलन और वियोग की सिद्धि अनन्त में संम्भव ही नहीं है। इस दृष्टि से प्रीति और प्रीतम की दिव्य चिन्मय लीला सर्वदा रसरूप है।

अब विचार येह करना है कि भोगे की रुचि की अन्तु कैसे हों? तो कहना होगा कि भोग की वास्तविकता का ज्ञान भोग की रुचि का अन्त कराने में समर्थ है। प्रत्येक भोग-कामना की पूर्ति के अन्त में भोगी पुनः उसी स्थिति में आता है, जिसमें भोग-कामना की उत्पत्ति से पूर्व था। कामना के उत्पत्तिं काल का अभाव तथा दुःख, प्रवृत्ति-काल को श्रम तथा सुख और पूर्तिकाल

की शक्तिहीनता तथा जड़ता—इनके ज्ञान से. यह प्रेरणा मिलती है कि • भोग-कामना की उत्पत्तिं, प्रवृत्ति और पूर्ति से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, केवल श्रम का दुर्व्यय और अभाव की उपलब्धि होती है।।

यदि भोग-कामना की उत्पत्ति से पूर्व के जीवन पर दृढ़ आस्था हो जाए, तो बड़ी ही सुगतापूर्वक भोग की रुचि का अन्त हो सकती है, क्योंकि कामना-उत्पत्ति से पूर्व का जीवन अभावयुक्त नहीं है, अपितु दिव्य तथा चिन्मय है।

कामना-उत्पत्ति से पूर्व के दिव्य तथा चिन्मय जीवन पर दृढ़ आस्था कैसे हो? तो कहना होगा कि जाने हुए असत् का त्याग करने पर सत् का संग होगा और सत् का संग होते ही दिव्य चिन्मय जीवन में आस्था स्वतः हो जाएगी। पर यह तभी सम्भव होगा, जब असत् का सदुपयोग और सत् की लालसा जागृत् हो जाए; क्योकि सत् की लालसा ही असत् से विमुखता और संत् से अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है।

अब विचार यह करना है कि असत् के सदुपयोग का वास्तविक अर्थ क्या है? प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तुओं के द्वारा विश्व की सेवा ही असत् का सर्वोत्कृष्ट उपयोग है। यह नियम है कि जो वस्तु सेवा में लग जाती है, उससे ममता नहीं रहती और जिसकी सेवा की जाती है, उसमें सौन्दर्य आ जाता है। अतः शरीर आदि वस्तुओं के द्वारा विश्व की सेवा करने से विश्व में सौन्दर्य आ जाएगा और शरीर आदि वस्तुओं की ममता मिट जाएगी, जिसके मिटते ही सत् की वह अभिलाषा स्वतः जागृत् होगी, जो सत् से अभिन्न करने में हेतु है।

विश्व शरीर के काम आ जाए—यह स्वार्थ भिन्नता उत्पन्न करता है। और शरीर विश्व के काम आ जाए-यह सेवा अभिन्नता प्रदान करती है। शरीर और विश्व का विभाजन नहीं हो सकता, केवल स्वार्थ-भाव ही भेद उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से स्वार्थभावं का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

भेद ने संयोग-वियोग का द्वन्द्व उत्पन्न कर दिया है। भेद के मिटते ही वियोग नित्य-योग में और संयोग सेवा में विलीन हो जाएगा। यहीं संयोग-वियोग को वास्तविक उपयोग है। नित्य-योग में अमरत्व और सेवा में नित-नवे प्रीति निहित है। इस दृष्टि से वियोग अमरत्व और संयोग नित-नव रस का हेतु है। इतना ही नहीं, प्रीति–संयोग में

भी वियोग और वियोग में भी नित्य-योग का अनुभव कराती है, जिससे उत्तरोत्तर रस की वृद्धि होती रहती है, जो वास्तविक जीवन है।

भेद का अन्त करने के लिए चाहरहित होना अनिवार्य है। चाहरहित होने पर आवश्यक चाह अपने आप पूरी हो जाती है और अनावश्यक चाह मिट जाती है। इस दृष्टि से चाह की उत्पत्ति का जीवन में भले ही स्थान हो, पर चाह करने का कोई स्थान नहीं है। प्राकृतिक नियम के अनुसार चाह एक प्रकार की भूख है। भूख का आह्वान भोगी करता है, योगी नहीं। परन्तु भूख की उत्पत्ति तो स्वाभाविक है और भोजन की प्राप्ति भी स्वतः सिद्ध है। भूख के आह्वान से, 'मैं भूखा हूँ, इससे दरिद्रता और भोजन की पराधीनता ही प्राप्त होती है, और कुछ नहीं।

भूख का आह्वान न करने से भोजन स्वयं भूख से आ मिलता है और मिलते ही दोनों का भेद मिट जाता है। अथवा यों कहो कि दोनों एक हो जाते हैं। उस समय न तो भूखे 'भूख' है और न भोजन 'भोजन', अपितु एक अनुपम तृप्ति है, जो भूख और भोजन से पूर्व भी थी। इस दृष्टि से चाहरहित होने में ही जीवन की सार्थकता निहित है। भेद मिटते ही अपने प्रति अपनी उस प्रियता की जागृति होती है, जो नित्यं है और स्वभाव-सिद्ध है। इस दृष्टि से चाहरहित होने पर अथवा यों कहो कि भेद मिटने पर जो प्रियता जागृत् । होती है, वही दिव्य चिन्मय प्रीति है। प्रीति पूर्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व से रहित है। इसी कारण नित-नव तथा अनन्त है। अथवा यों कहो कि अनन्त का मिलन भी अनन्त है और अनन्त का वियोग भी अनन्त है।

समस्त विश्व को जिसने अपने में अपने ही द्वारा आप निर्मित किया है, उसकी सभी के प्रति अगाध प्रियता है, तो फिर चाह और चिन्ता के लिए स्थान ही कहाँ है? चाह करना तो अपने और प्रेमास्पद के बीच काल्पनिक भेद उत्पन्न करना है, और कुछ नहीं; क्योंकि स्वरूप से तो समस्त विश्व उन्हीं की अभिव्यक्ति है। अतः सब प्रकार की चाह से रहित होकर भेद का अन्त करना है, जिसके होते ही भोग 'योग' में, मृत्यु 'अमरत्व में और समस्त आसक्तियाँ उस दिव्य चिन्मय 'प्रीति में विलीन हो जाएँगी, जो वास्तविक जीवन है।

श्रमरहित साधन

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि आलस्य और श्रमरहित साधन तथा वियोग और सीमा से रहित साध्य की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है। श्रम तथा आलस्य का जन्म सीमित अहंभाव से होता है। अतः उसके द्वारा किये हुए साधन से उसी साध्य की उपलब्धि हो सकती है, जिसका वियोग अनिवार्य है, जिसमें जीवन नहीं है, रस नहीं है। अपितु अनेक प्रकार के अभाव-ही-अभाव हैं, जो किसी को अभीष्ट नहीं हैं।

सीमित अहं का स्वरूप है—करने की रुचि, पाने का लालच और जीने की आशा। करने की रुचि का उपयोग आलस्यरहित तथा लालचरहित होकर दूसरों के अधिकार की रक्षा में है और जीने की आशा का उपयोग अमर होने में है। पर ऐसा न करके हम अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए श्रम का, दूसरों के अधिकार की रक्षा में आलस्य का एवं सुख-भोग के लिए जीने की आशा का उपयोग करते हैं, जिसके परिणाम केवल अनेक प्रकार के भय, शोक और मृत्यु आदि हैं।

श्रम का सदुपयोग करने पर विश्राम स्वतः आ जाता है और आलस्य मिट जाता है। विश्राम आते ही और आलस्य मिटते ही श्रमरहित साधन स्वत: अभिव्यक्त होता है, जो वियोगरहित साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है। श्रम का सदुपयोग वही कर सकता है, जो दूसरों के अधिकार की रक्षा को ही अपना कर्तव्य मानता है। अपने अधिकार का त्याग करने पर ही विश्राम मिल सकता है। अतः अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा में ही श्रम का सदुपयोग, विश्राम की प्राप्ति और श्रमरहित साधन की जागृति निहित है।

श्रमरहित साधन का आरम्भ समर्पित होने में, मध्य नित्य-योग में और अन्त प्रेम-प्राप्ति में है। करने की रुचि का अन्त समर्पण में, अमरत्व की प्राप्ति नित्य-योग में एवं अगाध अनन्त रस की उपलब्धि प्रेम में निहित है।

करने की रुचि रखते हुए जो करना है, उसे न करना आलस्य को जन्म देता है, जो करने की रुचि को जीवित रखने में हेतु है। करने की रुचि और आलस्य, यह द्वन्द्व ही सीमित अहंभाव को जीवित रखता है, और समर्पण नहीं होने देता। सीमित अहंभाव के रहते हुए भेद का अन्त नहीं हो सकता और भेद का अन्त बिना हुए अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं हो सकती। इस दृष्टि से भेद को अन्त करने के लिए सीमित अहंभाव का अन्त करना अनिवार्य है, जो श्रमरहित साधन, अर्थात् समर्पण से ही सम्भव है।

विकल्परहित विश्वास के बिना समर्पित होने की योग्यता तो नहीं आती; परन्तु प्राप्त विवेक के प्रकाश में यह' को 'यह जानकर यह से विमुख होकर जो सभी से अतीत है, उससे अभिन्न हो सकते हैं। इस दृष्टि से प्राप्त विवेक के द्वारा भी श्रमरहित साधने का निर्माण हो सकता है। अन्तर केवल इतना है कि समर्पण मानकर और विवेक जानकर होता है। विवेक और विश्वास दोनों से ही श्रमरहित साधन का उदय हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि यह' को 'यह जानने का अर्थ क्या है? तो कहना होगा कि इन्द्रियों की दृष्टि से समस्त विश्व का अर्थ यह है, बुद्धि की दृष्टि से मन का अर्थ यह है और अन्तर्दृष्टि से बुद्धि का अर्थ भी यह है। इस प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य से विमुख होना है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि स्वयं अनन्त से अभिन्न कर देगी, फिर सीमित अहंभाव-जैसी कोई वस्तुं शेष नहीं रहेगी।

प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय करने पर अथवा असमर्थ होने पर श्रमरहित साधन स्वतः उत्पन्न होता है। पर कब? जब साधक साध्य से निराश न हो; क्योंकि साध्ये की लालसा, प्राप्तं सामर्थ्य का सद्व्यय और समर्पण करा देने में समर्थ है। वियोगरहित साध्य की लालसा तभी संबल तथा स्थाई हो सकती है, जब संयोगजनित दासता का अन्त कर दिया जाए। संयोगजनित दासता का अन्त करने के लिए सामर्थ्य के अनुरूप सेवा और विवेकपूर्वक त्याग अपेक्षित है।

संयोगजनित दासता का अन्त होते ही अचाह पद प्राप्त होगा, अथवा एक ऐसी चाह उत्पन्न होगी, जो न कभी मिटेगी और न जिसकी पूर्ति होगी, अर्थात् पूर्ति-निवृत्ति से रहित चाह का उदय होगा। अचाह पद अप्रयत्नपूर्वक अमरत्व से अभिन्न करने में समर्थ है और पूर्ति-निवृत्ति से रहित चाह दिव्य चिन्मयं प्रीति की जागृति में हेतु है।

चाहरहित होना अथवा पूर्ति-निवृत्ति के रहित चाह का उदय होना तभी सम्भव है, जब

'यह' से विमुखता और 'है' से अभिन्नता प्राप्त हो। यह से विमुखता विवेक-साध्य है और 'है' से अभिन्नता नित्य-संम्बन्ध से साध्य है। नित्य-सम्बन्ध विश्वासपूर्वक नि:संदेह होने पर ही सम्भव है और विवेक की जागृति दृश्य पर संदेह होने पर ही सम्भव है। जिसे दृश्य पर संदेह नहीं होता, वह संयोग की दासता में आबद्ध हो जाता है, जो वियोग का भय उत्पन्न करने में हेतु है। उसका जीवन चाह की अपूर्ति के दु:ख और पूर्ति के सुख में आबद्ध हो जाता है। चाहे की अपूर्ति और पूर्ति का द्वन्द्व न तो चाहरहित होने देता है और न पूर्ति-निवृत्तिरहित वास्तविक चाह का उदय ही होने देता है। अथवा यों कहो कि चाह की अपूर्ति और पूर्ति को द्वन्द्व ने तो अमरत्व की प्राप्ति होने देता है और न प्रेम की ही, जो वियोगरहित साध्य है।

अमरत्व की प्राप्ति में सर्व दु:खों का अन्त है, अर्थात् अभावं का अभाव है। पूर्ति-निवृत्तिरहित चाह अर्थात् दिव्य चिन्मय प्रीति में नित-नव रसे है। दु:खों का अन्त, नित्य-जीवन की प्राप्ति एवं अगाध अंनन्तं रस की उपलब्धिं, श्रमरहित साधन और वियोगरहित साध्य में निहित है।

जो रस नीरसता में, जो जीवन मृत्यु में और जो संयोग वियोग में बदल जाता है, वह भोग है और अविवेक-सिद्ध है। भोग में श्रमयुक्त साधन है, उसके परिणाम में अभाव है। अमरत्व में श्रमरहित साधन है और नित्य-योग है। प्रीति में श्रमरहित गतिशीलता है, जो वियोग में मिलने और मिलन में वियोग का भास कराकर अंगाध अनन्त रस प्रदान करने में समर्थ है।

श्रमरहित साधन और वियोगरहित साध्य की प्राप्ति विश्वासपूर्वक समर्पण में अथवा विवेकपूर्वक अविवेक का अन्त करने में निहित है, जो वर्तमान जीवन की वस्तु है। वर्तमान कार्य को भविष्य पर छोड़ना प्रमाद है। अतः इसको सर्वप्रथम कार्य जानकर श्रमरहित साधन निर्माण करने के लिए निजविवेक का आदर तथा प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

साधन-भेद और साध्य की एकता

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि निर्मोहता, परिस्थिति के सदुपयोग और समर्पण में ही समस्त साधन-तत्त्व विद्यमान है, क्योंकि प्रत्येक साधक में बीजरूप में विवेक-शक्ति, श्रम-शक्ति और भाव की शक्ति विद्यमान है। विवेक-शक्ति के सदुपयोग में निर्मोहता, श्रम-शक्ति के उपयोग में परिस्थिति का सदुपयोग और समर्पण में भाव-शक्ति की परावधि निहित है। परन्तु व्यक्तिगत भेद से किसी में विवेक-शक्ति, किसी में भाव-शक्ति तथा किसी में श्रम-शक्ति मुख्य और अन्य शक्तियाँ गौण रूप से रहती हैं। जो शक्ति मुख्य रूप से होती है, उसी के आधार पर साधन का आरम्भ होता है; परन्तु शेष दो शक्तियों का उपयोग भी स्वत: हो जाता है।

समस्त शक्तियों का उपयोग होने पर साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर साध्य को प्राप्त कर लेता है। साधन अनेक और साध्य एक है। इस कारण समस्त साधक एक ही साध्य से अभिन्न हो जाते हैं। साधन-भेद होने पर भी साध्य का भेद नहीं होता। इस दृष्टि से सभी साधन आदरणीय हैं।

विवेक-शक्ति का उपयोग साधक को निर्मोहता प्रदान करता है। मोहरहित होते ही समस्त आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं। उनके मिटते ही स्वभाव से ही परिस्थिति का सदुपयोग

होने लगता है। परिस्थिति का सदुपयोग होने पर प्राप्त परिस्थिति से असंगता आ जाती है और अप्राप्त परिस्थिति की चाह मिट जाती है, जिसके मिटते ही निष्कामता स्वत: आ जाती है। निष्कामता आते ही अहंभाव अनन्त में स्वतः समर्पित हो जाता है; क्योंकि कामरहित होते ही भिन्नता स्वतः मिट जाती है। इस दृष्टि से विवेक-शक्ति का उपयोग करने पर श्रम तथा भाव-शक्ति का उपयोग स्वतः हो जाता है; क्योंकि निर्मोहता में कर्तव्यनिष्ठा तथा समर्पण निहित है।

श्रमशक्ति का सदुपयोग करने के लिए भी भाव तथा विवेक-शक्ति का उपयोग अनिवार्य है; क्योंकि परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिए कर्तव्य का ज्ञान तथा पवित्र भाव अपेक्षित हैं। कर्तव्य का ज्ञान विवेक में निहित है; क्योंकि अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान सभी को है। इस दृष्टि से विवेक में बुराई का ज्ञान विद्यमान है। बुराई का त्याग करने पर भलाई स्वतः उत्पन्न होती है।

उत्पन्न हुई भलाई के आधार पर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से परिस्थिति से असंगता स्वतः आ जाएगी और अप्राप्त परिस्थिति की चाह मिट जाएगी। परिस्थिति की असंगता निर्मोहता और अप्राप्त परिस्थिति की चाह का अन्त निष्कामता प्रदान करेगा। निष्कामता तथा निर्मोहता प्राप्त होने पर सब प्रकार के भेद का अन्त स्वतः हो जाएगा, जो अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है।

भाव-शक्ति का सदुपयोग करने के लिए भी विवेक की आवश्यकता है, क्योंकि विवेक के बिना सर्वात्मभाव अथवा समस्त विश्व से सम्बन्ध विच्छेद सम्भव नहीं है। सम्बन्ध-विच्छेद के बिना उस अनन्त से नित्य-सम्बन्ध हो नहीं सकता और श्रम-शक्ति के बिना उस अनन्त के नाते सर्वात्म-भाव से परिस्थिति का सदुपयोग सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से भावशक्ति के सदुपयोग के लिए भी विवेक-शक्ति तथा श्रम-शक्ति अनिवार्य है। अनन्त के नाते सर्वात्म-भाव से की हुई प्रवृत्ति स्वभाव से ही निवृत्ति में विलीन हो जाएगी, जिसके होते ही स्वतः स्मृति जागृत होगी, जो अन्य की विस्मृति करके अनन्त से अभिन्न कर देगी।

प्रत्येक साधक को शरीर, हृदय और मस्तिष्क प्राप्त हैं। शरीर द्वारा श्रमपूर्वक परिस्थिति का सदुपयोग, हृदय द्वारा सरल विश्वासपूर्वक समर्पण और मस्तिष्क द्वारा विवेकपूर्वक निर्मोहता प्राप्त करना परम आवश्यक है। निर्मोहता 'नित्य-जीवन', परिस्थिति का सदुपयोग 'वीतरागता और समर्पण 'प्रेम' प्रदान करता है। मोहरहित हुए बिना अमरत्व की, वीतराग हुए बिना नित्य-योग की और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती।

नित्य-योग, नित्य-जीवन और अगाध अनन्त स–इन तीनों का विभाजन उसी प्रकार नहीं हो, सकता, जिस प्रकार वर्तमान जीवन में-से शरीर, हृदय और मस्तिष्क का विभाजन नहीं हो सकता। केवल नित्य-जीवन को लेकर तत्त्व-ज्ञान, नित्य-योग को लेकर चिर-शान्ति और केवल प्रेम को लेकर अगाध अनन्त रस की चर्चा तो की जा सकती है, पर रसरहित जीवन, जीवनरहित रस और शान्तिरहित रस तथा जीवन किसी को अभीष्ट नहीं है। सभी को चिर-शान्ति, अमरत्व और नित-नव रस की अपेक्षा है।।

इस दृष्टि से सभी साधकों का साध्य एक है और प्रत्येक साधन में सभी साधनों का समावेश है। साधन के आरम्भ का भेद और मान्यता का भेद वास्तविक भेद नहीं है। विवेकी का अहंभाव परम-

तत्त्व से अभिन्न हो जाता है, योगी का चिर-शान्ति में विलीन हो जाता है और प्रेमी का प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। साधक एक है, जीवन एक है और साध्य भी एक है। इस कारण निर्मोहता, परिस्थिति का सदुपयोग एवं समर्पण-तीनों ही साधन-पद्धतियों को अपनाना है। चाहे निर्मोहतापूर्वक परिस्थिति के सदुपयोग और समर्पण को, चाहे समर्पण से निर्मोहता और परिस्थिति के सदुपयोग से समर्पण और निर्मोहता को प्राप्त किया जाए।

किसी एक ही पूर्णता में सभी की पूर्णता स्वत: सिद्ध है। अत: साधन भेद होने पर भी प्रीति-भेद तथा साध्य-भेद के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। साधन का आरम्भ चाहे जिस पद्धति के अनुसार हो, परन्तु अन्त में तो सभी साधन एक होकर साध्य से अभिन्न हो जाते हैं, जो वास्तविक जीवन है।

बाह्य दृष्टियों का सदुपयोग

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य और अन्तर्दृष्टि का समूह ही वर्तमान जीवन है और इन दृष्टियों के सदुपयोग में ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति है।

बाह्य दृष्टि के दो भाग हैं-एक इन्द्रिय-दृष्टि और दूसरी बुद्धि-दृष्टि। इन्द्रिय-दृष्टि का सदुपयोग सेवा में और दुरुपयोग राग की उत्पत्ति में तथा बुद्धि-दृष्टि का सदुपयोग रागरहित होने में और दुरुपयोग विवाद में निहित है। दृष्टि के सदुपयोग में साधन का निर्माण और दुरुपयोग में साधन से विमुखता रहती है।

अब देखना यह है कि बाह्य दृष्टि का सदुपयोग हो रहा है अथवा दुरुपयोग? यदि दुरुपयोग हो रहा है, तो समझना चाहिए कि इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव और बुद्धि-दृष्टि पर अन्तर्दृष्टि का प्रभाव नहीं है। इन्द्रिय-दृष्टि का सदुपयोग करने के लिए उस पर बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव होना अनिवार्य है और बुद्धि-दृष्टि का सदुपयोग तभी सम्भव होगा, जब उस पर अन्तर्दृष्टि का प्रभाव हो। अन्तर्दृष्टि बुद्धि-दृष्टि में शुद्धता लाती है और बुद्धि दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि की जड़ता का अपहरण करती है। फिर इन्द्रियों के द्वारा यथेष्ट सेवा होने लगती है, अथवा अनुपम रचना तथा सौन्दर्य को देखकर अनन्त नित्य सौन्दर्य की वह लालसा जागृत हो जाती है, जो राग को अनुराग में बदल देती है। यही इन्द्रिय-दृष्टि की वास्तविक उपयोग है। बुद्धि-दृष्टि की शुद्धता रागरहित कर देती हैं और इन्द्रिय-दृष्टि को अपने में विलीन करके अन्तर्दृष्टि को जागृत् करती है।

अन्तर्दृष्टि का वर्णन सम्भव नहीं है, पर उसको जागृत करना अनिवार्य है; क्योंकि वर्णन करने के लिए तो बाह्य दृष्टि का आश्रय लेना होगा। अतः अन्तर्दृष्टि का वर्णन नहीं हो सकता, पर उसको प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य दृष्टि का सदुपयोग ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों अन्तर्दृष्टि स्वतः जागृतं होती जाती है। अब विचार यह करना है कि बाह्य दृष्टि का सदुपयोग करने के लिए सर्वप्रथम स्वार्थभाव का अन्त करना होगा। उसके होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति सेवा-भाव से स्वत: होने लगेगी। यह नियम है। कि सेवा-भाव से की हुई प्रवृत्ति हृदय में अनुराग जागृत् करती है और उस प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही वह सहज निवृत्ति आ जाती है, जिसके आते ही चिर-शान्ति अथवा मधुर स्मृति स्वतः होने लगती है। चिर-शान्ति से नित्य-योग तथा मधुर स्मृति से प्रिय से भिन्न की विस्मृति स्वतः

होने लगती है, फिर बाह्य दृष्टि स्वतः अन्तर्दृष्टि में विलीन हो जाती है।

यद्यपि अन्तर्दृष्टि अहं एवं मम से रहित है, परन्तु जब तक अहं तथा मम का नितान्त अभाव नहीं हो जाता, तब तक अन्तर्दृष्टि में भी बाह्य दृष्टि के समान दिव्य दृश्य की प्रतीति होती रहती है। बाह्य दृष्टि की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि सूक्ष्म तथा विभु होती है। इस स्थिति में अनेक प्रकार की सिद्धियाँ आने लगती हैं। विवेक-दृष्टि से वह भी बाह्य दृष्टि ही है। आई हुई सिद्धियों का भोग न करने से अन्तर्दृष्टि जागृतु होगी, जो अहं तथा मम को खाकर सब प्रकार की दूरी तथा भेद का अन्त कर देगी।

अब विचार यह करना है कि बाह्य दृष्टि का सदुपयोग करने पर अन्तर्दृष्टि में दिव्य दृश्य की उत्पत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि अहंभाव का अस्तित्व रहते हुए किसी-न-किसी प्रकार का राग शेष रहता है, यद्यपि वह राग बाह्य प्रवृत्तियों में हेतु नहीं है; क्योंकि संयम तथा तप का बल उस राग को बाह्य क्रियात्मक रूप में परिणत नहीं होने देता। उस राग की निवृत्ति के लिए अन्तर्दृष्टि में दिव्य दृश्य की उत्पत्ति होती है। ज्यों-ज्यों चिर-शान्ति और अनुराग दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों अहंभाव गलता जाता है। अहंभाव का अन्त होते ही अन्तर्दृष्टि अन्तर्दृश्य को अपने में विलीन कर अनन्त से अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है।..

जब-जब बाह्य दृष्टि का स्फुरण हो, तब-तब स्वभाव से ही उसका सदुपयोग होना चाहिए। इन्द्रिय-दृष्टि का सदुपयोग 'सेवा में और बुद्धि-दृष्टि को 'रागरहित होने में हैं। सेवा-भाव करने की रुचि' का अन्त कर देगा और इन्द्रिय-दृष्टि को बुद्धि-दृष्टि में विलीन कर देगा। इन्द्रिय-दृष्टि का बुद्धि-दृष्टि में विलय होते ही वह निर्विकल्पता स्वतः आ जाएगी, जो अन्तर्दृष्टि की भूमि है अथवा यों कहों कि निर्विकल्पता बाह्य दृष्टि का स्फुरण नहीं होने देगी। निर्विकल्पता आने पर अनन्त की कृपा-शक्ति अप्रयत्न रूप से अन्तर्दृष्टि जागृत् करेगी। अन्तर्दृष्टि नित्य-योग प्रदान करके सब प्रकार के अभाव का अभाव कर चिन्मय राज्य में प्रवेश करा देगी।

बाह्य दृष्टि के सदुपयोग में अन्तर्दृष्टि की जागृति और अन्तर्दृष्टि की जागृति में चिर-शान्ति, अमरत्व एवं परम प्रेम की उपलब्धि निहित है। बाह्य दृष्टि के उपयोग में भले ही भेद हो, परन्तु अन्तर्दृष्टि में किसी प्रकार का भेद नहीं है, क्योंकि भेद 'अहं' से उत्पन्न होता है और अन्तर्दृष्टि 'अहं' को खा लेती है; अत: भेद का अन्त हो जाता है। अन्तर्दृष्टि नित्य चिन्मय ज्योति है, जो सभी को स्वभाव से प्राप्त है; परन्तु उसकी जागृति के लिए बाह्य दृष्टि का सदुपयोग अनिवार्य है।

चिर-शान्ति और सरसता ।

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन के दो प्रधान अंग हैं- क्रियाशीलता और चिर-शान्ति। क्रियाशीलता वर्तमान को सरस बनाती है और चिर-शान्ति चिन्मय नित्य जीवन से अभिन्न करती है। जब तक जीवन में नीरसता निवास करती है, तब तक वर्तमान सरस नहीं हो पाता; क्योंकि नीरसता व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न करती है, अथवा यों कहो कि

अप्राप्त परिस्थिति की रुचि उत्पन्न करती है और वर्तमान का सदुपयोग नहीं होने देती। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है और उसके सदुपयोग में ही प्राणी का हित निहित है, परन्तु यह रहस्य कोई बिरले ही जान पाते हैं; क्योंकि वर्तमान की सुख-लोलुपता प्रतिकूलता में नीरसता उत्पन्न कर देती है।

यदि प्रतिकूलता के भय से भयभीत न हों, अपितु आए हुए दुःख को हर्षपूर्वक सहन कर लिया जाए, तो उस दुःख में ही सरसता आ जाएगी और नीरसता मिट जाएगी। नीरसता के मिटते ही स्वतः वर्तमान का सदुपयोग होने लगेगा, जो विकास का मूल है। यदि आए हुए दुःख को सहर्ष सहन न किया गया, तो नीरसता व्यर्थ-चेष्टाओं को उत्पन्न करेगी, जिससे अमूल्य समय बरबाद होगा, जो किसी भी वस्तु के बदले में मिले नहीं सकता। इस दृष्टि से नीरसता का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अब विचार यह करना है कि नीरसता का उद्गम स्थान क्या है? तो कहना होगा कि नीरसता का उद्गम स्थान है, विषय-रस का सेवन, अर्थात् विषय-सुख में वह जीवन-बुद्धि है, जो अविवेकसिद्ध है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जो सुख-भोग विकास में बाधक होता है, उसका राग मिटाने के लिए ही प्रतिकूल परिस्थिति आती है और जो सुख विकास में साधक होता है, उसकी पूर्ति के लिए अनुकूल परिस्थति आती है; अथवा यों कहो कि प्रतिकूलता जागृति के लिए आती है और अनुकूलता उदार बनाने के लिए। परन्तु जो दुःख में जागृत् नहीं होता और सुख में उदार नहीं रहता, वही परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होता है और उसी के जीवन में नीरसता निवास करती है।

अब विचार यह करना है कि क्या सुख-भोग का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है? तो कहना होगा कि सुख की वास्तविकता जानने के लिए सुख देने का स्थान है, लेने का नहीं। इस दृष्टि से परस्पर में सुख देने की ही रुचि रहनी चाहिए, लेने की नहीं। सुख देने की रुचि सुख-भोग की आसक्ति को खा लेती है। फिर साधक सुगमतापूर्वक सुख की दासता से मुक्त हो जाता है, क्योंकि सुख देने की लालसा 'त्याग' ओर 'प्रेम' को पुष्ट करती है। अत: सुख देने के लिए ही मिला है, भोग के लिए नहीं। सुख देने का जो सुख है, वह साधक को उदार बनाता है। उदारता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों संकीर्णता मिटती जाती है और जीवन में व्यापकता आती जाती है। अथवा यों कहो कि उदारता स्नेह की एकता उत्पन्न करती है और प्रतिकूलता, अर्थात् दुःख जागृति उत्पन्न करता है। जागृति जड़ता का अपहरण करती है। जड़ता का अपहरण होते ही प्रतिकूलता का भय स्वतः मिट जाती है और वह प्रकाश मिलता है, जो मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने में समर्थ है। इस दृष्टि से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता दोनों ही साधन-सामग्री हैं, और कुछ नहीं।

साधन-सामग्री के उपयोग की महत्ता है, सामग्री की नहीं। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता कुछ अर्थ नहीं रखतीं, उनका सदुपयोग अर्थ रखता है। नीरसता तभी तक निवास करती है, जब तक वर्तमान का सदुपयोग नहीं करते। वर्तमान का सदुपयोग वर्तमान से सम्बन्ध विच्छेद कर शान्ति से अभिन्न करता है और फिर नीरसता सदा के लिए विदा हो जाती है।

वर्तमान का सदुपयोग करने के लिए सर्वप्रथम कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करने का स्वभाव बनाना होगा, समस्त दृश्य से विमुख होकर अपने ही में अपने प्रीतम को पाना होगा, प्रवृत्ति द्वारा दूसरों के हित तथा प्रसन्नता को सुरक्षित रखना होगा, अथवा दिव्य चिन्मय प्रीति होकर रहना होगा।

कठिनाई का भय कठिनाई को सुदृढ़ बनाता है, और कुछ नहीं। अत: कठिनाइयों से भयभीत होना भूल है। प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग की अग्नि में जल रहा है। अतः संयोग की आशा कुछ अर्थ नहीं रखती। दोषयुक्त प्रवृत्ति न तो प्रवृत्ति की दासता से मुक्त होने देती है और न अनुकूल परिस्थिति ही उत्पन्न होने देती है। अत: दोषयुक्त प्रवृत्ति का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। समस्त आसक्तियाँ केवल बन्धन का ही हेतु हैं। अतः उनका अन्त कर दिव्य चिन्मय प्रीति बन जाने में ही नित-नव रस है। इस दृष्टि से आसक्ति सर्वथा त्याज्य है।

कामनाओं और जिज्ञासा का समूह ही सीमित अहंभाव है। वर्तमान का सदुपयोग कामना-निवृत्ति और जिज्ञासा पूर्ति में समर्थ है। वर्तमान का सदुपयोग होते ही दिव्य चिन्मय प्रीति स्वतः जागृत होती है। वर्तमान का सदुपयोग ही क्रियाशीलता की परावधि है, उसके होते ही साधक चिर-शान्ति से अभिन्न होने का अधिकारी हो जाता है। चिर-शान्ति और क्रियाशीलता दोनों एक ही जीवन के मुख्य अंग हैं; क्योंकि दोनों का उद्देश्य एक है। चिर-शान्ति कोई अवस्था नहीं है, क्योंकि सभी अवस्थाओं से विमुख होने पर ही चिर-शान्ति से अभिन्नता होती है, अथवा यों कहो कि चिर-शान्ति अन्तर्ज्योति से अभिन्न करती है, जो स्वयं प्रकाश है।

सभी अवस्थाएँ पर-प्रकाश्य हैं; चाहे क्रियाशील अवस्था हो अथवा निष्क्रिय। अन्तर केवल इतना है कि निष्क्रिय अवस्था क्रियाशीलता की शक्ति प्रदान करती है और क्रियाशीलता शक्ति का व्यय करती है। इसी कारण क्रियाशीलता सर्वदा निष्क्रियता में विलीन होती है और प्रत्येक क्रियाशीलता निष्क्रियता से ही उत्पन्न होती है अथवा यों कहो कि गंति स्थिरता से ही उत्पन्न होकर स्थिरता में ही विलीन होती है। परन्तु चिर-शान्ति गति और स्थिरता दोनों से ही अतीत है। चिर-शान्ति प्राप्त होने पर सभी साधक समान स्थिति में आ जाते हैं, किसी प्रकार का वैषम्य नहीं रहता, क्योंकि चिर-शान्ति दोषरहित और गुणों से अतीत है। जब तक गुण और दोष का द्वन्द्व रहता है, तब तक चिरशान्ति में प्रवेश नहीं होता। सभी दोषों का मूल अधिकार-लालसा में और सभी गुणों का विकास दूसरों के अधिकार की रक्षा में निहित है।

अब विचार यह करना है कि अधिकार-लालसा की उत्पत्ति क्यों होती। है? तो कहना होगा कि जब तक प्राणी अपने अस्तित्व को किसी की भी उदारता पर जीवित रखता है, तब तक अधिकार-लोलुपता उत्पन्न होती रहती है। यद्यपि जिस अस्तित्व की सिद्धि किसी अन्य पर निर्भर है, वह वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु प्रमोदवश प्राणी उसे अस्तित्व मान लेता है; वास्तव में तो वह केवल दूसरों के अधिकारों का समूह है, और कुछ नहीं। जिन्हें हमने अपना मान लिया है, अथवा जिन्होंने हमें अपना मान लिया है, उनके अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करने पर वह अस्तित्व, जो अधिकार-लालसा पर जीवित था, मिट जाता है। उसके मिटते ही चिर-शान्ति से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से

क्रियाशीलतापूर्वक दूसरों के अधिकार की रक्षा करने तक ही अपना अधिकार है। किसी से अधिकार माँगने का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अब विचार यह करना है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा में यदि हम अपने को असमर्थ पाते हैं, तो साधन का निर्माण कैसे होगा? ऐसी दशा में किसी का अहित न चाहना ही साधन हो जाता है। साधक के जीवन में किसी का अहित करने तथा चाहने का स्थान ही नहीं है। असमर्थता में किसी का अहित तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि अहित करने के लिए भी तो सामर्थ्य अपेक्षित है। समर्थ दशा में सर्वहितकारी चेष्टाओं से जो शुद्धि आती है, वही शुद्धि असमर्थता में किसी का अहित न चाहने से आ जाती है। इस शुद्धि से असमर्थता साधन-निर्माण में बाधक नहीं है। साधन-निर्माण में बाधक तो एकमात्र सामर्थ्य का दुरुपयोग ही है, और कुछ नहीं।

शुद्धता आते ही अशुभ संकल्प मिट जाते हैं और शुभ संकल्प स्वभाव से ही पूरे हो जाते हैं। पर संकल्पपूर्ति के सुख में आबद्ध साधक चिर-शान्ति से अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध संकल्पों की पूर्ति का सम्बन्ध केवल दूसरों के अधिकार की रक्षा से है, अपनी इच्छापूर्ति से नहीं। दूसरों के अधिकार की रक्षा स्वार्थ-भाव गलाने में है, सुख-भोग में नहीं। अथवा यों कहो कि दोष के त्याग में शुद्ध संकल्पों की पूर्ति निहित है।

संकल्पपूर्ति का सम्बन्ध भविष्य से है और चिर-शान्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। अतः चिर-शान्ति के अधिकारी को अपने को शुद्ध संकल्प की पूर्ति के सुख से भी असंग करना होगा।

शुद्ध संकल्पों का प्रवाह भी सीमित अहंभाव को जीवित रखता है। इतना ही नहीं, संकल्प-निवृत्ति से उत्पन्न होने वाली निर्विकल्प स्थिति भी अहंभाव को नाश नहीं होने देती। यह नियम है कि जब तक सीमित अहंभाव गल नहीं जाता, तब तक उस अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं हो सकती, जो चिर-शान्ति में निहित है।

। यदि कोई कहे कि शुद्ध संकल्पों का निरन्तर प्रवाह तोड़ दिया गया, तो हमारा विकास ही रुक जाएगा, क्योंकि अपने विकास के लिए संभावनाओं को बनाए रखना अनिवार्य है। तो कहना होगा कि दुर्भावनारूपी रोग के नाश के लिए सद्भावना औषधि है। प्राकृतिक नियम के अनुसार रोग और औषधि का मिलन होने पर दोनों की सत्ता मिट जाती है और सदैव रहने वाली नीरोगता आ जाती है। इस प्रकार सद्भावना दुर्भावना को खाकर स्वतः मिट जाती है। यदि नहीं मिटी है, तो समझना चाहिए कि अभी दुर्भावना मौजूद है। हाँ, यह अवश्य है कि सद्भावना का त्याग नहीं किया जाता, पर उनकी पूर्णता स्वयं उसके गलाने में समर्थ है।

शुद्ध संकल्प की पूर्ति कहो अथवा कर्तव्यनिष्ठा कहो, यह साधक के जीवन का बाह्यरूप है और निर्विकल्प-स्थिति साधक के जीवन को आन्तरिक रूप है। पर चिर-शान्ति तो इन दोनों से अतीत है। शुद्ध संकल्पों की पूर्ति से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और आदर मिलता है तथा संकल्प-निवृत्ति से दुःखों का अन्त होता है। पर दिव्य चिन्मय नित्य जीवन की प्राप्ति के लिए तो संकल्प-निवृत्ति से अतीत चिर-शान्ति से अभिन्न होना अनिवार्य है। निर्विकल्प-स्थिति शुद्ध संकल्पों की पूर्ति की सामर्थ्य प्रदान करती है और शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख का त्याग निर्विकल्प-स्थिति को पुष्ट करता है। इस दृष्टि से

निर्विकल्प-स्थिति तथा शुद्ध संकल्प की पूर्ति का पारस्परिक सम्बन्ध है, अथवा यों कहो कि शुद्ध संकल्प की पूर्ति उत्कृष्ट भोग और निर्विकल्प-स्थिति भोग के राग का अन्त करने वाला योग है। चिर-शान्ति के लिए भोग का त्याग और योग से असंगता अनिवार्य है।

शुद्ध संकल्प की पूर्ति में जो अभाव प्रतीत होता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि हम शुद्ध संकल्प के द्वारा भी अपना ही सुख चाहते हैं, दूसरों का हित नहीं। यह वास्तव में शुद्धता के रूप में अशुद्धता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार शुद्ध संकल्प की उत्पत्ति के साथ-साथ अथवा उसके पूर्व उसकी पूर्ति की सामर्थ्य आनी चाहिए, क्योंकि शुद्ध संकल्प की पूर्ति समष्टि शक्ति का कार्य है, व्यक्ति का नहीं।

चिर-शान्ति प्राप्त जीवन में होने वाली प्रवृत्तियाँ सभी के लिए हितकर तथा रसरूप होती हैं। जब तक ऐसा न हो, तब तक संकल्प-निवृत्ति के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए।

संकल्प-निवृत्ति पराधीनता से स्वाधीनता की ओर शक्तिहीनता से शक्ति संचय की ओर ले जाती है। संचित शक्ति से शुद्ध संकल्प की पूर्ति तथा स्वाधीनता से चिर-शान्ति की ओर प्रगति होती है। यदि शुद्ध संकल्प की पूर्ति का आस्वादन किया, तो चिर-शान्ति की ओर होने वाली प्रगति रुक जाएगी। यदि चिर-शान्ति में ही सन्तुष्ट हो गए, तो दिव्य चिन्मय प्रीति की जागृति नहीं होगी।

शुद्ध संकल्प की पूर्ति राग की निवृत्ति के लिए, निर्विकल्प-स्थिति सामर्थ्य के लिए और चिर-शान्ति अमरत्व के लिए अपेक्षित है। यह नियम है। कि एक साधन की पूर्णता में दूसरे साधन की अभिव्यक्ति हो जाती है। अतः शुद्ध संकल्प की पूर्ति निर्विकल्प-स्थिति का, निर्विकल्प-स्थिति की असंगता चिर-शान्ति का और चिर-शान्ति में रमण न करना ही परम प्रेम का साधन है।

परम प्रेम की प्राप्ति में समस्त साधनों का समावेश है। उसी का प्रतिबिम्ब बाह्य जीवन में उदारता, करुणा, सेवा, तप, त्याग, योग, ज्ञान आदि के स्वरूप में प्रतीत होता है; क्योंकि क्रियाशीलता अर्थात् कर्तव्यपरायणतापूर्वक रागरहित होने पर योगरूपी वृक्ष स्वत: उत्पन्न होता है। उस पर वह ज्ञानरूपी फल लगता है, जिसमें प्रेमरूपी रस भरा है और जो वास्तविक जीवन है।